ओ३म्

जाट इतिहास

[प्रथम खण्ड]

(महाभारत काल से 1857 ई० तक)

लेखक :

० रणजीतसिंह एम.ए. (त्रय)

एम.ओ.एल., पी-एच.डी., एल.एल.बी.

ओ३म्

जाट इतिहास

[प्रथम खण्ड]

(महाभारत काल से 1857 ई० तक)

लेखक :
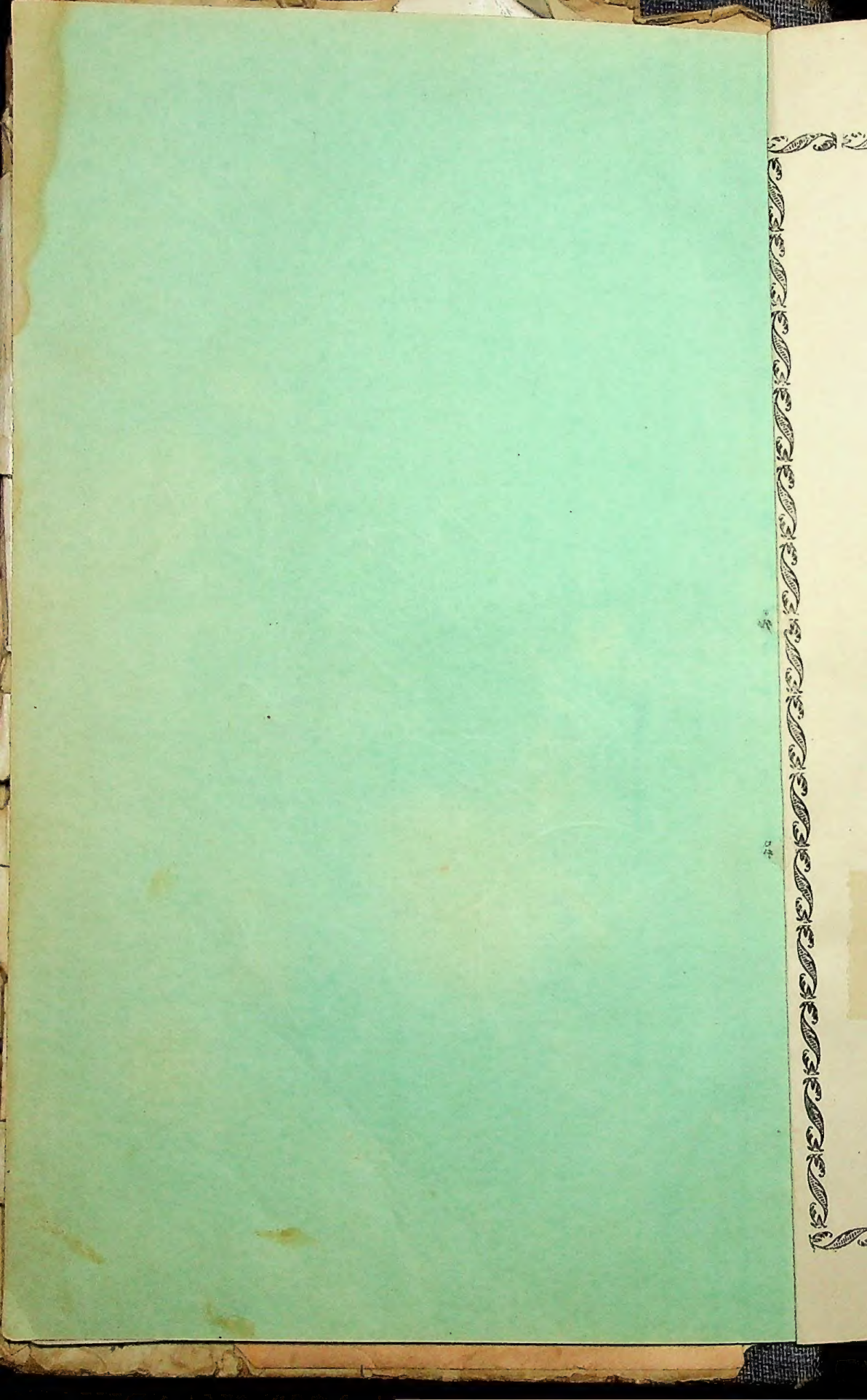
डॉ० रणजीतसिंह एम.ए. (त्रय)

एम.ओ.एल., पी-एच.डी., एल.एल.बी.

दो शब्द

प्रस्तुत 'जाट इतिहास' के लेखक श्री डॉ० रणजीतसिंह जी इतिहास के सुयोग्य विद्वान् हैं। इन्होंने इतिहास से भी एम.ए. किया है। मैंने इनका यह इतिहास पढ़ा है। इसके लिखने में इन्होंने अच्छा पुरुषार्थ किया है। जाटों के गोत्र तथा जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में युक्तिप्रमाणपूर्वक समुचित समाधान किया है।

जिस देश वा जाति का इतिहास नहीं होता वह देश अथवा जाति कभी उन्नति नहीं कर सकती। इसलिए इतिहासग्रन्थों का लिखना और उन्हें प्रकाशित कर जनता तक पहुंचाना देश और जाति के उत्थान एवं प्रगति का प्रमुख साधन है।

जैसा जाटों का अतीत का इतिहास वीरतापूर्ण है ऐसी ही वीरता भारत पाकिस्तान युद्ध में 4 जाट रेजिमेंट के बहादुर सैनिकों ने दिखलाई। अपनी जान की परवाह न करते हुए टैंक और तोप के गोलों की भयंकर आग का मुकाबला करते हुए ये जाटवीर आगे बढ़े और पाकिस्तानी सेना को मारते काटते लाहौर तक पहुंच गए। यदि उस समय यह 4 जाट रजिमेंट युद्ध मोर्चे पर न होती तो पाकिस्तानी फौज दिल्ली तक पहुंच जाती।

युद्ध के पश्चात् मैं फाजिलका गया था। जाट वीर सैनिकों ने मुझे वहां बुलाकर सब स्थान दिखलाये और हवन करवाया। हवन के पश्चात् मैंने इतिहास के सम्बन्ध में भी कुछ घटनायें सुनाईं। उनसे प्रभावित होकर जाट रेजिमेंट के कमांडिंग आफिसर सूरी साहब मुझे अपने निवास पर लेगये और एक घण्टे तक इतिहास पर ही चर्चा हुई।

उन्होंने कहा मुझे जो 'वीर चक्र' मिला है वह वास्तव में जाट रेजिमेंट के वीरों की वीरता के ही कारण मिला है। ऐसे बहादुर मैंने अपने जीवन में नहीं देखे। सी० ओ० साहब ने मुझे कहा—आचार्य जी आप अन्य सभी कार्य छोड़कर इन जाट वीरों का इतिहास लिखने का ही कार्य करें। फाजिलका कैंप से विदाई पर फौजी भाइयों ने मुझे टैंक के गोलों के दो खोल भेंट किए जो गुरुकुल झज्जर के पुरातत्त्व संग्रहालय में रखे हुए हैं।

मैं अनेक वर्षों से इतिहास और पुरातत्त्व पर ही कार्य कर रहा हूं। मेरी भी इच्छा थी कि 'जाट इतिहास' लिखा जावे। डॉ० रणजीत सिंह जी ने इसे पूरा किया है। एतदर्थ मैं इन्हें धन्यवाद देता हूं।

ओमानन्द सरस्वती
आचार्य गुरुकुल झज्जर

विषय सूची

प्रकाशकीय

जाट आर्य हैं। आर्यवंशज हैं और क्षत्रिय हैं। यह सभी भारतीय इतिहास लेखकों का मत है। विदेशी विद्वान् और उन के मत का अन्धानुकरण करनेवाले कुछ इतिहास लेखक जाट अहीर गूजर राजपूत आदि क्षत्रिय जातियों को म्लेच्छवंशज मानने लगे। वीर जातियों को अनार्य अथवा म्लेच्छ कहकर पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय आर्य-जाति का तिरस्कार किया है।

प्रसिद्ध लेखक और पत्रकार पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने 11-1-1934 ई० में 'जाट इतिहास' की भूमिका में लिखा था—

"जाट जाति के दो बड़े गुण हैं – एक तो वह **'किसी एक सत्ता को देर तक सिर झुकाकर नहीं मान सकते'** और दूसरा यह कि वह **'धार्मिक* या सामाजिक रूढ़ियों की अत्यन्त दास्ता से घबराते हैं'**। इन्हीं गुणों का प्रभाव था कि वह 700 वर्षों तक मुसलमानों के शासन में रहे, परन्तु रहे प्राय: विद्रोही बनकर ही। यह एक वीर जाति के लक्षण हैं। इन दो गुणों के साथ एक दोष भी लगा हुआ है, जो शायद उपर्युक्त गुणों का भाई है। जाट लोगों में एक **खुरदरापन** है, जो बिगड़ने पर परस्पर विरोध के रूप में परिणत हो जाता है। यदि यह एक दोष न होता तो **दोनों गुणों के बल से जाट भारत के एकच्छत्र राजा होते।**"

"जाट इतिहास के लेखक ने उसे पूर्ण करके केवल जाट-जाति का ही नहीं, **सम्पूर्ण आर्य जाति का महान् उपकार किया है।**"

वेद और वैदिक वाङ्मय के अनुसार प्रारम्भ में मानव जाति आर्य और दस्यु नाम से दो विभागों में बंटी हुई थी। इनका देव और असुर नाम से भी उल्लेख मिलता है। कालान्तर में वेद के ही आधार पर स्मृतिकारों ने कर्म के अनुसार मानव समुदाय को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभक्त करके इनके गुण कर्म निश्चित किए। उक्त चार वर्णों के कर्मों से पतित होने वाले का नाम निषाद अथवा चाण्डाल था।

इतिहासकार चक्रवर्ती सम्राट् ययाति और उस की सन्तान यदु

---

*धार्मिक रूढ़ियों के विरोध में महर्षि दयानन्द सरस्वतीकृत सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास का "जाट जी और पोप जी" का दृष्टान्त भी पठनीय है। जहां महर्षि लिखते हैं—"जब ऐसे ही जाट जी के से पुरुष हों तो पोपलीला संसार में न चले"।

को जाटों का पूर्वज मानते हैं। पांच हजार वर्ष पूर्व यदु-वंश दो फाड़ हो गया था—1- प्रजातन्त्रवादी और 2- एक तन्त्रवादी। श्री कृष्ण प्रजातन्त्रवादी यादवों के नेता थे। उन्होंने "ज्ञातिसंघ" की स्थापना की थी जो कालान्तर में जाट' कहलाये।

पण्डित बस्तीराम शर्मा आर्योपदेशक ने "पाखण्ड खण्डनी" पुस्तक में जाटों के सम्बन्ध में तीन भजन लिखे हैं। वे लिखते हैं—

"सृष्टि के आदि में भाई, हुए दो राजा बलदाई,
एजी हां सूर्य सोम लीला गाई, कहूं समझाकर मैं तुम से।
नृप ययाति थे छत्रधारी, सुत जिसके यादु बलकारी।
जिन आज्ञा राजा की टारी, जुदा हुए आये आलम से।
उस दिन से जाट कहाये, जादुवंशी कर गाये।
एजी जब कृष्ण जन्म ले आये, सुनले गीता के महातम से।
हैं सूरज वंश के वारे और चन्द्र वंश के प्यारे।
एजी हां भृगु वंश के मतवारे, चले आरहे थे सब के सम से।
जाट की सुनले कथा हमसे।"

"जादुकुल से जाट कहाये ·········
धर्मशास्त्र में लिखा देख लो, मनु ने वचन उचारा।
पांच कर्म क्षत्री के बरने, पांचों कर्म से जती जाट का गुजारा।
दे रही थी रणजीतसिंह को, राह अटक की धारा।
जो सूरज घर सूरज ना होता, बाजता बतादो फिर कैसे वहां जाट का नकारा। —धारलो जनेऊ जाटो धर्म तुम्हारा।"

"जींद पटियाला हमारा नाभा, लाहौर में रणजीतसिंह से आभा, हरे।
निर्भय नकारा धौलपुर बाजा, भरतपुर धुर थे निशान।
पोहकर में पीवें थे घोड़े॥
जब जब चढ़ी थी सेना रण में, रही थी चंचल मारण मरण में, हरे।
चमके तेग जैसे बिजली घन में, दिखाय के गढ़ काबुल के तोड़े।"

'जाट इतिहास' पर हिन्दी और अंग्रेजी में छोटी बड़ी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उन सभी से ऐतिहासिक सारतत्त्व ग्रहण करते हुए विद्वान् लेखक ने 1857 तक के 'जाट इतिहास' का संक्षिप्त वर्णन इस प्रथम खण्ड में किया है जो गागर में सागर है। जाट इतिहास के दूसरे खण्ड की अभी कुछ प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, जिसमें 1857 से आज तक के जाट इतिहास के साथ-साथ प्रमुख जाट गोत्रों का भी वर्णन होगा।

—वेदव्रत शास्त्री

आमुख

इतिहासकार जदुनाथ सरकार का वाक्य "भारतीय आबादी में जाट एक महत्त्वपूर्ण जाति है" को पढ़कर मेरे मन में जातीय इतिहास को समूचे रूप से जानने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। जाट जाति के विषय में ग्राम्य वृद्धों से बहुत कुछ सुनने का अवसर भी मिलता रहता था। परन्तु सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास कम और जिज्ञासा अधिक होती थी। अतः वृद्धों द्वारा सुनाई जानेवाली जाटों की शौर्यगाथाओं की प्रामाणिकता के लिए इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ किया। यह प्रक्रिया 1953 से ही आरम्भ हो गयी थी। जाट कालेज रोहतक में पढ़ाते समय जाटों के इतिहास सम्बन्धी जानकारी को और भी उत्तेजना मिली।

सन् 1960 से 1976 की अवधि में जाटों के सम्बन्ध में विभिन्न पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का मन्थन किया। इस अवधि में आचार्य भगवान्देव के सान्निध्य से इतिहास सम्बन्धी प्रेरणा पाकर पंख लग गए। सन् 1976 में राजपाल शास्त्री मधुर प्रकाशन से जाट इतिहास लिखनें सम्बन्धी अनुबन्ध की चर्चा चलने लगी। उनको इतिहास की सामग्री शीघ्र चाहिये थी। परन्तु मैं मन्थर गति से चलने का आग्रही था। अतः बात सिरे न चढ़ सकी। इससे इतना लाभ जरूर हुआ कि इतिहास-सम्बन्धी कच्चा माल संग्रहीत हो गया।

अकस्मात् सन् 1988 ई० में गुरुकुल झज्जर जाते समय बाबू रघुवीरसिंह (तत्कालीन वेदप्रचार अधिष्ठाता, आर्य प्रतिनिधि सभा हरयाणा) और वेदव्रत शास्त्री (मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा हरयाणा) नें जाटों के इतिहास सम्बन्धी जानकारी को कुरेदना आरम्भ कर दिया और मुझ से वचन ले लिया कि जाट इतिहास की पाण्डुलिपि छह मास में तैयार करके वेदव्रत शास्त्री को सौंपनी है। मैंने यथासमय अपने वचन को पूरा करके सन्तोष की सांस ली।

भारत की राजनीति में जाटों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। इनकी स्वतन्त्र सत्ता को मानते हुए मुगलों, अफगानों, राजपूतों और मराठों को इनसे सन्धियां करनी पड़ी हैं। जाटों नें इतिहास

अवश्य बनाया, परन्तु इस जाति के ऐतिहासिक योगदान को व्यवस्थित रूप से रखने में उदासीनता दिखाई गई है। इस दिशा में कालिका रंजन कानूनगो, ठाकुर देशराज, योगेन्द्रपाल शास्त्री, भीमसिंह दहिया, कैप्टिन दलीपसिंह अहलावत, डा० राजपाल आदि ने यथाशक्ति प्रयास किया है परन्तु उपर्युक्त लेखकों में से कुछ लेखक तो भरतपुर घराने तक ही सीमित रहे तथा कुछ लेखक सृष्टि के आरम्भ में जाटों को खोजने में खोगए। कुछ-एक ने गोत्रों को ही अपना केन्द्र बनाया। उपर्युक्त प्रयासों से यह लाभ अवश्य हुआ कि जाट जाति के इतिहास की सामग्री जुट गई और लोगों को यह भी मालूम हो गया कि इस जाति का ऐतिहासिक महत्त्व है। इनका अतीत गौरवमय था।

प्रस्तुत इतिहास की पुस्तक में जाटों के विकास की कहानी महाभारत काल से आरम्भ की गई है। क्योंकि महाभारत में जाटों में पाए जानेवाले गोत्रों का गणों के रूप में उल्लेख पाया जाता है।

कोई भी जातीय इतिहास इस दृष्टि से लिखा जाता है कि उस जाति के व्यक्ति अतीत को जानकर अपने वर्तमान को सुधारें और भविष्य को उन्नत बनाने की योजना बनाएं। अतः इतिहास एक प्रेरणा है। इस प्रेरणा की कहानी ही इस पुस्तक का उद्देश्य है।

मैंने इस इतिहास के लिखने में जिन-जिन लेखकों की पुस्तकों से कोई भी उद्धरण लिया है, यथाशक्ति पद-टिप्पणी में उनका उल्लेख भी किया है। यदि अज्ञानता के कारण किन्हीं का उल्लेख करना भूल गया हूं, तो क्षमा प्रार्थी हूं। प्रस्तुत पुस्तक को आचार्य प्रिंटिंग प्रेस के स्वामी वेदव्रत शास्त्री ने बड़े परिश्रम से छापा है। अतः उनका आभार मानता हूं। पुस्तक में पाई जानेवाली कमियां मेरी हैं, और अच्छाइयां पाठकों को समर्पित हैं।

मार्च 8, 1989 **—रणजीतसिंह**

प्रथम अध्याय

जाटों का विस्तार

एक युग था जब जाट वीरों का विजयघोष एशिया में सर्वत्र सुनाई पड़ता था। उनकी शक्ति से संसार की जातियाँ भयभीत रहती थीं। जाट वीरों ने तीर और तलवार का बल दिखाकर तथा 'वीर' की उपाधि प्राप्त करके कुषाणों, शकों और हूणों के दाँत खट्टे किए थे। इनके गौरव, शौर्य और शक्ति को देखकर ही विद्वानों ने यह स्वीकार किया था कि 'जाट' शब्द एक संस्कृति का परिचायक है। इस संस्कृति की भाषा को 'जाटवी' या 'जट्टकी' नाम से भाषाग्रन्थों में स्थान दिया गया था। परन्तु कालचक्र ने इनके गौरव को शनैः शनैः अन्धकार में धकेल दिया और एक समय ऐसा आया कि जाट अपनी अस्मिता को नहीं पहचान सका। इसी अस्मिता की पहचान इस पुस्तक द्वारा कराने का हमारा प्रयास है। इस पहचान के लिए आवश्यक है कि आरम्भ में यह लिखा जाए कि जाटों का संख्या की दृष्टि से किन-किन देशों और प्रदेशों में विस्तार पाया जाता है।

इस जाति में भारत की भूमि में ही नहीं अपितु विदेशों में पाए जानेवाले सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी और अग्निकुल के गोत्र पाए जाते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक मूल्यांकन के आधार पर जाट जाति एक 'राष्ट्रीय जाति' है। इस जाति द्वारा अधिगृहीत उत्पादक भूमि स्वयं एक विशाल राष्ट्र का प्रतीक है। सन् 1870 की जनगणना रिपोर्ट में जनगणना की दृष्टि से जाटों को एक महत्त्वपूर्ण समूह माना है। इस जाति के विस्तार के विषय में ए. एच. कीन[1] रचित 'एशिया' नामक पुस्तक में लिखा है कि "इस जाति के लोग उत्तर में हिमालय की निचली तराई, पश्चिम में सिन्धु नदी का पूर्व किनारा, दक्षिण में हैदराबाद सिन्ध, कच्छ काठियावाड़, अजमेर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर से भूपाल तक और पूर्व में गंगा नदी का किनारा, दोआब, रूहेलखण्ड आदि उपजाऊ भूमि में आबाद हैं। सिन्धु नदी के पश्चिम में ये लोग पेशावर, बिलोचिस्तान तथा सुलेमान की पहाड़ियों के पार तक फैले हुए हैं। किरमान और ईराक में जाट तथा

---

1. ए. एच. कीन, एशिया, सम्पादन रिचर्ड टेम्पिल, पृ० 210-18.

जिप्सियों की बीस हजार मिश्रित आबादी है। मकराना और अफगानिस्तान में इनकी पचास हजार की आबादी का अनुमान लगाया जाता है।"

इलियट एवं डाउसन के विचारों से भी जाटों का विस्तार विस्तृत भू-भाग में था। वे लिखते हैं कि "मैं पहले बतला चुका हूं कि मेड लोग शुरु में सिन्ध में रहते थे। इसलिए मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि जाट लोग भी उस समय सिन्ध में ही रहते होंगे। इस समय जाट पंजाब के प्रत्येक भाग में मिलते हैं और वहाँ की बस्ती में पाँच में से दो जाट हैं। ये लोग मुख्यतः मुसलमान हैं, परन्तु इनकी जातियाँ एक सौ से कम नहीं हैं। पंजाब के पूर्व में हिन्दू जाट बीकानेर, जैसलमेर और जोधपुर की रियासतों में बहुत[1] हैं। कर्नल टाड का विचार है कि जाट उतने ही हैं जितने सब जाति के राजपूत मिलाकर गंगा और यमुना के ऊपरी भाग में बरेली, फरूखाबाद और ग्वालियर तक जाट लोग फैले हुए हैं। पंजाब के दक्षिण में मुसलमान जाट ही सिन्धु नदी के दाएँ किनारे पर हरोड़-दाजिल जिले में बसे हुए हैं और पास ही कच्छ-गन्दव जिले में भी सर्वाधिक आबादी इन्हीं लोगों की है। सिन्ध में इन लोगों के बलूचियों से और हिन्दुओं से मुसलमान बने हुए लोगों से विवाह सम्बन्ध होते हैं। इसलिए यह सम्भव नहीं है कि इनकी सख्या का अनुमान किया जाए। परन्तु यह निश्चित है कि यहाँ अधिकांश जाट लोगों के वंशज बसे हुए हैं।

कालिकारंजन कानूनगो ने सन् 1925 ई० में लिखा था कि "इस जाति द्वारा अधिकृत क्षेत्र उत्तर में हिमालय के निचले क्षेत्र तथा पश्चिम में सिन्धु तक फैला हुआ है। दक्षिण में ये लोग हैदराबाद (सिन्ध) से लेकर अजमेर और भोपाल तक फैले हुए हैं और पूर्व में गंगा नदी तक इनका विस्तार है। इस प्रकार जाटों का विस्तार सिन्ध को केन्द्र मानकर एक पंखे के समान है[2]। वस्तुतः पुराणों में जिस प्रकार सुमेरू पर्वत को कूर्म (मध्यस्थानीय) मानकर भारतवर्ष की स्थिति का वर्णन किया गया है, ठीक इसी प्रकार सिन्ध को केन्द्र मानकर जाटों के

---

1. भारत का इतिहास :—इलियट एवं डाउसन प्रथम भाग हिन्दी सस्करण पृ० 376
2. जाटों का इतिहास—कालिकारंजन कानूनगो, हिस्ट्री आफ दी जाट्स सं० पृ० 11

विस्तार का वर्णन किया जा सकता है। लेफ्टिनेण्ट रामसरूप[1] ने अपने इतिहास में लिखा है कि "जाट जाति समस्त उत्तरी भारत में हिन्दूकुश पर्वत से आरम्भ होकर दक्षिण में प्रयाग बुन्देलखण्ड तक बसी हुई है और पश्चिम में सिन्ध नदी के दोनों किनारों का देश इसमें पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, मेवात, बृज, हरयाणा और कुछ भाग हिमाचलप्रदेश शामिल है। जाट कम उपजाऊ भूमि पर कम बसे हैं। पर्वतों की तलहटी के साथ-साथ ही बसे हुए हैं। जाटों की बस्तियाँ भारतवर्ष की सबसे अधिक उपजाऊ भूमि पर मैदानों पर हैं, जो स्वास्थ्यप्रद भी हैं। मानो भारतवर्ष की अधिक उपजाऊ भूमि का $\frac{2}{3}$ भाग जाटों के ही अधिकार में है"। ठाकुर देशराज[2] ने कनिंघम का हवाला देते हुए जाटों के विस्तार के विषय में लिखा है कि "इस समय बराबर इस शब्द से कोई एक सम्प्रदाय ही जाना जाता है। जाट लोग एक ओर राजपूतों के साथ और दूसरी ओर अफगानों के साथ मिल गए हैं। किन्तु यह छोटी-छोटी जाट जाति को शाखा सम्प्रदाय पूर्व अंचल में राजपूत और पश्चिम में अफगान और बिलोची नाम से पुकारी जाती हैं। अन्यान्य जातियों की बंशावली की आलोचना करने से निस्सन्देह प्रमाणित होता है कि अफगान, राजपूत, बिलोच जाट जाति के अन्तर्भुक्त हैं।" भीमसिंह[3] की मान्यता के अनुसार "जाटों ने अपने भुजबल से अपना नाम एशिया और यूरोप की भूमि पर लिखा है। ये पूर्व में मंगोलिया से चीन, पश्चिम में स्पेन से इंगलैंड, उत्तर में स्केण्डिनेविया तथा नो-वोगोर्ड में तथा दक्षिण में भारत ईरान और इजिप्ट में विभिन्न नामों से पाये जाते हैं।"

इन्हीं विचारों से मिलते-जुलते विचार शिवदास गुप्ता[4] ने इस प्रकार प्रकट किए हैं "जाटों ने तिब्बत, यूनान, अरब, ईरान, तुर्किस्तान, जर्मनी, साईबेरिया, स्केण्डिनेविया, इंगलैंड, ग्रीक, रोम तथा मिश्र में कुशलता, दृढ़ता और साहस के साथ राज्य किया और वहां की भूमि को विकासवादी उत्पादन के योग्य बनाया था।" जाटों का प्रसार बड़े-भारी भू-खण्ड पर था, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

1. रामसरूप—जाट इतिहास पृ० 11
2. देशराज, जाट इतिहास, पृ० 728
3. भीमसिंह, दी जाट्स, पृ० 1
4. शिवदास गुप्ता, स्वार्थ पत्रिका, अंक 4-5 1976

इतिहासकार ईरान को तो जाटों की दूसरी मां तक मानते हैं और भारत उनकी प्रथम मां है। देशराज[1] अपने इतिहास में लिखते हैं "उनका (जाटों का) विस्तार उत्तर में जगजार्टिस और पश्चिम में ईरान की खाड़ी तक हो गया था। ईरान के डेरियस के अलावा अपने नेताओं के साथ उन्होंने यूनान को पहले ही देख लिया था। समय पाकर तथा अधिक संख्या एवं अन्य परिस्थितियों से वे आगे की ओर बढ़े और रोम तथा इटली में पूर्व की ओर से आक्रमण करने लगे। उधर मध्य-एशिया में हूणों का प्रथम उपद्रव खड़ा हुआ तब जगजार्टिस के किनारे पर बसे हुए जाट लोगों का कुछ भाग नए और हरे-भरे देशों की खोज के लिए यूराल पर्वत को पार कर गया और जर्मनी में जा पहुंचा। उससे भी अधिक उत्साही लोगों को वहां पहुंचा दिया जहां से आगे थल न था अर्थात् जमीन का खातमा होगया था, वह देश था स्कन्धनाभ अथवा स्केण्डिनेविया।"

कप्तान दलीपसिंह[2] के अनुसार "प्राचीन काल में जाट वीरों ने तीर और तलवार का बल दिखाकर और हल चलाकर, एशिया और यूरोप की भूमि पर, पूर्व में मंगोलिया और चीन, पश्चिम में स्पेन और इङ्गलैंड और दक्षिण में भारतवर्ष, ईरान और मिश्र की भूमि पर "जाट बलवान्—जय भगवान्" का रणघोष लगाकर अपने नाम की प्रसिद्धि की"।

जाटों के विस्तारसम्बन्धी उपर्युक्त विचारों की पुष्टि "एण्टीक्विटी आफ जाट रेस" के लेखक उजागरसिंह महल के विचारों से भी होती है। महल महोदय अपनी पुस्तक में लिखते हैं "मैं अब विशालतम जाट साम्राज्य का वर्णन करता हूं जो कि मात्र भौगोलिक सीमाओं के कारण ही बड़ा नहीं था, अपितु इजिप्ट और असिरिया के साम्राज्यों से भी बड़ा था। यह स्मरण रखना चाहिये कि पर्शियन साम्राज्य जाट साम्राज्य की देन है और पर्शियन राजाओं में जाट रक्त विद्यमान है। जाटों के इस साम्राज्य को 'मेंड़ा साम्राज्य' कहते हैं।[3] महल के मतानुसार जाटों ने रोमन साम्राज्य, स्पेन और ब्रिटेन तक को जीता था।[4]

1. दशराज, जाट इतिहास पृष्ठ 169-71
2. दलीपसिंह, जाट वीरों का इतिहास पृष्ठ 68
3. इण्टीक्विटी आफ जाट रेस पृष्ठ 9- 7।
4. इण्टीक्विटी आफ जाट रेस पृष्ठ 53-66।

इससे आगे वे लिखते हैं "यूरोप की 'डेन्यूब' नदी जाटों के पुरातात्त्विक इतिहास की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इस नदी के दोनों किनारों पर जाट ही निवास करते थे। डेन्यूब नदी जाटों से इतनी सम्बन्धित है कि वह उनके स्वप्नों में भी आती है।"

सिकन्दर महान् ने अपने एशिया आक्रमण के समय सोगडियाना (तुर्किस्तान) पर आक्रमण किया था। उस समय सोगडियाना की राजधानी समरकन्द थी। उजागरसिंह के विचारानुसार यह प्रदेश उस समय जाटों के अधीन था जो कि पंजाब के जाटों के बहुत दूर के पूर्वज थे।

जाटों के विषय में सर्वप्रथम जानकारी देनेवाले हेरोडोटस थे। इन्होंने अपने यात्रा-विवरणों के अध्ययन के आधार पर यह लिखा है कि प्रथम दारा के पुत्र जरक्सीज के यूनान पर आक्रमण के समय उसके साथ भारतीय जाटों का दल था। इसी प्रकार बहुत से विद्वान भागवत और महाभारत के आधार पर यह मानते हैं कि अर्जुन के साथ में द्वारिका से आनेवाला यादवकुलीन जाटों का समूह था और यह परिवार (जाट) घुमक्कड़ कबीलों के रूप में भारतीय सीमाओं से बाहर इधर-उधर बिखर गया। सिकन्दर के आक्रमणों के बाद ईसाई तथा मुस्लिम संघर्षों के बाद वे पुनः ईरान के मार्ग से भारत में लौट आए। इस प्रकार के जाट 'पच्छादे' कहलाते हैं। इलियट तथा डाउसन के विचार में इस्लाम धर्म की स्थापना के समय सिन्धु प्रान्त (शाक द्वीप) में जाट शक्ति का बोलबाला था। इस प्रान्त के जाट शासक जागीरदार तथा उपजाऊ भूमि के स्वामी होने के साथ साथ वैदिक संस्कृति के पोषक भी थे और वे आत्मा के अमरत्व में विश्वास करते थे।

'किताबुल मसालिक वअल ममालिक' पुस्तक के लेखक इब्न खुरदादबा की पुस्तक का हवाला देते हुए इलियट एण्ड डाउसन ने लिखा है कि "किरमान की सीमा से मनसूरा 80 प्रसंग है (8 मील का एक प्रसंग) यह मार्ग जाटों के देश से होकर निकलता है। वे इसकी चौकसी करते हैं।[1]

विदेशों में पाई जानेवाली 'भारतीय रोमा' (जिप्सी) जाट जाति है। ये लोग कई देशों में पाए जाते हैं। परन्तु विश्व में सबसे अधिक

1. भारत का इतिहास प्रथम भाग (हिन्दी) इलियट एण्ड डाउसन पृष्ठ 11.

'रोमा' जाट यूगोस्लाविया में बसे हुए हैं। इस देश में 'स्कोपिये' रोमा लोगों का सुन्दर शहर है। यहां पर इनकी जनसंख्या चालीस हजार है। इसी प्रकार दक्षिणी फ्रांस में 'ग्रास' में भी इनकी एक सुन्दर बस्ती है। 'डेविड मॅकरिटचे'[1] की सन् 1986 ई० में प्रकाशित एक पुस्तक से स्पष्ट है कि जिप्सी राजस्थान के जाट हैं, जो भरतपुर के जाट राजा सूरजमल के शासनकाल में अपना देश छोड़कर विदेश चले गये थे।

दैनिक हिन्दुस्तान दिनांक 27 जुलाई, 1983 के एक समाचार के अनुसार जब लोकसभा अध्यक्ष बलराम जाखड़ राष्ट्रमण्डलीय संगठनों के कार्यदल की बैठक में भाग लेने के लिए लन्दन गए थे, तो वहां पर उनकी मुलाकात ब्रिटेन की संसद के अध्यक्ष 'बर्नार्ड वैदरहिल' से हुई थी। वैदरहिल ने अपने भारतीय प्रवास की स्मृति को ताजा करते हुए हिन्दी में कहा था "मैं भी जाट हूं"। यह बात यह सिद्ध करती है कि जाट शब्द पंजाब का पर्यायवाची बन गया था।

भारत भूमि में जाटों के विस्तार को देखते हुए योगेन्द्रपाल[2] शास्त्री ने लिखा है कि "जाट अपने आदि देश भारतवर्ष के कोने-कोने में नहीं वरन् उपजाऊ प्रदेशों की ऊंची भूमियों पर बसे हुए हैं। नदियों की अति निकटवर्ती खादर भूमि या पहाड़ों की तलहटी में उनकी सामूहिक विद्यमानता नहीं पाई जाती। डेरा गाजी खां, डेरा ईसमाइल खां, डेरा फतह खां, बन्नू, कोहाट, हजारा, नौशेरा, स्यालकोट, गुजरात, गुजरानवाला, लायलपुर, मिण्टगुमरी, लाहौर की चुनिया तहसील में कुल मिलाकर पच्चीस लाख जाट आज भी बसे हुए हैं। यद्यपि इनका धर्म इस्लाम है किन्तु रक्त की दृष्टि से जाट होने का उन्हें गर्व है। विभाजित भारत में जाटों की संख्या किसी भी प्रकार कम नहीं है।" यदि हम भारत के राजनैतिक इतिहास का सिंहावलोकन करें तो हमें आंकड़ों से स्पष्ट प्रतीत होगा कि उत्तरी भारत के अनेक प्रांतों में जाट लोग छाए हुए हैं।

जाटों की रक्तसम्बन्धी मान्यताएं धार्मिक मान्यताओं की अपेक्षा चारित्रिक विशेषताओं के निर्माण में सहायक रही हैं। इसी सम्बन्ध को लेते हुए इलियट एण्ड डाउसन[3] लिखते हैं कि "सिन्धु नदी के दोनों ओर

1. कप्तान दलीपसिंह—जाट वीरों का इतिहास, उद्धृत, पृ० 73।
2. योगेन्द्रपाल, क्षत्रिय जातियों का उत्थान और पतन, पृ० 271-73
3. इलियट एण्ड डाउसन, प्रथम भाग, परिशिष्ट, पृ० 508

आबाद जिले मुलतान के चारों ओर मिले-जुले जाट बलूचियों में प्रायः सामाजिक संसर्ग और रक्तएकता विद्यमान है। अफगानिस्तान और उसके पश्चिम में ये मुसलमान हैं। झेलम से हांसी तक, हिसार, पानीपत तथा दीयालपुर में ये सिख हैं और इस क्षेत्र में प्रायः इनकी पांच करोड़ आबादी आंकी जाती है।"

उपर्युक्त सन्दर्भ के विषय में हमें यह कहना है कि हांसी, हिसार तथा पानीपत तहसीलों के विषय में जो यह कहा गया है कि यहां के जाट सिख हैं, ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है। वस्तुतः इन तहसीलों के जाट सिख न होकर हिन्दू हैं।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि इतिहासग्रन्थों में जाटों के विस्तार के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोणों से विचार किया गया है एक रक्तसम्बन्धी तथा दूसरा राज्यसम्बन्धी। इसके अतिरिक्त हम यह भी पाते हैं कि जाटों के विस्तार के सम्बन्ध में हमें भारत में जाटों का विस्तार तथा भारत से बाहर जाटों का विस्तार यह दृष्टिकोण भी इतिहास-ग्रन्थों में मिलता है। परन्तु दोनों दृष्टिकोणों का मूल उद्देश्य एक ही है। अन्ततः हम यह कह सकते हैं कि पृथ्वी के विभिन्न भू-भागों में बहुत बड़ी संख्या में रहनेवाली (लगभग दस करोड़)[1] जाट जाति किसानों और सैनिकों के रूप में अपनी एक विशेष भूमिका निभाती रही है। जाटो की यह संख्या धार्मिक आधार पर चाहे हिन्दू, मुसलमान और सिख इन तीन भागों में बंट गई हो, परन्तु वीरता, साहस और जातीय चरित्र की दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं आया है।

भारतवर्ष के सम्बन्ध में जाटों के विस्तार के विषय में संक्षिप्त जानकारी देना भी वर्तमान सन्दर्भों में जाटों के महत्त्व को समझने में सहायक होगा। आधुनिक पंजाब (भारत) में सिख जाटों की बड़ी भारी संख्या है। परन्तु जिला फिरोजपुर के अबोहर और फाजिल्का क्षेत्रों में तथा जिला भटिण्डा, जिला संगरूर, जिला पटियाला और रोपड़ (रूपनगर) में हिन्दू जाट पाए जाते हैं। आधुनिक हरयाणा में जिला फरीदाबाद, गुडगावां, महेन्द्रगढ़, कुरुक्षेत्र और अम्बाला की तुलना में रोहतक, हिसार, भिवानी, जीन्द, सिरसा, करनाल और सोनीपत जिलों में हिन्दू जाटों की संख्या बहुत अधिक है।

---

1. सूरज सुजान पत्रिका, दिल्ली, जुलाई 1989

दिल्ली के तीनों ओर जाट बसे हुए हैं, किन्तु इसके पूर्वी भाग में यमुना के किनारे-किनारे गूजर रहते हैं। क्षत्रियों का इतिहास[1] के लेखक के अनुसार भरतपुर, अलवर, सीकरवाटी, झुन्झुनुवाटी, खेतड़ी, बीकानेर की लगभग आधी जनसंख्या, जोधपुर का उत्तरी भाग पर्वतसर, खाटू, पाली से नागौर तक, अजमेर मारवाड़ से खण्डवा तक, नसीराबाद से भीलवाड़ा तक, चित्तौड़ के कपासन आदि क्षेत्रों में जाट बहुसंख्या में बसे हैं। मध्यप्रदेश के रतलाम क्षेत्र, इन्दौर के चारों ओर होशंगाबाद की हरदा तहसील तथा नरसिंहपुर से करोली तक, भोपाल में 15 गांव. ग्वालियर के गोहद क्षेत्र में जाटों की बहुत बड़ी संख्या आबाद है। उत्तरप्रदेश में बरेली जिले की बहेड़ी तहसील, वदायूँ की उफानी तहसील. रामपुर की बिलासपुर तहसील तथा रुद्रपुर से हलद्वानी तक, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, अलीगढ, सहारनपुर, बुलन्द शहर आगरा की करावली तहसील, मथुरा आदि जिले जाटों से भरे हुए हैं।

इस प्रकार हम पंजाब, हरयाणा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश को 'जाट प्रदेश' या 'जाट क्षेत्र' के नाम से पुकार सकते हैं। गुजरात तथा महाराष्ट्र में जाटों की संख्या कम है। ठाकुर देशराज के अनुसार काठियावाड़ में जाट हैं, किन्तु आजकल वे अपने आपका जाट नहीं मानते। गुजरात में अंजना चौधरी रहते हैं जो कि जाट हैं। पटेलों के सम्बन्ध में उनका कहना है कि जाटों का और पटेलों का निकट का सम्बन्ध है। उत्तरी भारत के 'जाट चौधरी' और गुजरात के अंजना गोत्री चौधरी एक ही वंश के हैं।"

इसके अतिरिक्त जम्मू, आन्ध्रप्रदेश, हिमाचलप्रदेश, केरल, बिहार और बंगाल में जाट पाए जाते हैं। इस प्रकार भारत का कोई ऐसा कोना नहीं जहां जाट न हों।

जाट एक जाति है :—

जनगणना रिपोर्ट सं० 1901 के आधार पर जाट एक तिहाई मुसलमान, पांचवां भाग सिख और लगभग आधे वैष्णव हिन्दू हैं[2]। जहां तक जाटों की भाषा का प्रश्न है वहां सन् 1931 की जनगणना

1. परमेश शर्मा तथा राजपाल शास्त्री—क्षत्रियों का इतिहास, पृ० 48-49
2. सेन्सस आफ इण्डिया, खण्ड एक, पृ० 76-79.

रिपोर्ट के आधार कहा जा सकता है कि इनकी भाषा, लंहदा, पोठोहारी, हिन्दी, हिन्दुस्तानी, ब्रज, बांगरू, डोगरी और राजस्थानी है। अब प्रश्न उठता है कि जिस जाट जाति के मनुष्य विभिन्न धर्मों, विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करनेवाले हैं तो उन्हें एक जाति कैसे मान लिया जाए ? इस प्रश्न के लिए सीधा और सपाट उत्तर यह है कि "जाट आखिरकार जाट है" चाहे वह हिन्दू हो, चाहे वह सिक्ख हो और चाहे वह मुसलमान हो। क्योंकि भूमि के सम्बन्ध में इन सबके विचार एक समान हैं, धर्म परिवर्तन होने पर भी इनके स्वभाव और चरित्र में कोई अन्तर नहीं आता। इनकी आर्थिक समस्यायें एक समान हैं। इनकी चारित्रिक विशेषताओं के कारण ही इब्वटसन, क्रुक और रोज आदि विदेशी विद्वान् जाटों को एक जाति के रूप में स्वीकार करते हैं।

बहुत से विद्वान् मनोविज्ञान के आधार पर जाट को जाति न मानकर एक "सामाजिक समूह" स्वीकारते हैं। जाट एक "जाति" है अथवा "सामाजिक समूह" इस समस्या का समाधान समाजशास्त्र के सहयोग से खोजा जा सकता है। भारतीय सामाजिक ढाँचे को व्यावहारिक रूप से सुदृढ़ बनाने के लिए सम्पूर्ण मनुष्यों को चार वर्णों में वर्गीकृत किया था। ये वर्ण क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम से इतिहास में माने जाते हैं। भारतीय समाजशास्त्रियों की वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर न होकर कर्म के ही आधार पर थी। परन्तु कालान्तर में यह वर्ण-व्यवस्था कर्म को आधार मानते हुए भी जन्म के आधार पर निश्चित हो गई। जन्म और कर्म की इस मिली व्यवस्था ने भारत में अनेक जातियों को जन्म दिया। भारतीय सामाजिक व्यवस्थाकारों ने वर्णों के धर्म और कर्म निश्चित किए हुए थे। इन धर्मों और कर्मों के न करने से व्यक्ति उस-उस वर्ण से बहिष्कृत कर दिया जाता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि वर्णों की अपेक्षा उस वर्ण से सम्बन्धित अनेक जातियां बनती गईं। इसके अतिरिक्त भारतीय सामाजिक वर्ण-व्यवस्था में एक समय ऐसा भी आया जब कि बहुत से व्यवसायों अथवा कार्यों को सामाजिक दृष्टि से नीच समझा जाने लगा और वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी एक नई समस्या उत्पन्न होगई। इस समस्या का समाधान भी जातियों के निर्माण में सहायक रहा है। इसके अतिरिक्त विवाह-सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न प्रकार की जातियों के निर्माण के कारण माने जाते हैं।

जाति और वर्ण शब्द में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? पहले इसको समझ लेना आवश्यक है। भारतीय शब्द-कोष के अनुसार जाति शब्द वर्ण और योनि इन दो अर्थों के लिए प्रयुक्त होता है। वर्ण अर्थ में इसका प्रयोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा इनसे उत्पन्न सन्तानों के लिए होता है। योनि के अर्थ में इस शब्द का अर्थ मनुष्य योनि, पक्षी योनि, पशु योनि, कीट पतंग योनि के अथ में आता है। इसके अतिरिक्त इसका अन्य प्रयोग 'समूह' अथ में भी आता है। वस्तुत: जब एक ही वर्ण के मध्य विभिन्न व्यवसायों के कारण अनेक समुदाय बन जाते हैं तो वे जाति कहलाने लगते हैं।

यद्यपि जाति की परिभाषा निश्चित करना कठिन है तथापि अनेक समाजशास्त्रियों ने इस दिशा में यथाशक्ति प्रयास किया है। रिजले के अनुसार "जाति परिवार या परिवारों के समूहों का एक संकलन है, जो एक काल्पनिक पुरुष या देवता से उत्पत्ति का तथा एक ही परम्परागत व्यवसाय को करने का दावा करती है। ब्लण्ट के विचार से "जाति अन्तर्विवाह करनेवाले समूहों का संकलन है, जिसकी सदस्यता वंशानुगत है और जो सामान्य उत्पत्ति का दावा करते हैं।" केतकर नामक विद्वान् जाति की परिभाषा देते हुए कहते हैं "जाति एक सामाजिक समूह है, जिसकी दो विशेषतायें हैं एक सदस्यता वहीं तक सीमित होती है जो सदस्यों से उत्पन्न होते हैं, दूसरी सदस्यों को एक अनुल्लंघनीय सामाजिक नियम द्वारा समूह से बाहर विवाह करने से रोक दिया जाता है।"

उपर्युक्त तीनों परिभाषाओं के सार को ध्यान में रखते हुए हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि 'जाट' एक जाति है। क्योंकि इसमें परम्परागत व्यवसाय (कृषि), अन्तर्विवाह, वंशानुगत सदस्यता और किसी आदिपुरुष से उत्पत्ति के सिद्धान्त पाए जाते हैं।

डा० पाण्डुरंग वामन काणे ने "धर्म शास्त्र का इतिहास" में जाति-व्यवस्था की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि जाति व्यवस्था में वंशपरम्परा अर्थात् एक जाति में सिद्धान्ततः जन्म से ही स्थान प्राप्त हो जाता है। दूसरा जाति के भीतर ही विवाह करना एवं एक ही गोत्र में तथा कुछ विशिष्ट सम्बन्धियों में विवाह न करना। तीसरा भोजनसम्बन्धी वर्जना, चौथा व्यवसाय,

पाँचवां जातिश्रेणियां और छठा सेनार्ट के मतानुसार जाति सभा (पंचायत) जिसके द्वारा दण्ड आदि की व्यवस्था की जाती है।[1]

उपर्युक्त सभी विशेषताएं जाट जाति में पाई जाती हैं। जाट जाति में जाति-सभा (पंचायत) का तो यहां तक महत्त्व है कि जाटों की सामाजिक स्थिति प्रायः इसी के आधार पर चलती है। व्यवस्था की दृष्टि से प्रायः सभी जाट 'खेती-बाड़ी' को ही आर्थिक आधार मानकर अब तक भूमि से चिपके हुए हैं।

जातिसम्बन्धी सिद्धान्तों में युद्धों के कारण होनेवाली सामाजिक और धार्मिक क्रान्तियां भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आर्यों और अनार्यों के वर्णसंघर्ष से भारतीय समाज में अनेक जातियों का जन्म हुआ। मैगस्थनीज ने भी अपने यात्राविवरण में सात जातियों का उल्लेख किया है। जातियों के निर्माण में युद्धों का भी बड़ा भारी हाथ होता है। हमारा इतिहास बतलाता है कि युद्धों के कारण विजित और विजेता दोनों ही को जातियों में हीनता और उच्चता का दौरदौरा चलता है। विदेशी जातियों के भारत आगमन ने तो जातीयसमस्याओं को इतना पेचीदा बना दिया है कि प्रायः सभी जातियां अपनी उत्पत्ति के विषय में दैविक और काल्पनिक धारणाएं बनाए हुए हैं और रक्तशुद्धता का दावा प्रस्तुत करती हैं।

गीता में स्पष्ट शब्दों में युद्ध की निन्दा करते हुए कहा गया है कि इससे वर्णसंकरता फैलती है। युद्ध और शान्ति में यदि कोई अन्तर है तो वह यह है कि शान्ति के समय पुत्र अपने पिता का दाह संस्कार करते हैं और युद्ध के समय पिता अपने पुत्रों का दाह संस्कार करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि युद्ध में अनेक युवकों की मृत्यु हो जाती है और उनकी युवती पत्नियां यौनसमस्या से पीड़ित होकर अन्यजातीयपुरुषों से समागम करती हैं। स्थिति उस समय और भी खराब हो जाती है जबकि विजेता जाति धन-सम्पत्ति लूटने के साथ सुन्दर स्त्रियों का अपहरण करते नहीं शर्माती। ☼

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास प्रथम भाग (हिन्दी) पृ० 109।

द्वितीय अध्याय

जाटों की उत्पत्ति

जिस जाट जाति के वीरों ने कभी अपने शौर्य से देश और विदेश को आक्रांत कर दिया था और जिन्हें प्राचीन ग्रन्थों में 'भूमिपुत्र' नाम से जाना जाता था और जो वर्तमान में भारतीय सेना के सिरमौर हैं, ऐसे वीरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इतिहासकारों में परस्पर मत-ऐक्य नहीं है। जाटों की परम्परायें एवं लोक-गाथायें भी इस विषय पर कुछ भी स्पष्ट प्रकाश नहीं डालतीं। जाटों की उत्पत्ति के विषय में पौराणिकों, जागाओं तथा देशी और विदेशी इतिहासकारों ने अत्यन्त विवादास्पद विचार प्रस्तुत किए हैं, जिनका लेखा-जोखा करना अनिवार्य है।

सन् 1820 और 1830 के मध्य जेम्स टाड ने यह सुझाव दिया था कि जाट ईसा की प्रारम्भिक सदी में सीथियनों के भारत पर आक्रमण के साथ बाहर से आये थे। इनकी यह धारणा थी कि जाट सम्भवतः सीथियनों से उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि ऐसा ही विवरण हेरोडोटस का मिलता है। अलैक्जैण्डर कनिंघम ने ग्रीक और रोमन लेखकों के माध्यम से जाटों को खोजने का प्रयत्न किया है। इसने जाटों को स्ट्रेबों के वर्णनों के सहारे, जिनका उद्धरण प्लिनी और रामलो ने किया है, जैण्टिल से जोड़ने का प्रयास किया है। जैण्टिल गोत्र भी जाटों में पाया जाता है। परन्तु भारतीयपरम्परायें यह कहती हैं कि सीथियनों के भारत पर आक्रमण से पूर्व जाट लोग सिंध में रहते थे और जाटों के मुखियों का महाभारत के वीरों से सीधा सम्बन्ध था। इस प्रकार जाट जाति की उत्पत्ति के विषय में एक दूसरे से नितांत भिन्न और विरोधी विचार मिलते हैं। इन विचारों का क्रमिक विकास और अध्ययन करना बड़ा कठिन कार्य है। फिर भी हम यथाशक्ति अगले पृष्ठों में जाट जाति की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धांतों की समालोचना प्रस्तुत करेंगे। इस समालोचना में प्रथम "जाटों की उत्पत्ति" सम्बन्धी भारतीय सिद्धांत लिखे जायेंगे और इसके बाद विदेशी सिद्धांत लिखकर यह स्पष्ट किया जाएगा कि जाट भारतीय आर्य हैं या विदेशी आक्रांता।

जठर सिद्धान्त

इस सिद्धांत के प्रवर्तक अंगद शास्त्री हैं। इन्होंने सन् 1869 में गिरिप्रसाद बेसमा (अलीगढ़, उत्तरप्रदेश) के प्रोत्साहन पर संस्कृत भाषा में एक छोटी-सी पुस्तक लिखी थी, जिसमें जाटों की उत्पत्ति को पौराणिक परम्परा का सहारा लेकर खोजने का प्रयास किया गया था। इस पुस्तक का नाम 'जठरोत्पत्ति' है। अंगद शास्त्री ने पुराणों के श्लोक उद्धृत करते हुए जाटों को ब्राह्मणों को सन्तान माना है। इस पुस्तक में इस सन्दर्भ में ये श्लोक दिए गए हैं—

क्षत्रशून्ये पुरा लोके भार्गवेन यदा लोके।
विलोक्याक्षत्रियां धरणीं कन्यास्तेषां सहस्रशः॥
ब्राह्मणान् जगृहुस्तस्मिन् पुत्रोत्पादनलिप्सया।
जठरे धारितं गर्भं संरक्ष्य विधिवत् पुरा॥
पुत्रान् सुषुविरे कन्या जाठरान् क्षात्रवंशजान्।

अर्थात् जब परशुराम ने भारतखण्ड को क्षत्रियों से रहित कर दिया था तो उस समय क्षत्रियकन्याओं ने भारतखण्ड को क्षत्रिय-रहित जानकर ब्राह्मणों से गर्भाधान स्वीकार किया और अपने जठर (पेट) में धारित गर्भ की रक्षा करते हुए जाठर नाम के क्षत्रवंशीय पुत्रों को उत्पन्न किया। अंगद शास्त्री की मान्यता के अनुसार यही जाठर क्षत्रिय आगे चलकर जाट कहलाए। यह सम्पूर्ण प्रसंग परशुराम और सहस्रार्जुन संघर्ष को आधार मानकर लिखा गया है।

अंगद शास्त्री का यह सिद्धांत इतना बेतुका और बाहियात है कि इसे किसी भी रूप में स्वीकारा नहीं जा सकता। हम यह जानना चाहते हैं कि उस समय ब्राह्मण अपने धार्मिक कृत्यों को करते हुए सामाजिक मर्यादा को निबन्धित करते थे या वे समाज को भ्रष्ट करने के लिए सांड छूटे हुए थे? यह सिद्धांत जाट क्षत्रियों को अपमानित करने के लिए मनघड़न्त कल्पना की उड़ान है। जब ब्राह्मणों ने नवीन हिन्दू धर्म के आधार पर नए समाज की रचना आरम्भ थी, उस समय जाट क्षत्रियों ने उनसे कोई सहयोग नहीं किया, क्योंकि वे प्रगतिशीलविचारों के माननेवाले थे। वे विधवा-विवाह और सामाजिक समानता के पक्षधर थे। हिन्दू-धर्म की बहुदेव-पूजा उन्हें रुचिकर नहीं थी। वे खान-पान के विषय में चौके की गुलामी में फंसने को बुरा समझते थे। वे तो एक हाथ में रोटी और दूसरे हाथ में शत्रु का रक्त-रंजित मुण्ड थामनेवाले

पुरुषों के अनुयायी थे। यही कारण थे कि नवीन हिन्दूधर्म के शास्त्र-कारों ने उन्हें अपमानित करके सामाजिक स्तर पर गिराने का यथाशक्ति प्रयास किया था। इन्हें जलील करने में कसर नहीं छोड़ी। स्मृतिकारों और पुराणकारों की 'छुईमुई' के समान झट पत्ते बन्द करनेवाली ब्राह्मणों की जाति-व्यवस्था को जाटों ने उपेक्षाभाव से देखा। वरना क्या कारण था कि जिन जाटों को शकों, हूणों और मुगलों ने तीर और तोप की पैनी धार में परखा, पठानों ने जिनके भालों की चासनी ली, अंग्रेजों ने युद्ध के पैंतरे देखे, जिन्होंने देहली, काबुल, भरतपुर, आगरा, पुष्कर, पानीपत, जर्मनी तथा फ्रांस की भूमि पर अपने गर्म-गर्म लहू की स्याही और तलवार-रूपी कलम से यह सिद्ध कर दिया कि जाट क्षत्रिय और मात्र क्षत्रियों की ही सन्तान हैं, मौन साधे बैठे रहे। क्षत्रियों के मान-मर्दन करनेवाले, उनके बच्चों एवं स्त्रियों को बन्दी बनानेवाले महमूद गजनवी तथा तैमूर के दांत खट्टे करनेवाले ये लोग क्या उन्हें अपमानित करनेवाले ब्राह्मणों के दिमाग की गर्मी नहीं निकाल सकते थे? परन्तु वे चुप रहे, क्योंकि उन्हें राष्ट्र की रक्षा करके खेती द्वारा समाज का पेट पालना था, न कि ब्राह्मणों के समान कोरे कागजों पर जाति-व्यवस्था के काले कानून बनाना।

यदि पुराणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है कि जाट (क्षत्रिय) ब्राह्मणों की सन्तान हैं, तो महाभारत से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि ब्राह्मण भी क्षत्रियों की सन्तान हैं। महाभारत के आगे लिखे श्लोक इस मान्यता की पुष्टि करते हैं—

ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वामित्रो महातपः।
क्षत्रियोऽप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः॥
दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिमित्रायुनृपः।
मैत्रायणस्ततः सोमो मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः॥
वृहत्क्षत्रमहावीर्यनरगर्गाद्या भवन्पुत्राः।
गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्याः शैन्याक्षत्रोपेता द्विजातयो बभूबुः॥

अर्थात् महातपस्वी विश्वामित्र के अपने ब्रह्मज्ञान के कारण ब्राह्मण बन जाने पर उसके वंश से कौशिक ब्राह्मण उत्पन्न हुए। क्षत्रिय दिवोदास के उत्तराधिकारी मित्रायु से सोम मैत्रायण हुआ, उससे उत्पन्न मैत्रेय ब्राह्मण कहलाए। मन्यु के पुत्र वृहत्क्षत्र, महावीर्य तथा नरगर्ग नामक तीन पुत्रों में से गर्ग का पुत्र शिनि था, उससे गार्ग्य और

शौन्य ब्राह्मण हुए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि क्षत्रियों से बहुत से ब्राह्मणवंश चले और क्षत्रियों ने ब्राह्मणकन्याओं से विवाह रचाया। जब ब्राह्मणों ने देखा कि क्षत्रियवंशी ब्राह्मणों का समाज में एक निश्चित स्थान बन रहा है तो उन्होंने क्षत्रियवंशी ब्राह्मणों का प्रभुत्व कम करने के लिए यह प्रचारित कर दिया कि सारे वर्ण ब्राह्मणों से ही उत्पन्न हुए हैं और इसके लिए आगे लिखा श्लोक प्रमाण रूप में प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया—

मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि भारत।
अंगिरा:, कश्यपश्चैव वशिष्ठो भृगुरेव च॥

अर्थात् अंगिरा, कश्यप, वशिष्ठ और भृगु नामक मूलगोत्र चार ही हैं। इसके उपरान्त जब समाज का ब्राह्मणों पर दबाव पड़ा तो उन्होंने बाद में विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य आदि आठ गोत्रों की कल्पना की और ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों की सन्तानों को इन्हीं आठ गोत्रों के अन्तर्गत मान लिया।

वस्तुत: जाठर सिद्धान्त में ब्राह्मणों और क्षत्रियों के संघर्ष को आधार मानकर जाटों की उत्पत्ति को सिद्ध करने का परिश्रम किया गया है। हमारे विचार से जाटों की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त धार्मिक, ऐतिहासिक भौगोलिक और भाषाविज्ञान की दृष्टि से निराधार और असंगत प्रतीत होता है।

धार्मिक दृष्टि से भारतीय साहित्य सन्दर्भ ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों में ज्ञान और राज्य-शक्ति के क्षेत्र में सर्वोच्च प्रभुसत्ता प्राप्त करने के लिए संघर्ष चला था। इस संघर्ष की कहानी उपनिषदों और पुराणों में भली-भाँति खोजी जा सकती है। उपनिषदों में क्षत्रियों को ज्ञान के क्षेत्र में ब्राह्मणों से उच्चतर बतलाकर विश्वामित्र, जनमेजय, जाबाली और जनक की— भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। इसके विपरीत पुराणों में वशिष्ठ, परशुराम-अगस्त्य और दुर्वासा को अधिक शक्तिशाली घोषित किया है। दूसरी ओर जैन और बौद्ध साहित्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि ज्ञान और कर्म के क्षेत्र में क्षत्रिय ब्राह्मणों से होड़ ले रहे थे। जातकों तथा अन्य बौद्ध-ग्रन्थों में सबसे ऊँचे क्षत्रिय माने गये हैं। ब्राह्मणों को अपमानजनक शब्दों में याद किया गया है। कहीं उन्हें 'तुच्छ ब्राह्मण' और कहीं 'नीच ब्राह्मण' तक कहा गया है। जैनग्रन्थों में ब्राह्मणों को

'अक्षर मलेच्छ' लिखा गया है। महावीर स्वामी के जन्म के विषय में तो यहां तक कहा जाता है कि वे प्रथम देवनन्दा नामक ब्राह्मणी के गर्भ में आए थे, परन्तु जब उन्होंने देखा कि मेरे से पूर्ववर्ती सभी तीर्थंकर क्षत्रियवंश में ही उत्पन्न हुए थे तो वे देवनन्दा के गर्भ से क्षत्राणी माता त्रिशलादेवी के गर्भ में चले गए।

इसके अतिरिक्त वैदिक और स्मृति साहित्य के अध्ययन से भी यह बात सिद्ध नहीं होती कि जाट क्षत्रिय कन्या और ब्राह्मण पुरुष से उत्पन्न सन्तान हैं। वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, काठक संहिता; अथर्ववेद, ताण्ड्य ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद् के आधार पर "भारत रत्न" पाण्डुरंग वामन काणे ने "धर्मशास्त्र का इतिहास' प्रथम भाग में लिखा है कि वैदिककाल के अन्त होने से पूर्व भारत में लगभग पचास जातियों का उद्भव हो चुका था और ये जातियाँ वर्णसंकरता का परिणाम[1] थीं"। परन्तु इन वर्णसंकर जातियों में "जाट" का उल्लेख नहीं है, तब यह कैसे माना जा सकता है कि 'जाट क्षत्रिय लड़की और ब्राह्मण पुरुष की सन्तान है।' स्मृतिग्रन्थों में विवाह-प्रसंग में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों के नाम दिए गए हैं, इन सन्तानों में "जाट" का नाम कहीं भी नहीं है।

अंगद शास्त्री ने पुराणों का आधार लेकर जो यह कहा है कि क्षत्रियकन्या और ब्राह्मणपुरुष से उत्पन्न सन्तान 'जाट' है, यह मान्यता बौधायन धर्मसूत्र, महाभारत, नारद स्मृति, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों की मान्यताओं के प्रतिकूल है। इन ग्रन्थों की मान्यताओं के अनुसार ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय नारी की सन्तान ब्राह्मण ही होती है क्षत्रिय नहीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से जब हम इस सिद्धान्त की समीक्षा करते हैं तो भी जाटों की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त खरा नहीं उतरता। इतिहास में प्रत्येक घटना तथा उससे सम्बन्धित व्यक्तियों का वर्णन कालक्रमानुसार होना चाहिए। परन्तु पुराणों में वर्णित क्षत्रियवंश के नाशक परशुराम का कालक्रम अनिश्चित है। इतिहास के विद्यार्थी के लिए यह समस्या बनी हुई है कि वह परशुराम को किस युग में स्थान

1. धर्मशास्त्र का इतिहास प्रथम भाग (हिन्दी) पृ० 111-119।

दे। रामायण महाभारत और पुराणों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि परशुराम त्रेता युग में भी विद्यमान थे और द्वापर में भी। द्वापर में वे महाभारत के अनुसार द्रोण और कर्ण के शस्त्रविद्या के गुरु थे। त्रेता में रामायण के अनुसार वे राम से युद्ध करते दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार परशुराम का काल एक भूल-भुलैया में पड़ा हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतभूमि कभी भी क्षत्रियों से रहित नहीं हुई है। यदि हम परशुराम को रामायणकाल में मानें तो उस समय अयोध्या में राजा दशरथ, मिथिला में राजा जनक, सांकाश्या में राजा कुशध्वज, केकय प्रदेश में राजा अश्वपति, अंगदेश में चित्ररथ और काशी में वत्स नामक राजा राज्य करते थे। अतः यह कहना कि भारतभूमि क्षत्रियों से रहित हो गई थी, ऐतिहासिक दृष्टि से अमान्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से भार्गवों और हैहयों की परस्पर शत्रुता अवश्य सिद्ध होती है। "पद्म पुराण" में सोमवंश का वर्णन करते समय कहा गया है कि हैहय वंश में कार्तवीर्य सहस्रार्जुन नामक एक राजा हुआ और उसके सहस्रों बाहुओं को हेमताल वन की भांति परशुराम ने छिन्न-भिन्न करके काट दिया था[1]। सहस्रार्जुन को इसी पुराण में सात द्वीपों का राजा बताया गया है। दूसरी ओर भार्गववंशी परशुराम का महेन्द्र पर्वत का निवासी बताया है जो कि दक्षिण में स्थित है। भार्गवों और हैहयों की परस्पर शत्रुता का कारण रामायण के बालकाण्ड में परशुराम के मुख से इस प्रकार कहाया गया है—"तपोबल से सम्पन्न मेरे पिता जमदग्नि अस्त्र-शस्त्रों का परित्याग करके जब ध्यानस्थ होकर बैठे थे उस समय प्राकृतबुद्धि का आश्रय लेनेवाले कृतवीर्य कुमार अर्जुन ने उसको मार डाला। पिता के इस अत्यन्त भयंकर वध का, जो कि उसके योग्य नहीं था, समाचार सुनकर मैंने रोषपूर्वक बार-बार उत्पन्न हुए क्षत्रियों का अनेक बार संहार किया। फिर सारी पृथ्वी पर अधिकार करके मैंने एक यज्ञ किया और उस यज्ञ के समाप्त होने पर पुण्यकर्मा कश्यप को दक्षिणा के रूप में यह सारी पृथ्वी दे डाली। पृथ्वी का दान करके मैं महेन्द्र पर्वत पर रहने लगा।"

दूसरी ओर महाभारत के कर्ण पर्व में लिखा है कि शिव ने परशुराम की तपस्या से प्रसन्न होकर उसको इसलिए अस्त्र दिए कि

*पद्म पुराण, सोमवंश वर्णन श्लोक 83, 84

वह पृथ्वी से दानवों का नाश करे। उपर्युक्त सन्दर्भ का आधार मानकर कुछ इतिहासकार परशुराम को दक्षिण में आर्यसभ्यता का विस्तारक मानते हैं और महेन्द्र पर्वत के क्षेत्र को 'परशुराम क्षेत्र" भी कहते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यशक्ति की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण तथा क्षत्रियों में निरन्तर एक संघर्ष चल रहा था। इस संघर्ष की कहानी मौर्य राजा बृहद्रथ की मृत्यु से भी पुष्ट होती है। ब्राह्मणमंत्री पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को मारकर मगध का राज्य प्राप्त किया और शुङ्गवश की स्थापना की थी।

कम्बोडिया और श्याम देशों में उपलब्ध रामायण की कथा के अनुसार भार्गव और हैहय वंश के मध्य युद्ध हुआ था। यह युद्ध व्यापारसम्बन्धी नीनि का परिणाम था। भार्गव समुद्र-मार्ग से व्यापार करते समय विदेशियों के साथ अधिक तालमेल रखते थे और देशोय हितों की उपेक्षा करते थे। सहस्रार्जुन को यह बात सह्य नहीं थी। अन्ततः दोनों का परस्पर युद्ध हुआ।

इसके साथ-साथ जैनग्रन्थों के प्रमाणों से हमें यह पता चलता है कि कार्तवीर्य सहस्रार्जुन के पुत्र सुभूम ने परशुराम को मारकर अपने पिता का बदला ले लिया था। इस प्रकार अंगद शास्त्री की यह कल्पना कि क्षत्रिय परशुराम के भय से हिमालय में भाग गये थे, ठीक नहीं। पुराणों का ही आधार लेकर हिन्दी के केशवदास ने अपनी "रामचन्द्रिका" नामक पुस्तक में भी ऐसा लिखा है कि "परशुराम के भय से क्षत्रिय सैनिक रूप को छोड़कर स्त्रीवर्ग के मध्य सम्मिलित हो गए थे।" वस्तुतः इस प्रकार की कल्पनाएं सत्य पर कम और जातीय श्रेष्ठता की कल्पना पर अधिक आधारित हैं। सम्पूर्ण पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित करने की बात तो दूर रही, परशुराम हैहय वंश का ही समूल नाश नहीं कर सका था। विष्णु पुराण के अनुसार सहस्रार्जुन के सौ पुत्र थे। इनमें शूर, शूरसेन, वृषसेन, मधु और जयध्वज प्रमुख हुए। जयध्वज का पुत्र तालजंघ था और इसके पुत्रों में वीतिहोत्र और भरत प्रमुख थे। भरत का पुत्र वृष, वृष का मधु और मधु का वृष्णि हुआ, जिससे वृष्णि वंश प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि सहस्रार्जुन वंश की परम्परा चलती ही रही और उसका कभी भी समूल नाश नहीं हुआ।

समाजशास्त्र की दृष्टि से भी जठर सिद्धांत सत्य की कसौटी पर

खरा नहीं उतरता है । समाजशास्त्रियों ने जातियों के स्वाभाव एवं व्यवहारों का अध्ययन करने के उपरान्त यह प्रमाणित किया है कि जाटों में अपने भाइयों की विधवाओं के साथ पुन: विवाह करने की प्रथा है । इस प्रथा के अनुसार यह सिद्ध होता है कि जाट स्त्रियां अपने पति के मरने के उपरान्त सदा अपने ही पति के वंशजों से ही सन्तान की कामनायें रखती हैं न कि अन्यवर्णवालों से । यदि पति के वंश में कोई पुरुष जीवित न रहे तो वंश-परम्परा में जो वंश समीप हो उसके पुरुष से पुन: विवाह हो जाता है । अत: ब्राह्मणों के गर्भ-दान का प्रश्न ही नहीं उठता ।

इसके अतिरिक्त कोई भी क्षत्रियकन्या अपने कुल के घातक व्यक्ति को प्यार और स्नेह की दृष्टि से न देखकर घृणा और क्रोध की दृष्टि से देखती है । क्षत्रियकन्याओं ने पितृघाती लोगों से प्यार करके भी अपने पिता की हत्या का बदला लिया है । ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे अपने कुलघातियों से सन्तान की कामना करती रहें । इसके विपरीत ब्राह्मण भी इतने मूर्ख नहीं हो सकते थे कि वे अपने शत्रुओं की स्त्रियों को गर्भ देकर, स्वयं अपनी विरोधी सन्तान उत्पन्न करें । एक दो स्त्रियों के सम्बन्ध में गर्भाधान की बात समझ में आ सकती है । यह भी मात्र क्षत्रियों पर लागू न होकर सभी जातियों की स्त्रियों पर समान रूप में व्यवहार्य है । क्योंकि काम की प्रबलता अपरिहार्य है । परन्तु सम्पूर्ण क्षत्रियस्त्रियों का एक साथ गर्भ धारण करने की इच्छा से ब्राह्मणों को पति रूप में स्वीकार करना किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । इस सिद्धान्त की लचरता इस बात से भी सिद्ध होती है कि जब क्षत्रियस्त्रियों ने क्षत्रियों के अभाव में ब्राह्मणों से गर्भ ही धारण कर लिया, तो उन्हें अपने मूल स्थान को छोड़कर गर्भरक्षा के लिए हिमालय में स्थित जठर प्रदेश में जाने की क्या आवश्यकता थी ? वे जठर प्रदेश में किसके आश्रय में रहने के लिए गईं ?

भौगोलिक दृष्टि से जब इस सिद्धान्त को परखा जाता है तो भी यह सिद्धान्त असत्य प्रतीत होता है । अंगद शास्त्री जठर (पेट) शब्द से जाटों जी उत्पत्ति सिद्ध करते हुए जहां जठर (पेट) शब्द को प्रधान मानते हैं वहां वे जाट स्त्रियों का हिमालय के मध्य स्थित जठर नामक प्रदेश को भी महत्त्व देते हैं । पुराणों के अनुसार जठर नाम का एक

स्वतन्त्र मर्यादा पर्वत बताया गया है । इस पर्वत का वर्णन करते हुए विष्णु पुराण में कहा गया है कि :—

जठरो देवकूटश्च मर्यादापर्वतावुभौ ।
तौ दक्षिणोत्तरायामवानीषधपवतौ ॥[1]

अर्थात् जठर और देवकूट ये दोनों मर्यादा पर्वत कहे गये हैं । ये दक्षिण और उत्तर में नीलगिरी और निषिध पर्वत तक फैले हुये हैं। जठर नामक पर्वत की पुराणों के आधार पर स्वतन्त्र सत्ता है। इसके साथ-साथ पुराणों के अध्ययन से हमें यह भी पता चलता है जठर नाम का एक पृथक् प्रदेश भी था । इस प्रदेश का वर्णन करते हुए विष्णु पुराण में लिखा है कि :—

मेरोरनन्तरांगेषु जठरादिष्ववस्थिता: ।
शंखकूटोऽऋषभो हंसो नागरस्तथापर: ॥
कालंजाद्याश्च तथा उत्तरे केसराचला: ।

अर्थात् मेरु के निकटवर्ती इलावृत वर्ष में जठरादि देशों में स्थित शंखकूट, ऋषभ, हंस, नाग और कालंजादि पर्वत उत्तर के केसराचल हैं। इस प्रदेश की स्थिति के विषय में वाराही संहिता में लिखा है—

आग्नेयां दिशि कोशलकलिंगवंगोपवंगजठरांगा: ।[2]
शौलिकविदर्भवत्साऽन्ध्रचेदिकाश्चोर्ध्वकण्ठाश्च ॥[3]

अर्थात् अग्निकोण (दक्षिण-पूव) में कोशल, कलिंग, वंग, उपवंग, जठर, अंग, शौलिक, विदर्भ, वत्स, आन्ध्र, चेदिक और ऊर्ध्व कण्ठ आदि प्रदेश हैं । इस प्रकार जठरप्रदेश की स्थिति दक्षिणपूर्व में होने के कारण जाटों का उत्पत्तिस्थान दक्षिणपूर्वप्रदेश सिद्ध होता है न कि जठर (पेट) से उत्पन्न होने के कारण। परन्तु इस बात को न तो इतिहासकार और न वे स्वयं जाट मानते हैं कि उनकी आदिभूमि दक्षिण है ।

अंगद शास्त्री के सम्बन्ध में हमें यह भी लिखना है कि ये सनातनी पण्डित थे और मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में इनका स्वामी दयानन्द से शास्त्रार्थ हुआ था । सत्यार्थप्रकाश में स्वामी जी द्वारा लिखी गई

1. विष्णु पुराण, प्रथम खण्ड, द्वितीय अंश, अध्याय 12, श्लोक 40.
2. विष्णु पुराण, प्रथम खण्ड, द्वितीय अंश, अध्याय 12, श्लोक 40.
3. वाराही संहिता, पृ० 75, श्लोक 8.

जाट की कहानी से ये चिढ़ गये थे। क्योंकि इस कहानी में जाट ने पिता के मृतक श्राद्ध में दी गई अपनी गाय को ब्राह्मण से वापिस ले लिया था। अतः इसका प्रतिकार लेने के लिये अंगद शास्त्री ने ब्राह्मणों से गर्भाधान लेने की बात लिखकर जाटों से बदला लिया। अतः यह सिद्धांत किसी भी रूप में मान्य नहीं कहा जा सकता।

जठर सिद्धांत के माननेवाले लोगों में मेरठ के जाट वकील लहरीसिंह का नाम उल्लेख योग्य है। इस वकील ने जनगणना अधिकारी के प्रोत्साहन पर सन् 1883 ई० में 'जाटों की उत्पत्ति' नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी—जिसमें 'जठर' शब्द को आधार मानकर जाट जाति की उत्पत्ति सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। अंगद शास्त्री और लहरीसिंह की 'जठर' सम्बन्धी धारणाएं नितान्त पृथक्-पृथक् हैं। जहां अंगद शास्त्री 'जठर' शब्द को ब्राह्मण-गर्भ धारण में प्रयुक्त करते हैं वहां लहरीसिंह 'जठर' शब्द से प्रदेशविशेष का अभिप्राय ग्रहण करके जठर प्रदेश में उत्पन्न होने के कारण जाट शब्द की सिद्धि करते हैं। पद्मपुराण में भारतवर्ष के पर्वत और नदियों के नाम गिनाते समय जनपदों के नाम भी गिनाए गए हैं। इस प्रसंग में पद्मपुराण का आगे दिया श्लोक बड़ा महत्त्वपूर्ण है—

> बोधमद्राः कलिंगाश्च काशयोऽपरकाशयः।
> जठरा कुकुराश्चैव सुदशार्णाः सुसत्तमाः॥[1]

अर्थात् बोधमद्र, कलिंग, काशी, अपरकाशी, जठर, कुकुर, सुदशार्ण और सुसत्तम जनपदों के शुभ नाम हैं। इसके अतिरिक्त लहरीसिंह जाटों की भारतीय उत्पत्ति को स्वीकार न करके इन्हें विदेशी मानते हैं।

विदेशी सन्दर्भग्रन्थों से भी हमें पता चलता है कि ब्राह्मणों ने जाटों को उखाड़कर अपना राज्य स्थापित करने का प्रयास किया है। 'चचनामा' पुस्तक से विदित होता है कि ब्राह्मणों ने जाटों पर बहुत बड़े-बड़े अत्याचार किए थे। इस पुस्तक के अनुसार जाट घोड़ों पर काठी लगाकर सवारी नहीं कर सकते थे। ब्राह्मणों ने उन्हें सिर पर पगड़ी तक बांधने की मनाही कर दी थी। 'मुजमलुत तवारीख' नामक पुस्तक में क्षत्रिय और ब्राह्मण संघर्ष के सूत्र स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। इसमें लिखा है कि पाण्डवों के पतन का कारण उनका

---

1. पद्म पुराण, द्वितीय खण्ड, द्वीप विभाग वर्णन, श्लोक 27.

अन्याय था। एक दिन वे एक ब्राह्मण की गाय छीनकर ले गए और उसको मार डाला। एक ब्राह्मण-पुत्र जिसका नाम ग्रहमिन था, उसने इस अपराध के कारण पाण्डवों का राज्य छीन लिया। राज्य छिनने के बाद पाण्डवों की यह अवस्था हुई कि गाने-बजाने का काम करने लगे।[1]

भाषाविज्ञान की दृष्टि से जब हम 'जठर सिद्धान्त' को परखते हैं तो भी हमें जाठर और जाट शब्द की समानता पर सन्देह होने लगता है। व्याकरण के नियम के अनुसार जब हम किसी संज्ञाशब्द के आगे अपत्यार्थ (पुत्र के अर्थ में) में तद्धित प्रत्यय लगाकर शब्द का निर्माण करते हैं, तो मूल शब्द में बढ़ोतरी हो जाती है। जैसे ककुत्स्थ का बेटा काकुत्स्थ, वसुदेव का बेटा वासुदेव, दशरथ का बेटा दाशरथि और गंगा का बेटा गांगेय। इस नियम के अनुसार जाठर शब्द का परिवर्धित रूप जाट न होकर जाठरि, अथवा जाठरेय अथवा जाठरीय होना चाहिये। अतः जाट शब्द की व्युत्पत्ति जाठर से कभी नहीं मानी जा सकती।

पुराणों के अतिरिक्त हमें 'जठर' शब्द का प्रयोग महाभारत के शल्यपर्व[2] में इस प्रकार मिलता है—

चतुर्दंष्ट्रोऽष्टजिह्वश्च मेघनादः पृथुश्रवाः।
विद्युताक्षो धनुर्वक्त्रो जाठरो मारुताशनः॥

उपर्युक्त श्लोक स्कन्द (कार्तिकेय) के सैनिकों के नाम गिनाने के संदर्भ में आया है। यदि किसी प्रकार 'जाठर' शब्द से जाटों की उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है तो यह सम्बन्ध सेनापति स्कन्द के सैनिक 'जाठर' से ही जोड़ना उचित हो सकता है। क्योंकि लोक-परम्परा के अनुसार जाट शिव को अपना आदिपुरुष स्वीकार करते हैं और इसके पुत्र स्कन्द (कार्तिकेय) की प्रिय नगरी रोहतक थी।

अंगद शास्त्री के 'जठर सिद्धान्त' की समालोचना करने के उपरान्त इसी सन्दर्भ में हम महाभारत के आदि पर्व[3] में दिये गये इसी प्रकार के आख्यान की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं जिसमें जनमेजय वैशम्पायन से क्षत्रियों की उत्पत्ति के विषय में पूछते हैं :—

1. इलियट एण्ड डउसन, भारत का इतिहास, भाग प्रथम पृ० 72-73.
2. महाभारत – शल्य पर्व, अध्याय 45, श्लोक 61
3. महाभारत—आदिपर्व, अध्याय 64, श्लोक 1-8

यदर्थमिह सम्भूता देवकल्पा महारथाः ।
भुवि तन्मे महाभाग सम्यगाख्यातुमर्हसि ॥

हे महाभाग वैशम्पायन मुझे देवों के समान महारथी क्षत्रियों की उत्पत्ति के विषय में बताइए कि इनका जन्म कैसे और किसलिए हुआ है। जनमेजय के प्रश्न का उत्तर देते हुए वैशम्पायन ने कहा—

रहस्यं खल्विदं राजन् देवानामपि नः श्रुतम् ।
तत्तु ते कथयिष्यामि नमस्कृत्य स्वयम्भुवे ॥
त्रिसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां पुरा ।
जामदग्न्यस्तपस्तेपे महेन्द्रे पर्वतोत्तमे ॥
तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति ।
ब्राह्मणान् क्षत्रिया राजन् सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः ॥
ताभिः सह समापेतुर्ब्राह्मणाः संशितव्रताः ।
ऋतावृतौ नरव्याघ्र न कामान्नानृतौ तथा ॥
तेभ्यश्च लेभिरे गर्भं क्षत्रियास्ताः सहस्रशः ।
ततः सुषुविरे राजन् क्षत्रियान् वीर्यवत्तरान् ॥
कुमारांश्च कुमारीश्च पुनः क्षत्राभिवृद्धये ।
एवं तद् ब्राह्मणैः क्षत्रं क्षत्रियासु तपस्विभिः ॥

अर्थात् जब परशुराम ने इक्कीस बार समूलरूप से क्षत्रियों का नाश कर दिया तो वे महेन्द्र पर्वत पर जाकर तपस्या करने लगे। उस समय क्षत्रियकन्याओं ने सन्तानप्राप्ति की इच्छा से ऋतुकाल के उचित समय में ब्राह्मणों से गर्भ धारण किया। महाभारत का उपर्युक्त आख्यान भी ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष की स्मृति दिलाता है। इस संदर्भ के विषय में भी वही तर्क दिए जा सकते हैं जोकि अंगद शास्त्री के 'जठर सिद्धान्त' के खण्डन में दिये गये हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पौराणिकसमाज विशेषरूप में जाटों को और सामान्यरूप में सम्पूर्ण क्षत्रियों को अपमानित करने में तुला हुआ प्रतीत होता है।

जटा सिद्धान्त—

जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जटा सिद्धान्त भी बहुचर्चित सिद्धान्त है। जनगणना रिपोर्ट मारवाड़ में जाटों की उत्पत्ति शिव जी की जटाओं से बताई गई है। रिपोर्ट के अनुसार जब सृष्टि रची गई तो महादेव जी ने अपनी-जटा में से कुछ भस्म निकालकर पार्वती को दे

दी। पार्वती ने उस भस्म का पुतला बनाकर महादेव जी से उस में प्राण-संचार करने की प्रार्थना की। महादेव जी ने पार्वती की प्रार्थना स्वीकार करके उस पुतले में प्राण डाल दिए। पार्वती ने उसका नाम 'हरतीतरवाल' रखा दिया। 'हरतीतरवाल' का जन्म जटाओं से हुआ था, अतः उसकी जाति जाट हुई। हरतीतरवाल के दो बेटे गोदारा और पूनिया हुए, जिनमें से जाटों की दो खापें गोदारा और पूनिया बनीं। फिर पीछे से और भी कौमें जाटों में मिल गईं।[1] इस लोक कथा को आधार मानकर कुछ लोग 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' ग्रन्थ का निर्माता 'तीतरवाल' जाट को मानते हैं।

इसी प्रकार की एक अन्य कथा लोगों में पौराणिक आधार पर इस प्रकार प्रचलित है—महादेव के श्वसुर दक्ष ने जो कि हरिद्वार के पास कनखल के राजा थे, एक बार यज्ञ रचाया और उस में प्राय: सभी देवताओं को आमन्त्रित किया गया। परन्तु उस यज्ञ में न तो अपने दामाद महादेव को और न ही अपनी पुत्री सती को बुलाया। पिता का यज्ञ समझकर सती बिना बुलाये ही पहुंच गई। लेकिन जब सती ने देखा कि यज्ञ में न उसके पति का और न उसका भाग निकाला गया है, तो उसने अपने पिता से शिव को न बुलाने का तथा यज्ञ का भाग न निकालने का कारण पूछा। दक्ष ने उत्तर दिया कि बेटी! महादेव तो औघड़ हैं, भस्म रमाते हैं, अशिव हैं और बैल की सवारी करते हैं, अतः वे इस यज्ञ में आने के योग्य नहीं हैं। पिता की ये बातें सुनकर सती पति का अपमान न सह सकी और उसने वहीं अपने प्राणों का त्याग कर दिया। महादेव जी को जब यह समाचार मिला तो दक्ष को दण्ड देने के लिए अपनी जटा में से 'वीरभद्र' नामक जाटगण उत्पन्न कर दिया। इस कथा की लोकप्रियता यहां तक बढ़ी कि जाट और जटा का सम्बन्ध सदा के लिए जुड़ गया।

एक बार पार्वती ने शिव से जाटों के जन्म और कर्म के विषय में पूछा। इस सम्बन्ध में शिव और पार्वती के प्रश्न और उत्तर को 'देव संहिता' में इस प्रकार लिखा गया है :—

> भगवन् सर्वभूतेश सर्वधर्मविदांवर ।
> कृपया कथ्यतां नाथ जटानां जन्म कर्म च ॥

---

1. चुरु मण्डल का इतिहास, पृ० 101-102.

का च माता पिता ह्येषां का जाति वद किं कुलम् ।
कस्मिन् काले शुभे जाता प्रश्नानेतान् वद प्रभो ।।

अर्थात् हे सर्वप्राणियों के स्वामी और धर्म की बात जाननेवालों में श्रेष्ठ महादेव जी ! आप मुझे जाटों के जन्म, कर्म, इनके माता-पिता, इनके कुल और काल के विषय में बताइए । पार्वती के प्रश्नों का उत्तर देते हुए शिवजी ने कहा—

शृणु देवि जगद्वन्द्ये सत्यं सत्यं वदामि ते ।
जटानां जन्म कर्माणि यन्न पूर्वं प्रकाशितम् ।।
महाबला महावीर्या महासत्वपराक्रमा: ।
सर्वाग्रे क्षत्रिया जटा देवकल्पा दृढ़व्रता: ।।
सृष्टेरादौ महाभाग्ये वीरभद्रस्य शक्तित: ।
कन्यायां दक्षस्य गर्भे जाता जट्टा महेश्वरी ।।
गर्वखर्वोत्र विप्राणां देवानां च महेश्वरी ।
विचित्रं विस्मयं सत्यं पौराणिकै: संगोपितम् ।।

अर्थात् हे देवी ! मैं जाटों के जन्म और कर्म के विषय में जो इससे पूर्व किसी ने प्रकाशित नहीं किए थे, तुम्हें बताता हूं । जाट लोग बड़े बलशाली, महाशक्तिशाली, सदा सत्य बोलनेवाले और पराक्रमी स्वभाव के हैं । ये सभी क्षत्रियों में अग्रगण्य और दृढ़व्रती हैं । सृष्टि के आदि में वीरभद्र की शक्ति द्वारा तथा दक्ष की कन्या से उत्पन्न हुए हैं । ये जाट ब्राह्मणों और देवों के अभिमान को चूर्ण करनेवाले हैं । यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इस सत्य को पौराणिकों ने छिपाकर रखा हुआ है ।

ऊपर दी गई पंक्तियों से यह सिद्ध होता है कि जाटों का शिव से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध रहा है । यदि हम शिव और जाटों के सम्बन्धसूत्रों को खोजते हैं, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि वैज्ञानिक दृष्टि से जटाओं से किसी मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । परन्तु ऐतिहासिक एवं भौगोलिक दृष्टि से इस कथानक में जाटों की उत्पत्ति के सूत्रों को खोजा जा सकता है । कप्तान दलीपसिंह[1] द्वारा लिखित इतिहास इसमें हमारी सहायता करता दिखाई पड़ेगा । इनके अनुसार "उस समय पुरुवंशी राजा वीरभद्र हरिद्वार के निकट तलखापुर

1. कप्तान दलीपसिंह, जाट वीरों का इतिहास, पृ० 103-4.

का राजा था । यह क्षेत्र भी 'शिव की जटा' कहलाता था। राजा वीरभद्र शिवजी का अनुयायी था। शिवजी को जब सती के मरने का समाचार मिला तो वे राजा वीरभद्र के दरबार में गए और क्रोध में आकर अपनी जटाएं खसोट डालीं और वीरभद्र को, दोषी राजा दक्ष को दण्ड देने का आदेश दिया । राजा वीरभद्र ने अपनी सेना तथा गणों को साथ लेकर कनखल पर चढ़ाई कर दी और दक्ष को मार दिया। आज भी उस महान् योद्धा वीरभद्र के उस स्थान पर, उसके नाम का एक रेलवे स्टेशन वीरभद्र है, जो हरिद्वार से ऋषिकेश को जानेवाली रेलवे लाइन से दो मील पहले है ।"

इसी सम्बन्ध में वे जाट-गंगा का वर्णन भी करते हैं तथा लिखते हैं कि "भैरों घाटी जो कि गंगोत्री से 6 मील नीचे को है, यहां पर ऊपर पहाड़ों से भागीरथी गंगा उत्तर-पूर्व की ओर से और नील गंगा उत्तर-पश्चिम की ओर से आकर मिलती हैं। इन दोनों के मिलाप के बीच के शुष्क स्थान को 'भैरों घाटी' कहते हैं। जाट-गंगा के दाहिने किनारे को लंका-लंका कहते हैं। इस जाट गंगा का पानी इतना शुद्ध है कि इसमें रेत का अणु भी नहीं है। भागीरथी का पानी मिट्टीवाला है। दोनों के मिलाप के बाद भी दोनों के पानी बहुत दूर तक अलग-अलग दिखाई देते हैं। जाट-गंगा का पानी साफ व नीला है। इसलिए इसको नील-गंगा कहते हैं। महात्माओं और साधुओं का कहना है भागीरथी गंगा तो भागीरथ ने खोदकर निकाली थी और इस नील गंगा को जाट खोदकर लाये थे। इसके ऊपरी भाग पर जाट रहते हैं। इस कारण भी इसको 'जाट गंगा' कहते हैं। इस जाट बस्ती को, चीन के युद्ध के समय, भारत सरकार ने, वहां से उठाकर सेना डाल दी और जाटों को, हरसल गांव के पास, भूमि के बदले भूमि देकर आबाद किया। जाटों ने यहां गंगा के किनारे-किनारे अपना गांव बसाया, जिसका नाम 'बघौरी' रखा।"

इस प्रकार कप्तान दलीपसिंह के अनुसार वीरभद्र जाट राजा था और उसका राज्य ऋषिकेश और हरिद्वार के क्षेत्र तक था। उसी की सन्तान आगे चलकर जाट कहलाई।

लेफ्टिनेन्ट रामसरूप[1] ने अपने इतिहास में जटा सिद्धान्त का

1. रामसरूप—जाट इतिहास पृ० 83

आश्रय लेकर धौलपुर के जाटवंश को पुरुवंशी राजा संयाति से जोड़ते हुए वीरभद्र को इस वंश का आदिपुरुष माना है।

इस संदर्भ में एक बात प्रश्न के रूप में उभरकर आती है कि ब्राह्मणों ने जाटों के जन्म और कर्म को छिपाकर क्यों रखा ? इसका समाधान भी 'देव संहिता' से ही मिल जाता है। जाट लोग शिवोपासक थे और ब्राह्मण लोग विष्णु के परम भक्त थे। ब्राह्मणों ने यथाशक्ति प्रयास किया कि जाट किसी प्रकार विष्णु-धर्म के माननेवाले बन जाएं। परन्तु जाटों ने अपना धर्म नहीं छोड़ा। अतः ब्राह्मणों ने प्रतिशोध लेने के लिए इनके विषय में किसी भी ग्रन्थ में चर्चा नहीं की। इसकी झलक 'देव संहिता' में इस प्रकार मिलती है कि विष्णु ने शिव जी को प्रसन्न करके उनके वरदान से दक्ष को जीवित किया और दक्ष और शिव जी में समझौता कराने के बाद शिव जी से प्रार्थना की कि आप अपने मतानुयायी जाटों का यज्ञोपवीत संस्कार क्यों नहीं करवा लेते ? जिससे हमारे भक्त और आपके भक्तों में कोई झगड़ा न रहे। लेकिन शिव जी ने विष्णु की प्रार्थना पर उत्तर दिया कि मेरे अनुयायी ही प्रधान हैं।

उपर्युक्त वर्णन से हमें पता चलता है कि भारतीय नवीन हिन्दू धर्म में कभी शैव और वैष्णवों के मध्य अपने-अपने प्रभुत्व के लिए विवाद उठा था। इससे यह भी अनुमान लगता है कि जाट शैव मत के माननेवाले थे और उन्होंने ब्राह्मणों द्वारा अनुमोदित वैष्णव धर्म की मान्यताओं को मानने से इन्कार कर दिया और इसी इन्कार की कहानी को तोड़-मरोड़कर दक्ष के यज्ञवाली कथा से जोड़ा गया है।

शिव और जाटों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में अवश्य रहा है, क्योंकि जाटों में शिव से सम्बन्धित अनेक गोत्र पाये जाते हैं। डब्ल्यू कुर्क मनोदय ने अपनी पुस्तक "ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज एण्ड अवध" में जाटों का शिव से सम्बन्ध जोड़ते हुए लिखा है कि दक्षिण-पूर्वी प्रान्तों में जाट अपने आप को दो भागों में विभक्त करते हैं—शिवगोत्री या शिव के वंशज और कश्यप-गोत्री। पुराणों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि सम्राट् उशीनर के पुत्र का नाम शिवि था, जिन्होंने शरण में आए कबूतर को बचाने के लिए पहले अपने अंगों का माँस और बाद में अपना

सम्पूर्ण शरीर अर्पित कर दिया था। पेशावर के उत्तर 'उद्यान' नामक स्थान में इनका राज्य था। सुंगयुन के यात्रा विवरण से भी पता चलता है कि महाराज शिवि का यह स्थान पेशावर से सात दिन की यात्रा के बाद सिन्ध नदी के उस पार था।

महाभारतकाल में युधिष्ठिर ने शिवि-नरेश गोवासन की कन्या देवकी से विवाह किया था। इसके साथ-साथ महाभारत में यह वर्णन भी आता है कि पांचों पाण्डवों के साथ द्रौपदी को काम्यक वन में जयद्रथ और शिविवंशी राजा कोटिकाश्य ने देखा था। यूनानी लेखकों ने हिन्दू प्रजातन्त्रों के विषय में लिखते हुए 'सिबोई'—गणतन्त्र का उल्लेख किया है और इनकी स्थिति मल्लोई लोगों के समीप बताई है। सिबोई लोगों को जातकों में तथा पतंजलि ने क्रमशः शिवि और शैव्य कहा है। हिन्दू प्रजातन्त्रों के अध्ययन से एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि प्रजातन्त्रों में कहीं न कहीं गोत्र तत्त्व की परम्परा पाई जाती है। इस परम्परा को आधार मानकर शिव के साथ जाटों का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है, परन्तु जटाओं से उत्पत्ति का सिद्धान्त निरी कपोल-कल्पना है।

ज्येष्ठ सिद्धान्त :—

जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ज्येष्ठ सिद्धान्त भी जनसाधारण में प्रचलित है। इस सिद्धान्त के माननेवाले जाति-प्रेम की अधिकता और भावुकता में आकर कहते हैं कि ज्येष्ठ (जाट) नाम तो वेदों में भी पाया जाता है और यजुर्वेद का आगे लिखा मन्त्र इसके पक्ष में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं:—

इमं देवाऽअसपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै विशऽ एष राजा सोमोस्माकं ब्राह्मणानां राजा। (अ० 9 मन्त्र 40)

उपर्युक्त मन्त्र में क्षत्र (क्षत्रिय) के साथ ज्येष्ठ शब्द को ही आधार मानकर वे जाट की उत्पत्ति की तुक बैठाते हैं। यह बात ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से ठीक नहीं है। वेदों में चार वर्णों का नाम तो मिलता है परन्तु वर्णों की भिन्न-भिन्न जातियों का वर्णन नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त वेदों में ज्येष्ठ शब्द जातिवाचक न होकर विशेषण के रूप में आया है। इसके साथ-साथ यह निराकार ईश्वर के लिये भी आया है।

ज्येष्ठ सिद्धान्त का दूसरा रूप महाभारत से जोड़ा जाता है। इस सिद्धान्त के माननेवाले कहते हैं कि महाभारत युद्ध में राजसूय यज्ञ के अवसर पर युधिष्ठिर को सब से योग्य समझकर ज्येष्ठ की उपाधि से विभूषित किया गया था। इन्हीं के वंशज आगे चलकर जाट नाम से पुकारे जाने लगे। दूसरी ओर इसी से मिलती-जुलती सम्भावना यह है कि जब शिशुपाल के भय से सारा राजमण्डल डरा हुआ था, तो उन्होंने श्रीकृष्ण से शिशुपाल को समाप्त करने की प्रार्थना की। राजमण्डल की प्रार्थना पर श्रीकृष्ण ने शिशुपाल का वध कर दिया। अतः सब राजाओं ने मिलकर श्रीकृष्ण को ज्येष्ठ की पदवी प्रदान की। कुछ दिनों के बाद कृष्ण के वंशज यदु और जाट नाम से प्रसिद्ध हुए। उपर्युक्त मान्यताओं में इतना सत्य अवश्य है कि जाटों में युधिष्ठिर-वंश के और कृष्ण-वंश के गोत्र मिलते हैं और ये दोनों वंश चन्द्रवंशी हैं। परन्तु यह भी इतना ही सत्य है कि जाटों में सूर्यवंशी गोत्र भी पाए जाते हैं। जाटों में चन्द्र और सूर्य दोनों ही वंशों के गोत्र पाए जाने के सम्बन्ध में एक पौराणिक इतिहास है। इस इतिहास के अनुसार पहले चन्द्रवंशी अपने रिश्ते-नाते चन्द्रवंशियों में ही करते थे तथा सूर्यवंशी अपना सम्बन्ध सूर्यवंशियों से ही जोड़ते थे। परन्तु चन्द्रवंशी बुध और सूर्यवंशी इला के विवाह के उपरान्त इस परम्परा में ढील आई।

इस सम्बन्ध में कथा इस प्रकार है कि भृगु के पौत्र आचार्य शुक्र के पुत्र महर्षि अत्रि थे। उनके पुत्र का नाम चन्द्र था। चन्द्र असुर-याजक कुल में होने के कारण अत्यन्त प्रतिष्ठित पुरुष माने गए। दूसरी ओर देवों के याजक अंगिरा-पुत्र बृहस्पति थे और उनकी स्त्री का नाम तारा था। तारा तथा चन्द्र में गुप्त प्रेम-सम्बन्ध होगया। परिणामस्वरूप बड़ा भारी संघर्ष चल पड़ा और अन्त में सन्धि हुई तथा तारा पुनः बृहस्पति को लौटा दी गई। परन्तु तारा को चन्द्र का गर्भ रह गया। सन्धि में यह निश्चय हुआ कि होनेवाली सन्तान चन्द्र को दे दी जाएगी। तारा से लड़का हुआ और उसका नाम बुध रखा गया। युवा होने पर सूर्यपुत्र वैवस्वत मनु ने अपनी पुत्री इला उसे व्याह दी। तभी से चन्द्रवंशी और सूर्यवंशियों के परस्पर विवाह-सम्बन्ध होने लगे। अत एव जाटों में दोनों वंशों के गोत्र पाए जाते हैं।

ज्येष्ठ सिद्धान्त के माननेवाले व्यक्ति इसका तीसरा सम्बन्ध जाटों

से जोड़ते हुए यह कहते हैं कि प्राचीनकाल में अनार्यों से सतत युद्ध छिड़े रहने के कारण आर्यों को अनिवार्य सैनिकभर्ती की योजना बनानी पड़ी। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक आर्यपरिवार के ज्येष्ठ पुत्र को सेना में भर्ती होना पड़ता था। अतः आगे चलकर ज्येष्ठ सैनिकों की सन्तान 'जाट' नाम से पुकारी जाने लगी। इस मान्यता में दूर की कौड़ी लाने का प्रयास किया गया है तथा इसकी पुष्टि में भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः इसे स्वीकारा नहीं जा सकता।

इस सिद्धान्त को माननेवाले ज्योतिषग्रन्थों का आधार लेकर चौथा तर्क यह देते हैं कि ज्येष्ठ मास अथवा ज्येष्ठा नक्षत्र की छाया में जाटों का उद्भव हुआ है। इनके विचार में जाट, मासों में ज्येष्ठ मास के समान दुधर हैं तथा उनका ताप अन्य लोगों के लिए असह्य है। नक्षत्रों में जाट ज्येष्ठा नक्षत्र के समान कुन्तल (भाला) के समान तीक्ष्ण हैं, क्योंकि ज्येष्ठा नक्षत्र का आकार कुन्तल (भाला) के समान है। परन्तु हमें यह कहना है कि जाटों की उत्पत्ति में इस मान्यता का भी कोई विचारणीय स्थान नहीं है, यह तो मात्र कल्पना की उड़ान है।

जांड सिद्धान्त :–

यह सिद्धान्त भी नामसाम्य की कोरी कल्पना का पिटारा है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब पाण्डवों को वनवास मिल गया था तो उन्हें इसका अन्तिम वर्ष अज्ञातवास के रूप में काटना था। अतः पाण्डवों ने अपने सम्पूर्ण हथियार एक जांड (शमी) वृक्ष के खोखर में छिपाकर रख दिए। अज्ञातवास के उपरान्त जब अर्जुन उन हथियारों को पुनः लेने के लिए गया तो उसके साथ कुछ लोग भी गए। अर्जुन के आदेश से एक व्यक्ति को पेड़ पर चढ़ाया गया और उसने जांड की खोखर से सम्पूर्ण शस्त्र निकालकर अर्जुन को दे दिए। इसी व्यक्ति को उसके साथी जांड-जांड कहकर पुकारने लगे, जो अन्त में जाट शब्द के रूप में परिवर्तित होगया। इस प्रकार की मनघड़न्त कहानियां हास्यास्पद हैं। इनमें इतिहास नाम की कोई वस्तु नहीं है।

जित सिद्धान्त :–

भारतवर्ष के क्षत्रियराजा सूर्यवंश और चन्द्रवंश इन दो महान् वंशों से उत्पन्न हुए हैं। कुछ काल के पश्चात् एक बड़ा कुल अर्थात् "अग्निकुल" भी इन दोनों कुलों के साथ मिल गया। अग्निकुल में उत्पन्न छत्तीस वंशों का वर्णन कर्नल जेम्स टाड ने राजस्थान के

इतिहास में किया है। इन छत्तीस राजकुलों में 'जित' नामक एक राजकुल भी है। बहुत से विद्वान् इसी वंश को जाटों की उत्पत्ति का मूल कारण मानते हैं। हेरोडोटस कहता है कि जित लोग पहले एकेश्वरवादी थे और आत्मा के अमर होने का उनको विश्वास था, परन्तु कालान्तर में ये अपना प्राचीन धर्म त्यागकर मुसलमान होगए और जो मुसलमान बने वे जाटव कहलाए। डिगायन के मतानुसार प्राचीन काल में इनका धर्म बौद्ध था। सिन्धुदेश के पार पश्चिम दिशा का कोई देश इनका आदिनिवासस्थान था।[1]

कोटा के दक्षिण में कुछ दूर पर कुनसूया नाम के एक छोटे से ग्राम में टाड साहेब को ईस्वी सन् 1820 में एक शिलालेख मिला था। इस शिलालेख के आधार पर टाड साहेब कहते हैं कि जित वंश के किसी राजा ने यदुकुल की स्त्री से विवाह किया था। कदाचित् इसी से जित लोग अपने को यदुवंशी कहते हैं। दूसरी ओर ज्वालाप्रसाद मिश्र किसी अन्य शिलालेख का हवाला देते हुए कहते हैं कि जित तक्षकवंशीय हैं। क्योंकि एक शिलालेख में लिखा है कि "विख्यात जित, पार्वती के स्तनों से निकलनेवाले अमृत का पान करता है, जिसके पूर्वपुरुष वीर तुरक्ष (तक्षक) महादेव के गले में हार की भांति विराजमान रहते हैं।" पुराणों में प्राचीन राजाओं की वंशावलियों में जितनाग और तक्षक जाति का वर्णन पाया जाता है। अत: यह सम्भव हो सकता है कि जाटों का जित नागों से सम्बन्ध हो। जित-वंश के प्रताप का ऐतिहासिक वर्णन अनेक ग्रन्थों में मिलता है। जित नाग और तक्षक वंशों के गोत्र जाटों में बहुलता से मिलते हैं। नाग वंश का संगठन वसाति, तक्षक, कालपौनिया, कलकल आदि अनेक शाखा-वंशों द्वारा हुआ है। वसाति लोगों की भोगवती नामक एक प्रसिद्ध नगरी थी। वसाति शब्द का अपभ्रंश 'वैस' शब्द होगया। जाटों में वैस वंश की कादियान, सांगवान, सौराण और जाखड़ चार शाखायें प्रचलित हैं। डा० योगेन्द्रपाल शास्त्री की मान्यता के अनुसार होशियारपुर (पंजाब) के समीप श्रीमालपुर वसाति जाटों की जन्मभूमि थी।[2] यहां का पुण्यभूमि नामक एक महात्वाकांक्षी पुरुष अपने कुछ साथियों के साथ श्रीमालपुर से चलकर कुरुक्षेत्र की भूमि में आकर 'श्रीकण्ड' (थानेसर) नामक नगरी बनाकर बस गया।

---

1. टाड राजस्थान हिन्दी) प्रथम खण्ड पृ० 61।
1. योगेन्द्रपाल 'क्षत्रियों का उत्थान और पतन' पृ० 626

टाड साहेब ने तक्षक की गणना छत्तीस राजकुलों में की है। वस्तुतः यह वंश महाभारत के समय में तो बहुत ही प्रसिद्धि पा चुका था। इन्होंने ही अर्जुनपुत्र परिक्षित का वध किया था। कालान्तर में उच्चारण भेद से तक्षक लोग ताखा, तक्खर और तक्क नाम से प्रचलित हुए। टाड के मतानुसार तक्षक प्राचीन काल में शाकद्वीप से भारत में आए थे और एक समय इन्होंने अपने पराक्रम से सारे भूमण्डल को कंपा दिया था। अबुल गाजी नामक लेखक तक्षक को तुर्क का पुत्र 'तनक' मानता है। अबुल गाजी के अनुसार "नाव को छोड़कर पृथ्वी पर उतरकर नूह ने अपने तीनों पुत्रों को पृथ्वी बांट दी। उसके पहले दो बेटे दो राज्यों के स्वामी बने और छोटा बेटा जाफर 'कत्तपसामारव' नामक देश का राजा बना। यह देश कास्पियन सागर और भारतवर्ष के बीच था। कहते हैं जाफर ने वहां 250 वर्ष तक राज्य किया। उसके आठ पुत्र हुए और उन में से तुर्क और कामारि विशेष प्रसिद्ध हुए। इसके बाद तुर्क के चार पुत्र हुए और बड़े का नाम 'तनक' था। पुराणों के अनुसार तक्षकों के द्वारा अनेक भारतीय राजाओं की हानि हुई थी। जिस समय सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था, उस समय हिन्दूकुश के समीप तक्षकों की जाति रहती थी।"

इस विवरण से यह स्पष्ट पता चलता है कि जाटों का तक्षक वंश बहुत ही पुराना है।

कुछ इतिहासकार टाड द्वारा कथित छत्तीस राजकुलों में जित शब्द को जित्व, जैत्व अथवा जेटवा शब्द मानते हैं और इस आधार पर जेटवा को ही जाटों का आरम्भिक कुल मानते हैं। टाड के अनुसार जेवटा शाखा का विवाह राजपूतों के साथ नहीं होता। प्राचीनकाल में जेटवा लोगों की स्थपना सूरत में हुई थी। इनके नाम पर सौराष्ट्र में 'जैतवार' नामक नगर भी बसा। जेटवा लोग 'राणा' की उपाधि धारण करते थे। यह सिद्धान्त जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इतिहासकारों को किसी रूप में मान्य नहीं है, क्योंकि जेटवा लोगों को 'कामारि' भी कहा जाता है और समस्त राजपूत कुल सूचियों में कामारियों को राजपूत लिखा है। भट्ट ग्रन्थों के अनुसार कामारि अपने आप को महावीर हनुमान से उत्पन्न हुआ मानते हैं, जबकि जाटों की उत्पत्ति का सम्बन्ध शिव जी से जोड़ा जाता है।

जर्तिका सिद्धांत

महाभारत में पंजाब तथा सिन्ध प्रदेश के अनेक कबीलों का वर्णन पाया जाता है। इस ग्रन्थ में मद्र देश के प्रसंग में मद्रक तथा जर्तिका कबीलों का वर्णन है। इन दोनों कबीलों को वाल्हीक (वाहीक) नाम से पुकारा गया है। सर जेम्स केम्पवेल जर्तिका कबीले को ही जाट मानते हैं तथा उनका यह भी कहना है कि ये विदेशी थे और भारत में कुशाणों के साथ इनका प्रवेश हुआ।[1] ग्रियर्सन भी इसी विचारधारा के हैं। ग्रियर्सन की यह विचारधारा वराहमिहिर के आधार पर बनी। वराह मिहिर की पुस्तक वृहत् संहिता में जटासूराः तथा जटाधराः दो शब्द पाए जाते हैं। इनकी स्थिति क्रमशः कावेरी के उत्तर-पूर्व और दक्षिण में बताई गई है। इस शब्दसाम्य को ग्रियर्सन ने अपना आधार बनाया है। इस सिद्धांत की आलोचना करने से पूर्व जर्तिका कबीले के विषय में महाभारत[2] में जो वणन पाया जाता है, उसकी जानकारी देनी उचित होगी। जब शल्य को कर्ण का सारथि बना दिया गया तो उस समय कर्ण और शल्य के बीच ऊंच और नीच के विषय में विवाद खड़ा हो गया। इस विवाद में कर्ण मद्रराज शल्य से कहता है कि गंगा, यमुना, कुरुक्षेत्र और हिमालय से जो देश बाहर हैं तथा रावी, चिनाब, झेलम, सतलुज, व्यास और छठी सिन्धु नदी के बीच में जो देश हैं, वे बाह्लीक हैं। वहां आपगा नदी के तट पर शाकल नामक नगर है, उसमें जर्तिका बाह्लीक जाति के नीच मनुष्य रहते हैं।

वे सब धान और गुड़ की शराब बनाकर पीते हैं और लहसुन के साथ गोमांस को खाते हैं। इनमें पिता, पुत्र, माता, श्वसुर और सास, चाचा, बहन, मित्र, अतिथि, दास तथा दासियों के साथ मिलकर शराब पीने और गोमांस खाने की परम्परा है। इनकी स्त्रियां शराब में धुत होकर नंगी नाचती हैं। वे गोरे रंग तथा ऊंचे कद की हैं। इस प्रदेश की स्त्रियां बाहर दिखाई देनेवाली मालायें और चन्दनादि सुगन्धी लगाकर, शराब पीकर, मस्त होकर, नंगी होकर, घर-द्वार और नगर के बाहर हंसती, गाती और नाचती हैं। वे ऊनी कम्बल लपेटती हैं। उन स्त्रियों का स्वर गधे और ऊंट के समान होता है। उनमें प्रत्येक प्रकार के शिष्टाचार की कमी है।

---

1. बम्बई गजटियर, खण्ड नौ, भाग एक, पृ० 459
2. महाभारत कर्णपर्व अध्याय 39-41

किसी समय उस बाह्लीक देश के रहनेवाली स्त्रियों का कोई सम्बन्धी कुरुजांगल देश में रहता था। एक दिन वह उदास मन से उन स्त्रियों के विषय में सोचता हुआ कहने लगा—वह सूक्ष्म ऊन के कम्बल की साड़ी पहननेवाली, मेरी मोटी-गोरी स्त्री शय्या पर सोती हुई कुरु देशवासी मुझ बाह्लीक का अवश्य स्मरण करती होगी। इसलिए शतद्रु (सतलुज) को, रम्य इरावती (रावी) को पार करके तथा अपने देश में जाकर, बड़ी चूड़ियों को पहननेवाली उन सुन्दर स्त्रियों को देखूंगा। सुखद मार्गोंवाले पीलू, कैर और शमी (जांडी) वाले व में कब जाऊंगा? इसके आगे लिखा है कि जो सुअर, मुर्गा गाय, गधा, ऊंट और भेड का मांस नहीं खाते उनका जन्म निरर्थक है। जिस शाकल देश में बूढे और बालक शराब में मस्त होकर नाचते हैं, उनमें सदाचार कैसे होगा? हे शल्य! यह पूर्णतया समझ लो। जहां पीलू और दाख का बहुत वन है, उसी देश में सतलुज, रावी, व्यास, झेलम, चिनाब और छठी सिन्धु नदी हिमालय से बाहर बहती है। उन देशों का नाम आरट्ट है। वहां के मनुष्य अधर्मी होते हैं। बाह्लीक मिट्टी और काठ के बर्तनों में खाते हैं। उन्हीं बर्तनों को कुत्ते चाटते हैं, उन्हीं में ये लोग घृणा-रहित होकर भोजन करते हैं। बाह्लीक देश के लोग बकरी, गधो और ऊंटनी का दूध पीते हैं। तुम उनके स्वामी हो, अतः तुम भी नीच हो[1]। बाहीकों की सृष्टि प्रजापति से नहीं हुई। वे तो बाहो और हीक नामक पिशाच दम्पति की सन्तान हैं।

उपर्युक्त वर्णन हमारे सामने महाभारतकालीन पंजाब तथा उसके निवासियों का चित्र प्रस्तुत करता है। इस वर्णन से सर्वप्रथम यह परिणाम निकाला गया कि जर्तिका लोग ही आधुनिक जाटों के पूर्वज हैं। परन्तु जर्तिका और जाटों के विषय में जब गम्भीरता से अध्ययन किया जाता है तो उपर्युक्त मान्यता भ्रमपूर्ण दिखाई पड़ती है। कालिका रंजन कानूनगो इस सिद्धांत का तथा महाभारत में आए इस वर्णन का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि बाहीकों के सम्बन्ध में यह कहना कि उनकी सृष्टि प्रजापति से नहीं हुई, यह संकेत देता है कि वैदिक आर्यों का यह विश्वास था कि बाहीक (बाह्य) जातियां उनसे भिन्न किसी अन्य समूह के उत्पन्न हुई हैं। कानूनगो के मतानुसार बाह्लीक लोक पैशाची भाषा बोलनेवाले कश्मीरी, दरद और हिन्दूकुश के काफिर थे।

1. महाभारत, कर्णपर्व, अध्याय 30, श्लोक 1-30

इनके मतानुसार बाह्य (बाहीक) लोग चौड़े अथवा मध्यम सिरवाले व्यक्ति थे, अतः वे लम्बे सिरवाले जाटों के पूर्वज कैसे हो सकते हैं[1]।

इसके साथ-साथ वाहीक स्त्रियों का ऊन के वस्त्र धारण करना यह सिद्ध करता है कि वे किसी शीतप्रधान प्रदेश के प्रवासी थे। इनकी मान्यता के अनुसार महाभारत में वर्णित बाह्लीक स्त्रियों का वर्णन कश्मीर की स्त्रियों के साथ ठीक बैठता है। इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान करने की है कि वाहीक लोग उसी गोत्र में विवाह कर लेते हैं किन्तु जाट लोग अपने गोत्र को छोड़ने के साथ-साथ लड़के-लड़की की तरफ से तीन-तीन गोत्र छोड़ते हैं, जो कि उन्हें आर्य-परम्परा के अति निकट ले जाती है। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में बाहीक लोगों में प्रचलित परम्परा जाटों में नहीं पाई जाती। वाहीक लोगों में उत्तराधिकार में लड़की का पुत्र नाना की सम्पत्ति में उसी प्रकार हकदार होता है, जैसा कि स्वयं नाना का लड़का। परन्तु जाटों में यह प्रथा नहीं है, उनमें लड़के के जीवित रहते अन्य को उत्तराधिकारी नहीं माना जाता है।

इस प्रकार अन्त में अपना निष्कर्ष देते हुए कानूनगो कहते हैं कि अफगानिस्तान से मालवा तक लाखों की संख्या में बसे जाटों को जाहिल, चरित्रहीन एवं शक्तिहीन जर्तिका का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता[2]।

जर्तिका सिद्धान्त की कटु आलोचना ठाकुर देशराज[3] ने भी अपने इतिहास में की है। इनकी मान्यता के अनुसार यह वर्णन एक पुरुष का है सम्पूर्ण जाति का नहीं। बहुत सम्भव है वह पुरुष जरत्कास हो जो कि उस समय का एक ऋषि था और बहुत-सी स्त्रियों के साथ सहगमन उसकी आदत थी। इस सम्बन्ध में हमें कहना है कि ठाकुर देशराज का यह कथन कि यह वर्णन एक व्यक्ति का है, जाति का नहीं, ठीक नहीं है। क्योंकि महाभारत के अध्ययन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह वर्णन सम्पूर्ण जाति के चरित्र के विषय में किया गया है। दूसरे देशराज ने जो यह कहकर इस बात को टालने का प्रयास किया है कि यह वर्णन 'जरत्कास' ऋषि का हो सकता है, यह भी

1. कानूनगो, जाट इतिहास, पृ० 13
2. कानूनगो, जाट हिस्ट्री पृ० 14.
3. देशराज, जाट इतिहास पृ० 79-84.

युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । क्योंकि स्त्रियों का सहगमन ऋषि-परम्परा के प्रतिकूल जाता है। जर्तिका ही जाट हैं इस मान्यता को काटने के लिए देशराज ने एक अन्य तर्क यह भी दिया है कि जैन ग्रन्थों में हमें जर्तिका नाम से मिलते-जुलते महाराज जरत्कुमार का वर्णन मिलता है जो कि जैन धर्म का अनुयायी था। सम्भवत: जैन धर्म के प्रति अनास्था के कारण यह वर्णन जरत्कुमार का हो। जैन हरिवंश पुराण के अनुसार वसुदेव की अनेक रानियों में से एक 'जरा' नाम की रानी भी थी । इस रानी के दो पुत्र थे—जरत्कुमार और वाह्लीक । यादवों का नाश होने के पश्चात् उनके वंश में जरत्कुमार ही बचा था और पाण्डवों ने उसी को गद्दी पर बैठाया । जरत्कुमार की पटरानी कलिंग राज की पुत्री थी। इसी विवाह सम्बन्ध को लेकर देशराज कहते हैं कि ऊपर के वर्णन से यह मालूम होता है कि जरत्कुमार और उसके साथी अथवा सन्तान के कोई लोग उत्तर भारत को छोडकर कलिंग देश में चले गये थे और किन्हीं कारणों से यादवों ने उन्हें अलग भी कर दिया था। अलग करने का कारण जैन हरिवंश पुराण में यह बतलाया गया है कि द्वीपायन जब क्रोधवश द्वारिका को भस्म कर देगा तो उसके बाद कृष्ण जरत्कुमार के बाण से मारा जाएगा। यद्यपि जरत्कुमार कृष्ण का भाई था फिर भी इस अनिष्ट से बचने के लिए वह द्वारिका को छोड़ गया। देशराज के अनुसार सम्भव है कि जरत्कुमार जा करके पंजाब में रहा हो।

उपर्युक्त मान्यता भी ऐतिहासिक दृष्टि से लचर दिखाई पड़ती है। क्योंकि जरत्कुमार जैन राजा था। उसके सम्बन्ध में मांस, मदिरा का खाना पीना ऐतिहासिकों एवं धार्मिक विद्वानों द्वारा प्रतिपादित जैनों के अहिंसा सिद्धान्त के प्रतिकूल जाता है। इसके अतिरिक्त हिंदू पुराणों के अनुसार यादवों के सर्वनाश के समय 'उग्र' ही बचा था न कि जरत्कुमार और यह बात सर्वसाधारण में भी प्रचलित है और इसी को पाण्डवों ने मथुरा और द्वारिका का राजा बनाया था।

सबसे अन्त में देशराज इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह तर्क देते हैं कि महाभारत ग्रन्थ में समय-समय पर काफी घटा-बढ़ी हुई है। इस घटा-बढ़ी में जर्तिका जाति का वर्णन सौति द्वारा बाद में जोड़ दिया गया है। इस बात में कुछ बल अवश्य है। सौति द्वारा महाभारत में अनेक वृद्धियां की गई हैं। किन्तु हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि

प्रत्येक वढ़ोतरी के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सौति का उद्देश्य किसी अनार्य जाति के प्रसंग में रहा हो। महाभारत के अनुसार कर्ण ने यह बात एक ब्राह्मण के मुख से सुनी थी जो बाह्लीक देश गया था और उसका जर्तिकाओं ने सत्कार नहीं किया था। अत: इस वर्णन को क्षत्रियों के प्रति ब्राह्मणों का विद्वेष भी माना जा सकता है।

हम अब महाभारत की जर्तिका जाति के वर्णन में बाह्लीक और आरट्ट दो शब्दों पर विचार करते हैं। टाड ने[1] राजस्थान के इतिहास में लिखा है कि कौरवनाथ महाराज के कुल में सुधन्वा और परीक्षित नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें सुधन्वा के गोत्र में जरासन्ध और परीक्षित के गोत्र में शान्तनु और वाह्लीक पैदा हुए। वाह्लीक के पुत्रों ने पालि पौत्र और आरोड़ नामक दो राज्य स्थापित किए। पालिपौत्र गंगा के किनारे पर और आरोड़ सिन्धु नदी के किनारे पर स्थापित हुआ। प्राचीन भारतीय इतिहास के आधार पर आरोड़ या आरोल सिंधु देश की प्राचीन राजधानी मानी जाती है। जब सिकन्दर भारत आया तो आरोड़ नगर बहुत प्रसिद्ध था और बाह्लीक-वंशीय शल्य इसका स्थानीय (गवनर) था (ऐसा प्रतीत होता है कि शल्य नाम के साथ-साथ एक उपाधि भी थी)। इस कथन के आधार पर हम मान सकते हैं कि महाभारतकालीन आरट्ट ही आरोड़ है। बाह्लीक तथा आरट्ट में गहरा सम्बन्ध है। वाराही संहिता में लिखा है कि जब आश्विन-मास में ग्रहण होवे तो काम्बोज, चीन, यवन, धान्य के चुरानेवाले बाह्लीक और सिन्धु नदी के किनारे पर रहनेवाले लोगों का नाश होता है। बाह्लीक और आरट्ट लोगों की स्थिति कहां थी इसका समाधान महाभारत से इस प्रकार होता है—

पंच नद्यो वहन्त्येता यत्र निःसृत्य पर्वतात् ।
आरट्टा[2] नाम बाह्लीका न तेष्वार्यो द्व्यहं वसेत् ॥

---

1. टाड, राजस्थान (हिन्दी) प्रथम खण्ड, 17-18.
2. वाहीकग्रामेभ्यश्च (अष्टा० ४-२-११७) पाणिनीयसूत्र की व्याख्या में पदमञ्जरी में हरदत्त मिश्र ने वाहीकग्रामों में 'आरात्', 'कास्तीर', 'दाशरूप्य' और 'सौसुक' का उल्लेख किया है। ५-३-११८ सूत्र पर काशिकाकार ने वाहीकदेशीय आयुधजीविसंघों में कौण्डीबृस्य, क्षौद्रक्य और मालव्य उदाहरण दिए हैं।

अर्थात् जिस स्थान पर पर्वत से निकलकर पांच नदियां बह रही हैं उसको आरट्ट तथा बाह्लीक कहते हैं। उस स्थान पर आर्य को दो दिन भी नहीं रहना चाहिए। इससे एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि इस प्रदेश के निवासी आर्यसभ्यता के विरुद्ध आचरण करनेवाले थे। ऐसा कहा जाता है कि महाराज हस्ति के उपरान्त चन्द्र वंश में उत्पन्न होनेवाले अजामीढ़ के चार पीढ़ी पीछे होनेवाले बाह्याश्व नामक व्यक्ति ने सिन्धु नदी के तट पर किसी राज्य की स्थापना की थी। सम्भवत: उसके राज्य में अनार्य लोग आकर बस गये हों। इस सम्पूर्ण विवरण का अभिप्राय यह है कि जाटों का जर्तिका जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि जाट आर्य-संस्कृति के उपासक थे और जर्तिका जाति के निवास आरट्ट तथा बाह्लीक में आर्यों को दो दिन बिताने पर भी प्रतिबन्ध था।

जर्तिका सिद्धान्त के अन्य माननेवाले लेखकों में चिन्तामणि विनायक वैद्य भी आते हैं। किन्तु देशी राज्यों के इतिहास लेखक सुखसम्पत्तिराय भण्डारी तथा भाई परमानन्द जी वैद्य की राय से सहमत नहीं है। इसके अतिरिक्त यदुनाथ सरकार भी जर्तिका से जाटों की उत्पत्ति मानने के पक्ष में नहीं हैं। हमारा अपना विचार है कि जर्तिका जाति जाट तो कभी नहीं थी। क्योंकि जाटों का गोमांस का खाना तो किसी भी इतिहास अथवा शास्त्र से सिद्ध नहीं होता। इनके लिए तो गौ माता के समान है। स्मृतिकारों के अनुसार खेती करना तथा गौवंश की रक्षा करना इनका मौलिक कर्तव्य था। इसके अतिरिक्त जाटों की स्त्रियों का शराब पीकर और नंगी होकर नाचने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसी प्रकार जाट लोग ऊंटनी और गधी का दूध न पीकर गाय और भैंस का ही दूध पीनेवाले हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त नतो ऐतिहासिक दृष्टि से और धार्मिक दृष्टि से भी मानने योग्य नहीं है।

इन जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ पौराणिक पंडित महाभारत में वर्णित 'जरत्कारु' ऋषि को आधार मानकर यह कहते हैं कि जाट 'जरत्कारु' ऋषि की सन्तान हैं। जरत्कारु ऋषि के के सम्बन्ध में महाभारत[1] में लिखा है कि—शौनक ने सौति से पूछा कि आप मुझे सविस्तार यह बताइये कि जनमेजय के नाग यज्ञ में आस्तीक

1. महाभारत आदिपर्व, अध्याय 45-47।

राजा ने नागों की रक्षा कैसे की और उनके पिता का नाम क्या था ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सौति ने आस्तीक के पिता जरत्कारु का परिचय इस प्रकार दिया है—

जरत्कारु नाम का एक ब्राह्मण आजन्म ब्रह्मचारी रहने का व्रत लेकर तपस्या में लीन होकर इधर-उधर भ्रमण करता रहता था। एक बार भ्रमण करता हुआ वह एक ऐसे स्थान पर पहुंच गया जहां कुछ लोग लता के सहारे उल्टे लटके हुए थे और उस बेल को चूहा काट रहा था। इस दृश्य को देखकर जरत्कारु ने अधोमुख मनुष्यों से पूछा कि तुम कौन हो और अधोमुख क्यों लटक रहे हो ? ब्राह्मणकुमार की बात सुनकर उन्होंने उत्तर दिया कि हमारे वंश में जरत्कारु नाम का एक ही लड़का जीवित है और उसने आजीवन विवाह न करने का निश्चय किया हुआ है। अतः आगे से वंशपरम्परा न चलने के कारण हमारी सद्गति होने की सम्भाना नहीं है। अतः हम तर्पण के अभाव में दुःख उठाते हुए अधोमुख लटक रहे हैं।

इस बात को सुनकर जरत्कारु ने कहा कि मैं ही जरत्कारू हूं। मुझे आदेश दीजिये कि आप लोगों का कल्याण कैसे करूं। जरत्कारु के पितरों ने कहा कि तुम विवाह कराकर सन्तान उत्पन्न करो जिससे हमारा कल्याण हो सके। जरत्कारु ने अपने पूर्वजों की बात को सुनकर यह निश्चय कर लिया कि वह भिक्षा में मिलनेवाली उसी लड़की से विवाह करायेगा जिसका नाम जरत्कारू होगा। उसके इस निश्चय को सुनकर वासुकी ने अपनी बहन जिसका नाम जरत्कारू था भिक्षा के रूप में विवाह के लिए ब्राह्मण जरत्कारु को दे दी।

इस कथानक को आधार मानकर जाटों में पाए जानेवाले तक्षक, कालिय (कालिया), कुठर (कुठार), कुण्ड (कुण्डु) आदि गोत्रों को देखते हुए ब्राह्मणों ने कहना आरम्भ कर दिया कि जाट ब्राह्मण जरत्कारु और क्षत्रियाणी जरत्कारू के समागम से उत्पन्न सन्तान हैं। इस सिद्धान्त के पीछे भी ब्राह्मणों का वर्चस्व स्थापित करने की भावना स्पष्ट दिखाई पड़ती है। वस्तुतः जाटों की उत्पत्ति के विषय में ऐसी तर्कहीन बातें जतिका की भांति मात्र शब्दसाम्य के कारण घड़-ली गई हैं।

ज्ञाति सिद्धान्त :–

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक ठाकुर देशराज हैं। इन्होंने जाट इतिहास[1] में लिखा है कि "जाट शब्द की उत्पत्ति और उसके प्रचलन का कारण हमारी स्थापना के अनुसार जो बिल्कुल वैज्ञानिक और सत्य है, यह है कि—जाट शब्द संस्कृत के ज्ञात शब्द से बना है। जिसका 'जात' और आगे चलकर 'जाट' होगया। 'त' के स्थान पर 'ट' का उच्चारण भारत की प्रचलित प्राकृतिक भाषा के कारण होगया।" देशराज ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में महाभारत में पाए जानेवाले 'ज्ञाति' शब्द को उद्धृत किया है। महाभारत में पाए जानेवाले 'ज्ञाति' शब्द का सन्दर्भ इस प्रकार है।

एक बार श्रीकृष्ण ने नारद से संघराज्य के सम्बन्ध में उठनेवाली कठिनाइयों के समाधान के विषय में पूछा। क्योंकि श्रीकृष्ण संघराज्यों के नेता के रूप में प्रतिष्ठित थे। श्रीकृष्ण ने नारद से कहा कि यद्यपि मैं संघनेता के रूप में प्रतिष्ठित हूं तथापि जो कुछ मैं करता हूं वह वास्तव में अपनी जाति के लोगों का दासत्व है। हे नारद! संकर्षण अपने बल के लिए, गद अपनी सुकुमारता के लिए और प्रद्युम्न रूप के लिए प्रसिद्ध है। इतना होने पर भी मैं असहाय हूं। अन्य अन्धक और वृष्णि लोग बलवान् और पराक्रमी हैं। वे जिसके पक्ष में हो जाते हैं, उनकी सब बातें पूरी हो जाती हैं। हे महामुने! तुम मेरी अवस्था और साथ ही मेरी ज्ञाति की अवस्था पर विचार करो और कृपा करके ऐसा कोई मार्ग सुझाओ जो दोनों के लिए श्रेयस्कर हो।

महाभारत के उपर्युक्त नारद-कृष्ण संवाद को आधार मानकर देशराज कहते हैं कि "यदुवंश के दो कुलों अन्धक और वृष्णियों ने एक राजनैतिक संघ स्थापित किया हुआ था। उस संघ में दो राजनैतिक दल थे। जिनमें से एक की तरफ श्रीकृष्ण और दूसरे की तरफ उग्रसेन थे। नारद संघ को अत्युत्तम समझते थे।

कंस को परास्त करने के उपरान्त श्रीकृष्ण ने यादवों के अनेक प्रजातन्त्री समूहों को शृङ्खलाबद्ध करने के लिए जरासन्ध की निगाह से दूर द्वारिका में जाके एक ऐसी शासनप्रणाली की नींव डाली जो प्रजातन्त्री भी थी और जिसमें जातियां सम्मिलित हो सकती थीं।

1. देशराज—'जाट इतिहास' पृ० 100-107।

इस शासनप्रणाली को संयुक्त शासनतन्त्र या भोजशासनप्रबन्ध कह सकते हैं।" यह लिखने के बाद आगे वे लिखते हैं कि "हमारे इतिहास से सम्बन्धित बातें जो उक्त सन्दर्भ से निकलती हैं वे हैं (1) श्रीकृष्ण द्वारा स्थापित जिस संघ का ऊपर वर्णन किया गया है वह 'ज्ञाति' कहलाता था। (2) कोई भी राजकुल या जाति संघ में शामिल हो सकती थी। (3) क्योंकि यह संघ जातिप्रधान था, व्यक्तिप्रधान नहीं, इसलिए इस संघ में शामिल होते ही उस ज्ञाति या वंश के पूर्व नाम की कोई विशेषता न रहती थी। वह 'ज्ञाति' संज्ञा में आ जाता था।"

देशराज द्वारा प्रतिपादित ज्ञाति-सिद्धान्त की आलोचना करने से पूर्व हम नारद-कृष्ण संवाद के उस अंश को यहां उद्धृत करना ठीक समझते हैं, जिसके आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है। कृष्ण और नारद संवाद में अनेक श्लोकों के अन्तर पर भिन्न-भिन्न श्लोकों में ज्ञाति' शब्द इस प्रकार आया है—

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां करोम्यहम्।
अर्धभोक्ताऽस्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे॥
ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदो भयदर्शनात्।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा॥
कृतमूलमिदानीं तत् ज्ञातिशब्दसहायवत्।
न शक्यं पुरादातुं वान्तमन्नमिव स्वयम्॥
बभ्रूग्रसेनस्तु राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन।
ज्ञातिभेदभयात् कृष्ण त्वया विशेषतः॥
ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं तथा।
ज्ञातीनामविनाशः स्याद् यथा कृष्णस्तथा कुरु॥

उपर्युक्त श्लोकों में आए 'ज्ञाति' शब्द के अर्थ देशराज नें भिन्न-भिन्न किए हैं। प्रथम श्लोक में 'ज्ञातीनां' शब्द का अपनी जाति के लोग, दूसरे श्लोक में पाए जानेवाले 'ज्ञातीनां' का अर्थ मेरे सम्बन्धियों, तीसरे श्लोक में 'ज्ञाति' शब्द का अर्थ 'ज्ञाति', चौथे श्लोक में प्रस्तुत 'ज्ञाति' शब्द का अर्थ ज्ञात या सम्बन्धी, पांचवें श्लोक में प्राप्त 'ज्ञातीनां' का अर्थ सम्बन्धी या ज्ञात और छठे

श्लोक में प्रयुक्त 'ज्ञातीनां' का अर्थ सम्बन्धियों या ज्ञातियों आदि अर्थों में किया है। इस प्रकार हम उपर्युक्त अर्थों का सार निकालते हुए यह मान सकते हैं कि देशराज ने सामान्य रूप में ज्ञाति शब्द से सम्बन्धियों का ही ग्रहण किया है। ये सम्बन्धी भी वृष्णिवंश के ही हैं। अतः ऐसी स्थिति में ज्ञाति शब्द से जाट शब्द की व्युत्पत्ति-गले से नीचे नहीं उतरती।

देशराज ने ज्ञाति शब्द से जाटों की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए शासनतन्त्रप्रणाली का आश्रय लिया प्रतीत होता है। क्योंकि वे अपने ग्रन्थ जाट इतिहास में लिखते हैं कि "ज्ञाति स्थापना से एक बात यह हुई कि एक ही राजवंश के कुछ लोग साम्राज्यवादी विचार के होने के कारण और कुछ लोग प्रजातन्त्री मत रखने के कारण दो श्रेणियों में विभाजित हो गए—एक साम्राज्यवादी अथवा राजन्य दूसरे प्रजातन्त्रवादी (ज्ञातिवादी) ज्ञाति के विधान तथा नियम और शासनप्रणाली में विश्वास रखनेवाले और उसे देश और समाज के लिए कल्याणकारी समझनेवाले जो आगे जाकर 'ज्ञात' कहलाने लगे। आगे वे स्वयं प्रश्न करते हैं कि इसमें यह प्रश्न किया जा सकता है कि ज्ञाति से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञात कैसे कहलाने लगे? इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं, इसके लिए प्रत्यक्ष उदाहरण है कि कम्यूनिज्म के माननेवाले कम्यूनिस्ट और सोशलिज्म के मानने वाले सोशिलिस्ट, कांग्रेस के माननेवाले कांग्रेसी, समाजवाले समाजी कहे जाते हैं। पहिले भी ऐसा ही होता था। विष्णु के उपासक वैष्णव, शिव के अनुयायी शैव शक्तियों में विश्वास रखनेवाले शाक्त कहलाते थे।"

उपर्युक्त सिद्धान्त की समालोचना में हमें सर्वप्रथम यह कहना है कि स्वयं देशराज ने अपने ग्रन्थ में श्लोकों में आए 'ज्ञाति' शब्द का अर्थ राजनैतिक विचारधारापरक न करके अपने सम्बन्धियों के विषय में किया है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक आधार पर भी महाभारत के अध्ययन से यह सिद्ध नहीं होता कि यदुवंशी 'ज्ञाति' शब्द के आधार पर विभाजित थे। यदि उनमें कोई दल थे, तो वे अन्धक और वृष्णि नाम से थे।

इस सम्बन्ध में हमें यह भी कहना है कि भारतीय समाज में जातियों के निर्माण में राजनैतिक विचारधारा की अपेक्षा धार्मिक एवं

सामाजिक मान्यताएं ही मान्य रही हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ गोत्रों का निर्माण राजनैतिक पदों के कारण भी हुआ है। जैसे जाटों में पाए जानेवाले गोत्र प्रधान, ठाकुर, मिर्धा, मलिक, पटेल, फौजदार और राणा। भारतीय इतिहास में राजनैतिक स्थिति के कारण राजपूतों की उपस्थिति अवश्यमेव अपवाद के रूप में है।

धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं के उल्लंघन करने पर जाति-बहिष्कार के कारण नवीन जातियों का विकास हुआ है। प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से हमें यह पता चलता है कि पिता तथा पुत्रों के शासनप्रणाली के सम्बन्ध में परस्पर मतभेद होते हुए भी उनकी जाति में कोई अन्तर नहीं आया। इसके साथ-साथ महाभारत तथा अष्टाध्यायी के अध्ययन से हमें स्पष्ट विदित होता है कि जब-जब किसी राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गणतन्त्रों ने मिलकर कोई संगठन बनाया है तब-तब उसे संघ या संघात का नाम ही दिया गया है, जाति का नहीं। यौधेयों ने आर्जुनायन और औदम्बरों के साथ मिलकर संघ का निर्माण किया था। इसका प्रमाण यौधेयों के सिक्कों से मिलता है, जिन पर त्रि और 'तृ' शब्द अंकित हैं। यदि हम देशराज के इस विचार को स्वीकार करते हैं कि "संघ ज्ञातिप्रधान होता था, व्यक्तिप्रधान नहीं। इसलिए इस संघ में शामिल होते ही उस जाति या वंश के पूर्वनाम की कोई विशेषता नहीं रहती थी। वह ज्ञाति संज्ञा में आजाता था" तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यौधेयों के सिक्कों पर "यौधेयानां जयमन्त्रधराणाम्" और "यौधेयगणस्य जय" के स्थान पर "ज्ञातिजयमन्त्रधराणम्" और "ज्ञातिगणस्य जय" शब्द अंकित होने चाहिएं। परन्तु ऐसा नहीं हुआ, इससे स्पष्ट आभास मिलता है कि संघ के निर्मित होने पर भी पूर्व नाम उसी प्रकार रहता था और 'ज्ञाति' शब्द में परिणत नहीं होता था। अतः यह सिद्धांत जाटों की उत्पत्ति में सहायक नहीं हो सकता।

जट झट सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त को माननेवाले अनेक जाट विद्वान् हैं। इन विद्वानों का विचार है कि पाणिनि जहां व्याकरण के महान् पंडित थे वहां वे अपने समय के प्रचलित राजनैतिक संघों का भी व्याकरण की दृष्टि से परिचय देनेवाले विद्वान् थे। इस प्रकार पाणिनि राजनैतिक बुद्धि का व्यक्ति भी था। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम 'अष्टाध्यायी' है। इस

ग्रन्थ में धातुओं के प्रसंग में भ्वादिगण की धातुओं का विवरण देते हुए वे एक परस्मैपदी धातु का नाम लिखते हैं। इस धातु का नाम 'जट झट सन्घाते' है। इसका अर्थ यह है कि जट और झट धातु समूह के अर्थ में प्रयोग होती हैं। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने वाहीक देश के संघों के सम्बन्ध में तद्धित के नियम भी बनाए हैं जट शब्द से तद्धित प्रत्यय करने पर जाट शब्द सरलता से बन सकता है। जाट जाति के निर्माण में संघों का बड़ा भारी योगदान रहा है। इस जाति में सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी और अग्निवंशी सभी गोत्रों के लोग सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त इस जाति के गोत्रों में परस्पर शत्रुता रखनेवाले गोत्रों के वंश भी पाए जाते हैं। भीमसिंह[1] का यह कहना है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में अनेक जाट गोत्रों का स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। इनकी मान्यता के अनुसार पाणिनि द्वारा लिखित 'कठ' कबीला जाटों में 'कठिया' या गठवाल गोत्र के रूप में पाया जाता है। इनका यह भी मत है कि पाणिनि द्वारा वर्णित वृक कबीला जाटों में 'विर्क' नाम से अब भी मौजूद है। इसी प्रकार पाणिनि द्वारा लिखित 'परश्व' कबीला जाटों में 'परसवाल' नाम से प्रसिद्ध है। अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए 'काशिका' नामक पुस्तक का हवाला देते हुए कहते हैं कि 'काशिका' में 'त्रिगर्त' संघ के निर्माण में सहायक दो कबीले 'कौण्डोप्रथ' तथा 'दाण्डकी' जाटों में वर्तमान में 'कुण्डू' और 'डाण्डा' नामक गोत्रों में पाए जाते हैं। परन्तु इतनी साम्यता दिखाने पर भी वे जाटों का भारत में मध्यएशिया से आना स्वीकार करते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि यास्क ने अपने निरुक्त में जो 'जाट्य-जाटणार:, शब्द का प्रयोग किया है, वह जाटों में पाए जानेवाले 'जटराणा' गोत्र की ओर भी संकेत करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जाटों म पाए जानेवाले गोत्रों का नाम हमें पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है, परन्तु हम यह नहीं मान सकते कि पाणिनिकाल में ही संघ रूप में जाटों की उत्पत्ति हुई थी क्योंकि जाटों की स्थिति तो पाणिनि से भी पहले थी, तभी तो उसने अपनी पुस्तक में इनका वर्णन किया है। 'ज्ञाति' सिद्धान्त तथा 'जट-झट' सिद्धान्त परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। ठाकुर देशराज प्राय: इनको

1. भीमसिंह, दा जाट्स, पृ० 72-73

एक मानकर चले हैं। यह सिद्धान्त जाटों को सामूहिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने में अवश्य सहायता करता है।

स्कोनर का वैश्य सिद्धान्त : —

स्कीनर विद्वान् न होकर सैनिक था। इसने पंजाब में अपने लिये अंग्रेजों के समय में हांसी (हरियाणा) में एक जागीर स्थापित कर ली थी। इसने अपने संस्मरणों में जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि जाट क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री की सन्तान है। 'दबिस्तान-ए-मजाहिब' नामक पुस्तक में जाटों को वैश्यों में निम्न श्रेणी का माना है। यह सिद्धान्त जाटों के खेती करने के व्यवसाय को अपनाने के कारण बना प्रतीत होता है। यह सिद्धान्त भी धर्मशास्त्रों में वर्णित वर्णसंकर सन्तानों से बननेवाली जातियों के प्रतिकूल है।

ज्ञातृक या ज्ञातृ सिद्धान्त

बहुत से विद्वान् यह मानते हैं कि 'ज्ञातृक' शब्द से जाट की उत्पत्ति हुई है। इसी का अन्य नाम ज्ञातृ भी है। महात्मा बुद्ध के समय छत्तीस गणराज्य पूर्वी भारत में थे। इन गणराज्यों में राजा का पद पैतृक नहीं होता था अपिते वह कुछ समय के लिए चुना जाता था। इन गणराज्यों में सबसे अधिक प्रसिद्ध वज्जी संघ था। इसमें आठ बड़े-बड़े राज्य सम्मिलित थे, जिनमें लिच्छवी, विदेह, ज्ञातृक और वज्जी आदि अधिक प्रसिद्ध थे। वज्जी संघ के एक घटक 'ज्ञातृक' कबीले में महावीर का जन्म हुआ था, अतः महावीर जन्म से ज्ञातृक (जाट) थे। वज्जी संघ में लिच्छवी भी थे। महावीर की माता का नाम त्रिशला था जो कि लिच्छवी राज्य के राजकुमार चेतक की बहन थी। लिच्छवियों को ब्राह्मण लोग व्रात्य मानते थे, किन्तु कालान्तर में 'क्षत्रिय कृता' नियम के अनुसार क्षत्रिय बना लिया गया था। देशराज[1] ने अपने इतिहास में यह लिखा है कि जैन धर्म माननेवाले महाराजा जरत्कुमार के वंश में जितारि तथा जितशत्रु नाम के दो राजा हुए। इससे आगे वे लिखते हैं कि "हमें ऐसा भी मालूम होता है कि जरत्कुमार से कई पीढ़ी आगे चलकर एक दर्जन से भी अधिक जितारि और जितशत्रु नाम के राजा हुए। क्या यह सम्भव नहीं कि जरत्कुमार के वंशजों ने जितारि और जितशत्रु नाम जाटों से शत्रुता रखने के

1. देशराज; जाट इतिहास पृ० 82, 83.

कारण रखे हैं और यह शत्रुता शायद उस समय जाकर मिटी जब कि ज्ञातृवंश (कुछ लोगों ने ज्ञातृक को ही आगे चलकर जात अथवा जाट माना है) महावीर स्वामी ने अपनी छोटी बहिन का विवाह-सम्बन्ध इन लोगों (जितशत्रु) के साथ कर दिया हो, जो पीछे जाकर के जरत्कुमार के वंशज भगवान् महावीर के अनुयायी होगए। इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि जिस प्रकार पंजाब, सिन्ध तथा गन्धार में राजनैतिक संघ बने थे, ठीक इसी प्रकार बिहार में अथवा नैपाल की तराई में शाक्य, वज्जी तथा लिच्छवी आदि के संघ थे। इन संघों के सम्बन्ध में देशराज यह कहता है कि ज्ञातृक संघ भी 'ज्ञाति' शब्द का समानवाची है।

बिहार तथा बंगाल में इस समय 'ज्ञातृक' वंश का कुछ भी पता नहीं चलता। जनवरी सन् 1922 की गंगा मासिक पत्रिका में राहुल सांकृत्यायन ने 'बसाढ़ की खुदाई' नामक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि बेतिया का राजवंश जथरिया होने के कारण 'ज्ञातृक' वंश है।

पं० जगन्नाथ शर्मा ने 'ज्ञातृक' जाट थे, इसका विरोध करते हुए यह लिखा है कि बेतिया का राजवंश ब्राह्मण है जबकि ज्ञातृक लोग क्षत्रिय थे। देशराज के अनुसार "निश्चय ही बिहार के 'ज्ञातृ' भी जाट थे जो समय पाकर अधिक संख्या में बसे हुए अपने भाइयों की तरफ पंजाब में गये। अतः ज्ञातृक सिद्धान्त भी जाटों की उत्पत्ति में कुछ भी सहायक नहीं है।

अजाति सिद्धान्त

सामान्य लोगों में यह धारणा है कि जाट शब्द 'अजाति' शब्द से बना है। अजाति शब्द का आरम्भिक 'अ' उच्चारण की सुविधा के कारण प्रयोग होते-होते घिस गया तथा अन्तिम ह्रस्व इ पूर्व अक्षर 'त' के बलाघात के कारण दब गया। इस प्रकार 'जात' शब्द रह गया और वही कुछ काल के पश्चात् 'जाट' शब्द बन गया। लोकपरम्परा में मान्य इस सिद्धान्त के पीछे एक सामाजिक इतिहास छिपा हुआ है। सामाजिक परम्पराओं के अनुसार जाट एक ऐसी जाति है, जिसमें सब जातियों के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हो जाते हैं। ब्राह्मण भी इसमें आकर जाट बन जाता और शूद्र भी इसमें समाकर जाट कहलाने का अधिकारी बन जाता है। क्योंकि इस जाति में सबके साथ भाईचारे की दृष्टि से

समानता का व्यवहार होता है। जाटों की लोकपरम्परा के अनुसार जाट जाति गंगा के समान वह नदी है जो सबके बन्धनों को काटती है तथा उसमें कैसा ही पतित मनुष्य आजावे वह भी गंगा के जल की तरह पवित्र हो जाता है। इसीलिए तो जाटों में ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के गोत्र भी पाए जाते हैं। आधुनिक समय में तो बहुत से हरिजन अपने-अपने ग्रामों के जाटगोत्रों को अपने नाम के आगे लिखते हैं, परन्तु जाटों को ऐसा करने पर कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि इस विषय में वे बड़े उदार हैं।

कुछ पढ़े-लिखे जाट यह भी कहते हैं कि पौराणिकों ने जिन ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को व्रात्य कहकर जाति से बहिष्कृत कर दिया था, उन लोगों को 'अजाति' कहा जाने लगा था, जो आगे चलकर जाट बन गए। यहाँ व्रात्य शब्द पर विचार करना उपयुक्त रहेगा, जिससे इस सिद्धांत को समझने में आसानी रहे। बोधायन धर्मसूत्र में वर्णसंकरता से उत्पन्न सन्तानों को व्रात्य माना है।[1] परन्तु महाभाष्यकर[2] पतंजलि ने "नानाजातीया अनियतवृत्तय: उत्सेधजीविन: संघा व्राता:, तेषां कर्म व्रातम्। व्रातेन कमणा जीवति व्रातीन:" कहा है। उपर्युक्त भाष्य का अर्थ है कि वे जातियां जिनकी जीविका का साधन निश्चित नहीं है और दूसरों के घरों में सेंध मारकर जीविका चलाते हैं वे जातिसंघ 'व्रात' हैं। उनके काम को व्रात और काम से जो जीविका चलाए वह 'व्रातीन' होता है। लाट्यायन श्रौतसूत्र में "व्रात्या: प्रसेधमाना: यान्ति" ऐसा लिखा है[3]। अर्थात् व्रात्य लोग दूसरों को डराते हुए जारहे हैं।

व्रात्यों के सम्बन्ध में ये परिभाषाएं सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित हैं। परन्तु भारतीय साहित्य में धर्म के क्षेत्र में व्रात्य शब्द का खुलकर प्रयोग मिलता है। गोभिलीय गृह्यसूत्र[4] तथा मनुस्मृति[5] के अनुसार गर्भ के दिन से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय का और बारहवें वर्ष में वैश्य का यज्ञोपवीत संस्कार होना

---

1. बोधायन, 1-9-16.
2. महाभाष्य 5-2-21.
3. लाट्यायन 8-6-7.
4. गोभिलीय 2-10
5. मनुस्मृति 2-36, 38

चाहिए। यदि इस अवधि में इनका यज्ञोपवीत संस्कार किन्हीं कारणों से न हो सके तो सोलहवें वर्ष में ब्राह्मण का, बाईसवें वर्ष में क्षत्रिय का और चौबीसवें वर्ष में वैश्य का अवश्य हो जाना चाहिए। इन्हीं ग्रन्थों के अनुसार इस अवधि के बाद यज्ञोपवीत संस्कार होने से ये सावित्री पतित (संस्कार से रहित) हो जाते हैं और 'व्रात्य' कहलाते हैं। मनु के अनुसार इस प्रकार के मनुष्यों के साथ ब्राह्म अर्थात् वेद के पढ़ने-पढ़ाने का और यौन अर्थात् विवाह आदि का सम्बन्ध भी नहीं करना चाहिए। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही जातियों के लोग व्रात्य हो सकते हैं।

ब्राह्मणों ने इस प्रकार से जातिबहिष्कृत लोगों को अजाति रहने दिया। अतः इस सिद्धांत के आधार पर जाट किसी एक विशेष वर्ग की जाति न होकर विभिन्न वर्गों के गोत्रों के समुदायों का संघ है। भारतीय सामाजिक जीवन में एक ऐसा भी युग आया था जब व्रात्यों के दबाव के कारण इन्हें आर्यजाति में पुनः सम्मिलित किया जाना आवश्यक होगया। इसके लिए व्रात्यस्तोत्रों की कल्पना की गई। व्रात्य स्तोत्र द्वारा जिन अजाति व्रात्यों को पुनः अपने-अपने वर्ग में सम्मिलित होने का अधिकार मिल गया, उन्हें 'आर्यकृता' के नाम से पुकारा जाने लगा। परन्तु जाट तो इस वर्ग में भी नहीं आए और उन्होंने ब्राह्मणों का विरोध होते हुए भी अपनी ही शक्ति से आर्यत्व प्राप्त कर लिया। इस प्रकार के लोगों को 'आर्यभूता' कहा जाने लगा।

योद्धा सिद्धान्त

योद्धा सिद्धांत के माननेवालों में भीमसिंह[1] का नाम प्रमुख है। वे अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि सम्भवतः जाट शब्द संस्कृत के योद्धा शब्द से बना है। आजकल भी बहुत से जाटों के नाम जोधा अथवा गोधा हैं। इन्हीं जाटों को पाणिनि ने आयुधजीवी कहा है। महाभारत में योद्धाओं के साथ बोधाओं का भी वर्णन पाया जाता है। भीमसिंह की मान्यता के अनुसार वस्तुतः इनका यही असली नाम था, परन्तु ये अपने कबालों के नाम से भी पुकारे जाते थे। इनकी मान्यता के अनुसार स्कन्दगुप्त पर आक्रमण करनवाले जाट ही थे। इस बात की पुष्टि में गुप्तराज्य का 'भीतरी' अभिलेख प्रस्तुत करते है। इस अभिलेख के

1. भीमसिंह, दि जाट्स, पृ० 6-7

अनुसार पुष्यमित्र नामक लोगों ने गुप्तसाम्राज्य पर आक्रमण किया था और यह आक्रमण इतना भयंकर था कि स्कन्दगुप्त को भूमि पर सोने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस आक्रमण के परिणामस्वरूप गुप्त साम्राज्य की जड़ें भी हिलने का खतरा होगया था। इनकी मान्यता के अनुसार इस अभिलेख में 'पुष्य' शब्द स्पष्ट नहीं है। इस शब्द की स्पष्टता को एच० के० दिवाकर तथा ए० एल० बाशम ने भी स्वीकार नहीं किया है। बाशम के मतानुसार अभिलेख में 'पुष्यमित्र' के स्थान पर 'युद्ध्यमित्र' सही शब्द है। परन्तु इसमें कठिनाई यह है कि इस अभिलेख में युद्ध्यमित्र के साथ 'च' शब्द का प्रयोग है। इससे यह प्रमाणित होता है कि युद्ध्यमित्रों के अन्य कुछ कबीले भी गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण के समय में थे। भीमसिंह की मान्यता है कि यौधेयों के साथ अन्य कबीले हूण इत्यादि थे। इनका कथन है कि यह सम्भव नहीं एक रात में ही पुष्यमित्र नाम की जाति जो कि इतिहास में अज्ञात है, गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण करती। इस प्रकार 'योद्धा' (जाट) का यह वर्णन प्रारम्भिक वर्णनों में से एक है।

परन्तु भीमसिंह के सिद्धांत के मानने में एक कठिनाई यह है कि वे अपनी पुस्तक में गुप्त-राजाओं को जाट मानते हैं[1] और योद्धा (जाट यौधेय) को भी जाट मानते हैं। एक जाट-जाति का दूसरे जाट-साम्राज्य पर आक्रमण करने की क्या तुक थी, यह उन्होंने नहीं लिखा है। इसके अतिरिक्त वे यौधेयों के मित्र हूणों को भी जाट मानते हैं। इसके विपरीत इतिहास का बहुमत इस विषय के पक्ष में है कि गुप्तों पर आक्रमण करनेवाले योद्धा (जाट) न होकर हूण ही थे और वे विदेशी थे।

यदु सिद्धान्तः—

अल-बेरूनी ने अपने यात्रा विवरण में कृष्ण-जन्म के विषय में लिखते हुए कहा है कि "मथुरा में वसुदेव से कंस की बहन से कृष्ण का जन्म हुआ। यह परिवार जाट था और गौओं के पालन का कार्य करता था।" टाड ने राजस्थान के इतिहास में लिखा है कि जमाना महाभारत में जो चक्र यादव कृष्ण का था उससे जाट सवार ही मुसलह रहता था। इसी प्रकार बुलन्दशहर मैमायर्स के लेखक राजा लक्ष्मणसिंह ने लिखा है कि यह प्रमाणित सत्य है कि भरतपुर के जाट श्री कृष्णचन्द्र से गौरान्वित यादवों के वंशज हैं। यदुवंश और जाटों के

1. भीमसिंह, दि जाट्स, पृ० 175-191

सम्बन्ध में कालिकारंजन कानूनगो ने एक घटना का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—एक बार भरतपुर के जाट राजा जवाहरसिंह के सलाहकार ने उनसे कहा कि आप राजपूत राजा माधोसिंह से समझौता करके उन्हें सम्मान दें, क्योंकि वे आपसे वंश में बड़े हैं और उनके वंश (सूर्य वंश) में भगवान् रामचन्द्र जैसे पुरुष उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने सागर पर पुल बांध दिया था। इस बात को सुनकर जवाहरसिंह ने कहा कि हम कौन से कम हैं हमारे पूवज कृष्ण ने सात दिन तक गोवधन पर्वत को उंगली पर उठाए रखा[1]।

उपर्युक्त बातों से सिद्ध होता है कि यदुवंश का और जाटों का कोई न कोई अटूट सम्बन्ध है। सम्भवतः इसी मान्यता को लेते हुए रामलाल हाला ने यह सिद्धान्त लिखा था कि चन्द्रवंश में श्रीकृष्ण से कई पीढ़ी पहले महाराजा यात हुए थे और उन्हीं से जाटों की उत्पत्ति हुई है। इनके अनुसार भी यदुवंश से ही जाटों की उत्पत्ति हुई है। अपने मन्तव्य की पुष्टि में वे पद्मपुराण का आगे दिया श्लोक प्रस्तुत करते हैं:—

> नहुषस्य प्रवक्ष्यामि पुत्रान्सप्तैव धार्मिकान् ।
> यतिः ययातिः शर्यातिरुत्तरः पर एव च ।
> अयतिः वियतिश्चैव सप्तैते वंशवर्धनाः ॥

अर्थात् महाराज नहुष के यति, ययाति, शर्याति, उत्तरययाति, परययाति, अयति और वियति नामक सात पुत्र हुए। रामलाल ने यति को ही यात मानकर और प्राकृतभाषा का आधार लेकर जिसमें 'य' को 'ज' हो जाता है, यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यात ही जाट है। इसी से मिलता-जुलता एक श्लोक महाभारत में भी मिलता है जिसमें नहुष के सात पुत्र न कहकर छह पुत्र ही कहे गए हैं। यह श्लोक इस प्रकार है —

> यतिं ययातिं संयातिमयातिमयतिं ध्रुवम् ।
> नहुषो जनयामास षट् सुतान् प्रियवादिनः ॥

महाभारत तथा पद्मपुराण दोनों ही में यति' नामक पुत्र का नाम पाया जाता है। परन्तु इस सन्दर्भ में हमें यह कहना है कि पद्मपुराण के अनुसार यति तो बाल्यावस्था में ही संन्यासी हो

1. कानूनगो, जाट हिस्ट्री पृ० 204

गया था। अतः उसकी सन्तान जाट कैसे कहलाई ? एक अन्य मान्यता के अनुसार नहुष के बेटे ययाति के पुत्र यदु से जाटों की वंशपरम्परा आरम्भ हुई। यति (यात) और यदु की मान्यता में इतना अन्तर है कि एक सिद्धान्त में वह नहुष का पुत्र यति जाटों का मूलपुरुष है तो दूसरे में नहुष का पोता यदु जाटों का आदिपुरुष है।

इसी सम्बन्ध में एक अन्य मान्यता जाटजगत्गुरु पण्डित श्री-निवासार्य की है। इनकी विचारधारा के अनुसार ययाति की पत्नी देवयानी के पुत्र यदु से ही जाटों की उत्पत्ति हुई है। इनकी मान्यता है कि यदु के वंशज कुछ समय तो यदु के नाम से प्रसिद्ध थे किन्तु भाषा में 'य' को 'ज' बोले जाने के कारण जदू-जद्दू-जट्टू-जाट कहलाए। कुछ लोगों ने अपने आप को यायात कहना आरम्भ किया जो य को ज होने के कारण जाजात होगया तथा दो अक्षरों का पास ही में संनिवेश होने के कारण एक 'ज' नष्ट होगया, अतः जात और फिर जाट होगया। तीसरी शताब्दी में इन यायातों का जापान पर अधिकार था। ये ययाति के वंशधर भारत में आदिक्षत्रिय हैं जो आज जाट कहे जाते हैं। इस सिद्धान्त में ययाति और यदु दोनों ही से जाटों की उत्पत्ति मानी गई है।[1]

यदु वंश से जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इतिहासकार भाई परमानन्द के विचार हैं कि "ऐसा मालूम पड़ता है कि यादु नस्ल की एक शाख जाट कहलाने लगी। जाट और यदु लफ्ज़ एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। यदुओं के हैहय कबीले की एक शाखा का नाम जात या सुजात था। यह भी कहा जाता है कि कश्यप ऋषि ने अग्निकुल राजपूतों की तरह जाटों को क्षत्रिय बनाया था।"

पुराणों के अनुसार हैहयवंशी क्षत्रियों में जात नाम का एक राजा हुआ था। विष्णु पुराण के अनुसार नहुषवंश में ययाति नामक एक राजा हुआ और ययाति के यदु, तुर्वसु द्रुह्यु, अनु और पूरु पांच पुत्र हुए। इनमें से यदु के सहस्रजित, क्रोष्टु, नल और नहुष नाम के चार पुत्र हुए। इनमें से सहस्रजित का पुत्र शतजित, शतजित का हैहय, हैहय का धर्म, धर्म का धर्मनेत्र, धर्मनेत्र का कुन्ति, कुन्ति का सहजित और सहजित का महिष्मान हुआ। इसी महिष्मान

1. श्रीनिवासाचार्य, जाट इतिहास पृ० 15-16

ने माहिष्मती नगरी को बसाया था। इसके बाद महिष्मान का पुत्र भद्रश्रेण्य, भद्रश्रेण्य का दुर्दम, दुर्दम का धनक और धनक का कृतवीर्य नामक पुत्र हुआ। कृतवीर्य का पुत्र सहस्रबाहु अर्जुन हुआ और इसी का दूसरा नाम कार्तवीर्य है। इस विस्तृत यदुवंश में कार्तवीर्य के सौ लड़के उत्पन्न हुए और उनमें शूर, शूरसेन, वृषसेन, मधु और जयध्वज अतिबलवान् थे। पद्मपुराण के अनुसार जयध्वज से हैहयवंशी यादवों की तालजंघ, वीतिहोत्र, अवन्त्य, तुण्डीकेर और जात पाँच शाखाएं निकली हैं। उपर्युक्त दोनों पुराणों के विवरण में जित और जात दो शब्द आए हैं। इन्हीं दो शब्दों को आधार मान कर जाट जाति की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं।

भाई परमानन्द ने अपने कथन में यह भी कहा है कि "कश्यप ऋषि ने अग्निकुल राजपूतों की तरह जाटों को भी क्षत्रिय बनाया"। इस कथन के पीछे भी पुराणों तथा महाभारत की कथा का ही आधार प्रतीत होता है। महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार हैहयप्रदेश में कृतवीर्य सहस्रबाहु अर्जुन नाम का एक महाबली राजा था। इस राजा ने दत्तात्रेय की कृपा से सारी पृथ्वी जीतकर चक्रवर्ती राज्य प्राप्त किया। किसी समय अग्नि भूखी होकर राजा सहस्रबाहु अर्जुन के पास आई। राजा ने अग्नि को पर्वतों सहित ग्राम, नगर और राज्य समर्पित कर दिये। अग्नि ने कार्तवीर्य अर्जुन के बाणों के अगले भाग से उत्पन्न होकर और वायु के प्रभाव से निर्जनस्थान में स्थित वशिष्ठ ऋषि के आश्रम को भी भस्म कर दिया। वशिष्ठ ऋषि ने क्रुद्ध होकर कार्तवीर्य अर्जुन को शाप दिया कि तुमने मेरे वन और आश्रम को भस्म किया है, इस अपराध के कारण परशुराम तुम्हारे सब हाथों को काटेंगे। परन्तु सहस्रार्जुन ने वशिष्ठ के शाप की कोई चिन्ता नहीं की। एक बार सहस्रार्जुन के पुत्रों ने परशुराम की अनुपस्थिति में महर्षि जमदग्नि (परशुराम का पिता) के बछड़े चुरा लिए। जब इस घटना का पता परशुराम को लगा, तो वह राजभवन के आंगन में बंधे अपने बछड़ों को छुड़ाकर ले आया। इसके बाद किसी समय परशुराम की अनुपस्थिति में सहस्रार्जुन-पुत्रों ने पुनः इकट्ठे होकर भाले से जमदग्नि का सिर काट दिया। पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए परशुराम ने प्रतिज्ञा करके शस्त्र ग्रहण किया और कहा कि मैं सम्पूर्ण पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर दूंगा। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार परशुराम

ने पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर दिया और स्वयं वन में तपस्या करने चल दिया।

इसके बाद एक बार विश्वामित्र के पोते रैभ्य परावसु ने परशुराम से कहा कि स्वर्ग से पतित ययाति राजा के लिए जो यज्ञ हुआ था और उसमें प्रतर्दन आदि जो राजा आए थे, क्या वे क्षत्रिय नहीं थे ? तुमने जो जन-समाज के बीच पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित करने की प्रतिज्ञा करके अपनी बड़ाई की थी. तुम्हारी वह प्रतिज्ञा मिथ्या है। क्योंकि इस समय पृथ्वी पर अनगिनत क्षत्रिय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम क्षत्रियों के भय से पर्वत पर जाकर रहने लगे हो। परावसु के निन्दा-युक्त वचनों को सुनकर तथा अपना अपमान समझकर परशुराम ने पुनः शस्त्र ग्रहण किया और जो क्षत्रियों के पुत्र बचे थे, उन्हें मार दिया। परन्तु उस समय कुछ क्षत्रियों की स्त्रियों ने अति चतुराई से अपने गर्भों की रक्षा कर ली थी। इधर परशुराम ने अश्वमेध यज्ञ करके दक्षिणा के रूप में सारी पृथ्वी कश्यप को दान कर दी।

पृथ्वी का दान पाकर कश्यप ने क्षत्रियबालकों की रक्षा करने की इच्छा से परशुराम से कहा कि इस समय यह पृथ्वी मेरी हो चुकी है, अतः तुम यहां से जाकर समुद्र के तीर पर रहो। इधर क्षत्रियों के अभाव में भली-भांति रक्षित न होकर पृथ्वी-पाताल को जाने के लिए तैयार हो गई और कश्यप से कहने लगी—कितनी ही स्त्रियों से क्षत्रियसन्तान उत्पन्न होकर मुझ से सुरक्षित होकर गुप्त रीति से निवास कर रही हैं। मैं उनके कुल और गोत्र का वर्णन करती हूं। कितने ही हैहय-वंशी क्षत्रिय जीवित हैं। पूरु-वंशीय विदुरथ ऋक्षवान पर्वत पर है तथा सौदाम राजपुत्र भी जीवित है। शिवि-पुत्र गोपति, प्रतर्दन-पुत्र वत्स, दधिवाहन-पुत्र दिविरथ और वृहद्रथ अभी तक जीवित हैं। पृथ्वी के इन वचनों को सुनकर कश्यप ने क्षत्रियपुत्रों को लाकर राज्यपद पर बैठाया।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट झलकता है कि यह पृथ्वी कभी भी क्षत्रियरहित नहीं हुई थी, जैसा कि दावा अंगद शास्त्री ने 'जठरोत्पत्ति' में किया है। इससे यह भी अनुमानित होता है कि कभी यदुवंशी अपने क्षत्रियत्व को भूल चुके थे, अतः कश्यप ऋषि

ने उन्हें क्षत्रिय धर्म का पालन करने के लिए प्रेरित किया और पृथ्वी पर फैले अनाचार को रोकने की प्रेरणा दी।

यदुवंश और जाटों के सम्बन्ध में कानूनगो के विचार भी पाठकों के सामने प्रस्तुत करना उचित रहेगा। क्योंकि जाटों के विषय में इस विद्वान् ने सर्वप्रथम आधुनिक दृष्टि से अपनी लेखनी चलाई। कानूनगो अपनी पुस्तक जाट इतिहास के परिशिष्ट[1] में यदुवंश के विषय में लिखते हैं कि वैदिककाल में यदु लोग सप्तसिन्धु प्रदेश में रहते थे। वे बड़े जीवट के धनी थे और रूढिवादी नहीं थे। ऐसा कहा जाता है कि अनभिषिक्त यदु और तुर्वसु लोग सागर पार करके इसके परले किनारे पर रहने लगे थे, परन्तु इन्द्र सागर पार करके उन्हें सप्तसिन्धु प्रदेश में पुनः लाया। वहां से आने के उपरान्त इन्होंने सरस्वती के किनारे पर बहुत से यज्ञ किए। परन्तु रूढिवादी न होने के कारण इन्द्र की इनसे पटी नहीं और ये फिर एकबार लुप्त से हो गए। यदु के पिता का नाम ययाति था। परन्तु पिता का आदेश न मानने के कारण इसे राज्याधिकार से वंचित कर दिया गया था। ययाति ने अपने दूसरे पुत्र पुरु को राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया। यदु को दक्षिण अथवा दक्षिण-पश्चिम का प्रदेश दे दिया गया। यदुओं को परशुराम के हाथ बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी, परन्तु कश्यप ऋषि ने इनका उद्धार किया। यदुओं के इतिहास की दूसरी घटना, इनका सूर्यवंशी राजाओं से निरन्तर संघर्ष रहा है। इस संघर्ष में ये इतने शक्तिहीन होगए कि इनका पुनर्उद्धार नहीं हो सका। उसी समय से ये वर्तमान जाटों के स्तर पर जीवन जी रहे हैं।

महाभारत के समय में ये शूरसेन (मथुरा) प्रदेश के स्वामी कहे गए हैं। अठ्ठारह गोत्र मिलकर ये सब उग्रसेन को अपना राजा मानते हैं। उग्रसेन शिष्टाचार के नाते 'राजा' कहलाता था। वस्तुतः वह तो अठ्ठारह गोत्रों का चुना हुआ सर्वाधिकारी था। उग्रसेन की राजा के रूप में अपनी कोई शक्ति नहीं थी। वास्तविक सत्ता पंचायत के चुने हुए प्रतिनिधियों के पास रहती थी, जो कि विभिन्न गोत्रों के चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा थी। यह पंचायत उसी प्रकार की पंचायत थी जैसे कि जाटों की 'बाराह' और 'चौरासिया' खाप पंचायतें हैं। अर्थात् बारह ग्रामों अथवा गोत्रों और चौरासी ग्रामों की खाप पंचायतें।

*कानूनगो, जाट हिस्ट्री, पृ० 331-40

उपर्युक्त उद्धरण में तथा इससे पूर्व के विचारों में पाए जानेवाले यदु शब्द पर कुछ और विस्तार से लिखना उचित रहेगा। यदु शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें ऋग्वेद (1.108.8) में इस प्रकार मिलता है—

यदिन्द्राग्नी युदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य।

उपर्युक्त मन्त्र में यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पूरु पांच नाम आए हैं। यही पांचों नाम हमें भारतीय साहित्य में राजा ययाति के पुत्रों के मिलते हैं। तो क्या यह मान लिया जाए कि यदु कबीला वैदिक काल में ही एक प्रसिद्ध कबीला रहा है। वेद मन्त्रों के अर्थों के विषय में अनेक सिद्धान्त रहे हैं। इन सिद्धान्तों में एक सिद्धान्त 'ऐतिहासिकों' का भी है। इस बात का पता हमें यास्क के निरुक्त से चलता है। अर्थात् एक ऐसा वैदिक समुदाय यास्क से पूर्व विद्यमान था, जो कि वेदों में इतिहास के होने की विचारधारा का समर्थक रहा है। इस मन्त्र की व्याख्या करने से पूर्व सायण अपने भाष्य में कहते हैं कि यदु इत्यादि ये पांच नाम मनुष्यों के हैं। परन्तु उनका भाष्य करते समय सायण इनका अर्थ व्यक्तिविशेष के रूप में न करके गुणपरक अर्थ में करते हैं।

इसके उपरान्त यदु शब्द का प्रयोग हमें निघण्टु में मिलता है। निघण्टु में मनुष्य के नामों को इस प्रकार गिनाया गया है— मनुष्याः। नराः। धवाः। जन्तवः। विशः। क्षितयः। कृष्टयः। चर्षणयः। नहुषाः। हरयः। मर्य्याः। मर्त्याः। मर्ताः। व्राताः। तुर्वशाः। द्रुह्यवः। आयवः। यदवः। अनवः। पूरवः। जगतः। तस्थुषः। पंचजनाः। विवस्वन्तः। पृतनाः। इति पंचविंशतिर्मनुष्यनामानि।

अर्थात् मनुष्य, नर, धव, जन्तु, विट्, क्षिति, कृष्टि, चर्षणि, नहुश, हरि, मर्य्य, मर्त्य, मर्त, व्रात, तुर्वश, द्रुह्यु, आयु, यदु, अनु, पूरु, जगत्, तस्थिवान्, पंचजन, विवस्वान् और पृत ये पच्चीस नाम मनुष्य के हैं। मूल में सर्वत्र बहुवचनान्त पाठ है। इन पच्चीस नामों में भी यदु, तर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पूरु नाम आए हैं। अतः इतिहासकार यह मानते हैं कि ये नाम वैदिक कबीलों के हैं। इसके उपरान्त हमें महाभारत में इन कबीलों का इतिहास भी मिलता है। महाभारत में इन कबीलों का वर्णन इस प्रकार मिलता है :—

ययातिः नाहुषः सम्राडासीत् सत्यपराक्रमः।
तस्य पुत्राः महेष्वासाः सर्वैः समुदिता गुणैः।
देवयान्यां महाराज शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे।
देवयान्यामजायेतां यदुस्तुर्वसुरेव च ॥
द्रुह्युश्चानुश्च पूरुश्च शर्मिष्ठायां प्रजज्ञिरे।

उपर्युक्त उद्धरण से पता चलता है कि राजा ययाति की देवयानी और शर्मिष्ठा नाम की दो रानियां थीं। इनमें से देवयानी से यदु और तुवर्सु नाम के दो लड़के उत्पन्न हुए तथा शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु तथा पूरु नामक तीन पुत्र हुये।

महाभारत के आदिपर्व के अध्याय 75 से लेकर 93 तक राजा ययाति की कहानी विस्तारपूर्वक दी गई है। यह इतिहास की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। महाभारत के अनुसार जिस समय बृहस्पतिपुत्र कच असुरगुरु शुक्राचार्य से शिक्षा प्राप्त कर रहा था, उस समय शुक्राचार्य की लड़की देवयानी ने कच की बड़ी सेवा की। विद्या समाप्ति पर जाने के लिए तैयार कच से देवयानी ने कहा कि आप मुझ से विवाह कर लें। परन्तु गुरुकन्या समझकर कच ने विवाह के प्रस्ताव को अमान्य कर दिया। इस पर देवयानी ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि तुम्हारी विद्या कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होगी। इस बात को सुनकर अनपराधी कच ने भी शाप दिया कि कोई भी ऋषि-पुत्र तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं करेगा।

इसके बाद एक समय असुरों के राजा वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा और देवयानी दोनों किसी वन में नहाने के लिए गईं। वहां इन दोनों में लड़ाई होगई और शर्मिष्ठा ने देवयानी को कुए में गिरा दिया। इसी समय राजा ययाति वन में शिकार करते हुए उसी कुए के पास पहुंच गये और उन्होंने देवयानी को कुए से निकाल दिया। देवयानी ने इस सारी घटना का विवरण अपने पिता को दे दिया और कहा कि शर्मिष्ठा ने अपने को राजपुत्री तथा मुझ को पुरोहित-कन्या समझकर मेरा बड़ा अपमान किया है। अतः जब तक वह मेरी दासी नहीं होगी तब तक मैं घर नहीं आऊंगी। राजा वृषपर्वा ने पुरोहित-पुत्री को क्रुद्ध जानकर उसकी तसल्ली के लिए अपनी बेटी शर्मिष्ठा को देवयानी की दासी बना दिया। इसके बाद दोबारा वन में ययाति को देखकर उससे देवयानी ने विवाह का प्रस्ताव किया। विवाह की बात सुनकर

ययाति ने कहा - जब तक तुम्हारे पिता इस विषय में स्वीकृति नहीं देते तब तक मैं पाणिग्रहण नहीं कर सकता। इस पर देवयानी पिता से आज्ञा लेकर ययाति की पत्नी बनी और शर्मिष्ठा उसके साथ ही रहने लगी।

विवाह के समय शुक्राचार्य ने ययाति को सचेत कर दिया कि आप दासी शर्मिष्ठा का प्रत्येक प्रकार से सम्मान करें, किन्तु इससे सन्तान उत्पन्न न करें। परन्तु राजा ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया और शर्मिष्ठा से अनु, द्रुह्यु और पूरु तीन पुत्र तथा देवयानी से यदु और तुर्वसु दो पुत्र उत्पन्न किए।

कुछ समय के वाद देवयानी को जब यह पता चला कि ययाति ने शर्मिष्ठा से तीन पुत्र उत्पन्न किए हैं, तो वह क्रोध में भरकर अपने पिता के पास चली गई। शुक्राचार्य ने सारी वातें जानकर क्रोध में आकर ययाति को शाप दिया कि तुम शीघ्र ही बूढ़े हो जाओगे। परन्तु राजा के वार-वार अनुग्रह करने पर शुक्राचार्य ने यह कहा कि मेरे प्रभाव से तुम अपनी वृद्धावस्था को किसी अन्य पुरुष में स्थापित कर सकते हो। परन्तु आपके पुत्रों में से जो कोई आपको अपनी युवावस्था देगा और बुढ़ापा लेगा, वही सम्पूर्ण राज्य का अधिकारी बनेगा। इसके वाद राजा सर्वप्रथम यदु और तुर्वसु के पास जवानी मांगने गया। यदु और तुर्वसु देवयानी के पुत्र थे, वे अपने यौवन से मां का उपभोग अनुचित समझते थे, अतः यौवन देने से मना कर दिया। कामान्ध ययाति ने यदु को शाप दे दिया—कि तुम राजा नहीं बन सकते तथा तुर्वसु को कहा कि तुम म्लेच्छों के राजा बनोगे। द्रुह्यु तथा अनु ने भी बुढ़ापा लेकर यौवन देने से इन्कार कर दिया। द्रुह्यु को शाप देते हुये ययाति ने कहा कि जहां पर अश्व और रथों की गति नहीं और जहां पर हाथी इत्यादि की गति नहीं है, परन्तु जहां पर नौका से ही कार्य चलता है वहां के मालिक बनोगे। अनु को कहा कि तुम्हारी प्रजा यौवनावस्था में नष्ट हो जायेगी। परन्तु पूरु ने पिता के वचनों का पालन किया, अतः उसी को भरतखण्ड का राज्य दे दिया गया।

इससे आगे महाभारत में इन पांचों भाइयों की सन्तानों के विषय में कहा कि—

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवना: स्मृता: ।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातय: ।
पूरोस्तु पौरवो वंशो यत्र जातोऽसि पार्थिव: ।।

अर्थात् यदु से यादववंश, तुर्वसु से यवनवंश, अनु से म्लेच्छवंश, पूरु से पौरववंश चला और द्रुह्यु की सन्तान भोज कहलाई । यदु को शाप देने की बात का वर्णन वायु पुराण[1] में भी इस प्रकार मिलता है—

एवमुक्त्वा यदुं राजा शशापैनं स मन्युमान् ।
यस्त्वं मे हृदयाज्जातो वय: स्वं न प्रयच्छसि ।।
तस्मान्न राज्यभाग् मूढ़ प्रजा ते वै भविष्यति ।

अर्थात् तुमने मेरे पुत्र होते हुए आयु प्रदान नहीं की है, अत: तुम्हारी सन्तान राजा नहीं बन सकेगी । इस शाप की पुष्टि उस समय की घटना से भी होती है जिस समय कंस के मरने के बाद प्रजा ने श्रीकृष्ण से राजगद्दी पर बैठने का अनुरोध किया तो श्रीकृष्ण ने कहा—'ययातिशापाद् यदुभिर्नासितव्यं नृपासने' अर्थात् ययाति के शाप के कारण यदुजन राजा नहीं हो सकते । परन्तु ययाति ने शेष पुत्रों को निर्वाह के लिए कुछ भू-भाग दे दिए । श्रीमद् भागवत[2] के अनुसार यह बंटवारा इस प्रकार था—

दिशि दक्षिणपूर्वस्यां द्रुह्युं दक्षिणतो यदुम् ।
प्रतीच्यां तुर्वसुश्चक्रे उदीच्यामनुरीश्वरम् ।।
भूमण्डलस्य सर्वस्य पूरुमर्हत्तमं विशाम् ।
अभिषिच्याग्रजास्तस्य वशे स्थाप्य वनं ययौ ।।

अर्थात् दक्षिण-पूर्व दिशा का भू-भाग द्रुह्यु को, दक्षिण का यदु को, पश्चिम दिशा का तुर्वसु को और उत्तर दिशा का अनु को जीवन-निर्वाह के लिए दे दिया । डा० बलदेव उपाध्याय[3] यह कहते हैं कि ययाति ने अपने ज्येष्ठपुत्र यदु को चर्मण्वती (चम्बल), वेत्रवती (बेतवा) तथा शुक्तिमती (केन) नदियों का प्रदेश दिया । इसके विपरीत महाभारत से हमें यह विदित होता है कि पूरु को राज्याभिषिक्त करके अन्य पुत्रों को सीमावर्ती प्रदेश प्रदान किए । महाभारत में कहा गया है कि—

1. वायु पुराण, अनुषंग पाद, अध्याय 31, श्लोक 38-39
2. श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अध्याय 19, श्लोक 22-23
3. पुराण विमर्श, पृ० 377

गंगायमुनयोर्मध्ये कृत्स्नोऽयं विषयस्तव ।
मध्ये पृथिव्यास्त्वं राजा भ्रातरोऽन्त्याधिपास्तव ।।

अर्थात् गंगा और यमुना के मध्य का प्रदेश पुरु को देकर कहा कि शेष तुम्हारे भाई सीमावर्ती प्रदेश के स्वामी रहेंगे। यदु को दिए गए सीमावर्ती प्रदेश को ही कानूनगो ने सप्तसिन्धु कहा है। ययाति की कथा से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यदु (जाट) कभी भी साम्राज्य-वादी राजा नहीं बन सकेंगे। इससे यदु (जाट) लोग गणतन्त्रों के माध्यम से अपनी शासन-प्रणाली को चलाते रहे हैं। इस प्रणाली के अवशेष सर्वखाप पंचायत और खाप पंचायतों के रूप में अब भी जाटों में पाए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त श्रीनिवासाचार्य[1] ने यह माना है कि "दक्षिण का भाग यदु को दिया। (जिसमें हिमाचल प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली तथा इन प्रांतों से लगा उत्तरप्रदेश, गुजरात, कच्छ तक है।) शास्त्रों के अनुसार सं० 2030 में इस सृष्टि को 1955885074 (एक अरब पिचानवे करोड़ अट्ठावन लाख पिचासी हजार चौहत्तर वर्ष) होगए। यदि ययाति तक की पीढ़ियों का समय एक करोड़ वर्ष भी मान लें, (क्योंकि उस समय आयु लम्बी होती थी) तो भी यदु और यदुओं के वंशज जाटों का इस भूमि पर एक अरब चौरानवें करोड़ वर्ष से शासन है।" श्रीनिवासाचार्य के उपर्युक्त कथन से भी यही परिणाम निकलता है कि यदु को सप्तसिन्धु का भू-भाग मिला था। परन्तु श्रीनिवासाचार्य के कथन में अतिशयोक्ति है और जाट जाति के सम्बन्ध में भावुकता का सहारा सीमा से बढ़कर लिया गया है। पं० लेखराम आर्य मुसाफिर ने 'रिसाला जिहाद' में यदु सिद्धांत को मानते हुए लिखा है कि जाट शब्द के यदु अपभ्रंश जादू, जाद और जाट हैं। मिस्टर नेशफील्ड जो भारतीय जातीय शास्त्र के एक अद्वितीय ज्ञाता माने जाते हैं, लिखते हैं कि जाट यदु के वर्तमान हिन्दी उच्चारण के सिवाय कोई दूसरा शब्द नहीं है, यह वही जाति है जिसमें श्रीकृष्ण पैदा हुए थे। इस प्रकार भारतीय विद्वान् बहुमत से यदु शब्द से जाटों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।

राजपूत सिद्धान्त :-

जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त यह भी है कि

---

1. श्री निवासाचार्य, जाट इतिहास, पृ० 14

राजपूतों से जाटों की उत्पत्ति हुई। राजपूताने में वंशावली रखनेवालों को जागा या भाट कहते हैं। इनकी पोथियों में यह लिखा मिलता है कि अमुक जाट गोत्र अमुक राजपूतों से उत्पन्न हैं। जाखड़ गोत्र के विषय में लिखा है कि एक राजपूत ने जाटनी से शादी कर ली और उससे जाट 'जाखड़' पैदा हुआ। भट्टो जाटों के विषय में भाट लोगों ने लिखा है कि एक चौहान राजा कोड़खोखर के मान, दल्ला और देसाल तीन पुत्र हुए। ये तीनों जाटनी के साथ विवाह करने से जाट होगए।

इसके अतिरिक्त जाटों तथा राजपूतों में अनेक ऐसे गोत्र हैं जो कि दोनों में समान रूप से पाए जाते हैं। जैसे : बड़गूजर, भट्टी, गहलोत, पवार, परिहार, राठौर, राठी, सिकरवार, सोलंकी तोमर आदि। इन गोत्रों की समानता के कारण भाटों ने भ्रम उत्पन्न कर दिया कि जाट तो राजपूतों की सन्तान हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त के विरोध में जस्टिस केम्पवेल[1] ने अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'यह सम्भव हो सकता है राजपूत जाट हैं, जो कि भारत में आगे बढ़ गए हैं और वहां हिन्दू जातियों से परस्पर मिल गए हैं तथा ऊंचे और कट्टर हिन्दू हो गये हैं। उन्होंने अपने प्राचीन वैभव को प्राप्त कर लिया है। लेकिन यह कि जाट राजपूत हैं और ऊंचे दर्जे से घट गये हैं, यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसके लिए बिल्कुल सबूत नहीं है"। हमारी यह मान्यता है कि जागा और भाटों को बहियों में जाटों की जो राजपूतों से उत्पत्ति दिखाई है, वह सर्वथा मिथ्या है और विश्वास के योग्य नहीं है। भाटों ने ऐसा क्यों लिखा? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है—प्रथम तो, जाटों के प्रामाणिक इतिहास की कमी ने इस जाति को अपने वास्तविक स्थान से गिराने में सहायता दी और जिसके मन में जैसा आया लिखता चला गया। इसीलिए मथुरा मेमायर्स के लेखक मि० ग्राउस ने जाटों को अपना इतिहास न लिखने पर काफी फटकार बताई है। दूसरा यह कि जाट लोग प्रजातन्त्र के पक्षपाती थे। प्रजातन्त्र के ही नहीं अपितु उनके कुछ कबीले तो अराजकतावादी तक थे। परन्तु भारत में उभरनेवाला नया हिन्दूधर्म प्रजातन्त्र के विरुद्ध था। क्योंकि एकतन्त्र में उन्हें धर्मप्रचार के लिए सुविधा रहती थी और एक राजा के धर्म बदलते ही सारी प्रजा धर्म बदल लेती थी।

1. देशराज, जाट इतिहास, पृ० 67

नवीन हिन्दूधर्म ने गणतन्त्र को इसलिए भी बुरा माना कि बौद्धसंघों का संगठन गणतन्त्र के आधार पर हुआ था और बौद्धधर्म नवीन हिन्दूधर्म का विरोधी था। अतः नवीन हिन्दूधर्म ने गणतन्त्र जाति (जाट) समूहों को राजतन्त्री समूहों से पतित कहना आरम्भ कर दिया।

तीसरा नवीन हिन्दूधर्म ने जो कि बौद्धधर्म के समानान्तर भारत में फैल रहा था पुराने क्षत्रियों (जाटों) को यह कहकर भुलाने की चेष्टा की कि कलियुग में क्षत्रिय वर्ण ही नहीं है। इसका कारण यह था कि पुराने क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की दासता के विरुद्ध कई बार आन्दोलन किया था। विश्वामित्र जैसे कुछ क्षत्रिय ब्राह्मण बनने में पूर्ण परिश्रम कर रहे थे। बुद्ध और महावीर ने तो ब्राह्मणों की विशेषताओं को खूटियों पर टांग दिया था। नवीन हिन्दूधर्म जब नए सिरे से समाज-रचना कर रहा था, तो उस समय जाट क्षत्रियों ने उनसे कोई सहयोग नहीं किया। यही कारण थे जिनसे ब्राह्मणों तथा भाटों ने उन्हें सामाजिकस्तर से गिराने की चेष्टा की।

राजपूतों ने जाटनियों से शादी करली और उनकी सन्तान जाट कहलाई के विरुद्ध हमारे स्मृति-ग्रंथ भी साक्षी देते हैं। स्मृतिग्रंथों के आधार पर स्त्री चाहे किसी भी गोत्र या वंश की हो, परन्तु विवाहित होने पर उससे उत्पन्न होनेवाली सन्तान पिता के वंश के नाम से पुकारी जाती है। जाटों की राजपूतों से उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धांत ऐतिहासिक दृष्टि से भी स्वीकार करने योग्य नहीं है। क्योंकि जाट-शब्द राजपूत शब्द से कई शताब्दी पहले का है। राजपूत शब्द को कोई भी इतिहासकार छठी शताब्दी से पहले का नहीं बताता। लेकिन जाट शब्द तो पाणिनि के व्याकरण तथा चन्द्रगोमिन् के व्याकरण में मिलता है जो कि ईसा से लगभग पांच सौ वर्ष पूर्व तो अवश्य ही हुए थे, जबकि बहुत से विद्वान् इनका समय 900 ई० पूर्व का भी मानते हैं।

हां, हमें विद्वानों के ऐसे कथन अवश्य मिलते हैं जोकि जाट और राजपूतों को एक वंश तथा एक स्तर का मानते हैं। आर्गिलेथम[1] कहते हैं कि "रक्त में जाट-परिवर्तन किये हुए राजपूत से न तो अधिक हैं और न कम ही"। मि० इबट्सन जाट और राजपूतों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "किन्तु चाहे जाट और राजपूत पहले भिन्न थे या नहीं और चाहे

1. एथोनालोजी आफ इण्डिया, पृ० 254

कोई भी रीति-रिवाज उनके समाज में व्यवहार में लाई जाने लगी, मैं विचार करता हूं अब ये दोनों जातियां उभयनिष्ठ स्टाक बनाती हैं। जाट और राजपूतों में भिन्नता केवल रीति-रिवाजों की है न कि जातीयता की।" इन सभी तर्कों से राजपूत सिद्धान्त भी अमान्य हो जाता है।

सीथियन (शक) सिद्धान्त :—

जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सीथियन सिद्धान्त बहुचर्चित सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार जाट सीथियनों की सन्तान हैं। सीथिया देश की स्थिति के विषय में कहा जाता है कि इसका कुछ भाग यूरोप तथा कुछ भाग एशिया में स्थित था। यह देश डेन्यूब नदी से लेकर दक्षिण रूस तक तथा कैस्पियन सागर से पामीर के पठार तक फैला हुआ था। सीथिया को भारतीय भाषा में शाकद्वीप कहते हैं। शाकद्वीप को ग्रीक इतिहासकार शाकताई और शिखिया भी कहते हैं। पुराणों के कथनानुसार शाकद्वीप का विस्तार जम्बुद्वीप से दुगुना है। भारतवर्ष जम्बुदीप का ही एक खण्ड है। इतिहासकार स्टोवा ने लिखा है कि कैस्पियन सागर का पूर्व स्थित देश शिखिया नाम से प्रसिद्ध है। जहां बहुत से पर्वत और नदियां हैं और सब नदियों में 'अक्सू' नदी प्रधान है। मत्स्य पुराण के अनुसार शाकद्वीप में 'इक्षु' नामक एक नदी बहती है।

उजागरसिंह महल के कथनानुसार सीथिया देश ने जाटों को इण्डोसीथियन नाम दिया। वस्तुतः इनका पुराना नाम जेटे (गेटि) था और ये थ्रेसे के निवासी थे, जो कि वर्तमान बल्गारिया है और यह किसी समय सीथिया का एक प्रांत था। जिन जाट ने पंजाब से लेकर बनारस तक को जीत लिया था, वे इण्डोसीथियन अर्थात् भारतीय शक कहलाए[1]। एच० एच० विल्सन ने भी विष्णुपुराण की टीका करते समय इनको भारतीय शक ही नाम दिया है। बी० एस० दहिया के कथनानुसार अविभाजित पंजाब के जाटों के विषय में लिखते हुए, हेवीट महोदय इन्हें थ्रेसे के गेटि से सम्बन्धित करते हैं। इस प्रकार ये पाईथेस द्वारा वर्णित और दक्षिण बाल्टिक के किनारे पर रहनेवाले गुट्टोन तथा टोमेली और टेटियस द्वारा वर्णित लिथुआनिया के गुट्टोन से

1. उजागरसिंह, एन्टीक्विटी आफ जाट रेश पृ० 71

मेल खाते हैं। ये लोग स्वीडन के गोथलैंड के निवासी हैं।[1] इसके आगे वे जाटों का शकों से सम्बन्ध जोड़ने में तथा स्केण्डीनेविया निवासी होने में भूमि से सम्बन्धित 'भय्याचारा' प्रथा का आश्रय लेते हैं और कहते हैं कि यह 'भय्याचारा' या भाईचारा' प्रथा मात्र जाटों की प्रथा है[2]। इतने से ही वे सन्तुष्ट नहीं हुए, अपितु भूमिबंटवारे के विषय में भी वे इण्डोसीथियन और जाटों को समान प्रथावाला बताते हैं। इनके कथनानुसार भारतीय जाटों की भांति शकलोगों में भी पिता के मरने के उपरांत भूमि का स्वामित्व केवल बड़े लड़के न मिलकर सभी लड़कों को समान रूप से मिलता है[3]। इसके साथ-साथ दोनों में समानता बतलाते हुए यह बताते हैं कि शकलोग अपने परिवारों के लिए भाट या मिरासी रखते थे जो कि उस परिवार के गुणगान एवं वंश-तालिका के कार्य में लगा रहता था, यही प्रथा भारत के जाटों में भी पाई जाती है।[4]

अब थोड़ा-सा शक जाति की उत्पत्ति के विषय में कुछ लिख दिया जाए, जिससे स्थिति स्पष्ट हो सके। डियाडोरा नामक विद्वान् ने शक जाति की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि शक जाति आधे मनुष्य आधे सर्प के आकारवाली पृथ्वी की कन्या से उत्पन्न हुई है। जुपिटर (बुध) ने उसके साथ विवाह किया और उससे 'सीथेस' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुराणों में भी इसी से मिलती-जुलती कथा आती है कि वैवस्वत मनु की कन्या 'इला' का विवाह 'बुध' से हुआ और उससे पुरुरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इला का एक अर्थ पृथ्वी भी होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शाकद्वीप निवासियों ने पौराणिक चन्द्रवंश के स्थापन करनेवाले बुध से अपना सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है। आधे मनुष्य और आधे सर्प के आकार की कल्पना को हम यह मानकर चलते हैं कि पहले सीथियन बुध धर्म के माननेवाले थे और सांप बुध की प्रतिकृति माना जाता है। पिन्करटोन ने भी लिखा है कि सीथियन बुध के उपासक थे। टाड के मतानुसार शीथेश के लगाए विशाल वंश वृक्ष की शाखा से राजस्थान के छत्तीस राजकुल प्रतिष्ठित हुए हैं और इनमें से जित भी एक है, जिससे जाटों की उत्पत्ति हुई। टाड ने अपने

1. बी० एस० दहिया, जाट्स दी एशिन्ट रूलर, पृ० 26
2. वही ,, 26
3. वही ,, 26
4. वही ,, 27

इतिहास में यह भी लिखा है कि जिन जातियों को हम अनार्य कहते हैं वे अश्व, तक्षक वा जित वंश से उत्पन्न हुई हैं। पुराणों के अनुसार शाकद्वीप तक्षकों का निवासस्थान था।

तातारी और चीनी भी किसी काल में बुध धर्म के उपासक थे। परन्तु जब क्रमश: सूर्योपासकों का प्रचण्ड प्रताप बढ़ा तो उनकी तेजमयी उपासना के आगे बुध धर्म स्थिर न रह सका। पद्मपुराण के अनुसार सूर्यवंश के राजा बाहु को शक लोगों ने राज्य से बाहर निकाल दिया था। परन्तु बाहु के पुत्र सगर ने इनको भली-भांति दण्ड दिया। इसने शकों का आधा सिर, यवन और कम्बोजों का पूरा सिर मुंडवाकर और पह्लव जाति को डाढ़ी और मूंछ रखने की प्रतिज्ञा करवाकर देश से बाहर निकाल दिया था[1]। पद्मपुराण में शकों को म्लेच्छ नाम से पुकारा गया है, जबकि जाट शुद्ध आर्यवंश से सम्बन्धित हैं। अतः शकों से जाटों की उत्पत्ति का सिद्धांत बहुत ही निर्बल और असंगत है।

कनिंघम ने हेरोडोटस का आधार लेकर जाटों को जो सीथियन (शक) सिद्ध करने की चेष्टा की है, इसका उत्तर देते हुए जाट इतिहास में ठाकुर देशराज ने लिखा है कि शक भी आर्य हैं। अन्तर इतना है कि इण्डोआर्यन और इण्डोसीथियन इनके दो हिस्से हो जाते हैं। इनका विस्तार सिन्ध और गंगा-यमुना के द्वावे से लेकर ईरान की खाड़ी तथा जगजार्टिस नदी तक था। जाटों में दो बड़े दल हैं। शायद वे घरेलू बोल-चाल के देसवाल और पछांदे हैं। अर्थात् वे लोग जिनका घर भारत में ही था वे देसवाल और वे लोग जो पश्चिम में बसे हुए थे पछांदे कहलाते हैं। स्ट्रावो ने अपने वर्णन में पछांदे और उनकी शाखाओं (जिनमें ये शक भी हैं) का वर्णन किया है। हेरोडोटस और स्ट्रावो का पाला भी पछांदे अर्थात् पश्चिम देश में बसे हुए लोगों से ही पड़ा था। उन्हीं के वर्णनों के आधार पर कनिंघम को यह भ्रम होगया कि सारे देशों में फैले जाट पशिया के अथवा पश्चिम के (पछांदे) जाट हैं। यदि कनिंघम को देसवाली जाटों के वर्णनों की कोई पुस्तक मिल जाती अथवा वह पछांदे और देसवाल दो बड़े भेदों से परिचित होते तो उन्हें यही मानना पड़ता कि जाट इण्डोआर्यन हैं और भारत से बाहर कहीं उनका अस्तित्व मिलता है तो उसकी जड़ भारत ही है।[2]

---

1. टाड, राजस्थान (हिन्दी) प्रथम भाग, पृ० 26
2. देशराज, जाट इतिहास, पृ० 170

जाटों के सन्दर्भ में देसवाल शब्द पर विचार करना उचित है, क्योंकि इस शब्द से उनकी मूल भारतीय स्थिति सुदृढ़ होती है। वस्तुतः जाट लोग मूल-रूप से भारत के मध्यदेश के आदिवासी थे। मनुस्मृति के अनुसार हिमालय पर्वत और विन्ध्याचल के मध्य विनशन से पूर्व और प्रयाग के पश्चिम में जो देश था, उसे मध्यदेश कहते थे। शनैः-शनैः शब्द के अत्यधिक प्रयोग के कारण तथा भाषाविज्ञान के 'मुख-सुख' नियम के आधार पर मध्य शब्द का लोप होगया और मध्य-देशवासी जाटों को 'देशवान्' नाम से पुकारा जाने लगा। यही देशवान् शब्द देसी भाषा में देसवाल के रूप में प्रचलित होगया। इस बात की पुष्टि जाटों में पाए जानेवाले 'देसवाल' गोत्र से भी होती है।

चिन्तामणि विनायक वैद्यजी जाटों को सीथियनों की सन्तान नहीं मानते। वे लिखते हैं कि यह अचम्भे की बात है कि इस सच्चाई के होते हुए भी कि हरेक मनुष्य जो कि पंजाब के रहनेवालों से पूरी जानकारी रखता है और जिसने जाट, गूजर और राजपूतों की नृवंश अनुसन्धान की तुलना को देख लिया है कि वे स्पष्टतया सीथियन नहीं किन्तु आर्य हैं तो भी अन्वेषकों ने आमतौर से उनको सीथियन, गेटाई, यूची और खिज़र न मालूम क्या-क्या होने के सिद्धांत बना लिए हैं। यह भी निर्णय कर लिया है कि वे ऐतिहासिक काल में भारत आए थे। नहीं, नहीं किन्तु सन् ईस्वी का भी हवाला दे दिया है। हम ऐसे सिद्धांतों को देशी व यूरोपीय अन्वेषकों के दिमाग का केवल भ्रम ही कह सकते हैं, जो कि भारत की हर एक अच्छी और उत्साही जाति को विदेशी और सीथियन साबित करते हैं।[1]

उजागरसिंह महल ने पंजाब के जाटों तथा सीथियनों की परम्पराओं की तुलना करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि जाट सीथियन हैं।[2] क्योंकि द्वाबा के जाटों में सीथियनों की भांति साधारण जाट तथा दरबारवाला जाट दो भेद पाए जाते हैं। परन्तु महल को यह बात जाटों की सामाजिक समानता के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। वस्तुतः जाटों में दरबारवाला का भेद मध्यकाल के इतिहास की देन है। द्वाबा के जाटों में दरबारवाला नाम कैसे पड़ा,

1. सी. वी. वैद्य, मिडिवल हिन्दू इण्डिया, पृ० 87-88
2. उजागरसिंह महल, एन्टिक्विटी आफ जाट रेस, पृ० 17

इस विषय में रिजले ने एक लोककथा का उदाहरण दिया है[1]। वे अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि एक बार अकबर बादशाह शिकार के लिए निकला हुआ था। अचानक उसकी निगाह एक जाट स्त्री पर पडी, जो कि कुए पर खड़ी थी। उसके सिर पर एक पानी का घड़ा था, तथा दूसरी तरफ उसका भैंस अपनी कटड़ी के साथ थी। अचानक बादशाह के घुड़सवारों को देखकर भैंस घबराकर भागने लगी। परन्तु उस स्त्री ने भागती भैंस को अपने एक हाथ से सींग पकड़कर रोक लिया तथा दूसरे हाथ से पानी से भरे घड़े को थामा और दांये पैर से कटड़ी के रस्से को दाब लिया। अकबर जाट स्त्री की इस प्रकार की वीरता और शक्ति को देखकर चमत्कृत होगया तथा उसने उसके साथ विवाह कर लिया। उस स्त्री के परिवारवालों को दरबार में विशेष स्थान मिला। इसी के बाद दरबारी जाट (दरबारवाला) का नया वर्ग उभरकर आया। ऐतिहासिक अनुसन्धानों से हमें यह पता चलता है कि अकबर ने किसी जाट स्त्री से विवाह नहीं किया था। परन्तु इस लोककथा से यह तथ्य जरूर उभरकर आता है कि दरबारी जाट ऐसे लोगों से अवश्य सम्बन्धित थे, जो साम्राज्यवाद के पोषक रहे हैं।

भाषाविज्ञान के अनुसार जातियों को पहचानने की जो विधि अपनाई जाती है, उसके अनुसार भी जाट सीथियन नहीं हैं। एम० इलियट ने 'डिस्ट्रीब्यूशन आफ दी 'रेसेज आफ दी नार्थ-वेस्टर्न प्राविंशेज आफ इण्डिया' नामक पुस्तक में लिखा है कि बहुत समय मैंने कराची से पेशावर तक यात्रा करके स्वयं अनुभव कर लिया है कि जाट लोग कुछ विशेष परिस्थितियों के सिवा अन्य शेष जातियों से अधिक पृथक् नहीं हैं। भाषा से जो कारण निकाला गया है, वह जाटों के शुद्ध आर्य-वंश में होने के जोरदार पक्ष में है। यदि वे सीथियन विजेता थे, तो उनकी सीथियन भाषा कहां के लिए चली गई ? और ऐसा कैसे हो सकता है कि वे अब आर्यभाषा जो कि हिन्दी की एक शाखा है, बोलते हैं तथा शताब्दियों से बोलते चले आए हैं। पेशावर में डेरा जाट और सुलेमान पर्वतमाला के पार कच्छ-गोंडवा में यह भाषा हिन्दकी या जाटकी भाषा के नाम से प्रसिद्ध है। जाटों के आर्यवंश में होने के सिद्धांत को यदि बिल्कुल एक ओर कर दिया जाए तो इनके विरुद्ध बहुत से जोरदार प्रमाण दिए जायेंगे जैसे कि अब तक कहीं

1. हरबर्ट रिजले, दि पीपल आफ इण्डिया, पृ० 179

नहीं दिए गए हैं। शारीरिक गठन और भाषा ऐसी चीज है जो केवल क्रियात्मक समानता के आधार पर एक तरफ नहीं रखे जा सकते। विशेषरूप से वे शब्द जिन पर कि समानता अवलम्बित है हमारे सामने आते हैं।

सीथियन (शक) लोगों से जाटों की उत्पत्तिवाले सिद्धान्त के विरुद्ध कहने के लिए हमारे पास गुप्तराजाओं का इतिहास है। अनेक लेखकों की यह मान्यता है गुप्तराजा वैश्य न होकर क्षत्रिय (जाट) थे। काशीप्रसाद जायसवाल ने गुप्तों के विषय में लिखते हुए कहा है कि गुप्तराजा कारस्कर जाट थे, जो पंजाब से चलकर आए थे। मेरी समझ में आजकल के कक्कड़-कक्कराण जाट उसी मूल-समाज के प्रतिनिधि हैं, जिस समाज के गुप्त लोग थे। कारस्करों में भी गुप्त जिस विशिष्ट विभाग या गोत्र के थे, उसका नाम धारण या धारी या धारीवाल था और इस धारी शब्द की तुलना हम प्रभावती गुप्ता के अभिलेख के शब्द 'धारण' से कर सकते हैं। इस बात का समर्थन कौमुदी-महोत्सव नाटक और चन्द्र व्याकरण से भी हो सकता है[1]।

इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री तथा वाकाटक वंशी रुद्रसेन द्वितीय की महारानी प्रभावती गुप्ता ने एक अभिलेख में अपने पिता को धारण गोत्र का बताते हुए लिखा है—"महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्तत्पुत्रः महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य दुहिता धारण सगोत्रा नागकुल सम्भूतायां श्री महादेव्यां कुबेर नागायामुत्पन्नोभय-कुलालंकार भूतात्यन्त भगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराज श्री रुद्रसेन-स्याग्रमहिषी युवराज श्री दिवाकरसेन जननि प्रभावती गुप्ता।"

सन् 1941 ई० की जनगणना रिपोर्ट में धारण/धारी/धारीवाल गोत्र के जाटों की संख्या इसप्रकार थी। लाहौर 1503, अमृतसर 966, स्यालकोट 660 गुरदासपुर 1658, गुजरानवाला349, जालन्धर 2530, कपूरथला 250. जीन्द 710. नाभा 660, पटियाला 1210, मलेरकोटला 1929, लुधियाना 10818 तथा हिसार 880। इस प्रकार धारणगोत्र पंजाब (अविभाजित) में अत्यधिक संख्या में पाया जाता था।

जाटों में पाई जानेवाली विधवा-विवाह-प्रथा, जिसे स्थानीय भाषा में 'चादरप्रथा' कहते हैं', गुप्तराजाओं में भी प्रचलित थी। इसकी पुष्टि साहित्य से भी होती है। संस्कृत नाटककार

1. काशीप्रसाद जायसवाल, अन्धकारयुगीन भारत, पृ० 252

विशाखदत्त के एक अप्राप्य नाटक का नाम 'देवीचन्द्रगुप्तम्' कहा जाता है। 'नाट्य दर्पण' तथा 'शृंगार शतक' में इस नाटक के अनेक श्लोक उदाहरण के रूप में उद्धृत किए गए हैं। इस नाटक में चन्द्रगुप्त द्वितीय को 'शकारि' (शब्दों का शत्रु) की उपाधि से सम्बोधित किया गया है। इस नाटक के कथानक से पता चलता है कि समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी रामगुप्त की कमजोरी का लाभ उठाकर शक लोग उद्दण्ड होगए थे और उन्होंने गुप्तसाम्राज्य पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिए थे। युद्ध में गुप्त सेनाएं हार के कगार पर खड़ी थीं और वे एक दुर्ग में घिर गईं। विवश होकर रामगुप्त ने शक सरदार से सन्धि के लिए बातचीत चलाई। सन्धि की जो शर्तें शक सरदार की तरफ से प्रस्तुत की गईं, उनमें से एक यह भी थी कि रामगुप्त अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को शकराज के हवाले करदे। नपुंसक रामगुप्त इसके लिए तैयार होगया परंतु ध्रुवदेवी इसके लिए राजी नहीं हुई। रामगुप्त ने उसे बहुत समझाया कि वह यह कार्य प्रजा के हित के लिए कर रहा है। इन सब बातों को सुनकर रामगुप्त के वीर भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय का रक्त उबल उठा और उसने भाई को धिक्कारा और भेष बदलकर ध्रुवदेवी के बदले स्वयं जाना स्वीकार किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ध्रुवदेवी का भेष धारण करके अपने साथ बहुत से सैनिकों को सेविकाओं का भेष धारण कराके शकराज की सेवा में चला गया। शकराज के अन्तःपुर में पहुंचकर चन्द्रगुप्त ने उसकी हत्या कर दी। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त की हत्या कर दी और स्वयं गद्दी पर बैठ गया और ध्रुवदेवी से विवाह कर लिया।

इस प्रकार उपर्युक्त नाटक से सिद्ध होता है कि जाट शकों के वशंज न होकर उनके परम शत्रु रहे हैं। महाकवि बाण ने भी अपनी पुस्तक 'हर्ष चरित' में इस कथा का संकेत देते हुए लिखा है कि दूसरे की पत्नी का इच्छुक शकपति सुन्दर स्त्री का भेष धारण किए गए चन्द्रगुप्त द्वारा मारा गया। बारहवीं शताब्दी में अब्दुल हसन अली नाम के लेखक ने इस कथा को अपनी पुस्तक 'मजमलु तवारीख' में लिखा है। अतः शकों से जाटों की उत्पत्ति का सिद्धान्त आधाररूप में ही निरस्त हो जाता है।

हूण सिद्धान्त :-

बहुत से इतिहासकारों ने जाटों को राजपूत, मराठे और गूजरों के

प्रसंग में विदेशी हूण जाति के उत्तराधिकारी प्रमाणित करने का प्रयास किया है। स्मिथ महोदय का विचार है कि विजेता हूणों में से जिनके पास राजशक्ति आगई वे राजपूत और जो कृषि करने लगे वे जाट और गूजर हैं। इस सिद्धान्त के विरोध में हम सर्वप्रथम चिन्तामणि विनायक वैद्य का कथन प्रस्तुत करते हैं, जिसमें उन्होंने इस बात का खण्डन किया है कि जाट हूणों की सन्तान हैं। वे अपनी पुस्तक "हिस्ट्री आफ मिडिवल हिन्दू इण्डिया" में लिखते हैं कि "जाट, गूजर और मराठा इन तीनों में जाटों का वर्णन सबसे पुराना है। महाभारत के कर्ण पर्व में इनका वर्णन जातिका नाम से मिलता है। इनका दूसरा वर्णन हमको "अजयज्जर्टो हूणान्" वाक्य में मिलता है, जो कि पांचवीं सदी के चन्द्र व्याकरण में है और यह प्रकट करता है कि जाट हूणों के सम्बन्धी नहीं किन्तु शत्रु थे। अतः वे पंजाब के निवासी ही होंगे और बाह्य आक्रमणकारी अथवा घुसपैठिये नहीं। क्या उपरि वाक्य यह साबित करता है कि मन्दसौर शिला-लेखमाला यशोधर्मन् जिसने कि लगातार हूणों को परास्त किया था जाट था। वह जाट होगा, क्योंकि यह मालूम हो चुका है कि जाट मालवा-मध्य भारत में सिन्ध की भांति पहुंच चुके थे। परन्तु यह विषय हमारे प्रसंग से बाहर है। यह वाक्य यह तो प्रकट करता है कि जाट हूणों के साथ धावा करनेवाले नहीं, अपितु उनके विरोधी थे[1]।"

हूणों के आक्रमण से पूर्व लगभग ईसा से 900 वर्ष पूर्व पाणिनि नाम का एक वैयाकरण हुआ है। उसने अपनी अष्टाध्यायी नामक पुस्तक में तत्कालीन गणतन्त्रों के और उनके 'संघों' के नामों की व्याख्या सूत्रों में की है। उसी अष्टाध्यायी में पाणिनि ने संघ अथवा संघात अर्थ में "जट झट संघाते" सूत्र को बनाया है। अतः जाटों की भारत में स्थिति हूणों के आक्रमण से पूर्व की है, फिर यह कैसे हो सकता है पिता से पूर्व पुत्र उत्पन्न हो जाए।

"अजयज्जर्टो हूणान्" के प्रसंग में हम फिर एक बार गुप्तसम्राटों के इतिहास में जाते हैं। भितरी स्तम्भलेख में कहा गया है कि :-

हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यान् धरा कम्पिता॥

अर्थात् स्कन्दगुप्त ने युद्ध होने पर अपने बाहुबल से हूणों को

1. हिस्ट्री आफ मिडिवल हिन्दू इण्डिया, पृ० 87-88

पराजित करके पृथ्वी को हिला दिया था। यदि जाट हूणों की सन्तान होते तो उनको हराने की क्या आवश्यकता थी। जर्तिका के विषय में हम पहले ही विस्तार से लिख चुके हैं।

योगेन्द्रपाल शास्त्री[1] ने "क्षत्रिय जातियों का उत्थान पतन" नामक पुस्तक में सम्राट् हर्षवर्धन को वसातिगोत्र में उत्पन्न दिखाकर यह सिद्ध किया है कि वह जाट था। इसी जाटराजा के संबंध में बाण ने "हर्ष चरित" नामक एक पुस्तक लिखी है। जिसमें राजा प्रभाकरवर्धन के विषय में कहा गया है कि वह हूणरूपी हरिणों के लिए शेर के समान था। अतः कहा जा सकता है कि जाट हूणों के विरोधी थे तथा वे उनके मित्र अथवा सन्तान नहीं थे। यहां हूणों के विषय में भी कुछ कहना संगत होगा। हूणों के विकास के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती। विद्वान् इनका सम्बन्ध मध्य एशिया के उन कबीलों से जोड़ते रहे हैं, जिन्हें चीनियों ने ह्यूंग-नू कहा है और जो तीसरी शताब्दी ई० पूर्व में मंगोलिया में संगठित हुए थे। परन्तु आजकल यह कहा जाता है कि वे चीन की सीमा पर रहनेवाली जाति से सम्बन्धित थे।

यूह्ची सिद्धांत (कुषाण)

जाटों की उत्पत्ति यूह्ची लोगों से हुई, यह लिखने से पूर्व यूह्चियों के विषय में जानकारी देना उचित है। प्राचीन इतिहास के अनुसार तुर्की के खानाबदोश कबीला 'ह्यूंग नू' ने उत्तर पश्चिम चीन के क्वान्सू प्रांत के अपने पड़ोसी यूह्ची जाति को पूर्णतया नष्ट कर दिया और वे अपनी मूल-भूमि को छोड़ देने के लिए बाध्य होगए। अपने पश्चिमाभिमुख सक्रमणकाल में यूह्ची लोग इलिघाटी में बसनेवाली वुसुन जाति से जा मिले। यहां पर यूह्ची जाति के दो भाग होगए। उनमें से एक तो दक्षिण की ओर बढ़ता हुआ तिब्बती सीमा पर जा बसा और अल्पकाय (छोटा) यूह्ची कहलाया। यूह्चियों का बड़ा भाग आगे बढ़ाता गया और उन शकों से जा टकराया जो सीर दरिया के उत्तर में बसे हुए थे। यूह्ची यहां अधिक देर तक न टिक सके और वक्षु (आक्सस) नदी की घाटी में जा पहुंचे और वहां शांतिप्रिय बैक्ट्रियों को जाकर हराया। फिर धीरे-धीरे बाख्त्री और सोग्दियाना पर अधिकार कर लिया। यहां आकर यूह्ची पांच भागों में बंट गए और अन्त में

1. योगेन्द्रपाल, क्षत्रिय जातियों का उत्थान और पतन, पृ० 79

कुएई-चुआंग शाखा ने अन्य चार शाखाओं को हराकर सबकी एक सम्मिलित जाति बनाई जो इतिहास में 'कुषाण' नाम से प्रसिद्ध है। यूह्‌ची तथा कुषाणों के सम्बन्ध में लिखते हुए भीमसिंह[1] कहते हैं कि "इसमें कोई मतभेद नहीं कि कुषाण यूह्‌ची नहीं हैं, मतभेद तो इसमें है कि क्या यूह्‌ची जाट थे।" इसका समाधान करते हुए वे पुनः लिखते हैं कि "चीनी लोग यूह्‌ची शब्द का उच्चारण गुटे (जुटे) करते हैं तथा हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यूह्‌चियों की मुख्य-शाखा को चीनी लोग त-ह्‌वे-चे कहते हैं। यह त-ह्‌वे-चे वस्तुतः प्राचीन लेखकों की 'मसा गेटे' जाति ही है। अतः हमें यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं कि कुषाण जाट थे।"

एच० जी० वेल्स ने इन्हीं यूह्‌चियों को पंजाब के जाटों का पूर्वज माना है और साथ में यह भी कहा है कि इन्होंने पंजाब से बनारस तक भारतीय प्रदेशों को जीत लिया था। इसके अतिरिक्त मेजर पिंगले ने लिखा है कि 'ईसा से पूर्व पहली और दूसरी सदी में जाट लोग आक्सस के किनारे से चलकर दक्षिणी अफगानिस्तान होते हुए भारत में आए।'

विदेशी विद्वानों की बहुधा यह प्रवृत्ति रही है कि भारत की सभ्यता एवं संस्कृति का विकास अनार्यों अथवा विदेशी जातियों से दिखाया जाए। बहुत से भारतीय विद्वान् भी हरा चश्मा लगाकर विदेशी विद्वानों की हां में हां मिलाते दिखाई पड़ते हैं। इस सिद्धांत के विषय में भी यही कहना है कि यूह्‌ची कुषाणों का प्रवेश तो भारत में ईसा की प्रथम शताब्दी से कुछ पूर्व ही हुआ था, परन्तु जाट तो इससे पहले ही भारत में विद्यमान थे। यह सिद्धांत किसी भी रूप में जाटों की उत्पत्ति में मान्य नहीं हो सकता।

जुट सिद्धांत

इस सिद्धांत के माननेवाले विद्वान् यह कहते हैं कि डेन्मार्क की जुट जाति से जाटों की उत्पत्ति माननी चाहिए। क्योंकि वहां "जुटलेंड" नाम का एक जिला अब भी जाटों की मूल-स्मृति का परिचायक है। परन्तु इस विषय में यह कहना है कि जाटों के विदेशी जन्म के विषय में कही गई, यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि कोई भी जाट अपनी उत्पत्ति डेन्मार्क से नहीं मानता, अपितु इसके विपरीत वे अपने को भारत

1. भीमसिंह, दी जाट्स, पृ० 7-8

का मूल-निवासी ही मानते हैं। इस प्रकार के सिद्धांत शब्दसाम्यता के आधार पर स्थिर किए गए हैं। जब तक ऐसे सिद्धांत पुरातत्त्व एवं इतिहास की दृष्टि से पुष्ट नहीं हो जाते तब तक इनकी सच्चाई नकारात्मक ही है।

गाथ सिद्धांत

इस सिद्धांत के माननेवाले कहते हैं कि पंजाब के जाट उसी जाति से सम्बन्धित हैं जिस जाति से गाथलेंड के गाथ लोग। गाथ जाति का इतिहास जोरडेनेस ने लिखा है और उसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गाथ लोग थ्रेसे के गेटे लोगों से सम्बन्धित हैं और थ्रेसे के गेटे लोग पंजाब के जाटों से मिलते हैं। यह सिद्धांत भी जाटों की उत्पत्ति विदेशियों से ही मानता है। इसमें ग्रीम के नियमों का सहारा लेकर ग के स्थान पर ज मानकर जाथ शब्द बनाया गया है।

जनथाई सिद्धांत

जनरल कनिंघम ने अपनी 1863-64 की ग्रारकाइलौजिकल रिपोर्ट में लिखा है कि बयाना ग्रौर भरतपुर के हिन्दू जाटों की परम्पराग्रों से मालूम होता कि उनका ग्रादि-स्थान कन्धार था। मुस्लिम जाटों का आदि-स्थान गजनी या गढ़गजनी था। परन्तु यदि मैं जाटों को स्ट्रेबो, प्लनी ग्रौर टामेली की जनथाई ग्रौर ग्राहयेताई जातियां मानलूं तो इनका ग्रादि-स्थान बेक्ट्रिया, हायरकानिया और खुरासान के मध्य औकसस नदी के तट पर होना चाहिए। प्लनी ने इसका नाम जोतेल या जोथेल लिखा है। इसको आधार मानकर इलियट एण्ड डाउसन लिखते हैं कि प्राचीनकाल में ये लोग ग्रपने समूह नाम से प्रसिद्ध थे ग्रपने जातीय नाम जाट से नहीं। इस प्रकार इस सिद्धांत में जट और झट संघाते के ग्रनुसार ही जाटों की उत्पत्ति समूहों से मानी गई है।

जाट जाति अथवा जाट शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऊपर कहे गए सम्पूर्ण सिद्धांतों की ग्रालोचना करने के बाद यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि इनमें से कौन-सा सिद्धांत जाट जाति की उत्पत्ति के विषय में कुछ ठीक बैठता है। जठर सिद्धांत (लहरीसिंह को छोड़कर), जटा सिद्धांत, ज्येष्ठ सिद्धांत, जित सिद्धांत, जतिका सिद्धांत, ज्ञाति सिद्धांत, जट झट सिद्धांत, ज्ञातृक सिद्धांत, ग्रजाति सिद्धांत, योद्धा सिद्धांत, यदु सिद्धांत, वैश्य सिद्धांत, राजपूत सिद्धांत, ये सब सिद्धांत जाटों की उत्पत्ति के विषय में यह कहते हैं कि जाटों की उत्पत्ति भारतीय है, वे

किसी भी रूप में विदेशी नहीं हैं। दूसरी ओर सीथियन सिद्धांत, हूण सिद्धांत, यूह्ची सिद्धांत, जुट सिद्धांत, गाथ सिद्धांत और जानथाई सिद्धांत जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विदेशी उत्पत्ति को मानने वाले हैं।

क्या जाट भारतीय हैं अथवा विदेशी हैं ? प्रथम इस प्रश्न का उत्तर खोजना चाहिए, उसी के बाद किसी निश्चित सिद्धांत पर पहुंचा जा सकता है।

जाट भारतीय (आर्य) हैं

जाटों के विषय में अनेक भ्रांत-धारणाएं बनी हुई हैं। इन धारणाओं के कारण अनेक इतिहासकार इन्हें अनार्य सिद्ध करते हुए म्लेच्छ तक मानते हैं। परन्तु हमें इतिहासकारों के प्रमाणों से यह सिद्ध करना है कि जाट भारतीय आर्यों ही की सन्तान हैं। किसी भी जाति का मूल खोजने के लिए उस जाति की शारीरिक बनावट, उस जाति के लोगों की भाषा, उस जाति के लोगों का धर्म आदि बहुत ही महत्त्व-पूर्ण अंग हैं। इन्हीं महत्त्वपूर्ण अंगों के माध्यम से हम जाटों के आर्यत्व की जांच करेंगे।

जाटों की शारीरिक बनावट के विषय में चिन्तामणि विनायक वैद्य कहते हैं कि "अन्त में हम जाटों के सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहते हैं कि उनके मानवतत्त्व अनुसन्धान के लक्षण जैसा कि हम देख चुके हैं साफतौर से आर्य हैं। वे सुन्दर लम्बे और बड़ी नाकवाले हैं। क्या इतिहास उन्हें अनार्य बताते हैं ?" उपर्युक्त सन्दर्भ में जाटों को आर्य बताया गया है। मानव विकास की खोज करते समय अनेक विद्वानों ने हरियाणा में मनुष्य ने सबसे पहले कब बसना आरम्भ किया, इसका अनुसन्धान किया है। डा० गाह पिलग्रिम ने चण्डीगढ़-पिंजौर के आस-पास मिली एक खोपड़ी का वैज्ञानिक अध्ययन करके यह सिद्ध किया है कि यहां लगभग डेढ़ करोड़ वर्ष पूर्व मनुष्य बसता था। डा० एस० ए० क्यू० कुरेशी अपनी शोधों से पिलग्रिम की तिथि को और भी पीछे ले गए हैं और उनका विश्वास है कि लगभग तीन करोड़ वर्ष पूर्व यहां मानव बस्तियां बननी आरम्भ हो गई थीं। परन्तु अब तक की खोज एवं उत्खनन द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि लगभग दो लाख वर्ष पूर्व गुड़गावां जिले की अरावली पहाड़ियों में मानव रह रहा था। वैदिक सभ्यता का पालना हरियाणा ही था। वैदिक संस्कृति

के प्राणवान् अंकुर इसी धरती पर फूटे थे। इतिहासकारों की दृष्टि में पंजाब व हरयाणा ही जाटों का मूलस्थान है। अतः जाट अपने मूल-स्थान से भी आर्य सिद्ध होते हैं।

डा० कृपालचन्द्र यादव ने "हरियाणा का इतिहास" नामक पुस्तक में हरियाणा के निवासियों पर लिखते हुए कहा है कि "जाट यहां की बहुत महत्त्वपूर्ण जाति है। अन्य दूसरी जातियों की तरह ही जाटों की उत्पत्ति तथा यहां आकर बसने के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद हैं कर्नल टाड के अनुसार ये सन् ईस्वी के आरम्भ में सीरियन आक्रमणकारियों के साथ भारत में आये थे और हेरोडोटस द्वारा वर्णित जेटे से निकले हैं। कनिंघम इनका निकास "जनथाई" से बताते हैं। स्मिथ और जे. कैम्पबेल इन्हें मध्य एशिया से आया बताते हैं, जबकि ट्रम्प, बीम्स, रिजले, कानूनगो और राजबली पाण्डेय इन्हें भारत में बसनेवाले आर्यों की सन्तान मानते हैं। यद्यपि निश्चित रूप से इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता कि इन विद्वानों में कौन सही और कौन गलत है तथापि जाटों की शारीरिक बनावट देखने से तो उनका भारतीय आर्यों के वंशज होने में कोई शंका मालूम नहीं होती। इनका ऊंचा कद, भूरा रंग, काली आंखें, चेहरे पर घने बाल, सिर लम्बा, नाक पैनी, उनका पूरी तरह से भारतीय आर्य होना प्रमाणित करते हैं।"

उपर्युक्त विवरण से भी स्पष्ट विदित होता है कि जाट निश्चित रूप से आर्य हैं। इस प्रकार जाट न हूणों की सन्तान हैं और न शक तथा कुषाणों की, किन्तु वे विशुद्ध आर्य हैं। क्योंकि इतिहासकार आर्यों की शारीरिक बनावट को एक समान देखते है। इतिहासकारों की दृष्टि में आर्य लोग रंग के गोरे, ऊंचे ललाटवाले और ऊंचे कदवाले, पैनी नाकवाले, काली आंखें और घने बालोंवाले कहे गए हैं। मिस्टर ई० बी० हेवल भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि जाट लोग आर्य हैं। वे अपनी पुस्तक "दि हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इण्डिया" में लिखते हैं कि "मानवतत्त्व-विज्ञान की खोज बतलाती है कि भारतीय आर्य जाति, जिसको हिन्दू युद्धग्रन्थों में लम्बे कद, सुन्दर चेहरा, पतली लम्बी नाक, चौड़े कन्धे, लम्बी भुजायें, शेर की सी कमर और हिरण की सी पतली टांगोंवाली जाति बतलाया है, आधुनिक समय में पंजाब में खत्री, जाट और राजपूत जातियों के नाम से पुकारी जाती है।" हेवल आगे लिखते हैं कि "भारतीय आर्य जाति जिसके वंशज आज राजपूत, खत्री

और जाट हैं, पंजाब, राजपूताना और काश्मीर में बसी हुई है। यह जाति उस प्राचीन आर्य जाति से बहुत अधिक मिलती है जो भारत में आकर बसी थी[1]।" इस वाक्य से भी यही प्रमाणित होता है कि जाट आर्य हैं।

ठाकुर देशराज तथा योगेन्द्रपाल शास्त्री दोनों विद्वानों ने जाटों का इतिहास लिखा है और इनकी मान्यता भी यही यही है कि जाट आर्यों के अतिरिक्त किसी अन्य जाति के वंशज नहीं हैं। इनके विचार से आर्य जाति भारत से बाहर गई थी और वह बाहर से भारत में नहीं आई थी। हरियाणा के इतिहास के आधिकारिक विद्वान् आचार्य भगवान्देव ने भी अनेक अकाट्य प्रमाणों से अपनी पुस्तकों में यह सिद्ध किया है कि जाट जाति आर्यों की सन्तान है। इनके विचार से शारीरिक गठन और धार्मिक दोनों ही दृष्टि से जाट आर्य सिद्ध होते हैं। आर्यों को बाहर से आया हुआ मानना गलत है। इसी बात को पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति "मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण" नामक पुस्तक में इस प्रकार लिखते हैं कि "जब से जाटों का वर्णन मिलता है वह भारतीय ही हैं और यदि भारत के बाहर कहीं भी उसके निशान मिलते हैं तो वह भी भारत से ही गए हुए हैं।" स्कैण्डनेविया की धर्मपुस्तक "एड्डा" में लिखा हुआ है कि "यहां के आदिनिवासी जटेस व जिटस पहले आर्य कहे जाते थे तथा वे असीगढ़ के निवासी थे।" यह प्रमाण भी सिद्ध करता है कि विदेशों में पाये जानेवाले जाट भारत से ही बाहर गए हुए हैं।

भारत में नृवंश-परम्परा का अध्ययन करने पर पता चलता है कि इस देश में सूर्यवंश और चन्द्रवंश सबसे प्राचीन वंश हैं। जाटों में अधिकांश समूह चन्द्रवंशियों का है। सूर्य और चन्द्रवंश के विषय में टाड "राजस्थान का इतिहास" में कहते हैं कि "सूर्य और चन्द्रवंश संसार में ये दो अतिप्राचीन और प्रसिद्ध राजवंश हैं। सूर्य और चन्द्रवंश से पहले भी भारतवर्ष वा संसार के किसी भाग में कोई राज प्रतिष्ठित हुआ था, इसका वृत्तान्त जगत् के किसी इतिहास में नहीं पाया जाता। चीन असीरिया और मिश्र में जिन तीन राजवंशों का वर्णन पाया जाता है भारतवर्ष में सूर्य और चन्द्रवंश की प्रतिष्ठा के बहुत काल पीछे अपने देश में प्रतिष्ठित हुए थे, अतः ये दो वंश ही संसार के सब प्राचीन

1. हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इण्डिया, पृ० 32

राजवंशों से पुरातन हैं। भगवान् सूर्य के पुत्र मनु ने सूर्य वंश की और चन्द्रमा के पुत्र बुध ने चन्द्रवंश की प्रतिष्ठा की। बुध मनु से एक पीढ़ी पीछे उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि इन्होंने मनु की कन्या इला का पाणिग्रहण किया था।" अतः चन्द्रवंशी होने के कारण भी जाट भारतीय आर्य ही सिद्ध होते हैं।

पाठकों की जानकारी के लिए यहां चन्द्रवंश का संक्षिप्त इतिहास भी देना उचित होगा। मनुपुत्री इला से जब बुध का विवाह होगया तो उन दोनों से पुरुरवा नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। पुरुरवा की चौथी पीढ़ी में ययाति उत्पन्न हुए। इनकी दो स्त्रियां थीं, एक तो शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और दूसरी वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा। ययाति के देवयानी से यदु और तुर्वसु नामक दो पुत्र तथा शर्मिष्ठा से अनु, द्रुह्यु, और पुरु तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें से यदुकुल में विश्वविजयी कार्तवीर्य अर्जुन और श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए। चन्द्रवंशी राजाओं ने ही प्रयागराज की स्थापना की थी। इसके अतिरिक्त कुशस्थली, द्वारिका, मथुरा, हस्तिनापुर, कौशाम्बी और राजगृह आदि नगरियां बसाई थीं। चन्द्रवंश में उत्पन्न गांधारराजा ने गांधार बसाया। टाड महोदय ने अनेक उद्धरणों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि तातार-मुगल, चीन और यूरोप की अनेक जातियां चन्द्रवंश से उत्पन्न हुई हैं। वे अपने इतिहास में लिखते हैं कि "जिन जातियों को हम अनार्य कहते हैं वे अश्व, तक्षक वा जित्वंश से उत्पन्न हुई हैं। इन सब जातियों की पौराणिक उत्पत्ति वंश-विवरण आचार, व्यवहार आदि का आर्यों के साथ मिलान करके देखने से इतनी सादृश्यता पाई जाती है कि ये सब जातियां एक ही वंश की हैं।" अबुलगाजी ने कहा है कि "जिस महापुरुष ने तातारियों के वंश की प्रतिष्ठा की उसका नाम मुगल था। उसके अंगुज नाम का एक पुत्र हुआ, इसने तातार और मुगल जाति की प्रतिष्ठा बढ़ाई। अंगुज के छः पुत्र हुए, उनमें से पहले का नाम कायन और दूसरे का नाम आय था"। जिस ग्रंथ में अंगुज के वंश का वृत्तांत लिखा है, तातारियों के उस ग्रन्थ में कायन और आय को सूर्य और चन्द्र के समान कहा है। तातारवाले आय को अपना गोत्रपति मानकर अपनी उत्पत्ति चन्द्रवंश से मानते हैं। चीन के यूवंश की प्रतिष्ठा का विवरण पहले दिया जा चुका है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये चन्द्रवंशी हैं और उन आर्यों की सन्तान हैं जो कि भारत से बाहर चले आए थे।

भाषा की दृष्टि से जब हम देखते हैं तो जाट भारतीय ही नजर आते हैं। हेनरी एम० इलियट ने 'डिस्ट्रीब्यूशन आफ दो रेसेज़ आफ दी नार्थ-वेस्टर्न प्राविन्सेज़ आफ इण्डिया' में लिखा है कि "बहुत समय हुआ मैंने कराची से पेशावर तक यात्रा करके स्वयं अनुभव कर लिया है कि जाट लोग कुछ खास परिस्थितियों में सिवा अन्य शेषजातियों से अधिक पृथक् नहीं है। भाषा से जो कारण निकाला गया है वह जाटों के शुद्ध आर्य होने के पक्ष में है। यदि वे सीथियनविजेता थे तो उनकी सीथियनभाषा कहां चली गई ? और ऐसा कैसे हो सकता है कि वे अब आर्य-भाषा को जो कि हिन्दी की एक शाखा है बोलते हैं तथा शताब्दियों से बोलते चले आए हैं। पेशावर से डेरा जाट और सुलेमान पर्वत माला के पार कच्छ गोंडवा में यह भाषा 'हिन्दकी' या 'जाटकी' भाषा के नाम से प्रसिद्ध है। जाटों के आर्यवंश में होने के सिद्धांत को यदि कतई एक ओर फेंक दिया जाए तो इसके विरुद्ध बहुत ही जोरदार प्रमाण दिए जावेंगे, जैसे कि अब तक कहीं नहीं दिए गए हैं। शारीरिक गठन और भाषा ऐसी चीज हैं जो कि केवल क्रियात्मक समानता के आधार पर एक तरफ नहीं रखे जा सकते। खासकर जबकि वे शब्द जिन पर कि समानता अवलम्बित है हमारे सामने आते हैं तो वे यूनानी और चीनी से भिन्न पाए जाते हैं[1]।"

भारत के जाटबहुल प्रदेशों में भारोपीय परिवार की भाषा संस्कृत से उद्भूत भाषाएं ही प्रयुक्त होती हैं। संस्कृतभाषा को सभी भाषा-वैज्ञानिकों ने आर्यपरिवार की भाषा स्वीकार किया है और उसे वैदिक संस्कृति की अमूल्य देन भी कहा है। इस दृष्टि से भी जाट भारतीय आर्य माने जाने चाहिएं। ठाकुर देशराज ने जाट इतिहास में तो यहां तक लिखा है कि "जाटों ने एक लिपि का भी आविष्कार किया था। यह लिपि कहीं सिंधी, कहीं खुदाबादी, कहीं शहाबादी, कहीं महाजनी और कहीं "जाटकी" कही जाती है।"

धार्मिक दृष्टि से देखा जाए तो जाट भारतीय आर्य ही प्रतीत होते हैं। आर्यों में एकेश्वरवाद का सिद्धांत प्रचलित है। यह सिद्धांत जाटों में बहुलता में पाया जाता है। पौराणिक हिन्दूधर्म में मान्य अवतारवाद में इनका विश्वास बहुत ही कम है। धर्म के क्षेत्र में खान-पान का बहुत बड़ा हाथ है। आर्यों की सभ्यता में मांसभक्षण का सर्वथा निषेध है,

---

1. देशराज, जाट इतिहास, उद्धृत पृ० 61-62

इसे तामसिक भोजनों में स्थान दिया गया है। जाट भी मांस-भक्षण को नितान्त बुरा मानते हैं। जाटों में ऋग्वेदकालीन भोजन-सम्बन्धी मान्यताएं अब भी सुरक्षित हैं। घी, मक्खन, दूध, दही और छाछ इनके जीवन में अधिक प्रयुक्त होता है। आचार्य रामदेव ने भारतवर्ष के इतिहास में तथा धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने आर्यों के खान-पान के विषय में जो विचार प्रकट किए हैं, वे सभी जाटों में पाए जाते हैं।

जाटों के धर्म के बारे में आचार्य भगवान्देव कहते हैं कि "जाट शुद्ध वैदिकधर्म के माननेवाले हैं।" आचार्य भगवान्देव के कथन की पुष्टि अनेक अन्य प्रमाणों से भी हो जाती है। जाटों में विधवा-विवाह की एक ऐसी परम्परा है जो कि अन्य जातियों में बहुत कम संख्या में पाई जाती है। इस प्रथा का अनुमोदन वैदिक साहित्य से भी होता है। जाटों के धर्म के विषय में योगेन्द्रपाल शास्त्री ने लिखा है कि "स्वामी शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट आदि के प्रयत्नों से जब नवीन हिन्दू-धर्म की स्थापना की गई तब जाटों को शिव की जटा से सर्वोपरि उत्पन्न हुआ सिद्ध करके पौराणिकों ने उन्हें अपनी ओर आकर्षित किया। वे उधर झुके भी तो कृष्णोपासक रूप में उन्हें अपना पूर्वपुरुष मानने से। किन्तु किसी भी सुप्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण करके अपने धन का उपयोग उन्होंने अनेकेश्वरवाद की दिशा में नहीं किया। उनके विचारों में एकेश्वरवाद के विपरीत अस्थिरता आना ही चाहती थी कि ऋषिवर दयानन्द ने अपना दिव्य सन्देश सुनाकर उन्हें विशुद्ध वैदिक मत का मार्ग दिखाया। ऋषि तो मानो जन्मे ही थे अनेकेश्वर विश्वास-मत-मतांतर अज्ञानाश्रयान्धकार के विनाश के लिए थे। चोटीधारी प्रत्येक जाट ने उनके उपदेशों के सामने आत्म समर्पण कर दिया। आज परिणाम यह है कि हिन्दू कहलानेवाले सम्पूर्ण जाट शुद्ध वैदिक मतानुयायी आर्यसमाजी हैं। इसी प्रकार एकेश्वर-विश्वासी गुरु नानक ने जब सिक्ख सम्प्रदाय की नींव डाली तो पंजाब के जाट ने पौराणिकों द्वारा दी गई विचारों की दासता छोड़कर सामूहिक रूप से सिक्ख धर्म को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सिंध, सीमाप्रांत का जाट मुसलमान, पंजाब का जाट सिक्ख और राजस्थान, मध्यभारत, हरियाणा, उत्तरप्रदेश का जाट वैदिकधर्मी रूप में एक ही ईश्वर को मानता, जानता और ध्यान करता है।"

यह उद्धरण भी यही सिद्ध करता है कि धार्मिक विचारों की दृष्टि

से भी जाट वैदिक आर्य हैं। इस प्रकार हम निश्चित रूप से जाटों को भारतीय आर्य ही मानते हैं। जाटों के भारतीय आर्य होने में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। प्रत्येक इतिहासकार जिसने जाटों के विषय में लिखा है, इन्हें भारतीय ही मानता है। कालिकारंजन कानूनगो ने "हिस्ट्री आफ दी जाट्स" में लिखा है कि "प्रामाणिक विद्वानों ने भाषा और शरीररचना के परीक्षणों द्वारा यह घोषणा की है कि जाट आर्यों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। जहां तक धार्मिक और सामाजिक सम्बन्धों का प्रश्न है, सभी निरीक्षक इस बात से सहमत हैं कि जाट अन्य हिन्दू से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है और उसकी उत्पत्ति आर्य है।

यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है कि आर्य प्रारम्भिक काल में गंगा-यमुना अथवा सरस्वती के किनारे फूले-फूले थे। उनकी वैदिक सभ्यता इन्हीं नदियों के कांठों पर यौवन को प्राप्त हुई थी। इस नाते उन्हें गंगा-यमुना के प्रति एक विशेष प्रकार की अटूट श्रद्धा भरी हुई है। यही कारण है कि वे गंगा-यमुना की सौगन्ध खाना बहुत ही बड़ी बात मानते हैं। इसके अतिरिक्त आर्यों में पृथ्वी के प्रति बड़ी भक्ति थी। वेदों में पृथ्वी की प्रशंसा और स्तुति में पृथक् रूप से एक पृथ्वीसूक्त है। जाट युवक कबड्डी खेलते समय 'धरती माता पूजूँ तोय, हाथ पांव बल दीजे मोय' कहकर शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। जाट दास-प्रथा को बुरा मानते हैं। जाटों की विवाहसम्बन्धी मान्यतायें वैदिक आर्यों के विधान के अनुसार हैं। जाटों में वैदिक घोष "सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्" का स्वरूप अब भी स्थिर है। इनमें आठ पूर्बिया और नौ कुन्हे वाली प्रथा नहीं है तथा समाज में समानता के आधार पर रोटी-बेटी का व्यवहार पाया जाता है।

अतः उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाट आर्य हैं। आर्यों की चतुर्वर्णी व्यवस्था में जाट शुद्ध क्षत्रियवर्ण के अन्तर्गत आते हैं, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं। इन्हें वैश्य कहना अथवा शूद्र कहना नितान्त असत्य है। वे मूल-रूप में भारतीय ही हैं। इस निर्णय के बाद जाटों से सम्बन्धित विदेशी उत्पत्ति के सिद्धांतों को प्रामाणिक रूप से अमान्य ठहराते हुए अब हम जाटों की भारतीय उत्पत्ति के सिद्धांतों की आलोचना द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुंचना चाहते हैं। जाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जठर सिद्धांत किसी भी रूप में मान्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह सिद्धांत जातीय संघर्ष की

आधारभूमि पर खड़ा है। अतः इसमें निष्पक्षता का सर्वथा अभाव है। इसके अतिरिक्त भारतीय समाज-शास्त्र की दृष्टि से सन्तान उत्पत्ति के प्रसंग में क्षेत्र की अपेक्षा क्षेत्रज का अधिक महत्त्व है। अर्थात् सन्तान की जाति और उसके सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकारों में सामाजिक नियमों की दृष्टि से पिता का अधिक महत्त्व है और पिता की जाति ही सन्तान की जाति कही जाती है। जबकि जठर सिद्धांत में इस मान्यता को नकारा गया है और जठर पेट से उत्पन्न होने के कारण जाठर कहलाए, यह कहा गया है। प्रत्येक सन्तान पेट से ही उत्पन्न होती है, अन्य कहीं से नहीं, फिर तो संसार के प्रत्येक प्रकार के प्राणी जाठर कहे जा सकते हैं।

जटा सिद्धांत अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि जटाओं से जुओं की उत्पत्ति तो हो सकती है, मनुष्यों की नहीं। यह सिद्धांत अप्रत्यक्ष रूप से जाटों की आदिम-भूमि को संकेतित करता है। ज्येष्ठ सिद्धांत के माध्यम से जाट-जाति की उत्पत्ति ऋग्वेद में ढूँढी गई है, यह एक हास्यास्पद बात है। वैदिक साहित्य में ज्येष्ठ शब्द सर्वशक्तिमान् ईश्वर के विशेषण के लिए आया है न कि किसी जातिविशेष के लिए। जर्तिका सिद्धांत में जर्तिका जाति के खान-पान और व्यवहार का वर्णन जाटों के खान-पान और व्यवहार से सर्वथा भिन्न है। जाट-जाति में स्त्रियों की बात तो दूर रही पुरुषों का शराब पीना भी बुरा माना जाता है। जाट लोगों में गधी का दूध पीने का रिवाज कहीं भी किसी भी रूप में प्राप्त नहीं होता, जबकि जर्तिका सिद्धांत में जर्तिका जाति के विषय में ऐसा कहा गया है कि वे गधी का दूध पीते हैं। जर्तिका जाति की स्त्रियों का स्वभाव जाट जाति की स्त्रियों से नितांत भिन्न है। जर्तिका जाति की स्त्रियां शराब पीकर और नगी होकर हंसती और नाचती कही गई हैं, जबकि जाट स्त्रियां शराब पीकर और नंगी होकर नाचना तो दूर रहा, घर की दहलीज से भी पर-पुरुष को देखना बुरा मानती हैं।

ज्ञातृक सिद्धांत भी जाट जाति की उत्पत्ति में किसी भी प्रकार सहायक नहीं, क्योंकि जाटों की उत्पत्ति के विषय में इस सिद्धांत के मानने में बड़ी भारी अड़चन है। क्योंकि ज्ञातृकगण उत्तरी बिहार में था और जाटों के गोत्रों से सम्बन्धित सभी गणराज्य पंजाब में थे। अजाति सिद्धांत के अनुसार जाट "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा" का जमघटा है। राजपूत सिद्धांत और यात सिद्धांत भी जाटों की उत्पत्ति के विषय में अमनोवैज्ञानिक ही हैं। इन दोनों सिद्धांतों की आलोचना

हम पहले पृष्ठों में कर चुके हैं। अब हमारे सामने ज्ञाति सिद्धांत, जट झट सिद्धांत और यदु सिद्धांत ही बचते हैं। ज्ञाति सिद्धांत के सम्बन्ध में यह कहना है कि इसकी विवेचना में हम पहले लिख चुके हैं कि यह सिद्धांत राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से जाट उत्पत्ति के अनुकूल नहीं है। जट झट सिद्धांत में समूहार्थक अर्थ को ग्रहण करके उत्पत्ति मानी गई है। हम यह कहते हैं कि संघ के अर्थ में जट का प्रयोग किसी विशेष जाति के लिए नहीं हुआ है।

हमारे विचार से यदु सिद्धांत जाटों की उत्पत्ति में अधिक ऐतिहासिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कहा जा सकता है। यद्यपि हमने पिछले पृष्ठों में इस सिद्धांत को आलोचना करते समय लिखा है कि यह सिद्धांत भी ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता तथापि सभी सिद्धांतों में यह सिद्धांत जाटों में गोत्रों की विभिन्नता होते हुए भी सच्चाई के अधिक समीप है। क्योंकि जाटों में सोमवंशी और कश्यप-वंशी गोत्रों की अधिकता है और कश्यप ऋषि ने ही पुराणों के अनुसार क्षत्रिय-पुत्रों को राज्यपद पर पुनः बैठाया था। वंश-परम्परा के आधार पर जो वर्णन मिलता है, उससे यही प्रतीत होता है कि यदु सप्तसैंधव प्रदेश के निवासी थे। यदु से तद्धित प्रत्यय करने पर यादव शब्द बन जाता है और इसी य के स्थान पर ज होने से जादव और उससे जाटव बन गया। जाटव नाम के शूद्र भी मिल जाते हैं, परन्तु ये वे शूद्र हैं, जिन्होंने जाटों के गोत्रों को अपना लिया है। जाटव से बिगड़ता और "प्रयत्न लाघव" तथा "मुख-सुख" के भाषाविज्ञान के नियम के अनुसार 'जाट' बन गया। जब तक अन्य कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता हमें यदु सिद्धांत को ही स्वीकार करना उचित रहेगा।[1]

---

1. पण्डित बस्तीराम जी खेड़ी सुलतान (रोहतक) निवासी ने 'पाखण्ड खण्डनी' पुस्तक में जाटों के विषय में तीन भजन 45, 46 और 47 दिये हैं। उन्होंने जाटों को आर्य क्षत्रिय सिद्ध किया है। सृष्टि के आदि में स्वायम्भव मनु महाराज हुए। उन्हीं के वंश में-- "नृप ययाति थे क्षत्रधारी, सुत जिसके जादू बलकारी। जिन आज्ञा राज की टारी, जुदे हुए आए आलम से। जाट की सुनले कथा हम से।

उस दिन से जाट कहाये, जादूवंशी कर गाये। एजी हां जब कृष्ण जन्म ले आए, सुनले गीता के महातम से। जाट की सुनले कथा हम से।"

❀०❀

तृतीय अध्याय

जाटों की चारित्रिक विशेषताएं :

किसी भी जाति का अपना एक विशेष चरित्र होता है, जिसके आधार पर उसका अस्तित्व बना रहता है। इसी चरित्र के अनुरूप ही उस जाति का सामाजिक स्तर भी निश्चित किया जाता है। चरित्र अपने आप में किसी भी जाति के स्वभाव, व्यवसाय, धर्म और खान-पान का कोष होता है। इनमें स्वभाव अति अपरिवर्तनशील स्वीकार किया जाता है।

जाटों को रंग-रूप और आकार के आधार पर हम पिछले पृष्ठों में भारतीय आर्य सिद्ध कर चुके हैं। विभिन्न धार्मिक संगठन, सम्प्रदाय अथवा मतों के अनुयायी होने पर भी ये जातीय अभिमान से ओत-प्रोत परिश्रमी किसान और असि (तलवार) और आर (फाली) के धनी हैं। इसीलिए तो आज भी यह कहावत प्रसिद्ध है–"कविता सोहे भाट की, खेती सोहे जाट की" तथा "खेती जट की बाजी नट की"। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो कनिंघम की यह उक्ति वस्तुतः सत्य है कि इनके मुकाबले में राजपूत विलासप्रिय, गूजर और मीणा सुस्त, जबकि जाट मेहनती जमींदार तथा पशुपालक है। स्वभाव की दृष्टि से कानूनगो इनके विषय में लिखते हैं कि जाट व्यक्तिवादी है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पक्षधर है। जाट वही करता है जो उसकी दृष्टि में ठीक जंचे और कहीं-कहीं वह उसे भी जानबूझ कर करता है, जो उसे गलत लगे[1]। इसका अभिप्राय है कि जाट मनमानी करता है और ऐसा करने में उसे आनन्द आता है। इस सम्बन्ध में उदाहरण देना प्रासंगिक होगा।

एक बार एक जाट का कोई परिचित बारात में चढ़ने के लिए घोड़ी मांगने आगया। स्वभावतः जाट ने अपने मित्र से कहा कि भाई! घोड़ी तो घर पर नहीं है, किसी बारात में गई हुई है और वहीं की वहीं वह दूसरी बारात में चली जाएगी। यह बात सुनकर मित्र ने अपना रास्ता पकड़ा। परन्तु वह थोड़ी दूर ही गया था कि जाट ने उसे बुलाया और कहा कि यदि घोड़ी घर पर होती, तो भी तुझे नहीं देता। मित्र बेचारा अपना-सा मुंह बनाकर चला गया। पास बैठ साथियों ने

1. कानूनगो, हिस्ट्री आफ दी जाट्स, पृ० 3

पूछा – तुमने यह क्या किया ? तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए था। ज़ाट ने तुरन्त उत्तर दिया कि मेरे पहले मना करने में मरोड़ नहीं थी। अब घोड़ा की मरोड़ है । इस प्रकार कभी-कभी वह भी करता है, जो उसे नहीं करना चाहिए।

चारित्रिक दृष्टि से जाट प्राचीन आँगल-सेक्सन और रोमवासियों के समान प्रतीत होता है । स्वभाव की दृष्टि से वह जर्मनों से मेल खाता है । जाट सोच-विचार कर मन्दगति से आगे बढ़नेवाला, कल्पना तथा भावुकता से रहित होने पर भी विचारों में दृढ़ता रखने वाला, शक्तिसम्पन्न है । इन्हीं विचारों की पुष्टि इवेटसन भी इस प्रकार करता है कि जाट स्वभाव से क्रियात्मक होता है। वह वातों द्वारा कठिनता से सहमत होनेवाला है । जव तक उसके सामने सुदृढ़ तथ्य और तर्क प्रस्तुत न किए जायें । वह दृढ़ स्वाभिमानी, प्रवल स्वतन्त्रताप्रेमी और जनतान्त्रिक परम्परा का पुजारी है ।[1] जाट में मानवतावादी संवेदनाओं का अपार भण्डार है । वह परोपकार की प्रतिमूर्ति है और प्रत्युपकार की भावना नहीं रखता । इस सम्बन्ध में एक लोकवार्ता इसप्रकार प्रचलित है कि एक बार कोई मुगल शहजादा मुसीबतों का मारा प्राण बचाने के विचार से एक किसान के घर में ठहर गया। जाट ने उसकी सेवा अपने जातीय स्वभाव से की । जाट की सेवा से प्रसन्न होकर एवं उसे विश्वासयोग्य समझकर मुगल शहजादे ने अपना परिचय देते हुए कहा यदि तुम्हें कभी मेरी सहायता की आवश्यकता हो, तो बतला देना । शहजादे की बात का उत्तर देते हुए जाट ने कहा—यार तो मजे में है, हां तुझे कभी मदद की आवश्यकता हो, तो इस जाट को याद कर लेना।

जाट स्वभाव से निश्छल और भोला है । वह मन का पापी नहीं होता। अटल विश्वास करना उसका स्वभाव है। दीनों और असहायों पर अकारण ही दया करना इसकी आदत है । यह आत्म-प्रदर्शन की भावना से सर्वथा रहित है। जाट के स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि जाट की उस समय तक शान्तिपूर्ण मृत्यु नहीं होती जब तक वह अपने परिवारवालों को उसके साथ अच्छाई और बुराई करनेवालों की बात कहकर मन हल्का नहीं कर लेता।[2] इस प्रकार जाट प्रतिशोध का

1. इवेटसन, ग्लोसरी आफ कास्टस् एण्ड ट्राइब्ज् आफ दी पंजाब एण्ड दी नोर्थ-वेस्ट फ्रंटियर प्रोविन्सेज, भाग दो, पृ० 366
2. कालिकारंजन कानूनगो, हिस्ट्री आफ दी जाटस्, पृ० 4-5

पुतला है और निरन्तर संघर्ष का प्रतीक है। लड़ाई झगड़ा करना इसकी स्वभावगत रुचि है। जाट स्वभाव से एक परिवार से दूसरे परिवार के साथ लड़ता रहेगा। परन्तु जब उसकी थोक या गोत्र के संघर्ष का प्रश्न उपस्थित होता है, तो वह 'सौ धोती और एक गोती' की बात पर आपसी शत्रुता और मन-मुटाव को भूलकर एक हो जाता है।

जाटों की चारित्रिक विशेषता के सम्बन्ध में जटा-सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए जो विवरण पिछले पृष्ठों में दिया गया है उसे यहां पुनः लिखने की आवश्यकता है क्योंकि निम्न श्लोक में जाटों की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है—

महाबला महावीर्या महासत्वपराक्रमाः।
सर्वाग्रे क्षत्रिया जटा देवकल्पा दृढ़व्रताः॥

इसमें कहा गया है कि जाट बड़े-भारी शक्तिशाली हैं, वे महावीर हैं, वे महान् सत्यवादी और पराक्रमी हैं। इसके अतिरिक्त वे क्षत्रियों में सबसे आगे गिने जानेवाले हैं। इनके स्वभाव की यह विशेषता है है कि ये जो कुछ धारणा बना लेते हैं, उसी पर दृढ़ रहते हैं। जाटों की वीरता की संपुष्टि रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से भी होती है। इस अभिलेख में जाटों (यौधयों) के विषय में कहा गया है कि इन्हें 'वीर' उपाधि मिलने से अभिमान होगया था। प्रत्येक जाट व्यक्तिगत रूप से स्वच्छन्द, मनमौजी और स्वाभिमानी होता है। मनमानी करना, आन की खातिर अपना घर बिगाड़ना इसके लिए हंसी-खेल है। जाट के स्वभाव में वचन-पालन में दृढ़ता, पराक्रम में अटलता और प्रतिशोध में प्रबलता है।

अब तक जाटों के स्वभाव के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, वह विद्वानों की मान्यताओं के अनुसार है। परन्तु विद्वानों की मान्यताओं के अतिरिक्त भी हमारे पास कुछ एसे स्रोत हैं, जिनके माध्यम से हम जाटों की स्वभावगत विशेषताओं को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। इन स्रोतों में लोककहावत अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। लोकवार्ताओं के अनुसार हम यह देखते हैं कि जाट के स्वभाव में स्पष्टवादिता कूट-कूट कर भरी हुई है। स्पष्टवादिता का यह स्वभाव कभी-कभी जाटों को विषम परिस्थितियों में भी डाल देता है। परन्तु इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती और वे अपने अल्हड़ स्वभाव के कारण ऐसी परिस्थितियों को कोई महत्त्व नहीं देते। एक

बार बादशाह अकबर शिकार खेलने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में गया। वहां उसने देखा कि एक जाट खरबूजों के दो अलग-अलग ढेर लगा रहा था। एक ढ़ेर में अच्छे खरबूजे थे, तो दूसरे में खराब। यह देखकर अकबर ने जाट से पूछा कि अच्छे खरबूजों का ढेर किसके लिए है। (जाट बादशाह को नहीं पहचानता था) जाट ने उत्तर दिया कि ये अकबर बादशाह के लिए हैं। इसको सुनकर बादशाह ने कहा—अकबर तो काबुल और समरकन्द के खरबूजे पसन्द करता है, वह तुम्हारे खरबूजे कैसे पसन्द करेगा। यह सुनकर अपनी स्पष्टवादिता और अल्हड़ स्वभाव के अनुसार जाट ने कहा—मेरा तो विचार अच्छे खरबूजे देने का है, यदि वह स्वीकार नहीं करता तो भाड़ में पड़ तू और अकबर करवाए अपनी ऐसी-तैसी। अगले दिन जाट जब दरबार में खरबूजे लेकर पहुंचा तो उसने देखा वही कलवाला आदमी सिंहासन पर बैठा है। बादशाह अकबर ने जाट को देखकर कहा—यदि हम खरबूजे न लें तो? जाट ने उत्तर दिया—वही कलवाली बात।

भारतीय समाज में जाटों के स्वभाव की परिचायक अनेक लोकोक्तियां मिलती हैं। जाटों के उतावलेपन के विषय में कहा जाता है कि 'पाथर में घुणाई कोन्नी अर जाट में समाई कोन्नी' अर्थात् जिस प्रकार पत्थर में घुण लगना असम्भव है, उसी प्रकार जाट के स्वभाव में धैर्य आना कठिन है। इसी अधैर्यशील स्वभाव के विषय में कहा जाता है कि 'जाट एक दमड़ी पर लहुलुहान, वणिया सौ पर भी न खींचातान'। जाट के इस उतावलेपन के कारण ही उसे 'पाच्छम बुद्धि' कहा जाता है—'आगम बुद्धि बाणिया पाच्छम बुद्धि जाट'।

जाट के स्वभाव के विषय में हम पहले लिख आए हैं कि वह वीर स्वभाव वाला है। इसके इसी वीर स्वभाव के कारण बहुत से इतिहासकार इसे उद्दण्ड भी कहते हैं। इसी उद्दण्डता के कारण इसके सम्पर्क में आनेवाला समाज इससे भयभीत रहता है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जाट में चालाकी और धूर्तता नहीं होती। यह शक्ति के सामने टक्कर लेनेवाला है और दबना इसका स्वभाव नहीं। अतः जाट को प्रेम से वश में किया जा सकता है, आंखें दिखाकर वश में करना अत्यन्त कठिन है।

'दो पाटन के बीच में साबत बचा न कोई' की उक्ति के अनुसार ब्राह्मण वर्ण और वैश्य वर्ण के मध्य क्षत्रिय (जाट) वर्ण बराबर पिसता

जाकर भी अपने अस्तित्व को बनाए हुए हैं। वस्तुतः ब्राह्मण और वैश्य दोनों ही वर्णों को इसके प्रति सदा से ही एक विशेष प्रकार की अन्यमनस्कता रही है । ब्राह्मण वर्ण इनसे इसलिए नाराज रहा कि इन्होंने इस वर्ण द्वारा निश्चित धार्मिक एवं सामाजिक मर्यादाओं का अक्षरशः पालन नहीं किया और एक प्रकार से ब्राह्मण वर्ण की प्रभुसत्ता को चुनौती दी। दूसरी ओर वैश्य वर्ण इससे इसलिए रुष्ट रहता था कि सदा से ही जाट वैश्य की आर्थिक नीति के कटु आलोचक रहे हैं और समय-समय पर बलात् वैश्यों के धन का अपहरण करते रहे।

अतः दोनों वर्णों ने मिलकर जाटों को कुचलने का प्रयास किया। इस प्रयत्न की झांकी लोकोक्तियों में इस प्रकार मिलती है—

जाट जब तक साथी, हाथ में होवे लाठी ।

जाट को भारतीय समाज में सांप से भी अधिक भयावह बताते हुए कहा गया है कि 'जाट और सांप में से किसने मारे, सांप ने जाण दे और जाट ने समारे ।'

उद्दण्ड स्वभाववाले जाट को किस प्रकार काबू में किया जाए, इस सम्बन्ध में दोनों वर्णों (ब्राह्मण-वैश्य) ने दमन की नीति अपनाई। इस नीति से सम्बन्धित लोकोक्तियां इस प्रकार हैं—

सांटी, माटी, कपड़े, सणी मूंज और टाट ।
ये छहों कूट्टे भले अर सातवाँ जाट ॥

सांटी अर्थात् लाल मोटा चावल, बर्तन बनाते समय मिट्टी, मैल उतारने के लिए कपड़े, रस्सी बनाने से पूर्व सन, मूंज तथा पटसन का कूटना अनिवार्य है, क्योंकि ऐसा करने से इनमें गुणवत्ता बढ़ती है । ठीक इसी कोटि में सातवां जाट भी आता है । जाट को उपयोगी बनाने के लिए इसका कूटना अनिवार्य है । जाट को केवल कूटनेमात्र से ही द्विजों को तसल्ली नहीं हुई, अपितु ये इसे बांधकर रखना और भूखा मारना भी अपने हित में ही सोचते थे । इसीलिए तो कहा जाता है कि 'गूमड़ा (फोड़ा) अर जाटड़ा बन्धे ही भले । जाट को काबू में रखने के लिए इसे भूखा भी रखना चाहिए । यह बात एक लोकोक्ति में इस प्रकार कही गई है—

जाट, बिरागी, नटवा चौथे विधवा नार ।
ये चारों भूखे भले धापे करें बिगार ॥

परन्तु द्विजों की ये उक्तियां फलीभूत नहीं हुईं, क्योंकि जाट में शक्ति है, उत्साह है और सबसे बड़ी बात है प्राणों का मोह न रखना। जाट की शक्ति और उत्साह समय पाकर ज्वालामुखी बनकर विश्व को निगलता रहा है, इतिहास इसका साक्षी है। विश्व इतिहास इसका भी साक्षी है कि दमन से जाट को काबू नहीं किया जा सकता। दमन से वह विषैले सर्प की भांति फुंकारता है।

यह भी सत्य है कि जब जाट में सम्पन्नता आजाती है तो नक्षत्रों को भी गिराता चलता है। किसी की परवाह नहीं करता और सीमाओं का उल्लंघन करने लगता है। पेटभरे जाट की उद्दण्डता के विषय में एक कहावत है कि 'भरा पेट जाट अम्बर में मोरे करे'। 'भरा पेट जाट राजा के हाथी को भी गधा बतावे'। रिजले ने इस लोकोक्ति को लिखते हुए कहा है कि एक जाट अपनी राश (अनाज की ढेरी) पर खड़ा होकर राजा के महावत (हाथी को चलानेवाला) से पूछता है कि—तुम इन गधों (जो कि वस्तुतः हाथी थे) का क्या मूल्य लोगे? इनके इसी स्वभाव के विषय में पुनः एक लोकोक्ति में कहा गया है कि 'जाट छिक्क्या तो राह रुक्या' अर्थात् जाट पेट भरने पर ऐसी बातें करने लगता है जो कि समाज को हानि पहुंचाएं।

जाटों से सम्बन्धित लोकोक्तियों में हम यह भी पाते हैं कि जाट में उत्पाती स्वभाव जन्म से ही घर बनाए बैठा है। यह स्वभाव इनमें परस्पर शत्रुता का बीज बोता रहा है। इस उत्पाती स्वभाव के कारण ये परस्पर एक दूसरे के प्राणघाती तक बन जाते हैं। अत एव कहा जाता है कि—

1. जाटड़ा अर काटड़ा अपना ने मारे।
2. जाट की छत्तीस कौम दुश्मन और जाट-जाट का दुश्मन।
3. जाण मारे बाणिया पिछान मारे जाट।
4. जाट-जाट के साले करदे घाले माले।

जाट की स्वभावगत नादानी के विषय में कहा जाता है कि वह गन्ना न दे, भेल्ली (पांच सेर गुड़ की पेड़ी) दे दे, अर्थात् वह लेन-देन के विषय में बहुत ही अव्यावहारिक होता है। परन्तु दूसरी ओर हमें ऐसी कहावतें भी मिलती हैं कि जिनमें जाटों की चतुराई के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'अनपढ़ जाट पढ़ा जैसा और पढ़ा जाट खुदा जैसा'।

झुंझनू में जाट महासभा 1931 के अवसर पर एफ० सी० यंग

इन्सपैक्टर जनरल पुलिस ने जाटों के चरित्र के विषय में भाषण देते हुए कहा था कि जाट बहादुर होने के साथ-साथ सच्चे ईमानदार और अपनी बात के पक्के होते हैं। वे छल नहीं करते हैं। मैंने स्वयं कुछ जाटों को परखा है। वे पूरे उतरे हैं। अन्त में जाटों के चरित्र के विषय में कहा जा सकता है कि वे बड़े से बड़े विजेता की दिल दहलानेवाली बातें सुनकर डरते नहीं हैं। लड़ाई में शत्रु से भिड़ जाने पर पूर्ण धैर्य रखना और अद्वितीय साहस का परिचय देना इनकी जीवन्तता का जीता-जागता प्रमाण है। जाट मन का पापी नहीं होता और अटल विश्वास करना उसका स्वभाव है। दीनों और असहायों का पक्ष लेना इसके स्वभाव का निर्मल पक्ष है। लड़ाई-झगड़ा करना इसकी जन्मजात प्रवृत्ति है। यह आत्म-प्रदर्शन की भावना से कतराता है। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों के पालन में दृढ़ता, पराक्रम में अटलता और प्रति-शोध में प्रबलता इसके चरित्र में अनायास ही मिलते हैं। आर्थिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्तर के होने पर सामाजिक दृष्टि से इनकी रोटी और बेटी में कोई अन्तर नहीं होता है।

व्यवहार स्वयं में व्यक्तिगत न होकर समाजगत शब्द है। इसीलिए व्यवहार समाज सापेक्ष्य होता है। जाटों के सम्बन्ध में जब हम व्यवहार शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसमें व्यवहार और संस्कार दोनों ही पक्ष आजाते हैं।

व्यवहार

जाटों के व्यवहार और संस्कार में हमें एक क्रमिक विकास मिलता है। सामाजिक दृष्टि से जाटों में छोटे सदस्य बड़े सदस्यों का सम्मान करते हैं। सम्मान सूचना के लिए यह विधि अपनाई जाती है कि बड़े व्यक्ति के सिहराने पर छोटा सदस्य नहीं बैठ सकता, चाहे वह विद्या और धन में कितना हो बड़ा हो। उसे सदा अपने से बड़ों के पंताने ही बैठना पड़ेगा। इसी प्रकार समूह में हुक्का पीते समय रिश्ते में सबसे छोटे व्यक्ति को नेहचा घुमाना पड़ेगा। परिवार में स्त्रियां भी छोटे-बड़े के हिसाब से रहती हैं। सास के सामने प्रत्येक पुत्र-वधू को नतमस्तक रहना पड़ता है। सास की उपस्थिति में बहू अपने पति से हंसकर बात नहीं कर सकती। प्रायः स्त्रियां पुरुषों की उपस्थिति में भोजन नहीं करतीं। यदि ऐसा समय आ भी जाए तो वे मुंह फेरकर भोजन करती

हैं। जाट स्त्रियां घर से बाहर निकल कर प्रत्येक कार्य में पुरुषों का साथ देती हैं।

पारिवारिक जीवन में संयुक्त परिवार की प्रथा जाटों में पाई जाती है। संयुक्त परिवार में सब एक दूसरे से बन्धे रहते हैं। एक साथ एक घर में रहते हैं और अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के अनुसार अपने-अपने कार्यों का पालन करते हैं। संयुक्त परिवार के मुखिया का कर्त्तव्य होता है कि वह अपने बेटों के बच्चों का पालन करे। संयुक्त परिवार का मुखिया 'कर्ता' कहलाता है। परिवार के वयस्क और अवयस्क पुरुष सदस्य किसी न किसी काम को करते हैं। संयुक्त परिवार के कारण सुरक्षा की भावना उत्पन्न हो जाती है। जाटों में संयुक्त परिवार के वयस्क-पुरुष-सदस्यों के सोने का स्थान वयस्क-स्त्री-सदस्यों के स्थान से प्रायः दूर होता है। पुरुषों के सोने बैठने के स्थान को बैठक, दरवाजा, नोहरा, पौली अथवा गढ़ी कहते हैं। सामाजिक दृष्टि से स्त्रियों का चौपालों पर चढ़ना बुरा माना जाता है। चौपाल के ही अन्य नाम अथाई, थल्ला, परस हैं। इस स्थान पर निराश्रित व्यक्ति आकर भी ठहर सकता है। जाटों के अतिथि-सत्कार में अन्य क्षत्रिय-जातियों के अतिथि-सत्कार से कुछ भिन्नता है। जाटों के यहां भोजन में घी, दूध, दही और मक्खन होता है, उसमें मांस का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता। इस जाति की स्त्रियां मांस पकाना जानती ही नहीं। सायंकाल भोजन के समय रोटियों के साथ साग-सब्जी और दाल होने पर भी दूध उसी के साथ पीने को दिया जाता है। भोजन में पहले मीठा दिया जाता है, इसके बाद दाल इत्यादि परोसी जाती है।

सामाजिक दृष्टि से जाटों में ग्राम-सम्मिलित काम होने पर सभी अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य करते हैं। फिर भी सबका सहयोग प्राप्त करने के लिए "ठीकर" निकाली जाती है। इस 'ठीकर' का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक वृद्ध व्यक्ति अपने परिवार में से पंचायत द्वारा नियत व्यक्ति को निश्चित तिथि और ठीक समय पर जनकल्याण के सामूहिक कार्य को करने के लिए बिना किसी पारिश्रमिक के भेजता है। जाटों में सम्मिलित भूमि के बटवारे के लिए "तागड़ी और पागड़ी" की प्रथा है। अर्थात् भूमि का बटवारा स्त्रियों के अनुसार न होकर पुरुषों के अनुसार होता है। यह नियम याज्ञवल्क्य के मतानुसार है।

जाटों में सामूहिक जीवन को अटूट रखने के लिए कृषि के क्षेत्र में

दो प्रथाएं पाई जाती हैं। प्रथम प्रथा के अनुसार यदि किसी जाट के पास खेती करने के लिए केवल एक ही बैल हो, तो वह किसी दूसरे ऐसे जाट से समझौता कर लेता है जिसके पास भी खेती करने के लिए एक ही बैल होता है।

इस प्रकार दोनों मिलकर बारी-बारी से खेती का काम करते हैं। इस प्रकार के परस्पर सहयोग एवं विनिमय को "डंगवारा" अथवा "डंगोसरा" कहते हैं। ठीक इसी प्रकार यदि किसी को एकदम अपनी फसल बोनी है अथवा काटनी है तो वह अनेक व्यक्तियों को इस कार्य के लिए आमन्त्रित करता है। बहुत से व्यक्ति आकर उसके कार्य में सहयोग देते हैं। इस सहयोग को "ल्हास" (उल्लास) कहते हैं। यह उल्लास का ही घिसा हुआ रूप है

जाटों में स्मृतिग्रन्थों में पाए जानेवाले आठों प्रकार के विवाह किसी न किसी रूप में प्रचलित हैं। विवाह के सम्बन्ध में जाटों में एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इस जाति में "विधवा विवाह" प्रचलित है। परन्तु जाटों में प्राप्त विधवा विवाह की मान्यतायें अलग ही हैं (जाटों में प्रचलित विधवा विवाह का दूसरा नाम "करेवा" अथवा "करेपा" है। इस विधि में जब किसी जाटकुल का व्यक्ति मर जाता है तो उसकी विधवा स्त्री से उसी कुल का मृतक का भाई सामाजिक स्वीकृति से उसका पति बना दिया जाता है। इस परम्परा का ही परिणाम है कि जाट स्त्रियां कभी भी चकलों में बैठकर वेश्या का व्यापार करती दिखाई नहीं पड़तीं। विवाह प्रसंग में जाटों में अब तक वर और वधू के पक्ष के तीन-तीन गोत्र छोड़ने का रिवाज है, पहले मनुस्मृति के अनुसार पांच से सात गोत्र छोड़े जाते थे। बड़े लड़के अथवा लड़की के अविवाहित रहते हुए छोटे लड़के अथवा लड़की का विवाह प्राय: नहीं होता।

जहां तक जाटों के सम्बन्ध में सोलह संस्कारों का प्रश्न है, अब जाटों में प्राय: तीन संस्कार जन्म, विवाह और अन्त्येष्टि तो सर्वत्र पाए जाते हैं, परन्तु अन्य संस्कारों की मान्यता में विभिन्नता है। तीज त्योहारों में प्राय: हिन्दूधर्म के सभी प्रसिद्ध त्योहार मनाने की परम्परा इस जाति में पाई जाती है। जाट स्वभाव से ग्राम्य जीवन का उपासक है। वह शहरी जीवन में घुटन अनुभव करता है। जाटों में

राजनैतिक स्तर पर चौधरी, ठाकुर, सरदार, मिर्धा, मलिक, पटेल और प्रधान आदि उपाधियां पाई जाती हैं।

यद्यपि इतिहासकारों ने लिखा है कि "आरम्भ में जाट" बुध के धर्म को माननेवाले थे और अन्त में जैन धर्म की ओर प्रवृत्त हो गए। तथापि जाटों में बुध और जैन धर्म की अपेक्षा वैदिक धर्म का अधिक प्रभाव है। जाटों के धर्म के विषय में ऊपर कही गई बात टाड की मान्यता के आधार पर है। जाटों को चन्द्रवंशी मानकर उनके आदि पुरुष बुध की उपासना के विषय में टाड साहेब लिखते हैं कि "अब यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुधदेव ने जिस धर्म का प्रचार किया था, वह धर्म उस समय की अनेक जातियों का मुख्य धर्म बन गया था। वे जातियां बहुत दिनों तक उस धर्म का एक भाव से प्रचार करती रहीं। क्रमशः जब सूर्योपासकों का प्रचण्ड प्रताप बढ़ा तब उनकी तेजोमयी उपासना पद्धति के सम्मुख बुध का धर्म स्थिर न रह सका। धीरे-धीरे बदलने लगा, बदलते-बदलते वर्तमान शान्तिमय जैनधर्म में परिवर्तित होगया।"

जैन परम्परा के मतानुसार इस भारत भूमि पर कृषि का कार्य ऋषभदेव द्वारा चलाया गया है। अतः बुधोपाशक चन्द्रवंशी जाट शनैः-शनैः जैन धर्म की ओर आकर्षित होगए। परन्तु हमारी मान्यता इसके प्रतिकूल है। जाटों में जैन तीर्थंकरों की मूर्ति की उपासना न होकर शिव की उपासना अधिक प्रचलित है। शिव की मूर्ति को शिवालयों में न देखकर हम उस शक्ति के प्रतीक शिवलिंग अर्थात् शिव द्वारा प्रतिष्ठित विजयस्तम्भ और नन्दी अर्थात् बैल को ही देखते हैं। अतः जाट स्वभाव से साकार रूप भगवान् की मूर्ति की उपासना करनेवाले किसी भी रूप में नहीं हैं। वे तो निराकार भगवान् के ही उपासक हैं। सामाजिक जीवन में जाटों का अन्य वर्णों एवं जातियों से सम्बन्ध सम्मानजनक है। जाट अपने बच्चों को यह समझाता है कि अपने सम्पर्क में आनेवाली अपने ग्राम-समुदाय में रहनेवावी जाति के प्रत्येक सदस्य से सम्बोधन आदि प्रक्रिया में वैसा ही व्यवहार करो, जैसे कि तुम अपने परिवार के सदस्यों के साथ करते हो। इसका परिणाम है कि जाट का बालक अपने पितातुल्य आयुवाले अन्यजातीय व्यक्तियों को चाचा तथा पिता से बड़ों को ताऊ और पिता के पिता तुल्य व्यक्तियों को दादा कहता है। ठीक इसी प्रकार यही रिश्ता अन्य वर्ण की स्त्रियों के साथ ताई, चाची, बुआ और दादी का होता है।

जाटों के सामाजिक जीवन में "भाईचारा" की विधि सबसे प्रमुख है। इस भाईचारा के माध्यम से जाटों में एकता एवं संगठन बना हुआ है। इनमें "मूंठ से मूँठ बड़ी नहीं" होने को स्वाभाविक समाजगत विशेषता विद्यमान है। ब्रेडन पाऊल का कथन है कि "हम जाटों के ग्रामों को सामाजिक दृष्टि से बड़ा सुदृढ पाते हैं, इनमें वंशीय भावना कूट-कूट कर भरी हुई है।" भाईचारा के सिद्धान्त के अनुसार जाटों के सामाजिक सम्बन्धों में एकरूपता है। वे बाहर से धर्म, भाषा और भूषा में अनेक होते हुए भी भाईचारा के सिद्धान्त के अनुसार एक हैं। इस भाईचारा सिद्धान्त के अनुसार वे "सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्" के माननेवाले हैं। उनकी मन्त्रणाओं, उनकी पंचायतों में समानरूप से वंशीय और जातीय भेदभाव के बिना कार्य सम्पन्न होता है।

जाटों की शासन व्यवस्था

वर्तमानकाल में जाट तीन विभिन्न धार्मिक सिद्धांतों के माननेवाले होकर हिन्दू, सिख और मुसलमान जाट इन तीन भागों में बंटे हुए हैं। मुसलमान जाट आजकल पाकिस्तान में बसे हुए हैं तथा सिख जाट पंजाब प्रांत में निवास करते हैं। परन्तु हिन्दू जाट पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में सर्वत्र ही फैले हुए हैं।

प्राचीन भारत में वैराज्य, द्वैराज्य, एकराज्य, स्वराज्य और गण-राज्य जैसी शासन-प्रणालियां प्रचलित थीं। हिमालय के पार्श्व में उत्तर की कुछ जातियों में वैराज्य शासन-प्रणाली प्रचलित थी। ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार इस शासन-प्रणाली में सारा देश (जाति) राजपद के लिए अभिषिक्त होता था। उत्तर-मद्रों और उत्तर-कुरुओं में यह शासन-प्रणाली प्रचलित थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में द्वैराज्य शासन-प्रणाली का विवेचन किया गया है। इस प्रणाली में 'दो का शासन' होता है। भारतवर्ष के साहित्य और शिला-लेखों में इस प्रकार की शासन-प्रणाली के कई ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं। महाभारत के अनुसार अवन्ति में विन्द और अनुविन्द दो राजाओं का राज्य था। ईसा की छठी और सातवीं शताब्दी में नेपाल भी इसी प्रकार की शासन व्यवस्था के अधीन था। एकराज्य शासन-व्यवस्था को साम्राज्य शासन-प्रणाली का नाम भी दिया जाता है। इस प्रणाली में वंशानुगत राजा

होता है। स्वराज्य और गणराज्य ऐसी शासन-प्रणालियां हैं जो कि हमें जाटों की शासन-व्यवस्था के विषय में मान्य प्रतीत होती हैं।

जाटों के प्रसिद्ध गोत्रों में यौधेय, मद्र और शिवी गिने जाते हैं। सिकन्दर के भारत आक्रमण के समय पंजाब में यौधेय और शिवी दो प्रमुख गणराज्य थे। जब सिकन्दर कठों और अरिष्टों को जीतकर व्यास नदी के तट पर पहुंच गया तो उसे मालूम हुआ कि व्यास नदी के पार पूर्व की सारी भूमि अधिक उपजाऊ है और वहां एक ऐसी शासन-प्रणाली प्रचलित है, जिसमें शासन का कार्यभार कुछ प्रमुख व्यक्तियों के हाथ में है। इनकी राज्यसभा में 5,000 सदस्य होते हैं। राज्यसभा का प्रत्येक व्यक्ति राज्य को एक-एक हाथी सेना के लिए देता है। इस राज्य के निवासी बहुत उत्तम कृषक हैं और साथ में अद्वितीय वीर भी हैं। व्यास नदी के पूर्व में स्थित यह जनपद यौधयगण का था। सिकन्दर के सनिकों को इस जनपद से युद्ध करने का साहस नहीं हुआ और उसे विवश होकर वापिस लौट जाना पड़ा। यौधयगण को कौटिल्य अर्थशास्त्र में "शस्त्रोपजीवी' और पाणिनि की अष्टाध्यायी में "आयुधजीवी" कहा गया है। यौधेयगण ने अपने पड़ोसीगणों के साथ मिलकर एक संघ का भी निर्माण किया था, इसकी जानकारी पाणिनि की अष्टाध्यायी से होती है। रुद्रदामन् भी इन्हें वीर मानता था।

वितस्ता (झेलम) नदी के साथ-साथ भारत से वापिस लौटते हुए सिकन्दर ने अनेक जनपदों के साथ युद्ध किए थे। इनमें से एक का नाम ग्रीक लेखकों ने सिबोई (शिवी) लिखा है। इस जनपद में गणराज्य की शासन-प्रणाली प्रचलित थी। पाणिनि ने भी अपने व्याकरण में शिवी जनपद को गणराज्यों की प्रणाली का माननेवाला बताया है। श्री ग्राउस महोदय ने शिवी लोगों को नोहवारों का भाई सिद्ध किया है। वे हरिवंश पुराण का उद्धहरण देते हुए कहते हैं कि "उशीनर राजा के पांच रानियां थीं और उनसे नृग, कृमि, नवा, सुवृत और शिवी पांच पुत्र उत्पन्न हुए। नवराष्ट्र जिस पर कि उशीनर का तीसरा बेटा नव राज्य करता था, वह मथुरा व मथुरा के समीप रहा होगा और उसकी राजधानी ठीक यही रही होगी जो अब नोह कहलाती है।"

उपर्युक्त जाट-गोत्री गणराज्यों के परिप्रेक्ष्य में जब हम जाटों के प्रशासनिक ढांचे को देखते हैं तो हमारा अनुमान इस तथ्य पर खरा उतरता है कि जाट गणतन्त्रात्मक प्रणाली के माननेवाले हैं। श्री एम०

सो० प्रधान ने उत्तरी भारत के जाटों की राजनैतिक शासन-व्यवस्था का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन से भी यही सिद्ध होता है कि जाटों की शासन-व्यवस्था सदा से ही गणतन्त्रात्मक रही है। गण-तन्त्र शासन-प्रणाली की विशेषता यही होती है कि इसमें कुलक्रमागत व्यक्ति शासन का प्रमुख नहीं होता। गण-परिषद् द्वारा चुना गया व्यक्ति ही राज्य का प्रधान-पुरुष होता है। इस प्रधान-पुरुष का चयन भी कुछ निश्चित अवधि के लिए ही होता है। इसके अतिरिक्त गणतन्त्र में व्यक्ति की जय-पराजय न होकर गण की ही जय और पराजय होती है। इस का प्रमाण यौधेयों की प्राप्त मुद्रायें हैं, जिन पर "यौधेय गणस्य जय:" लिखा मिलता है। गणराज्य में गण-परिषद् की मन्त्रणा से ही सारे शासन-सम्बन्धी व्यवहार निश्चित होते हैं। "यौधेयानां जय मन्त्र-धराणाम्" वाली मुद्रा से यह स्पष्ट होता है।

हरियाणा और उत्तरप्रदेश के जाटों में सर्वखाप, खाप, स्तम्भ और ग्राम पंचायतें अब भी किसी न किसी रूप में गणतन्त्र प्रणाली के अवशिष्ट रूप में विद्यमान हैं। खाप के दो रूप हमारे सामने हैं। एक वह रूप है कि जहां एक ही गोत्र के अनेक गांव मिलकर अपने गोत्र के किसी व्यक्ति को प्रधान मान लेते हैं। दूसरा वह रूप है कि जहां सीमा-वर्ती विभिन्न गोत्री गांव परस्पर मिलकर एक संगठन का निर्माण करते हैं। इस प्रकार के संगठनों में ग्रामों की संख्या कम या अधिक भी हो सकती है। जैसे हरियाणा प्रदेश में चौबीसी, बाराह, सतरौल, रौघी, जड़िया, चौरासी और पंचग्रामी आदि ऐसे गणतन्त्रात्मक सगठन हैं जिनमें ग्रामों की संख्या न्यूनाधिक है। राजनैतिक दृष्टि से 'थोक' सबसे छोटी इकाई मानी जा सकती है। प्रत्येक ग्राम में समगोत्री होते हुए भी अनेक थोकें होती हैं। प्रत्येक थोक किसी न किसी आदि महापुरुष के नाम से प्रसिद्ध होती है। प्रत्येक थोक का ग्राम की सम्मिलित भूमि पर अधिकार होता है। थोकों के परस्पर सहयोग और सद्भावना के व्यवहार को भाईचारा कहते हैं। भाईचारा विभिन्न थोकों के विभिन्न गोत्रों में भी हो सकता है। भाईचारे के बाद शासन-व्यवस्था की दृष्टि से "गंवाढ़" नामक संस्था आती है। इस संस्था में निश्चित ग्राम के अतिरिक्त आस-पास के ग्राम होते हैं। अन्त में 'सर्वखाप' नामक संस्था होती है जो कि सर्वोपरि और सर्वमान्य कही जाती है। जाटों की शासन व्यवस्था में 'सर्वखाप पंचायत' विधायिका, कार्यपालिका और न्याय-

पालिका का कार्य करती है। "सर्वखाप पंचायत" का आधार गण-तन्त्रात्मक होता है।

"सर्वखाप पंचायत" में खापों के अन्तर्जातीय विवादों को सुलझाया जाता है। "सर्वखाप पंचायत" का प्रधान खापों के व्यक्तियों द्वारा चुना हुआ होता है। चुनाव होने के उपरान्त खाप की ओर से उसे पगडी बाँधी जाती है। "सर्वखाप पंचायत" की शक्तियों में कोई सुनिश्चित बंटवारा नहीं होता और न ही शक्तियां लिखित रूप से सुरक्षित रहती हैं। इसकी शक्तियां अलिखित रूप से परम्परा के आधार पर प्रयुक्त होती हैं। सर्वखाप पंचायत के पास प्रशासनार्थ किसी भी प्रकार की सेना और पुलिस नहीं होती। इसकी सदस्यता स्वैच्छिक होती है। इसकी कार्यपालिका शक्ति सीमित है और यह परस्पर सहयोग और स्वीकृति पर आधारित है। सर्वखाप पंचायत का यह प्रयत्न होता है कि उसकी सदस्य खापों में परस्पर अच्छे सम्बन्ध बने रहें और वे सामाजिक दृष्टि से शान्तिपूर्वक रहें।

न्यायपालिका की दृष्टि से सर्वखाप पंचायत खापों के भूमिखापों के भूमिसीमाविवादों, गोत्रों के परस्पर विवाहसम्बन्धी विवादों तथा सजातीय फौजदारी विवादों को शान्तिपूर्वक ढंग से सुलझाने का प्रयत्न करती है। सर्वखाप पंचायत में आए किसी भी झगड़े का निर्णय प्राय: सर्वसम्मति से होता है और यह निर्णय वादी और प्रतिवादी दोनों को ही मानना पड़ता है। जो पक्ष सर्वखाप पंचायत के निर्णय को ठुकरा देता है, उसका "हुक्का पानी" बन्द कर दिया जाता है। सर्वखाप पंचायत राजनैतिक दृष्टि से एक सुदृढ़ संस्था मानी जाती है। यद्यपि यह संस्था कानूनीदृष्टि से कोई नियम नहीं बना सकती तथापि सामाजिक दृष्टि से इसे अपनी जाति के लिए नियम बनाने का अब भी अधिकार है। सर्वखाप पंचायत अथवा खाप पंचायत अथवा ग्राम पंचायत की यह विशेषता है कि हुक्का-पानी बन्द करने पर भी सदस्य जाति से बहिष्कृत नहीं किया जाता।

सर्वखाप पंचायत की उपयोगिता और शक्तिसम्पन्नता को देखकर ही अनेक राजाओं ने समय-समय पर उनसे सैनिक सहायता चाही थी। सन् 1748 में मोहम्मदशाह ने सर्वखाप पंचायत के वजीर को एक पत्र लिखा, जिसमें यह कहा गया था कि सर्वखाप पंचायत अपनी सैनिक शक्ति से अपनी खापों में शांति स्थापित करे तथा

विद्रोहियों का भी दमन करे। इसके अतिरिक्त सदाशिव भाऊ ने भी सैनिक सहायता के लिए एक पत्र सर्वखाप पंचायत को लिखा था। पत्र की प्रतिलिपि इस प्रकार है :—

हरि हर माहादेव
हरी भगतों की जै हो

सवित्तर गंग जमना के बिचवो जाटों गुर्जरों अहीरों के नाम जाटों की 18 खापों या पालों पर कुल के पतियों और पंचायतों को मेरा नमस्कार धर्म देश जाती और हरहिन्द को इस धर्म की लड़ाई में मिलकर मेरा साथ देना हिन्दू धर्म के एक-एक बच्चे को इस समर में जो होनेवाला है समलित मोरचा लेना होगा 9 सेतावदी से बिधर्मी अपना अड्डा भारत में जमाकर शासक बने हैं ऐसा समय नहीं मिलेगा हिन्दू धर्म का सबके

**सदासिवराय भाऊ स० वि० 1896 चेत
सुदि तिज ।।**

भाऊ के इस पत्र के उत्तर में सर्वखाप पंचायत ने अट्ठाईस हजार सेना सहायता के लिए भेजने का निश्चय किया था। सर्वखाप पंचायत की कार्यप्रणाली वज्जीसंघ की कार्यप्रणाली के समान है। वज्जी संघ की कार्यप्रणाली के विषय में भगवान् बुद्ध ने आनन्द से कहा था :—

(1) हे आनन्द ! जब तक वज्जी संघ पूरी-पूरी और जल्दी-जल्दी सभायें करते हैं,

(2) जब तक ये लोग एकमत होकर मिलते हैं और एक साथ मिलकर उन्नति करते हैं और वज्जियों का कार्य एकमत होकर करते हैं,

(3) जब तक वे कोई ऐसा नियम नहीं बनाते हैं जो पहले से नहीं चला आता, जब तक वे किसी निश्चित नियम का उल्लंघन नहीं करते हैं और जब तक वे वज्जियों की प्राचीनकाल की स्थापित पुरानी संस्थाओं के अनुकूल कार्य करते हैं,

(4) जब तक वे लोग वज्जी वृद्धों की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति और सहायता करते हैं और जब तक वे उनकी बातों को सुनना अपना कर्तव्य समझते हैं,

(5) जब तक वे अपने समाज की स्त्रियों और बालिकाओं को बलप्रयोग करके अथवा भगाकर अपने पास नहीं रखते,

(6) जब तक वे वज्जि चैत्यों की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति और

सहायता करते हैं,

(7) जब तक वे अपने अर्हंतों का उचित रक्षण और पालन करते हैं तब तक उनको कोई पराजित नहीं कर सकता ।

वस्तुत: ये सारी बातें जाटों की खाप-प्रणाली पर भी पूर्णरूप से ठीक बैठती हैं । जाटों के गणतन्त्रात्मक-खाप-संघ की बैठकें भी जल्दी-जल्दी होती रहती थीं । खापों का निर्णय भी सर्वसम्मति से होता था । खापों के नियमों की अवहेलना कभी भी नहीं होती थी । परन्तु आधुनिक समय में सर्वखाप पंचायत का गठन समाप्तप्राय हो गया है । जाट खाप-प्रमुखों को अब भी प्रतिष्ठा, आदर आदि भी प्रदान करते हैं । इसी प्रकार जाट अपने समाज की स्त्रियों और बालिकाओं पर किसी भी प्रकार का असामाजिक दवाव और व्यवहार नहीं करते और न ही वे दूसरों को ऐसा करने देते हैं ।

जाट-संघ अर्थात् खापों में सदस्यता ग्रहण करने के नियम भी बड़े सरल हैं । खापों में तीन प्रकार के सदस्य होते हैं । प्रथम वे लोग होते हैं जिनकी खाप के प्रति निष्ठा हो । इस कोटि में प्रत्येक वर्ण के वे लोग आते हैं जिनकी खाप-सिद्धांत में भक्ति है । द्वितीय श्रेणी में वे नागरिक आते हैं जो उस खाप के क्षेत्र में निवास करते हैं तथा तृतीय कोटि में वे नागरिक गिने जाते हैं जो खाप के क्षेत्र से तो बाहर रहते हैं, परन्तु उनके पितामह आदि कभी खाप के क्षेत्र में रहे हैं । परन्तु शासन की दृष्टि से खाप के सभी नागरिक समान नहीं होते । खाप पंचायतों में छत्तीस जाति के सदस्य आमन्त्रित होते हैं, परन्तु बहुलता और प्राधान्य जाटों का ही रहता है । क्योंकि खाप के मुख्य घटक वे ही लोग हैं । खापों के कार्य-कलाप मौखिक रूप से ही सम्पन्न होते हैं, परन्तु उन्हें अपने निर्णयों और निश्चयों की सूचना सर्वखाप के प्रधान अधिकारी को देनी पड़ती है । सर्वखाप पंचायत का एक लेखक होता है जो कि सर्वखाप पंचायत के निर्णयों को लिखता है और साथ में घटक खापों के निर्णयों को भी लिखता है । इसी प्रकार खाप का एक खजांची भी होता है, जो कि हिसाब-किताब रखता है ।

सर्वखाप अथवा खाप पंचायतों की बैठकें बौद्धधर्म के सान्थागारों के समान चौपाल में होती हैं । जिस ग्राम की ओर से खाप पंचायत बुलाई जाती है, उसे "चिट्ठी पाडना कहते हैं ।" "चिट्ठी पाडना" में पंचायत इकट्ठी होने का स्थान दिया गया होता है । जिस ग्राम की

चौपाल में खाप पंचायत की बैठक होती है, उस ग्राम के पंच बाहर से आनेवालों का हुक्का पानी से स्वागत करते हैं। खाप पंचों के बैठने का स्थान अलग-अलग न होकर सबके बीच में होता है। पंचायत की गण-पूर्ति के लिए बार-बार नाई को सदस्यों को बुलाने के लिए भेजा जाता है। इस प्रकार नाई गणक का कार्य करता है। गण-पूर्ति होने पर प्रधान पुरुष पंचायत बुलाने के विषय और कारण को प्रस्तुत करने का आदेश देता है। दो ग्रामों के झगड़े को अथवा दो खापों के झगड़े को तटस्थ ग्राम अथवा खाप का पंच प्रस्तुत करता है। इस क्रिया को 'श्रवण' (सुनो) कहते हैं। इसके उपरांत वादी और प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष को प्रस्तुत करते हैं। इसको 'रौला' कहते हैं। वादी और प्रतिवादी के पक्ष और विपक्ष में बोलनेवाले सदस्यों की बातों को 'मता' नाम दिया जाता है। अन्त में निर्णय के लिए पंचायत के सदस्यों में से कुछ सदस्य छांट लिए जाते हैं, इन्हें 'पंच' कहते हैं। ये पंच सबके बीच से उठकर चौपाल के एकांत स्थान पर विचार-विमर्श करते हैं तो इस निर्णय को "फैसला छोड़ना" कहते हैं। इसके उपरांत वे पंच पंचायत में आकर कहते हैं कि हमने निर्णय कर लिया है, परन्तु हम अपना निर्णय उसी समय सुनायेंगे, जबकि दोनों थोक अपने-अपने अंगूठे इस बात के लिए टेक दें कि उनका फैसला सिर-माथे पर होगा। इस क्रिया को 'अंगूठा टेकना' कहते हैं।

इस प्रकार जाटों की शासन-व्यवस्था मूलरूप से हर प्रकार से गणतन्त्रात्मक है। इसी गणतन्त्रात्मक प्रणाली के आधार पर भरतपुर राज्य में 'कौमे मजलिस" का बड़ा भारी महत्त्व रहा है। परन्तु इतिहास में एक युग ऐसा भी आया, जबकि जाटों ने साम्राज्यवादी बनने की सोची। इस प्रकार के प्रयास की कहानी अगले पृष्ठों में दी जारही है। जाटों की प्रशासनिक इकाइयां जिन्हें हम खाप, डूंग अथवा पाल के नाम से जानते हैं, इतनी अधिक हैं कि इनको शिष्ट समाज का 'गणराज्य' का दर्जा नहीं दिया जा सकता। बहुसंख्यक क्षेत्रीय इकाइयों में विभाजित होने से इनको 'सामन्ती राज्य' की परिभाषा में भी नहीं बांधा जा सकता। क्योंकि इनमें एक व्यक्ति का दबदबा होकर अनेक व्यक्तियों की सामूहिक शक्ति है। अतः हम जाटों की शासन व्यवस्था को 'जनतन्त्र' की श्रेणी में रख सकते हैं।

❀o❀

चतुर्थ अध्याय

महाभारत में जाटों की उपस्थिति

किसी भी ऐसी जाति का इतिहास जो शासक के रूप में रह चुकी हो, अभिलेखों के माध्यम से निर्मित होता है। ये अभिलेख उस शासक के स्वयं के भी हो सकते हैं तथा समकालीन और पूर्वकालीन अन्य शासकों के भी, इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु हमें जाट जाति के शासकों के अभिलेख अथवा ऐसे अभिलेख जिनमें स्पष्ट रूप से 'जाट जाति' का उल्लेख हो, सातवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं मिलते। अतः इस शताब्दी से पूर्व के अभिलेखों की कमी के कारण इतिहासकार अपनी-अपनी समझ और शोध के अनुसार जाट जाति के इतिहास का काल निर्धारण करते हैं।

जिन अभिलेखों में शासक राजा की जाति का विवरण नहीं मिलता, ऐसी स्थिति में इतिहासकार अभिलेखों में उस राजा के अथवा उसके पूर्वजों के नाम के साथ लगे गोत्र से उसकी जाति निर्धारित करते हैं। इसी प्रकार का एक प्रयास गुप्त-राजाओं की जाति को ढूंढ़ने में किया गया है। इस प्रयास का ही परिणाम है कि गुप्त-राजाओं को जाट भी माना जाने लगा है। वस्तुतः भारतीय समाज में किसी भी व्यक्ति की जाति, वंश गोत्र और प्रवर के आधार पर सरलता से ढूंढ़ी जा सकती है। ये तीनों तत्त्व जाति-प्रमाण में सर्वोच्च स्थान पाते रहे हैं। इसकी पुष्टि पुराणों से भी होती है। वंश और गोत्र तो प्रायः लोगों के समझ में आ जाते हैं, परन्तु प्रवर का क्या अभिप्राय है, यह बहुत कम लोगों को पता है। अतः प्रवर को समझने के लिए हम पुराण का एक श्लोक उद्धृत करते हैं—

काकुस्थमिक्ष्वाकुरघूंश्च यद्द्धत्पुराऽभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम्।
कलावपि प्राप्य स काकराणतां प्ररूढतुर्यं प्रवरं बभूव॥

अर्थात् त्रेता युग में रामचन्द्रजी के सूर्यवंश को काकुस्थ, इक्ष्वाकु और रघु इन तीन प्रवरों से भी जाना जाता था। आगे चलकर कलियुग में काकुस्थ प्रवर को चौथे काकराणा प्रवर से भी जाना जाने लगा। उपर्युक्त श्लोक से यह अभिप्राय निकलता है कि प्रवर गोत्र का ही अन्य भेद है और प्रवर का प्रचलन वंश के किसी भी महान् पुरुष के नाम से आरम्भ हो सकता। गोत्रों अथवा प्रवरों का निर्माण व्यक्तियों

के नाम के अतिरिक्त, स्थानों, नदियों, पहाड़ों और घटनाओं के आधार पर भी होता है, ऐसे प्रमाण रामायण, महाभारत, पुराण एवं स्मृतियों में सरलता से खोजे जा सकते हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में जब हम वर्तमान में जाटों में पाए जानेवाले गोत्रों का समीकरण महाभारत में पाए जानेवाले जनों, जनपदों, व्यक्ति, स्थानों, नदियों एवं पहाड़ों से करते हैं तो हमें यह मानने के लिए विवश होना पड़ता है कि जाटों की स्थिति महाभारत काल में किसी न किसी रूप में अवश्य थी। चाहे उन्हें स्पष्ट रूप से जाट नाम न मिला हो। इस तथ्य की पुष्टि में महाभारत में पाए जाने वाले जाट गोत्रों के विषय में कुछ जानकारी यहां प्रस्तुत की जाती है।

नव : महाभारत में सहदेव द्वारा दक्षिणदिशा की विजय के सन्दर्भ में एक श्लोक इस प्रकार आया है—

नवराष्ट्र च निर्जित्य कुन्तिभोजमुपाद्रवत्।
प्रीतिपूर्वं च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम्॥

सभापर्व, अध्याय 31 श्लोक 6

अर्थात् सहदेव ने नव लोगों के प्रदेश को जीतकर राजा कुन्तिभोज पर आक्रमण किया और कुन्तिभोज ने प्रसन्नता से उसका शासन स्वीकार किया। 'मथुरा मैमायर्स' के लेखक मिस्टर ग्राउस ने लिखा है कि "नवराष्ट्र जिस पर उशीनर का तीसरा पुत्र नव राज्य करता था, वह मथुरा गुड़गावां के समीप का रहा होगा और उसकी राजधानी वही रही होगी जो अब 'नोह' कहलाती है।" इनकी मान्यता है कि 17वीं शताब्दी में भी मथुरा आगरा के अधिक भाग पर 'नव' गोत्री क्षत्रियों का ही शासन था। नवगोत्री जाटों का बुलन्द शहर में भट्टा पारसोल नामक एक गांव, गुड़गावां जिले में दो गांव, आगरा में 98 गांव और मथुरा की नूह तहसील में 98 गांव इस वंश की विशाल जनसंख्या का प्रमाण देते हैं।

सिन्धु : प्राचीन इतिहास एवं आधुनिक शोधों से यह प्रमाणित हो चुका है कि द्वापर युग में सिन्धु नामक विशाल जनपद था और इस पर इसी नाम का राजवंश ही राज्य करता था। महाभारत काल में जयद्रथ नामक राजा इस देश का स्वामी था, यह बात महाभारत के श्लोकों से इस प्रकार पुष्ट होती है—

सैन्धवस्य महाराज पुत्रो राजा जयद्रथः।
स पुत्रगृद्धिनः पार्थान् सहसैन्यानवारयत् ॥
द्रोणपर्व, अध्याय 24 श्लोक 7

अर्थात् सिन्धु नरेश के पुत्र जयद्रथ ने अपने पुत्रों को बचाने की इच्छा से कुन्तीकुमारों को सेनासहित आगे बढ़ने से रोक दिया। इसकी पुष्टि में इस पर्व के तिरानवें अध्याय का एक अन्य श्लोक भी उद्धृत किया जाता है—

ततः सैन्धवको राजा क्षुद्रस्तात जयद्रथः।
वरदानेन रुद्रस्य सर्वान् नः समवारयत् ॥

ठीक इसी समय क्षुद्र (साधारण) सिन्धु नरेश जयद्रथ ने सामने आकर शंकर के दिए हुए वरदान के प्रभाव से हम सब लोगों को रोक दिया। इसी सिन्धु नरेश जयद्रथ को अपनी बहन दुशला के वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा दुर्योधन ने अपना सहयोगी बनाया था। अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु का निर्दयतापूर्वक वध करने में भी जयद्रथ ही प्रमुख था। जयद्रथ के रथ की ध्वजा वराह चिन्हवाली थी। 'बंगला विश्वकोष' नामक पुस्तक के खण्ड सात तथा पृष्ठ 6 पर जाटों का सिन्ध से नाता जोड़ते हुए लिखा गया है कि "पूर्वे सिन्धु देश जाट गणेर प्रभुत्व थी लो-जाट रमणीगण सुन्दर और सतीत्वजन्य सर्वत्र प्रसिद्ध होईय।"

सिन्धु गोत्र जाटों में अत्यधिक संख्या में पाया जाता है। लाहौर में सिन्धुवंशी जाटों के चीम्बा, मकना, नारली, सरहाली, उकराड़ा और पधाना आदि बड़े-बड़े गांव थे। इसी प्रकार लायलपुर जिले में बुर्ज, सरहाली, खुर्द बकला, सुरजनपुर रुड़की आदि में सिन्धु जाट बहुसंख्या में रहते थे। इसके अतिरिक्त मुरादाबाद, मेरठ, रोहतक तथा हिसार में भी इस गोत्र के गांव पाए जाते हैं। महाभारत में जयद्रथ को सिन्धु के अतिरिक्त सौवीर प्रदेश का स्वामी बताते हुए लिखा है—

'सिन्धुसौवीरभर्तारं दर्पपूर्णं मनस्विनम्'

कूर्मपुराण एवं वायुपुराण में इन्हें हूणों के साथ लिखते हुए शाकलदेश (स्यालकोट) वासी बताया गया है। पाणिनि ने इनके एक जनपद का भी उल्लेख किया है जो कि झेलम और सिन्धु नदी के मध्य था। महाभारत के भीष्मपर्व के आधार पर ये महाभारत युद्ध में कौरवों की ओर से लड़े थे।

कंक : जाटों में पाया जानेवाला यह गोत्र भी महाभारतकालीन है। यज्ञ के समय युधिष्ठिर को भेंट प्रस्तुत करनेवालों में कंक लोग भी उपस्थित थे। महाभारत में—

'शकास्तुषारा: कंकाश्च रोमशा: शृंगिणो नरा:'

लिखकर इनका संकेत दिया गया है। कंक लोग बौद्धमतानुयायी होने के कारण अनार्य कहे गए थे। इन्हें नवीन हिन्दूधर्म ने किरात, हूण, और आंध्रजातियों के समान अनार्य घोषित कर दिया। पंजाब में इस गोत्र के जाटों की बहुत बड़ी संख्या है। जनगणना रिपोर्ट 1941 ई० में इनकी जनसंख्या जालन्धर में 1980, स्यालकोट में 393, फिरोजपुर में 880, लुधियाना में 329, अम्बाला में 1650 तथा पटियाला में 275 बताई गई है। कंक-गोत्री जाट अपने आप को कांग भी लिखते हैं।

तक्षक : जाटों का यह गोत्र भी महाभारतकालीन है। महाभारत में इस गोत्र का वर्णन नागवंश के भेदों के सन्दर्भ में किया है। आदिपर्व में लिखा है कि—

शेष: प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम्।
ऐरावतस्तक्षकश्च कर्कोटकधनञ्जयौ ॥

अर्थात् नागवंश में सर्वप्रथम शेष उत्पन्न हुआ और इसके अनन्तर वासुकि का राज्य स्थापित हुआ। इसके पश्चात् ऐरावत तक्षक और कर्कोटकवंश की उत्पत्ति हुई। यह एक आश्चर्य है कि जाटों में नागवंश के तक्षक गोत्र के अतिरिक्त एरावत और कर्कोटक गोत्र भी पाए जाते हैं। तक्षक लोग महाभारत में कर्णार्जुन युद्ध में कर्ण की ओर से लड़े थे। तक्षकों ने ही अर्जुनपुत्र परिक्षित का वध किया था। इस गोत्र के तद्भव गोत्र ही तांक, तक्क, तक्खर, तोकस और टोकस हैं। इस गोत्र के जिला सोनीपत में बारह गांव हैं तथा बहुत से गांव जिला भिवानी तथा महेन्द्रगढ़ में भी हैं।

एलावत : जाटों का यह गोत्र भी नागवंशी है। बहुत से विद्वान् इस गोत्र को जम्बुद्वीप के ययाति एल से जोड़ते हैं। इसी गोत्र को हरियाणा में एलाहवत अथवा अहलावत के नाम से पुकारते हैं। इस गोत्र के जिला रोहतक में डीघल आदि बारह गांव हैं। इसके साथ-साथ यह जींद तथा उत्तरप्रदेश में भी पाया जाता है।

औलूक : जाटों के इस गोत्र का वर्णन भी महाभारत में स्पष्ट रूप से पाया जाता है। अर्जुन की अनेक देशों पर विजय के सन्दर्भ में महाभारत में लिखा है—

तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान् नृपान्।
उकूलवासिनं राजन् वृहन्तमुपजग्मिवान्॥
सभापर्व, अध्याय 27-5

अर्थात् तत्पश्चात् अर्जुन ने विजित राजाओं को प्रसन्न करके उलूकवासी वृहन्त नामक राजा पर आक्रमण किया। इसके बाद अर्जुन ने उलूक देश को जीतने के साथ मोदापुर और वामदेव आदि देशों को जीता। संस्कृत व्याकरण के 'भक्ति' सूत्र के आधार पर उलूक देश विशेष में भक्ति होने के कारण अण्प्रत्यय करने पर औलूक शब्द का निर्माण सरलता से हो जाता है। जनगणना रिपोर्ट 1941 के अनुसार औलूक गोत्र की जनसंख्या लाहौर में 1251, अमृतसर में 6542, स्यालकोट में 332, गुरदासपुर में 1028, गुजरानवाला में 561, नाभा में 1100, पटियाला में 2742, मलेरकोटला में 669, लुधियाना में 792 तथा फिरोजपुर में 1540 थी।

मौर्य : जाटों में यह गोत्र 'मोर' नाम से पाया जाता है। महाभारत काल में मौर्य-गोत्री लोगों को नकुल ने पश्चिम दिशा की विजय के संदर्भ में जीता था। सभापर्व में नकुल की विजय का वर्णन करते हुए लिखा है—

तत्र युद्धं महच्चासीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः।
मरुभूमिं च कार्त्स्न्येन तथैव बहुधान्यकम्॥

अर्थात् नकुल का मत्तमयूरक नामवाले शूरवीरों से बड़ा भारी युद्ध हुआ। इन लोगों को जीतने के बाद नकुल ने सम्पूर्ण मरुभूमि और बहुधान्यक प्रदेश को जीता। मौर्य (मयूरक) जाटों की आबादी जिला हिसार में बास, पटियाला में मोरवाला, करनाल में मांढ़ी, कुचलाना, रोहतक में बरौदा, जींद में लुदाना, आगरा में कचौरा उन्देरा, बिजनौर में शादीपुर आदि गांवों में है।

वाटधान : जाटों में पाए जानेवाले इस गोत्र का नाम भी महाभारत-काल में पाया जाता है। महाभारत के द्रोणपर्व के ग्यारहवें अध्याय में धृतराष्ट्र श्रीकृष्ण की विजयों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

काम्बोजान् वाटधानांश्च चोलान् पाण्ड्यांश्च संजय ।
त्रिगर्तान् मालवांश्चैव दरदांश्च सुदुर्जयान् ॥

अर्थात् हे संजय ! श्रीकृष्ण ने कम्बोज, वाटधान, चोल, पाण्ड्य, त्रिगर्त, मालव और अत्यन्त दुर्जय दरद आदि देशों के योद्धाओं को जीत लिया था ।

वाटधानों का अन्य वर्णन महाभारत के सभापर्व में नकुल-विजय के प्रसंग में करते हुए लिखा है—

तान् दशार्णान् स जित्वा प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः ।
शिवींस्त्रिगर्तानम्बष्ठान् मालवान् पंचकर्पटान् ॥
तथा माध्यमिकांश्चैव वाटधानान् द्विजानथ ।

अर्थात् नकुल ने दशार्ण देश पर विजय प्राप्त करके शिवी, त्रिगत, अम्बष्ठ, मालव, पंचकर्पट और माध्यमिक देशों की ओर प्रस्थान किया और उन सबको जीतकर वाटधान देशवासी क्षत्रियों को भी हराया ।

महाभारत के उपर्युक्त दोनों वर्णन यह सिद्ध करते हैं कि जाटों का वाटधान गोत्र बहुत ही शक्तिशाली था जिसको क्रमशः श्रीकृष्ण और नकुल दोनों ही को जीतना पड़ा । भीमसिंह दहिया के अनुसार वाटधान गोत्री जाट सिखों ने रसूलपुर नामक रियासत की स्थापना की थी ।

शिवी : जाटों का यह गोत्र अत्यधिक प्राचीन है । महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने स्वयंवर की रीति से शिवी-नरेश गोवासन की कन्या देविका से विवाह किया था । परन्तु गोवासन की मित्रता बहुत पहले से दुर्योधन के साथ थी । इसी मित्रता को निभाने के लिए गोवासन दुर्योधन की ओर से महाभारत के युद्ध में सम्मिलित हुआ था । इसकी पुष्टि इस प्रकार होती है—

शैव्यो गोवासनो राजा योधैर्दशशतावरैः ।
काश्यस्याभिभुवः पुत्रं पराक्रान्तमवारयत् ॥

अर्थात् जब कौरव पक्ष की ओर से द्रोण और पाण्डव पक्ष की ओर से धृष्टद्युम्न का भीषण संग्राम चल रहा था तो कौरवों का पक्ष लेकर शिवी-देशीय राजा गोवासन ने कम से कम एक हजार योद्धा साथ लेकर काशिराज अभिभू के पराक्रमी पुत्र का सामना किया । महाभारत के ही (द्रोणपर्व में) अन्य दो स्थानों से यह सिद्ध होता है कि शिवी लोग दुर्योधन को आगे करके तथा कर्ण के पृष्ठभाग में रहकर युद्ध करने के लिए चले थे । द्रोणपर्व के दोनों उद्धरण यहां प्रस्तुत किये जाते हैं—

मद्रास्त्रिगर्ताः साम्बष्ठाः प्रतीच्योदिच्यमालवाः ।
शिवयः शूरसेनाश्च शूद्राश्च मलदैः सह ।।
ततो विराटद्रुपदौ कैकया सात्यकिः शिविः ।
व्याघ्रदत्तश्च पांचाल्यः सिंहसेनश्च वीर्यवान् ।।

इस गोत्र का वर्णन महर्षि पतंजलि ने भी किया और बौद्धकाल में भी इनकी स्थिति अच्छी थी। वर्तमानकाल में शोध एवं खुदाई करने पर चित्तौड़ से कुछ सिक्के मिले हैं, जिन पर मज्झिमकाय शिविजनपदस लिखा है। इसी के आधार पर इतिहासकार यह मानते हैं कि शिवी लोगों ने प्राचीनकाल में 'मध्यमिका' नाम की नगरी बसाई थी। इस गोत्र के लोग पंजाब तथा हरियाणा में पाए जाते हैं।

खासा : हरियाणा के जाटों में पाया जानेवाला यह गोत्र भी महाभारतकालीन प्रतीत होता है। महाभारत में स्थान-स्थान पर खस लोगों का वर्णन आता है। महाभारत के सभापर्व में कहा गया है—

खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः ।
पारदाश्चकुलिन्दाश्च तंगणाः परतंगणाः ।।

उपर्युक्त श्लोक दुर्योधन ने उस समय कहा है जबकि वह विभिन्न लोगों द्वारा युधिष्ठिर को दी गई भेंटों का वर्णन करता है। इस समय खासा गोत्र के जाट जिला रोहतक के बरौदा तथा खानपुर खुर्द में पाये जाते हैं।

लोहान : लोहान गोत्र भी महाभारत के समय में विद्यमान था। इस गोत्र का वर्णन परमकम्बोज तथा ऋषिकों के साथ किया गया है। सभापर्व में कहा गया है—

लोहान् परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
संहितांस्तान् महाराज व्यजयत् पाकशासनिः ।।

अर्थात् अर्जुन ने लोहानों, परमकाम्बोजों ऋषिक और उत्तरदेशों को एक साथ जीत लिया। हरियाणा तथा उत्तरप्रदेश में इस गोत्र के अनेक गांव विद्यमान हैं। चचनामा में इस गोत्र के विषय में बड़े विस्तार से लिखा है। सिंध प्रांत में इनके नाम का 'लोहान' प्रदेश भी था।

तंगल : जाटों का यह गोत्र महाभारत में तंगण नाम से पाया जाता है। महाभारत में अर्जुन-विजय-प्रसंग में कहा गया है—

खशाञ्झषांश्च नद्योतान् प्रघसान् दीर्घवेणिकान् ।
पशुपांश्च कुलिन्दांश्च तंगणान् परतंगणान् ।।
सभापर्व, अध्याय 28, श्लोक 39

अर्थात् अर्जुन ने जो लोग कीचक तथा वेणु-नामक बांसों की रमणीय छाया का आश्रय लेकर रहते हैं, उन खश, झष, नद्योत, प्रघस, दीर्घवेणिक, पशुप, कुलिन्द तंगण और परतंगण आदि जातियों को जीता ।

इस प्रकार हमने महाभारत के अध्ययन से यह जानने का प्रयास किया है कि जाटों की महाभारतकाल में विद्यमानता थी । परन्तु जाटों की यह विद्यमानता जाट जाति के रूप में न होकर विभिन्न गोत्रों के रूप में पाई जाती है । वस्तुतः यह विषय अपने आप में एक स्वतन्त्र शोध की अपेक्षा रखता है । गोत्रों के आधार पर ही हम आगे के मौर्यों गुप्तों एवं वर्धनों को जाट मानकर इनका संक्षिप्त वर्णन करेंगे ।

❀o❀

पञ्चम अध्याय

जाटों की ऐतिहासिक चर्चा (प्राचीन राजवंश)
(300 ई० पूर्व से 650 ई० तक)

मौर्य:-

जाटों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक चर्चा कुछ लेखकों के अनुसार महाभारत से आरम्भ हो जाती है । परन्तु यह सत्य है कि महाभारत में जाट नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है । हाँ जाटों में पाए जानेवाले अनेक गोत्रों के नाम महाभारत में अवश्य पाये जाते हैं । इस धारणा के विपरीत कुछ इतिहासकार यह मानकर चलते हैं कि जाट जाति का वास्तविक इतिहास मौर्यकाल से ही आरम्भ होता है । इसप्रकार के विचार रखनेवालों में भीमसिंह[1] का नाम प्रमुख है । इन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है कि मौर्य राजाओं के नाम के आगे मौर्य शब्द मोर पक्षी के कारण अथवा मुरा नामक दासी से उत्पन्न होने के कारण नहीं लगता, अपितु यह शब्द तो 'मोर' कबीले के नाम पर पड़ा है और इस कबीले के सही उत्तराधिकारी जाट हैं । जाटों में मोर गोत्र पाया जाता है । इनके विचार से मोर नाम भारतीय न होकर मध्य एशिया का है, जिसका अर्थ है शीर्ष अथवा मुकुट । मोर शब्द विवाह के समय पहने जानेवाले 'मोड़' नाम से पुकारा जाता है । इनकी विचारधारा में मोर शब्द को संस्कृत में 'मोद' (आनन्द) से जोड़ना भी उचित नहीं है । इनकी दृष्टि में मौर्यों का शाक्यों से तथा मगध से कोई सम्बन्ध नहीं है, इस कबीले का स्थान तो उत्तर-पश्चिमी प्रदेश है । अत: इनकी खोज पश्चिमी पंजाब, गन्धार और कश्मीर में की जानी चाहिए ।

उपर्युक्त विचार पढ़ने में बड़े आकर्षक प्रतीत होते हैं । ये किसी भी जाट को रोमांचित भी कर सकते हैं, परन्तु इन विचारों की प्रामाणिकता में सन्देह बना ही रहेगा । क्योंकि इतिहासकार मौर्यों का स्थान मगध निश्चित करते हैं । इससे आगे भीमसिंह ईसा की प्रथम शताब्दी से आरम्भ करके शकों, हूणों और कुषाणों तक को जाट मानते हैं और ये मध्य एशिया से भारत में आए ऐसा कहते हैं ।

---

1. भीमसिंह, दी जाट्स, पृ० 139-43

देशराज[1] शकों, हूणों और कुषाणों को आर्य मानते हैं तथा कहते हैं कि "जाट बाहर से आए हुए लोगों के स्टाक (समूह) नहीं हैं । ये जातियां ही भारतीय जाटों के विदेश में गए हुए स्टाक (समूह) में से हैं । भारत से बाहर जाटों के जाने का भी ऐतिहासिक विवरण मिलता है । बृज से द्वारिका और द्वारिका से जदु का डूंग और जदु का डुंग से गजनी, कन्धार फिर ईरान में जहां कि जाकर उन्होंने जाबाली प्रदेश बसाया था क्रमागत वर्णन मिलते हैं ।" टाड[2] के मतानुसार कनिघम की धारणा है कि बयाना और भरतपुर के हिन्दूजाटों की परम्परा कन्धार को अपना पैतृकस्थान मानती है, जबकि मुसलमान जाट प्राय: गजनी अथवा गढ़गजनी बतलाते हैं । इसप्रकार भारतीय इतिहास में शकों, हूणों और कुषाणों के आगमन से एक नया जातीय समीकरण उत्पन्न होता है, जिसकी गुत्थियां पूर्णरूप से अभी तक सुलझने में नहीं आ रही हैं ।

गुप्त :-

चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक के उपरान्त भारतीय राजाओं में गुप्तों का स्थान महत्त्वपूर्ण है । गुप्तों के युग को स्वर्णिम युग नाम से भी इतिहास में पुकारा जाता है । भारत के स्वर्ण युग के निर्माता गुप्तों की जाति के विषय में भी भारतीय इतिहास में अनेक मत पाए जाते हैं । इन्हें कई इतिहासकार वैश्य, तो कुछ जाट तथा अन्य शूद्र तक कहते हैं । गुप्तराजाओं के जाट होने के प्रमाण देते हुए काशीप्रसाद जायसवाल कहते हैं कि गुप्तराजा जाट थे । इसके अतिरिक्त चन्द्रगोमी व्याकरण के आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि गुप्त लोग जाट थे । इस व्याकरण में लिखा है कि "अजयज्जर्टो हूणान्" अर्थात् जाटों ने हूणों को जीता था ।

इन्हीं विचारों की पुष्टि दशरथ शर्मा ने भी की है । 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' नामक पुस्तक के अनुसार भी यह प्रमाणित होता है कि गुप्त सम्राट् जाट थे । इस पुस्तक में लिखा है कि "देश में निश्चय से ही एक बड़ा राजा…बहुत बड़ा राजा होगा जो मथुरा के जाट परिवार से सम्बन्धित होगा और वैशाली स्त्री से जन्म लेगा ।"

1. देशराज, जाट इतिहास, पृ० 99
2. टाड, राजस्थान प्रथम खण्ड, पृ० 52

समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त प्रथम ने वैशाली के लिच्छविवंश की राजकुमारी से विवाह किया था और उसी की सन्तान समुद्रगुप्त था। अतः मंजुश्रीमूलकल्प का सकेत स्पष्ट रूप से समुद्रगुप्त से है। जिस समय समुद्रगुप्त गद्दी पर बैठा, उस समय भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। इनमें से कुछ राजतन्त्र और गणतन्त्र राज्य थे। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति यह बताती है कि उसने उत्तर के नौ राजाओं और दक्षिण के ग्यारह राजाओं पर विजय प्राप्त की थी। इस प्रकार समुद्रगुप्त की विजयों से पश्चिमी मालवा तथा काठियावाड़ के शक-राजा और पश्चिमी पजाब तथा अफगानिस्तान के कुषाण राजा भयभीत होगये थे। उन्होंने अनेक प्रकार से समुद्रगुप्त को प्रसन्न किया। समुद्रगुप्त के लंका के साथ भी अच्छे सम्बन्ध थे। लंका के राजा मेघवर्ण ने बौद्धगया में एक मठ बनवाने के विए समुद्रगुप्त से आज्ञा मांगी और इस हेतु बड़ी भारी भेंट भेजी। अन्त में अपनी विजयों के उपलक्ष्य में समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि समुद्रगुप्त एक विजयी जाट योद्धा था। उसकी नस-नस नई-नई विजयों के लिए फड़कती रहती थी और उसके शरीर पर प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार सैंकड़ों घाव थे। वह युद्ध में सदा मुस्कराया और विजयश्री ने अपनी भुजायें उसके गले में डाल रखी थीं। धन्य है ऐसे वीर जाट सम्राट् को, जिसका यश दिग्-दिगन्त में गूंजा। यह जाटों का नेपोलियन था।

इसी जाटवंश का अन्य प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय था। इस राजा ने अपने राज्य को सर्वप्रथम वैवाहिक सम्बन्धों के माध्यम से सुदृढ़ किया। जिस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने सैल्युकस निकेटर की पुत्री से विवाह करके अपनी शक्ति को उत्तर-पश्चिम भारत में मजबूत किया था, इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने नागराज की पुत्री कुबेरनागा से विवाह करके उत्तरी और मध्य-भारत में अपनी शक्ति को दृढ़ कर लिया। इसके बाद उसने अपनी बड़ी लड़की प्रभावती का दक्षिण के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से विवाह करके अपनी शक्ति को मजबूत कर लिया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विदेशी राज्य को भारत से समाप्त करना चाहता था। अतः वैवाहिक सम्बन्धों से अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के उपरांत उसने गुजरात, काठियावाड़ और मालवा पर आक्रमण किया।

इसके अतिरिक्त इस राजा ने पूर्वी बंगाल की विजय भी की थी। चन्द्र-गुप्त ने ही स्त्री-वेश धारण करके शकों के राजा को मारा था, इसका विवरण पहले दिया जा चुका है। इस राजा की महरौली प्रशस्ति अत्यधिक प्रसिद्ध है।

जाट राजा स्कन्दगुप्त के शासनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना हूणों की पराजय है। भीतरी (भिटारी) स्तम्भ लेख से हूण आक्रमण के विषय में निम्नलिखित विवरण प्राप्त होता है। जिस (स्कन्दगुप्त) ने अपने पिता की मृत्यु के बाद अपनी भुजाओं के पराक्रम से शत्रुओं को परास्त कर दिया और अपने वंश के ग्रस्त भाग्य को पुन: प्रतिष्ठित किया और फिर विजय प्राप्त करली। चिल्लाते हुए अपनी मां के पास गया, जिसकी आंखें प्रसन्नता के आंसुओं से भरी हुई थीं। वह उसी प्रकार अपनी मां के पास गया, जिस प्रकार कृष्ण अपने शत्रुओं को परास्त करके अपनी मां देवकी के पास गया था।" इससे आगे कहा गया है कि "जिसने हूणों के साथ घमासान युद्ध करके भंवर में फंसी पृथ्वी को अपनी भुजाओं से कम्पित कर दिया। स्कन्दगुप्त के बाद जाट राजाओं का चढ़ता सूर्य ढलने लगा। इतिहासकारों ने गुप्त-राजाओं को जाट लिखकर यह अनुभव करा दिया है कि जाट वस्तुत: अमर विजेता रहे हैं। परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि अब भी गुप्तों की जाति के विषय में एक विचार नहीं बना है। इसका कारण कुछ भी हो, परन्तु इतना अवश्य अनुमान लगाया जा सकता है कि इतिहासकार जाटों को इतना बड़ा श्रेय नहीं देना चाहते कि वे ही भारतीय इतिहास के 'स्वर्ण युग' के निर्माता थे। स्कन्दगुप्त के सन्दर्भ में निहालसिंह सर्वखाप पंचायत की पोथी का आधार लेकर कहते हैं कि बलभीपुर के संस्थापक भटाक ने स्कन्दगुप्त की प्रार्थना पर 512 वि० में खानपुर में चौधरी रामदास की अध्यक्षता में हुई सभा के निर्णय से दो लाख पंचायती सेना का सेनापति बनकर आक्रांता हूणों को परास्त किया था।[1] निहालसिंह द्वारा उद्धृत सर्वखाप पंचायत की बात किसी भी ऐतिहासिक प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। अत: इसे सत्य नहीं माना जा सकता। यह सामान्य लोगों के लिए अवश्य चमत्कारपूर्ण बात हो सकती है। परन्तु ऐसी बात विवेकशील इतिहास-समीक्षकों के गले नहीं उतरती।

गुप्त राजाओं के बाद जाट-राजाओं को गिनती में यशोधर्मा

1. सर्वहितकारी साप्ताहिक 14 जनवरी 1981, रोहतक

का नाम आता है । कुछ इतिहासकार इस राजा की जाति वैश्य मानते हैं । उनकी यह धारणा इसलिए बनी कि एक तो यशोधर्मा उत्तम खेती करनेवाला था तथा दूसरे उसके पिता विष्णुवर्धन के नाम के आगे वर्धन शब्द लगता था । परन्तु वैश्य होने को मान्यतावाला सिद्धांत अन्य इतिहासकारों के विचार से ठीक नहीं है । देशराज[1] योगेन्द्रपाल तथा भीमसिंह यशोधर्मा को 'वरिक' गोत्री जाट मानते हैं । महाभारतकाल में वरिकवंशी राजा वरिकवर्धन के अधीन आरान, कास्तीर, दासरूप (मन्दसौर), शाकल (स्यालकोट), सौसुक, पातानप्रस्थ (पानीपत), नान्दिपुर, कौक्कुण्डी, मौला, देवदत्त, कर्कर और वरिकगढ़ आदि बारह दुर्ग थे । ये सब पांडवों की ओर से लड़े थे । चिन्तामणि विनायक वैद्य[2] भी यशोधर्मा को जाट बताते हुए लिखते हैं कि "जाटों ने हूणों का सामना किया और उनको परास्त किया । अत: वे पंजाब के निवासी ही होंगे और धावा करनेवाले और घुसपैठिये नहीं । क्या उपर्युक्त वाक्य यह प्रमाणित करता है कि मन्दसौर के शिला-लेखवाला यशोधर्मा, जिसने कि लगातार हूणों को परास्त किया था जाट था ? वह जाट होगा, क्योंकि यह मालूम हो चुका है कि जाट मालवा मध्यभारत में सिंध की भांति पहुंच चुके थे ।"

इस राजा से सम्बन्धित एक अभिलेख मन्दसौर (मध्यप्रदेश) से मिला है । जिसमें लिखा है कि इस राजा की सत्ता उत्तर में हिमालय तक, दक्षिण में महेन्द्रपर्वत (गंजाम जिला) तक, पूर्व में ब्रह्मपुत्र और पश्चिम में समुद्र तक थी । इसमें यह भी कहा गया है कि "यशोधर्मा ने उन प्रदेशों को भी जीता, जिनको हूण तथा गुप्तसम्राट् भी नहीं जीत सके । उसके पैरों की पूजा हूण-शासक मिहिरकुल ने भी की, जिसने पहले किसी के सामने सिर नहीं झुकाया था ।" इस राजा के उदय के विषय में कहा जा सकता है कि छठी शताब्दी के आरम्भ में हूण और वाकाटकों के आक्रमण के कारण मालवा में बडी अव्यवस्था मची हुई थी तथा वहां पर गुप्त-सम्राटों का प्रभाव बिल्कुल क्षीण होगया था । इस परिस्थिति का लाभ उठाकर यशोधर्मा ने विद्रोह करके अपने आपको स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया ।

---

1. देशराज जाट इतिहास, पृ० 73
   योगेन्द्रपाल, क्षत्रिय जातियों का उत्थान और पतन, पृ० 77
   भीमसिंह, दी जाट्स पृ० 203
2. चिन्तामणि विनायक वैद्य, हिस्ट्री आफ मिडीवल हिन्दू इण्डिया, पृ० 87

वर्धनवंश

जाट राजाओं के सन्दर्भ में थानेसर (हरियाणा) के वर्धनवंश का नाम भी लिया जाता है। इस वंश को चीनी यात्री ह्वेनत्सांग 'वैस' लिखता है। इसी को आधार मानकर अन्य इतिहासकार भी थानेसर के वर्धनवश को वैश्य मानने लगे हैं। परन्तु जाट इतिहास लेखक[1] इस वंश का जाट मानते हैं। भीमसिंह[2] थानेसर के वर्धनवंश को मन्दसौर के यशोधर्मा वरिक से जोड़ते हुए यह कहते हैं कि थानेसर के वर्धन वरिक गोत्र के जाट थे। परन्तु दूसरी ओर योगेन्द्रपाल कहते हैं कि थानेसर का वर्धनवंश जाटों के 'वैस' गोत्र से सम्बन्धित है और ये पंजाब के रहनेवाले थे। कनिंघम तथा कारलाईल भी थानेसर के वर्धनों को 'वैस' गोत्री कहते हैं। इन दोनों मतों में से योगेन्द्रपाल का मत उचित प्रतीत होता है। वस्तुतः वैस गोत्र महाभारतकालीन वसाति कबीले का अपभ्रंश है। महाभारत में वसाति कबीले के सम्बन्ध में तीन उद्धरण आते हैं। एक उद्धरण में कहा गया है 'पार्वतीया वसातयः' तथा दूसरे में कहा गया है 'शिवयोथ वसातयः' तथा तीसरे में लिखा है कि 'वाल्हिकांश्च वसातिकान्'। इन तीनों सन्दर्भों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि वसाति कबीला पंजाब का निवासी था। हमें तत्कालीन सामाजिक स्थिति को देखते हुए यह भी कहना है कि थानेसर का वर्धन वंश वैश्य न होकर जाट (क्षत्रिय) था। क्योंकि पांचवीं तथा छठी शताब्दी में भारतीय समाज में जाति-बन्धन शनैः-शनैः दृढ़ होते जारहे थे। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि एक वैश्य राजा की लड़की राज्यश्री (हर्ष की बहन) मौखरीवंशी क्षत्रिय राजा गृहवर्मा से विवाहित हो।

वैस (वसाति) गोत्र के लोग श्रीमालपुर जिला होशियारपुर (पंजाब) में बसे हुए हैं। इन्हीं जाटों का कोई पूर्वज सम्भवतः पुष्पभूति कुछ साथियों को लेकर कुरुक्षेत्र आया तथा इस प्रदेश को जीतकर थानेसर को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश के राजा आदित्यवर्धन का विवाह गुप्तवंश की स्त्री महासेन गुप्ता से हुआ। इस प्रकार पंजाब का धारण वंश और थानेसर का वर्धन वश परस्पर सम्बन्धी होगए। गुप्तों के धारणवंशी होने के विषय में पहले लिखा जा चुका है। इससे यही प्रतीत होता है कि थानेसर का वर्धनवंश जाट था।

---

1. योगेन्द्रपाल, क्षत्रिय जातियों का उत्थान और पतन, पृ० 79-80
2. भीमसिंह, दी जाट्स, पृ० 209-211

प्रभाकरवर्धन नामक थानेसर नरेश महासेन गुप्ता का बेटा था। गुप्तकुल में ननिहाल होने के कारण प्रभाकरवर्धन की महत्त्वाकांक्षायें अत्यन्त बलवती होगईं। इसमें ऐसा भी हो सकता है कि प्रभाकरवर्धन को अपनी माता महासेन गुप्ता द्वारा राज्य विस्तार एवं यश उपार्जन करने का प्रोत्साहन मिला हो। चाहे कारण कुछ भी रहे हों, पर वास्तविकता यह है कि प्रभाकरवर्धन के शौर्य का डंका सिन्ध, गुजरात, गान्धार, लाट, हूणप्रदेश और मालवा तक बजता रहा। इस तथ्य की पुष्टि वाण कवि द्वारा रचित हर्षचरित से इस प्रकार होती है—"वह (प्रभाकरवर्धन) हूणरूपी हिरण के लिए सिंह के समान था, सिन्धुराज के लिए दुःख देनेवाले बुखार के समान था। वह गुर्जरों की नींद को नष्ट करनेवाला था, गन्धार के राजारूपी हाथी के लिए हाथी के बुखार के समान था। वह लाटों की चतुराई को चुरानेवाला था। वह मालव देश रूपी बेल के लिए कुल्हाड़े के समान था।"

इस प्रकार के शक्तिसम्पन्न जाट राजा का उत्तराधिकारी उसका बेटा राज्यवर्धन बना। परन्तु इसे दुर्भाग्य ही कहिए कि उसके गद्दी पर बैठते ही उसे दो-दो आपत्तियों का सामना करना पड़ा। वह अपने पिता की मृत्यु तथा माता के सती होने के दुःख से उबरा ही नहीं था, उसे सूचना मिली कि उसके बहनोई मौखरि सम्राट् गृहवर्मा को मालवा के राजा ने मार दिया है तथा उसकी बहन राज्यश्री को कैद कर लिया गया है। राज्यवर्धन ने एक बड़ी सेना लेकर देवगुप्त पर आक्रमण किया और उसको हरा दिया, किन्तु स्वयं एक षड्यंत्र का शिकार होकर शशांक (बंगाल के राजा) द्वारा मारा गया।

बड़े भाई की मृत्यु के उपरान्त हर्ष बड़ी आनाकानी के बाद सिंहासन पर बैठा। हर्ष ने सिंहासन पर बैठते ही बंगाल के राजा शशांक से बदला लेने की प्रतिज्ञा की। वह सबसे पहले कन्नौज की तरफ अपनी बहन को कैद से छुड़ाने के लिए बढ़ा। जब वह कन्नौज पहुंचा तो उसे मालूम हुआ कि राज्यश्री कैद से निकलकर विन्ध्य के वनों में प्रविष्ट हो गई है। सम्राट् हर्ष तुरन्त विन्ध्य के वनों में गए और बहन की खोज की।

इसके बाद कन्नौज के सरदारों एवं अपनी बहन राज्यश्री के

कहने पर हर्ष ने थानेसर के अपने पैतृक राज्य के अतिरिक्त कन्नौज राज्य का शासनभार भी सम्भाला। हर्ष को इतिहास में सम्राट् के नाम से जाना जाता है। कहा जाता है कि इस सम्राट् ने पंजाब, मिथिला, उड़ीसा, मगध, मालवा, सिन्ध, कच्छ और सूरत आदि की विजय की है। इसके अतिरिक्त हर्षचरित के आधार पर यह भी माना जाता है कि इसने पर्वतीय प्रदेशों को भी जीता था।

हर्ष की धार्मिक सभा तथा दानमहोत्सव धार्मिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। जाटों के सम्बन्ध में हम पहले यह लिख चुके हैं कि उनका झुकाव बुद्ध धर्म की ओर था और नवीन हिन्दू धर्म की मान्यताओं को समाज के हित में नहीं मानते थे। अतः ब्राह्मण सदा इस प्रयत्न में रहते थे कि इनका अहित होता रहे। इस अहित की घटना हर्ष के स्वयं के प्राणों के सम्बन्ध में भी घटी। ह्वेनसांग के महायान सम्बन्धी तर्कों से प्रभावित होकर हर्ष ने कन्नौज में अनेक धर्मों के अनुयायियों की एक सभा बुलाई। इसमें ह्वेनसांग की विजय हुई। परन्तु इस विजय से ब्राह्मण इतने तिलमिला गए कि उन्होंने सम्राट् की हत्या का षड्यन्त्र रचा। इस षड्यन्त्र को ह्वेनसांग ने अपनी पुस्तक सी-यू-की में इस प्रकार लिखा है—कि सम्मेलन के अन्तिम दिन चैत्य (मन्दिर) में आग लग गई। आग तुरन्त बुझा दी गई। इसके बाद सम्राट् हर्ष अन्य राजाओं के साथ अग्निकाण्ड का दृश्य देखने स्वयं चैत्य के ऊपर गए। जब सम्राट् सीढ़ियों से नीचे उतर रहे थे, तो उस समय एक ब्राह्मण ने उन पर अचानक चाकू से हमला किया। हर्ष ने फुर्ती दिखाकर उसे पकड़ लिया। इसके बाद हर्ष ने उससे इस अपराध करने का कारण पूछा। उसने उत्तर दिया कि मुझको ब्राह्मणों ने आपकी हत्या करने के लिए नियुक्त किया था। उसने यह भी बताया कि ब्राह्मण षड्यन्त्रकारियों के जलते हुए तीरों से ही चैत्य को आग लगी थी। सम्राट् हर्ष गंगा और यमुना नदी के तटों पर अथवा संगम पर प्रत्येक पांच वर्ष के बाद दानमहोत्सव का आयोजन करता था। इसमें हर्ष पांच वर्ष में संग्रहीत निजी सम्पत्ति का सर्वस्व दान कर देता था। इस प्रकार के एक दानमहोत्सव का वर्णन ऐतिहासिक ग्रन्थों में मिलता है जो कि प्रयाग में हुआ था। इस उत्सव में जैन, बौद्ध और ब्राह्मणों तथा अन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों को बहुत अधिक दान दिया गया था। कहा जाता है कि दान देने के बाद हर्ष के पास कुछ नहीं

रहा तो उसनें अपनी बहन से पुराने वस्त्र मांगकर पहनें। ह्वेनसांग ने दानी हर्ष की तुलना सुदत्त (अनाथपिण्डक) से की है जिसने महात्मा बुद्ध को ठहराने के लिए करोड़ों रुपये खर्च करके जेतवन श्रावस्तीनगर (उत्तर प्रदेश) में खरीदा था। इस प्रकार जातीय इतिहास लेखकों की मान्यता के अनुसार ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व से लेकर ईसा की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भारत की भूमि पर जाटों का बोलबाला रहा और उन्होंने विदेशी आक्रान्ताओं के दांत खट्टे किए।

❀o❀

षष्ठ अध्याय

जाटों की स्थिति (सन् 650 से 1525) तक

जाट और मेड़ :—

महाराजा हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त भारत की राजनीति अस्त-व्यस्त होकर केन्द्रीय धुरी के अभाव में बिखर गई। इस स्थिति में नए सामन्तों एवं नए-नए रजवाड़ों का प्रादुर्भाव हुआ। हम यहां अन्यजातीय सामन्तों और रजवाड़ों का विवरण छोड़कर मात्र जाटों की स्थिति के विषय में जानकारी देना चाहते हैं। हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त जाटों का क्या योगदान रहा, उनकी स्थिति कैसी थी? इस सम्बन्ध में हमारे पास नगण्य ही जानकारी है। हाँ सातवीं शताब्दी से पूर्व संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की पुस्तकों में इस जाति के सम्बन्धित कुछ वर्णन अवश्य मिलते हैं। पांचवीं शताब्दी में जाट पश्चिमी सीमाओं पर निवास करते थे और इन्होंने हूणों को करारी हार दी। सातवीं शताब्दी में ह्यून सांग ने सिन्धु नदी के किनारे पर रहनेवाले लोगों का वर्णन करते हुए लिखा है "कि सिन्धु के साथ-साथ कुछ हजार 'ली' (मील) की दूरी पर नीची भूमि है और यहाँ पर कुछ लोग बसे हुए हैं। ये लोग पशुपालन का कार्य करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। इनका कोई राजा नहीं है। न वे गरीब हैं और न ही अमीर। वे अपने आपको बुद्ध धर्म का उपासक मानते है।"[1] ह्यून सांग ने इन लोगों की जाति के विषय में कुछ नहीं लिखा कि ये कौनसी जाति से सम्बन्धित थे। लगभग बिल्कुल यही विचार 'चचनामा' में प्रकट किए गए हैं। लेकिन इस पुस्तक में इन लोगों को जाट नाम दिया गया है। इस पुस्तक में इन्हें सिन्धु नदी के दोनों किनारों पर आबाद बताते हुए, 'इन्हें पश्चिमी और पूर्वी जाट कहा है।[2] इससे प्रतीत होता है कि ह्यून सांग का वर्णन भी जाटों से सम्बन्ध रखता है।'[3]

इसके अतिरिक्त 'मुजमलुत तवारिख' से पता चलता है कि सिन्ध

---

(1) बील, बुद्धिस्ट रिकार्ड आफ वेस्ट्रन वर्ल्ड, खण्ड दो, पृ० 273

(2) चचनामा सम्पादित दोदपोट पृ० 47, 214, 215

(3) इलियट एण्ड डाउसन, भारत का इतिहास, प्रथम भाग पृ० 71-72

नदी के आस-पास जाटों का निवास था। इस पुस्तक में जाटों के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा गया है कि जाट और मेड़ हम (हेम) के वंशज थे। ये लोग सिन्ध में बहर नामक नदी के तटों पर बसे हुए थे। अरब लोग हिन्दुओं को जाट कहा करते थे। मेड़ों ने अपने भाई जाटों को दबाकर बड़ा दुःख दिया। विवश होकर जाटों ने पहन नदी के दूसरे तट पर शरण ली।

जाट लोग नाव चलाया करते थे। अतः वे नदी पार करके अपने भाइयों मेड़ों पर जो अब शत्रु बन गए थे आक्रमण करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि मेड़, जाटों के बार-बार आक्रमण करने से निर्बल हो गए। इलियट एण्ड डाउसन के अनुसार मेड़ों की यह दुर्दशा देखकर एक जाट मुखिया ने अपनी जाति के लोगों को समझाया कि विजय सदा नहीं रहती है। एक समय था जब मेड़ लोग जाटों पर आक्रमण करके उन्हें सताया करते थे। अब जाटों की बारी आई, तो उन्होंने मेड़ों के साथ वैसा ही व्यवहार किया। उसने दोनों जातियों के मन में यह बात बैठा दी कि शान्तिपूर्वक मिल-जुलकर रहने में ही भलाई है। फिर उसने जाटों और मेड़ों को सलाह दी दहरात (धृतराष्ट्र) के पुत्र दजुशन (दुर्योधन) के पास कुछ मुखियों को भेजकर प्रार्थना की जाए कि एक राजा नियुक्त करदे, जिसकी सत्ता को दोनों जातियाँ मानेंगी। यह सलाह मान ली गई और बातचीत के पश्चात् इस निश्चय के अनुसार राजा दजुशन ने अपनी बहन दस्साल (दुःशला) को जो शक्तिशाली राजा जन्दरात (जयद्रथ) की रानी थी, जाटों और मेड़ों पर शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। दस्साल ने उस देश और नगरों को अपने हाथ में ले लिया। यह देश लम्बा-चौड़ा, सम्पन्न और सम्मानित तो था परन्तु वहाँ कोई ब्राह्मण नहीं था। अतः उस राजकुमारी ने अपने भाई को इस विषय में सहायता करने के लिए लिखा तो उसने हिन्दुस्तान से तीस हजार ब्राह्मण एकत्र करके उन्हें सामान और आश्रित लोगों के सहित अपनी बहन के पास भेज दिया। इस रानी ने जिस नगर को अपनी राजधानी बनाया था उसका नाम "असकलन्द" था। इस रानी ने देश का कुछ भाग जाटों के सुपुर्द कर दिया और उन्हीं में से एक को उसका राजा बना दिया जिसका नाम जुदरत था[1]।"

---

(1) भारत का इतिहास, इलियट एण्ड डाउसन (प्रथम भाग) '71-72, परिशिष्ट 382।'

उपर्युक्त विवरण से एक बात स्पष्ट झलकती है कि सिन्ध में उस समय 'अराजवादी' राज्य पद्धति प्रचलित थी। इस राज्य पद्धति में कोई राजा नहीं होता था और सम्पूर्ण राज्यशासन की बागडोर जनता के वृद्धपुरुषों के हाथ में होती थी। जाटों के प्रसंग में इतिहासकार यह मानते हैं कि उनके प्रदेशों में 'अराजवादी' राज्य प्रणाली विद्यमान थी। महाभारत में इस प्रकार की शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

नैव राज्यं न राजासीत् न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

अर्थात् पूर्वकाल में न राज्य था और न राजा, न दण्ड और न दण्ड देनेवाला, सारी प्रजा धर्मपूर्वक स्वयं ठीक आचरण करती थी। जैन ग्रन्थों में भी 'अराज' सिद्धान्त का वर्णन पाया जाता है। उनमें लिखा है कि राज्य की शासन पद्धति "अरायाणि, वा गणरायाणि, जुवरायाणि वा दो रज्जाणि वा वे रज्जाणि" इत्यादि प्रकार की होती हैं। इनमें अरायाणि-अराजकराज्य, गणरायाणि-गणराज्य, जुवरायाणि-युवराज द्वारा शासित राज्य, दो रज्जाणि-द्वैराज्य, वे रज्जाणि-वैराज्य नाम प्रायः ऐतरेय ब्राह्मण में भी पाए जाते हैं। मि० क्रुक ने अपनी पुस्तक 'ट्राइब्स एण्ड कास्टस आफ दी नार्थ वैस्टर्न प्राविंशेज एण्ड अवध' में लिखा है कि "जस्टीन के समय में वे अरट्टा लोग अर्थात् अराष्ट्र या बिना राजा की प्रजा कहलाते थे।

इससे हमें यह भी पता चलता है कि प्राचीन सिन्ध राज्य अनेक भागों में बटा हुआ था और इसके एक भाग में असकलन्द नगर था। इस सम्पूर्ण विवरण से हम यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि सातवीं सदी में सिन्ध प्रान्त में ब्राह्मण धर्म का प्रचार न होकर अन्य ही धर्म का प्रचार था। सम्भवतः यह धर्म बौद्ध धर्म था, जिसके मानने वाले जाट कहे जाते हैं।

'मुजमलूत तवारीख' के अनुसार जाट तथा मेड़ हम (हेम) के वंशज थे। अतः यहां यह प्रासंगिक होगा कि मेड़ों पर भी कुछ लिखा जाए। इलियट एण्ड डाउसन[1] के अनुसार मेड़ जाटों का साम्राज्य भू-भाग की दृष्टि से सब से बड़ा था। यह इजिप्ट तथा

1. इलियट एण्ड डाउसन द्वितीय खण्ड पृष्ठ 588

असिरियन राज्य से भी बड़ा था। हिरोडोटस के अनुसार 'मेड़ों का राज्य अनेक रियासतों में बंटा हुआ था।' इनमें से एक भाग के राज्य का नेता 'डेग्रोकेस' (700 ई० पूर्व) था जो कि अपनी प्रतिभा तथा न्याय के कारण अत्यधिक प्रसिद्ध था। यद्यपि इसकी अपनी रियासत बहुत शक्तिशाली नहीं थी, तथापि पड़ौसी जाट रियासतों के लोग न्याय मांगने के लिए इसके पास आते थे। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जाटों की रियासतों में लोकप्रिय हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके प्रतिद्वन्द्वी खड़े हो गए। अपने ऊपर आई विपत्ति को देखते हुए इसने जाटों की एक पंचायत बुलाई और जाट रियासतों पर आनेवाले संकट के विषय में चर्चा की। मेड़ों की पंचायत ने सर्वसम्मति से डेओकेस को अपना राजा मान लिया। डेओकेस ने मेड़ों के राज्य को हर प्रकार से सुरक्षित रखा तथा तेंतीस वर्ष राज्य किया।

इसके बाद इसका बेटा (फ्रावर्ती) मेड़ों का स्वामी बना। मेड़ों ने इसके शासनकाल में प्रशिया तथा खलम को जीता और एशिया माईनर को कुचल डाला। फ्रावर्ती (प्रियव्रती) ने असिरिया पर भी आक्रमण कर दिया, परन्तु वह इसमें मारा गया। इसकी मृत्यु के उपरान्त इसका बेटा साईक्षरस राजसिंहासन पर बैठा। यह युद्धकला में बड़ा प्रवीण था और इसने अपनी सेना को नए ढंग से सुसज्जित किया। इसने असिरिया की राजधानी 'नीनेवेट' पर आक्रमण किया और उस पर कब्जा कर लिया। साईक्षरस के बाद इसका बेटा 'इशतुवेगु' गद्दी पर बैठा, परन्तु यह दुर्भाग्य ही समझिए कि इस जाट मेड़ राजा के काल में मेड़ों की अवनति आरम्भ हो गई। इस प्रकार जाटों का एक विस्तृत साम्राज्य धीरे-धीरे शक्तिहीन होता चला गया। मेड़ों तथा जाटों दोनों ही के सम्बन्ध में दी गई उपर्युक्त घटनाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन लोगों में आरम्भ से ही पंजायत पद्धति का रिवाज था।

सिन्ध में जाट:-

इसके बाद सिन्ध और जाटों के सम्बन्ध में 'चचनामा' और 'तारीखे सिन्ध' से पर्याप्त जानकारी मिलती है। इन दोनों पुस्तकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सिन्ध का प्रथम राजा दिवेज था और इसके बेटे का नाम 'राय सिहरस' था तथा इसके

बेटे का नाम 'राय साहसी' था। भीमसिंह[1] के अनुसार ये राजा जाटों के 'राय' कबीले से सम्बन्धित थे। भीमसिंह के मतानुसार दिवेज एक शक्तिशाली राजा था, जिसने अपने राज्य को पूर्व में कन्नौज तक विस्तृत किया। इसके राज्य की सीमा पश्चिम में मकरान और अरब सागर तक फैली हुई थी। दक्षिण में इसका राज्य सौराष्ट्र तक तथा उत्तर में कन्धार सीस्तान और सुलेमान की पहाड़ियों तक विस्तृत था परन्तु राय के पुत्र सिहरस द्वितीय के काल में प्रशिया के राजा निमरोज ने सिन्ध पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में सिहरस द्वितीय मारा गया। इसके उपरान्त इसका बेटा साहसी द्वितीय राजगद्दी पर बैठा। इसने सबसे पूर्व युद्ध में क्षतिग्रस्त हुए किलों की मरम्मत करवाई। इसके राज्य के प्रसिद्ध किलों के नाम देबल, निरून, लोहान, लाखा और सम्मा कहे जाते हैं। भीमसिंह के अनुसार अन्तिम के तीन किले जाट गोत्रों के नाम पर हैं।

जाटों का इसे दुर्भाग्य ही कहिए कि साहसी द्वितीय के काल में एक ऐसी घटना घटी जिससे जाट जाति का पासा ही पलट गया। साहसी द्वितीय के मन्त्री का नाम 'राम' था, उसके पास 'चच' नाम का एक ब्राह्मण नौकरी के लिए आया। राम ने उसे राज्य के महत्त्वपूर्ण पद पर लगा लिया। इस प्रकार चच का अन्तःपुर में आना-जाना भी होने लगा। चच नाम का ब्राह्मण इतना धूर्त निकला कि इसने सर्वप्रथम राम को ही अपना निशाना बनाया और उसको मन्त्रीपद से हटवाकर स्वयं मन्त्री बन गया। इस पद को प्राप्त करके भी इसकी राज-तृष्णा नहीं बुझी। अब इसने रानी के साथ षड्यन्त्र करके राजा साहसी द्वितीय को मौत के घाट उतार दिया और स्वयं रानी सुम्मनदेवी के विवाह कर लिया।

इस घटना की जानकारी हमें 'चचनामा' से मिलती है। सिन्ध में जब भारत से आए ब्राह्मण आबाद हो गए तो उन्होंने एक नगर जिसका नाम 'ब्राह्मणाबाद' रखा। यह नगर किसी काल में सिन्ध प्रदेश की राजधानी भी बना। अरबों से पहले के स्थानीय राजवंशों के समय में नीचे के सिन्ध की राजधानी ब्राह्मणाबाद थी। इस नगर के आधीन नीरून, देबल और लोहान, लाखा और सम्मा लोगों के

1. भीमसिंह दी जाट्स, पृष्ठ 212

देश थे। चचनामा[1] नामक पुस्तक के आधार कहा जा सकता है कि चच के समय (640 ई०) सिन्ध में जाटों का साम्राज्य था। जब चच ने सीविस्तान को जीत लिया तो उसने ब्राह्मणाबाद के मलिक अखम लोहान जाट के पास अधीनता स्वीकार करने के लिए पत्र भेजा। पत्र में लिखा गया कि आप अपनी शक्ति, ठाठ और वंश के कारण अपने आप को इस समय का राजा समझते हैं। यदि आप समझते हैं कि यह सारी शक्ति और परिस्थिति आपको अपने साहस, दम्भ और कीर्ति से प्राप्त हुई है तो आप अवश्य ही खो बैठेंगे।

इसके बाद चच ने अरवम लोहान के विरुद्ध सेना को ब्राह्मणाबाद के लोहाना प्रदेश में घुस जाने की आज्ञा दी। जब अरवम लोहान को चच की सेना का अपने प्रदेश में आने का समाचार मिला तो वह उसका सामना करने के लिए तैयार होकर खड़ा हो गया। दोनों ओर से अनेक सैनिक मारे जाने पर अरवम की सेना भाग निकली और चच ने किले को घेर लिया। यह घेरा एक वर्ष जारी रहा।

इस पुस्तक के अनुसार उन दिनों में हिन्दुस्तान अर्थात् कन्नौज का राजा सतबान था जो रासल का पुत्र था। अरवम ने उसको पत्र लिखकर सहायता मांगी, परन्तु उत्तर आने से पहले ही अरवम की मृत्यु होगई और उसका पुत्र राजगद्दी पर बैठा। अरवम का मित्र काफिर समनी था जिसका नाम बुद्धरकू था। उसके पास एक मन्दिर था जो बुद्ध नौ विहार कहलाता था। आस-पास के सब लोग उसकी आज्ञा मानते थे और अरवम लोहान भी उसका शिष्य था। परन्तु जब अरवम की मृत्यु होगई और उसका पुत्र गद्दी पर बैठा, तो समनी को दुःख हुआ, क्योंकि वह यह उचित नहीं समझता था कि राज्य और सम्पत्ति तथा जागीरें उसके हाथ से निकल जावें। अतः समनी ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए यह सोचा कि देश चच के हाथ जाना चाहिए चाहे वह मित्र हो या न हो। इस स्थिति में अरवम का पुत्र विपत्ति में फंस गया। उसकी सेना ने लड़ना छोड़ दिया और सामन्तों तथा मुखियाओं के बीच-बचाव से दोनों पक्षों में एक सन्धि हो गई और दुर्ग चच को सौंप दिया गया।

---

1. भारत का इतिहास, इलियट एण्ड डाउसन, (प्रथम भाग) पृष्ठ 98-107

चच ने दुर्ग में प्रवेश करते ही वहां के लोगों से कहा, यदि वे जाना चाहें तो जा सकते हैं और रहना चाहें तो रह सकते हैं। अरवम और उसके पुत्रों ने जब देखा कि चच का भाव उनकी ओर दया का है तो उन्होंने वहीं रहना पसन्द किया।

यद्यपि चच और अरवम लोहान में बलात् विवाह सम्बन्धी एक समझौता हो गया था। इस समझौते में चच ने अरवम की पत्नी को अपने पास रख लिया और अपने भतीजे की पुत्री ' धरसिया" का विवाह अरवम के पुत्र "सरबन्द" के साथ कर दिया था, तथापि भूमिकर के विषय में उनके बीच विवाद खड़ा हो गया। इस झगड़े के कारण चच ने जाट लुहानों को अपमानित किया और उनके मुखियाओं को दण्ड दिया। इन मुखियाओं से जमानत के रूप में एक आदमी लेकर उसको ब्राह्मणाबाद के किले में रखा और आगे लिखी शर्तें मन्जूर करवाईं—

1. वे कभी असली तलवार नहीं बांधेंगे।

2. वे दुशाले, मलमल और रेशम नहीं पहिनेंगे।

3. वे अपने घोड़ों पर जीन नहीं रखेंगे और अपने सिर और पैर नंगे रखेंगे।

4. जब वे बाहर जाएंगे तो अपने साथ कुत्ते ले जायेंगे।

5. वे ब्राह्मणाबाद के सरदार की रसोई के लिए ईंधन पहुंचायेंगे। वे पथ प्रदर्शक और गुप्तचर उपस्थित करेंगे और ऐसे काम में स्वामी भक्ति दिखायेंगे।

6. वे अरवम के पुत्र सरबन्द के प्रति मेल-जोल रखेंगे यदि कोई शत्रु देश पर आक्रमण करने आयेगा और सरबन्द से लड़ेगा तो उसे उस वक्त सहायता देना वे अपना कर्तव्य समझेंगे और वे उसका पक्ष ग्रहण करेंगे[1]

परन्तु चच की मृत्यु के उपरान्त उसके भाई चन्दर के गद्दी पर बैठने पर पुनः जाटों ने ब्राह्मणाबाद के किले पर अधिकार कर लिया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी काल में सीमान्त प्रदेश में जाटों का बाहुल्य था और ये लोग हिन्दू साम्राज्य के अग्रगामी दलों के रूप में सीमान्तों के सजग प्रहरी थे। ये मौर्य सम्राटों के नेतृत्व में सिन्ध पार करके युद्धों में भाग लेने के लिए गए प्रतीत होते हैं।

---

1. भारत का इतिहास इलियट एण्ड डाउसन (प्रथम भाग पृ० 107-8)

डा० चन्द्रबली पाण्डेय के अरब में जाट[1] नामक लेख से यह सिद्ध होता है कि छठी शताब्दी में ये अरब में विद्यमान थे । अरबी लोग जाटों को जट व जत नाम से पुकारते थे और उन्हें मूल भारतीय समझते थे । अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए ईरान के बादशाह ने सिन्ध प्रान्त के रणबांकुरे मेद तथा जाटों को अपनी सेना में भर्ती किया था । इन्होंने अरबों का मुकाबला किया, किन्तु ईरानियों की हार के बाद कुछ शर्तों के साथ अरब की सेनाओं में प्रविष्ट हो गए । इस बात की पुष्टि नदवी के "अरब और भारत के सम्बन्ध" नामक लेख से भी होती है । नदवी साहेब ने लिखा है कि ये बहादुर जाट लोग हवा का रुख देखकर कुछ शर्तों के साथ मुसलमानों के लश्कर में आकर मिल गये । हजरत अली, जो इस्लाम धर्म में महावीर समझे जाते थे, ने जाटों की स्वामी-भक्ति तथा रणबांकुरेपन को देखकर जमलवाले युद्ध के समय बसरे के खजाने की सुरक्षा का भार इन पर छोड़ दिया था। अमीर मुआविया का जब रोम वालों से युद्ध आरम्भ हुआ तो अरब की रक्षा के लिए उन्होंने जाटों का सहारा लिया और उन्हें श्याम देश के समुद्र तट के नगरों में बसाया, जिससे कि वे रोमनों का सामना करते रहें ।

चच की मृत्यु के उपरान्त उसका भतीजा चन्दर सिन्ध की राज्य सत्ता का स्वामी बना । उसने सात वर्ष तक देश पर अच्छा शासन किया और वह आठवें वर्ष मर गया । इसकी मृत्यु के बाद सिन्ध की राजधानी अलौर की गद्दी पर दाहिर बैठा । दाहिर (साहसी राय) के विरुद्ध अरब सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध नदी की ओर प्रयाण किया । इस आक्रमण से पूर्व कोतल का पुत्र काक जो कि समनी था, अरबों की शरण में आगया । मुहम्मद बिन कासिम ने काक से जाटों की वीरता और रण-कौशल के विषय में जानकारी चाही । काक ने उसको जाटों के विषय में सब कुछ कह दिया और सुनाया कि "वे (जाट) रात्रि में आक्रमण करने के इरादे से उसके विरुद्ध कूच करते हुए आ रहे हैं और उनकी योजनायें बड़ी घातपूर्ण हैं ।" फिर मुहम्मद ने पूछा कि हे हिन्द के सरदार ! तुम्हारे देश में सम्मान करने की क्या रीति है ? काक ने उत्तर दिया कि आसन दिया जाता है, रेशम की

1. अरब में जाट "प्रकाशन सहयोग" 1945 उद्धृत देशराज, जाट इतिहास पृष्ठ 190-91

पोशाक पहनाई जाती है और शिर पर पगड़ी बाँधी जाती है। ये हमारे पूर्वजों और जाट समनियों का रिवाज है[1]।" यह सुनकर मुहम्मद ने जाटों की परम्परा के अनुसार काक का स्वागत किया।

अब मुहम्मद ने मूसब के पुत्र मुहम्मद की अधीनता में सादुशान की ओर सेना को बढ़ने का आदेश दिया। सादुशान पहुंचने पर दोनों में समझौता होगया और वह चार हजार जाटों के साथ वापिस लौटा। कासिम ने नौकाओं का पुल बनाकर नदी पार की। उस समय पश्चिमी प्रान्त के जाटों ने अरब की सेना का साथ दिया जबकि पूर्वी सीमावर्ती जाटों ने दाहिर का साथ देना उचित समझा। दाहिर की हार हुई और बन्धक के रूप में चार हजार जाटों को कासिम ने अपने पास रखा तथा इनको सादुशान में बसाया। 'चच नामा' के अनुसार भी गजनी के जाटों ने अरब सेना में सेवा करना स्वीकार किया था।

सिन्ध प्रान्त यद्यपि अरब साम्राज्य के अधिकार में बना रहा तथापि आपसी मतभेदों के कारण अरब शक्ति की यहाँ अस्थिरता ही बनी रही। कैंकन (आधुनिक किलात) पर जाटों का राज्य था और कुछ जाट अरल नदी (सक्खर) के आसपास भी रहते थे। इन जाटों का नेतृत्व मुहम्मद बिन उस्मान करता था और समलू नामक जाट इनका सेनापति था। कैंकन के जाट लूट-पाट करके शक्ति संचय कर रहे थे। अतः खलीफा अल-मुतसिम ने जाटों को कुचलने का निश्चय किया और 834 ई० में अजिफ बिन ईसा को जाटों के विरुद्ध भेजा। इस अभियान का वर्णन "कामीलुत तवारीख" के आधार पर इलियट एण्ड डाउसन ने इस प्रकार दिया है :—

"जमुदल आखिर मास में अलमुतासिम ने अजिफ बिन ईसा को को जाटों के विरुद्ध भेजा, जिन्होंने खजर जाने वाले मार्ग दबा लिए थे और कसकर के खलिहान लूट लिए थे और कसकर के अन्न-भण्डारों को लूट लिया था। उन्होंने मार्गों पर आतंक मचा दिया था और मरु भूमि की ओर सब दिशाओं में अपनी चौकियां बैठा दी थीं। जब उन्होंने सुना कि अजिफ आ रहा है तो उन्होंने पीछे हटकर अन्य स्थानों में प्रवेश किया परन्तु वे मार्ग भूल गए। तब अजिफ ने 1500 जाटों से युद्ध किया और उनमें से 300 को रणक्षेत्र में ही मार डाला। उनके नेताओं को बन्दी बना लिया और उनके सरदार को मुतासिम के द्वार

1. भारत का इतिहास, इलियट एण्ड डाउसन प्रथम भाग चच नामा, पृ० 116।

पर भेज दिया। अजिफ जाटों से 25 दिन युद्ध करता रहा और उसने बहुतसों को हरा दिया। जाटों का मुखिया मुहम्मद बिन उस्मान और सेनानायक समलू था। फिर अजिफ सात मास तक जाटों के सामने सेना का पड़ाव डालकर जमा रहा[1]।"

सन् 835 ई० में जाटों के विरुद्ध अभियान करके अजिफ बगदाद आया। उसने बहुत से जाट मार डाले और बहुत से हरा दिए। जाटों के विरुद्ध यह इसका दूसरा अभियान था ! प्रथम अभियान में वह जाटों को अस्थायी रूप से ही दबा सका था।" कामिलुत-तवारीख" के अनुसार "वे (जाट) स्त्रियां और बच्चे मिलाकर कुल 20000 हजार थे। इनमें लड़ने वालों की संख्या 12000 हजार थी। अजिफ ने इन्हें नावों में बैठाया और बगदाद भेज दिया। वे लोग सैनिक वेश पहने हुए थे और सैनिक बाजे भी बजा रहे थे। जाट लोग तीन दिन तक नावों में ही रहे। फिर वे बिश्र इब्नुस स्मेदा को सौंप दिए गए जो उन्हें रबानीकीन नामक स्थान पर ले गया। वहाँ से उनको उत्तरी सीमा पर आईन जर्बा नामक स्थान पर भेज दिया गया। वहाँ बाइजेल्टाइन लोगों ने उन पर आक्रमण कर दिया और उनमें से एक भी जाट न बचा[2]।"

सिन्ध प्रान्त के शासक मूसा की मृत्यु सन् 836 ई० में हो गई। इसकी मृत्यु के उपरान्त इसका पुत्र अमरान (इमरान) गद्दी पर बैठा। इसने गद्दी पर बैठते ही जाटों के विरुद्ध किकान गाँव पर आक्रमण कर दिया। जाटों ने इस आक्रमण का डटकर मुकाबला किया और बड़े संघर्ष के पश्चात् अमरान की सत्ता स्वीकार की। अलरूर में वह अरमान नदी के तट पर ठहरा और जाटों को बुलाया और जाटों को जजिया कर देने के लिए बाध्य किया। उसने साथ में यह शर्त भी रखी कि वे अपने साथ एक एक कुत्ता भी लावें। अतः कुत्तों का मूल्य 50 (सिक्का) तक चढ़ गया। अरमान ने जाटों को जीतने के उपरान्त मेड़ों को जीतने के लिए फिर एक बार आक्रमण किया। इस समय जाटों का मुखिया उसके साथ था। इस बात को पुष्टि 'फुतूहुल बुल्दान' नामक पुस्तक से भी होती है।

अरबों के भारत आक्रमण के समय भारत में जाटों का एक प्रभुता-

1. भारत का इतिहास, इलियट एण्ड डाउसन दूसरा भाग पृ० 178

2. वही

सम्पन्न राज्य था, इस विषय में हमें "सलसिलातुत तवारीख" नामक पुस्तक से पता चलता है कि बल्हारा भारत के नरेशों में सर्वोच्च था। बल्हारा राजवंश के राजाओं की उपाधि है। यह ईरान के खुसरों से मिलती जुलती है। जाट जाति विभिन्न गोत्रों का एक मिश्रित समूह है। इस जाति में बल्हारा गोत्र एक प्रसिद्ध गोत्र है और इस गोत्र के अनेक ग्राम हरयाणा और उत्तर प्रदेश में पाए जाते हैं। "किताबुल मसालिकवअल" लेखक के अनुसार "भारतवर्ष का सबसे बड़ा राजा बल्हारा है जो राजाधिराज कहलाता है। वह एक अंगूठी पहनता है, जिस पर ममालिक" ये शब्द अंकित हैं जो कार्य निश्चयपूर्वक शुरु किया जाता है वह सफल होता है।" बल्हारा का राज्य समुद्र तटस्थ कोंकण से आरम्भ होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जाटों का राज्य दूर-समुद्र तक विस्तृत था।

इसके साथ ही पश्चिमोत्तर सीमा पर पंजाब में जाट जाति का प्रभुत्व सम्पन्न गणतन्त्रात्मक राज्य स्थापित था। यहां के जाट राजपूतों की तुलना में कहीं अधिक कुशल योद्धा, वीरता और साहस की मूर्ति तथा उद्यमी किसान थे। इन्होंने सिकन्दर की सेनाओं का मुंह मोड़ था।

जाट हिन्दूशाही

राजा जयपाल :—

जाटों के ऐतिहासिक योगदान की दृष्टि से सन् 960 ई० 1020 ई० तक का काल बड़ा महत्वपूर्ण है। क्योंकि इसी काल में पंजाब की सीमा पर गजनवी तुर्कों ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करली थी। लगभग इसी समय जाट राजा जयपाल ने भी पंजाब में एक शक्तिशाली और सुदृढ़ राज्य हिन्दूशाही के नाम से स्थापित कर लिया था। मिस्टर स्मिथ ने राजा जयपाल को जाट जाति का राजा माना है। पंजाब की पश्चिमी सीमा पर तुर्कों के राज्य की स्थापना से राजा जयपाल का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था क्योंकि तुर्कों से उसका टकराव निकट भविष्य में होने की सम्भावना से अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। अतः हिन्दूशाही के जाट राजाओं ने पंजाब की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए सन् 960 से 1020 ई० तक निरन्तर संघर्ष किया। हिन्दूशाही जाट राजाओं की तुर्कों के साथ लड़ाई एवं झड़पें उसी समय से आरम्भ हो गई थीं जिस समय से गजनी की शासन-सत्ता अल्पतिगिन के हाथों में

आगई थी। डा० नाजीम[1] के मतानुसार गजनी की राजसत्ता प्राप्त करने के बाद अल्पतिगिन ने हिन्दूशाही राज्य के काबुल के कुछ भू-भाग पर अधिकार कर लिया था। परन्तु वोसवर्थ की मान्यता है कि गजनी जीतने से पूर्व ही अल्पतिगिन ने हिन्दूशाही जाट राजा को जीत लिया था। अल्पतिगिन ने जिस राजा को जीता था, वह जयपाल था अथवा और कोई, इस प्रश्न का उत्तर ऐतिहासिक आंकड़ों के अभाव में निश्चयपूर्वक नहीं दिया जा सकता। लेकिन यह घटना सन् 962-63 ई० की है[3], जबकि जयपाल का राज्य सत्ता प्राप्त करना सन् 965 ई० में माना जाता है। अतः ऐसा सम्भव है कि अल्पतिगिन ने जयपाल के पूर्ववर्ती राजा को पराजित किया होगा।

जाट हिन्दूशाही और गजनी तुर्कों का अप्रत्यक्ष संघर्ष अल्पतिगिन के बेटे अबू-इशहाक इब्राहिम के समय में आरम्भ हुआ। वस्तुतः अल्पतिगिन ने गजनी का राज्य समनियों से जीता था। अतः समय-समय पर समनी इस ताक में रहते थे कि वे अपने खोए हुए राज्य को किस प्रकार प्राप्त कर सकें। अबू-इशहाक इब्राहिम को कमजोर समझकर अबुअली लाइक समनी ने सन् 964-65 ई० में आक्रमण किया। इस आक्रमण में जाट हिन्दूशाही ने अबूअली लाइक की सहायता की। इस आक्रमण में अबू-अली लाइक ने विजय प्राप्त की और इशहाक बुखारा भाग गया। सन् 965 ई० में मर गया और अमीरों ने ताज बिल्कातिगिन को सौंप दिया।

इस समय पंजाब में जाट राजा जयपाल राज्य कर रहा था। पंजाब के उत्तर-पश्चिम में अपने बढ़ते तुर्कों के प्रभाव से वह चिन्तित रहने लगा। अतः ऐसी परिस्थिति में जयपाल ने आन्तरिक रूप से अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की सोची, जिससे वह तुर्कों से भली प्रकार लोहा ले सके। कश्मीर के राजा से इसके मैत्री सम्बन्ध थे, और गुर्जर-प्रतिहार, राष्ट्रकूटों से उलझे हुए थे। अतः ऐसी परिस्थिति को अनुकूल जानकर निर्भय होकर जाट राजा जयपाल ने अपना राज्य सरहिन्द से लघमान तक और मुलतान से कश्मीर तक विस्तृत कर लिया। परन्तु इसे जयपाल का सौभाग्य ही समझिए कि बिल्कातिगिन

1, नाजिम, सुलतान महमूद, पृष्ठ 38

2. नाजिम, सुलतान महमूद पृ० 26

3. हिस्ट्री आफ पंजाब, सं० फौजसिंह, पृ० 64

के साथ इसकी कोई टकराहट नहीं हुई ग्रौर सन् 975 ई० में बिल्कातिगिन की मृत्यु होगई ग्रौर इसके वाद पिरितिगिन गजनी का शासक बना।

जाट हिन्दूशाही ग्रौर गजनी के मध्य सर्वप्रथम प्रत्यक्ष रूप से टकराहट पिरितिगिन के शासनकाल में हुई। पिरितिगिन का शासन एक क्रूर शासन था, अतः जनता ने तंग ग्राकर अबूग्रली लाइक को पुनः गजनी पर अधिकार करने का निमन्त्रण भेजा। हिन्दूशाही ने इस ग्रवसर पर ग्रबूअली लाइक को पुनः गजनी पर अधिकार करने का निमन्त्रण भेजा। हिन्दूशाही ने इस अवसर पर ग्रबूग्रली लाइक की पूरी-पूरी सहायता की। सहायता करनेवाले राजा को मुस्लिम इतिहासकारों ने काबुलशाह नाम से पुकारा है। वस्तुतः काबुलशाह जयपाल जाट के ग्रतिरिक्त कोई नहीं हो सकता जो कि लगभग दस वर्ष से राज्यसिंहासन पर था और काबुल को उसने अपने राज्य में मिला लिया था। राजा जयपाल ने अबूग्रली लाइक की हथियारों से ही सहायता नहीं की अपितु ग्रपने लड़के के नेतृत्व में एक सेना भी भेजी। जब अबूअली लाइक ग्रौर हिन्दूशाही की संयुक्त सेना गजनी के लिए चली तो परितिगिन के सरदार सुबुक्तिगिन ने पांच हजार आत्म-बलिदानी सैनिकों के साथ अचानक आक्रमण कर दिया और इस लड़ाई में जयपाल का लड़का मारा गया। सुबुक्तिगिन की वहादुरी को देखते हुए गजनी सरदारों ने पिरितिगिन को गद्दी से (977 ई०) उतार दिया ग्रौर इसके स्थान पर सुबुक्तिगिन को बैठा दिया।

सुबुक्तिगिन की जयपाल के साथ सीधी टक्कर 977-78 ई० में हुई, जबकि इसने जयपाल के राज्य के कुछ भाग पर ग्रधिकार कर लिया था[1]। जयपाल ने ग्रपनी पूर्ण तैयारी के साथ सन् 986-87 ई० सुबुक्तिगिन पर प्रबल प्रत्याक्रमण किया ग्रौर 'घुरक' नामक स्थान पर भयंकर लड़ाई हुई। जयपाल की सेना ने अद्वितीय शौर्य का प्रदर्शन किया ग्रौर जव विजय समीप ही ग्रानेवाली थी, तो एक बर्फिले तूफान ने इसकी सेना को तितर-बितर कर दिया। इस स्थिति में ग्रपने-ग्रापको फंसा देखकर जयपाल ने सुबुक्तिगिन से सन्धि करनी ही उचित समझी। ग्रतः दोनों के मध्य एक सन्धि होगई। जिसके ग्रनुसार जयपाल ने दस लाख दिनार (सिक्का), सीमा के कई किले

1. नाजिम, सुलतान महमूद पृ० 41

और पचास हाथी सुबुक्तिगिन को देने स्वीकार किए। इस सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए जयपाल के कुछ सम्बन्धी बन्धक के रूप में भी रखे गए। जयपाल की यह प्रथम और बड़ी भारी पराजय थी।

अपने प्रदेश में लौटने के बाद जयपाल ने इस पराजय का बदला लेने की सोची और अपने जाट स्वभाव के अनुसार जो शर्तें इसके अनुकूल नहीं थीं, उन्हें मानने से इन्कार करने लगा। इसका परिणाम वह जानता था। अतः साथ-साथ ही युद्ध के लिये पूरी तैयारी भी करता रहा। इस तैयारी में जयपाल ने हिन्दू राजाओं का एक संघ भी बनाया। इस बात का पता जब सुबुक्तिगिन को लगा तो उसने तुरन्त जयपाल के राज्य के लघमान' नामक स्थान पर आक्रमण करके अपने अधिकार में ले लिया। अब जयपाल के लिए चुप बैठकर रहना कठिन होगया और दोनों और की सेनाएं युद्ध के मैदान में आ डटीं। इस लड़ाई में भी जयपाल की पराजय हुई और लघमान से पेशावर तक का क्षेत्र तुर्कों के अधीन होगया।

सुबुक्तिगिन के उत्तराधिकारी महमूद से भी जयपाल की लड़ाई हुई। जयपाल की हार के कारण लाहौर का राजा भरत जिसको जयपाल ने पहले जीतकर राजा ही बने रहने दिया था, विद्रोह करने पर उतारू होगया। वह जयपाल के राज्य की नमक की खानों को हड़पने की सोचने लगा। जब इस बात का पता जयपाल को चला, तो उसने आक्रमण करके इसे राजगद्दी से उतार दिया और अपने बेटे आनन्दपाल को वहां का गवर्नर बना दिया और लाहौर को स्थायी रूप से अपने राज्य में मिला लिया। महमूद के साथ जयपाल की लड़ाई सन् 1001 में हुई। महमूद राज्यविस्तार की इच्छा से जयपाल पर चढ़ाई कर बैठा। इस चढ़ाई में भी जयपाल की हार हुई। अतः अपनी पराजय से तंग आकर जीवित ही अग्नि में जलकर सन् 1002 ई० अपने प्राण त्याग दिए।

आनन्दपाल

जयपाल की मृत्यु के बाद उसका बेटा आनन्दपाल गद्दी पर बैठा। इसने सन् 1002 से 1012 ई० तक राज्य किया। इसकी नीति प्रायः संघर्षों को टालने अथवा इनसे बचने की थी। परन्तु महमूद की नीति तो राज्यविस्तार एवं टकराव की थी। अतः इसने आनन्दपाल से

कर मांगना आरम्भ कर दिया। आनन्दपाल ने इसे देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। इस प्रकार महमूद को आनन्दपाल पर आक्रमण करने का एक अच्छा बहाना मिल गया। अतः महमूद ने मुलतान के मुस्लिम शासक दाउद के विरुद्ध अभियान के लिए योजना बनाई। मुलतान पर आक्रमण करने के दो मार्ग थे—एक तो सिन्धुनदी को पार करके तथा दूसरा राजा आनन्दपाल के राज्य की सीमा में प्रवेश करके। इस समय सिन्धु में बाढ़ आई हुई थी, अतः एक ही रास्ता बचा था वह था आनन्दपाल के राज्य से होकर मुलतान के नवाब दाऊद पर आक्रमण करना। अतः महमूद ने आनन्दपाल से कहा कि वह अपने राज्य में से उसे जाने का रास्ता दे। महमूद का ऐसा कहना वस्तुतः उसकी दुर्भावना का बतानेवाला था। परन्तु आनन्दपाल ने अपने राज्य में से महमूद की सेना को मुलतान की तरफ जाने की आज्ञा नहीं दी। इसका परिणाम लड़ाई के अतिरिक्त क्या हो सकता था? आनन्दपाल ने भी अपनी सेना को पेशावर की ओर चलने की आज्ञा दी और यहीं पर महमूद तथा आनन्दपाल की सेनायें आपस में टकराईं। इस लड़ाई में आनन्दपाल की पराजय होगई और वह कश्मीर की ओर चला गया। इस प्रकार फिर एक बार हिन्दूशाही तुर्कों को रोकने में असफल रही और यह स्पष्ट होगया कि पंजाब की स्वतन्त्रता देर तक स्थिर नहीं रखी जा सकती।

मुलतान की विजय के बाद महमूद को सूचना मिली कि इसके राज्य की उत्तरी सीमा पर तुर्क सरदार ईलाक खां ने आक्रमण कर दिया है। अतः ऐसी स्थिति में महमूद ने आनन्दपाल से सन्धि करने की सोची। इधर आनन्दपाल भी अपने लड़के सुखपाल को मुसलमानों द्वारा बन्दी बनाने के उपरान्त मुसलमान बनाए जाने से बड़ा व्यथित था और मुसलमानों का घोर शत्रु होगया था। इन सब बातों को भूलते हुए परिस्थिति को अनुकूल समझकर आनन्दपाल ने महमूद से सन्धि कर ली। इसने ईलाक खां के विरुद्ध महमूद को पांच हजार घुड़सवार, दस हजार पैदल और हाथी सहायता के रूप में देने का वचन दिया।

महमूद ने ईलाक खां के विरुद्ध चलते समय पंजाब में-जीते प्रदेशों का प्रबन्धक आनन्दपाल के बेटे सुखलाल को बना दिया था, जिसने हिन्दू-धम को छोड़कर—मुस्लिम-धर्म स्वीकार कर लिया था। उसका

नाम मुसलमान बनने पर नवासशाह रखा गया। जब महमूद खुरासान की ओर बढ़ा तो नवासशाह ने इस्लाम-धर्म छोड़ दिया और मुसलमान अधिकारियों को नौकरी से निकालकर अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। ईलाक खां को हराते समय इसकी सूचना महमूद को मिली। अतः इसने अपनी विजय को यहीं तक सीमित करके सुखलाल के विद्रोह को दबाने के लिए पंजाब की ओर कूच किया। सन् 1008 ई० में महमूद ने सुखपाल पर आक्रमण किया। इस लड़ाई में सुखपाल की हार निश्चित थी। क्योंकि एक तो महमूद की सेना संगठित थी और निरन्तर विजयों से इसका गर्व बढ़ गया था। दूसरे सुखपाल के पिता आनन्दपाल ने अपने बेटे की इस विपत्ति में कोई सहायता नहीं की। क्योंकि आनन्दपाल अपने बेटे से इसलिए नाराज था कि उसने मुस्लिम-धर्म स्वीकार कर लिया था। सुखपाल हार कर अपने पिता के प्रदेश नमक की पहाड़ियों में चला गया। यदि इस समय आनन्दपाल अपने पुत्र की सहायता कर देता, तो सम्भव था कि पंजाब के मानचित्र का दूसरा ही रूप होता।

महमूद की बढ़ती हुई शक्ति से अब आनन्दपाल को विश्वास होने लगा था कि अकेले इससे मुकाबला नहीं किया जा सकता है। पुत्र की हार के बाद आनन्दपाल को भय होने लगा कि शीघ्र ही उसकी भी बारी आनेवाली है। राजा आनन्दपाल ने मुलतान पर आक्रमण करते समय महमूद का विरोध किया था। अतः उसको दण्ड देने के लिए महमूद ने आनन्दपाल पर आक्रमण कर दिया। इस संकट से बचने के लिए तथा संयुक्त रूप से महमूद का मुकाबला करने के लिए आनन्दपाल ने भारतीय राजाओं से निवेदन किया। उज्जैन, ग्वालियर कन्नौज, दिल्ली और अजमेर के राजाओं ने मिलकर एक संगठन बनाया। इसके अतिरिक्त मुलतान का दाऊद और तीस हजार पश्चिमी पंजाब के खोखर जाटों ने भी आनन्दपाल का साथ दिया। उद्भाण्डपुर नामक स्थान पर यह लड़ाई लड़ी गई। खोखर जाटों ने महमूद की सेना के पांच हजार सैनिकों को देखते ही देखते मार गिराया। महमूद बड़ी विकट स्थिति में पड़ गया। परन्तु भाग्य महमूद का साथ देने पर तुला हुआ था। इतने में आनन्दपाल का हाथी घायल होकर युद्ध-भूमि से भाग खड़ा हुआ। इससे आनन्दपाल की सेना में भगदड़ मच गई और जो बाजी जीती हुई प्रतीत होती थी, वह हार

में बदल गई। हिन्दूशाही की इस हार के बहुत बुरे परिणाम निकले और भारत का द्वार महमूद के लिए खुल गया। सन् 1012 ई० में आनन्दपाल की मृत्यु ने महमूद का रास्ता कांटों रहित बना दिया।

त्रिलोचनपाल

आनन्दपाल की मृत्यु के पश्चात् मुसलमानी सत्ता को रोकने का भार इसके लड़के त्रिलोचनपाल पर आन पड़ा। सन् 1013 ई० में महमूद ने अचानक इसके राज्य के किले नन्दूना, (नमक की खानों के पास) पर आक्रमण कर दिया। त्रिलोचनपाल सम्पूर्ण सेना और किले का भार अपने पुत्र भीमपाल को सौंपकर सैनिक सहायता की प्राप्ति के लिए कश्मीर चला गया। सेनापति भीमपाल ने कश्मीर की सैनिक सहायता पहुंचने तक महमूद की सेना को रोके रखा। जब कश्मीर की सेना आगई तो इसका उत्साह दुगुना होगया। भीमपाल की सलाह की उपेक्षा करते हुए कश्मीरी सरदार तुंग ने खुले में आकर महमूद की सेना पर धावा बोल दिया। लाचार होकर भीमपाल को भी किले से बाहर आकर लड़ना पड़ा। सरदार तुंग की इस जल्दबाजी नें सारा काम खराब कर दिया और त्रिलोचनपाल की हार होगई। इस प्रकार जाटों ने तुर्कों को रोकने के लिए अनेक बार प्रयत्न किए थे। परन्तु पंजाब के भाग्य में अन्य कुछ ही लिखा था और 1021 ई० में महमूद ने पंजाब को अपने राज्य में मिला लिया और पंजाब से हिन्दूशाही वंश का राज्य समाप्त होगया। इसके अनन्तर जाटों की ऐतिहासिक स्थिति राजाओं की न होकर बिखरे हुए कबीलों की होगई। वे जहाँ जैसी स्थिति देखते उसी के अनुसार जीतनेवाले या हारनेवाले के साथ व्यवहार करते थे।

इतिहासकारों की दृष्टि से भारत में जाटों की साहसिक परम्पराओं का क्रमबद्ध इतिहास सुलतान महमूद (998-1030 ई०) से पूर्ण रूप से मिलना आरम्भ हो जाता है। ग्यारहवीं शताब्दी में जाट लोग सिन्धु नदी के पूर्वी तट यदु के डूंग (पहाड़ियों) के बीच बहने वाली रावी, चिनाव तथा सतलुज नदियों के किनारे बहु संख्या में रहते थे। सन् 1025 ई० में जाटों ने मंसूरा (आधुनिक हैदराबाद सिन्ध) प्रदेश पर आक्रमण किया और वहां के मुसलमान अमीरों को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य किया।

जब सुलतान महमूद सोमनाथ विजय के पश्चात् मुलतान की ओर लौटा तो उसने जाटों को कुचलने का दृढ़ संकल्प किया। सुलतान महमूद गजनी की सतरहवीं चढ़ाई जाटों को ही कुचलने के लिए की गई थी। क्योंकि जाट अपने स्वभाव के अनुसार प्रत्येक आक्रमणकारी की लौटती सेना के पिछले हिस्से पर सदा ही धावा बोल देते थे और अपनी इच्छानुसार लूट मचाते थे। महमूद गजनी की सेना के साथ भी जाटों ने ऐसा ही व्यवहार किया। इलियट एण्ड डाउसन नें महमूद गजनी के सत्तरहवें अभियान के प्रसंग में लिखा है कि "ऐसा हुआ होगा कि लाहौर के राज्य के विनाश के पश्चात् पहाड़ी देशों के जाटों के हाथ में अच्छी शक्ति आगई होगी और उन्होंने पास के प्रदेशों में लूट-मार करना आरम्भ कर दिया होगा। वे स्वदेश से इतनी दूर मुसलमानों पर आक्रमण करने आए और एक अच्छी सेना के द्वारा उन्होंने सामना किया। इससे प्रकट होता है कि जाटों की शक्ति साधारण नहीं थी।" महमूद गजनी ने जाटों को कुचलने के लिये सन् 1027 ई० में अन्तिम बार प्रयास किया। जाटों को जलयुद्ध में हराने के लिए चौदह सौ नावों के निर्माण की आज्ञा दी। प्रत्येक नाव पर वीस धनुर्धारी, बारूद से भरे हथगोले और आग लगानेवाले पदार्थ लादे गए। इन नावों के अगले सिरे और दायें तथा बायें बाजुओं पर नोकदार शलाखें गाड़ी गईं। जिससे उनके सम्पर्क में आनेवाली प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जाए। इस प्रकार चौदह सौ नावों और अठाईस हजार सैनिकों के साथ महमूद गजनी जाटों पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ा। जाटों ने भी आक्रमण की पूरी तैयारी करली और अपने परिवार को सिन्धु नदी के टापुओं के सुरक्षित प्रदेशों में भेज दिया और स्वयं चार सौ नावों को सैनिक सामान से सुसज्जित करके युद्ध के लिए चल पड़े। जाटों की नावें गजनी की नावों की शलाकों से टकरा कर उलट गयीं। इस प्रकार बहुत से जाट सैनिक डूब गए और बाकी बचनेवालों को महमूद की सेना ने मौत के घाट उतार दिया। सुलतान की सेना अब उन स्थानों पर गई जहां जाटों के परिवार छिपे हुए थे और उन सबको पकड़ कर कैदी बना लिया गया।

"तारीख-उस् सुबुक्तगीन" नामक पुस्तक से पता चलता है कि लाहौर के आस-पास जाटों की बहुत बड़ी शक्ति थी। इन्होंने 1035 ई० में लाहौर के विद्रोही राज्यपाल अहमद नीअल्तगीन को गिरफ्तार

करने में फौजी सिपहसालार तिलक (तिलक-बिन जयसेन) का साथ दिया था और जाटों की सहायता से ही अपने लड़के को लाहौर का गवर्नर बना सका। पंजाब के जाटों को सर्वप्रथम सिकन्दर के आक्रमण से एक बड़ा भारी धक्का लगा। उनका गणतन्त्रात्मक ढांचा डगमगा गया, परिणामस्वरूप उनके कुछ गोत्री पंजाब छोड़कर राजपूताना (बीकानेर) की ओर आगए। अब गजनी के शासकों की भयंकर टक्कर से पुनः जाटों के प्रजातन्त्रात्मक ढांचे को क्षति उठानी पड़ी और वे पंजाब की उपजाऊ भूमि को छोड़कर बीकानेर राज्य में पहले आकर बसे हुये जाट परिवारों के साथ आकर मिल गये। बीकानेर रियासत के जाटों के विषय में अगले पृष्ठों में विस्तार के साथ लिखा जाएगा।

जाटवान :

भारत के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज चौहान की पराजय के उपरान्त हरयाणा के जाटों में मुसलमानी सत्ता के विरुद्ध एक लहर उठी और जाटवान नामक जाट सरदार ने एक सैनिक संगठन तैयार किया। यह रोहतक और सिरसा के जाटों का एक प्रसिद्ध नेता था। शाहबुद्दीन गौरी ने जिस समय पृथ्वीराज को जीत लिया तो शासनप्रबन्ध की दृष्टि से अपने एक सरदार को भारत में छोड़ दिया। पृथ्वीराज के समय से ही हरयाणा के जाट एक प्रकार से स्वतन्त्र थे और पृथ्वीराज को नाममात्र का राजा मानते थे। पृथ्वीराज की हार के पश्चात् जाटों ने हांसी को राजधानी बनाने की सोची और उन्होंने जाटवान के सेनापतित्व में मुसलमान सेनापति नसरतउद्दीन को हांसी के किले में घेर लिया। "ताजुल-मयासिर" नामक पुस्तक के आधार पर "जब 588 हिजरी का आदरणीय रमजान मास आया जो दया और रक्षा का समय है तो शुभ दरबार में यह ताजा खबर आई कि अभिशप्त जाटवान के मस्तिष्क में शैतान का प्रवेश कर चुका है और उसके सिर में दुराग्रह ने घर कर लिया है और उसने एक जोशीली सेना के साथ सेनापति नसरत-उद्दीन के विरुद्ध लड़ने के लिए हाथ उठाया है।"

नसरत-उद्दीन के हांसी के किले में घिरने के समाचार को सुनकर कुतुब-उद्दीन लगभग एक रात में चालीस मील चलकर घुड़सवार सेना से जाटवान का मुकाबला करने को तैयार हो गया। जाटवान हांसी का घेरा उठाकर भयंकर संग्राम की इच्छा से मैदान में जम गया। मुसल-

मान सैनिक भी जाटवीरों का सामना करने के लिए बागड़देश की सीमाओं अर्थात् हिसार, फतेहाबाद, सिरसा और भिवानी की सीमाओं तक पहुंच गए। 'ताजुल-मयासिर' का लेखक हसन निजामी लिखता है कि उसको (जाटवान) ऐसा मालूम हुआ कि महासर्प के गले से उसके लिए विनाश निकल रहा है। अब उसके लिए कोई विकल्प नहीं रहा तो उसे लड़ना ही पड़ा। तब शंखध्वनि से विश्व परेशान हो गया। रण दुन्दुभि की ध्वनि आकाश तक पहुंच गई और पीतल के बांकियों के शोर ने कयामत के कोलाहल को मात कर डाला।"

इससे आगे वह युद्ध का वर्णन करते हुए कहता है कि "फौलाद की दो पहाड़ियों की भांति दोनों सेनाओं ने परस्पर आक्रमण किया। वीरों की रक्तधारा और नरमुण्डों से युद्धभूमि बहुरंगी पुष्पों की भांति खिल उठी। तलवारों, कटारों और भालों की चमचमाहट से आकाश में बिजली सी दमकने लगी। जाटवीरों ने मानमर्यादा की रक्षा के लिए डटकर मुकाबला किया। उनके कुशल धावे तथा युद्धप्रणाली को देख कर स्वयं कुतुबु-उद्दीन घबरा उठा। जाटवान स्वयं ऐबक के समीप गया और उसे पैदल लड़ने के लिए ललकारा। ऐबक ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। जाट सरदार आत्मा के अमरत्व में विश्वास करता था अतः उसे युद्धभूमि में मृत्यु का भय नहीं था। वह अपने बीस साथियों के साथ शत्रु सेना के गोल में प्रविष्ट हो गया, परन्तु उसकी चीता-चिह्नित पताका को शक्तिसम्पन्न हाथों ने उतार लिया। रणभूमि की धूल उसके रक्त से गीली हो गई।

जाटों की हार के उपरान्त मुसलमानी सेना ने हांसी के क्षेत्र में मनमानी लूट मचाई। कुतुब-उद्दीन कुछ दिन हांसी में रहा और दुर्ग की मरम्मत करवाई।

सुलतानों से जाटों के सम्बन्ध :

इसके पश्चात् जाटों के सम्बन्ध में कहीं जाट नाम से और कहीं गोत्र नाम से छुट-पुट वर्णन भी इतिहासग्रन्थों में मिलते हैं। पंजाब के इतिहास में चंगेज खां का आक्रमण एक ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इस व्यक्ति के नेतृत्व में मंगोलों ने ख्वारिज्म के शाह अलाउद्दीन मुहम्मद को गद्दी से उतार फेंका और इसे कैस्पीयन सागर के तट पर शरण लेनी पड़ी। इसके उत्तराधिकारी शहजादा जलालउद्दीन मंगबर्नी

का पीछा किया। इसने पंजाब प्रदेश में आकर अपने प्राण बचाए। इस घटना ने इल्तुतमिश की उन सारी योजनाओं को धूल में मिला दिया जो कि पंजाब का एकछत्र राजा बनने के लिए तैयार की गई थीं।

जलालउद्दीन मंगबर्नी के भाग्य का सितारा जाटों के कारण चमका। इसने गक्खर जाटों के साथ वैवाहिक नाता जोड़कर सिन्ध सागर के उत्तरी भाग में अपनी स्थिति सुदृढ़ करली। दूसरी ओर गक्खर जाटों की तथा नसीरुद्दीन कुबाचा की आपसी शत्रुता थी, अतः जाटों के प्रभाव से कुबाचा का सिन्ध सागर के क्षेत्र से प्रभाव उठ सा गया। मंगबर्नी के किरमान चले जाने के बाद तथा कुबाचा की मृत्यु के अनन्तर भी इल्तुतमिश सिन्धसागर के प्रदेश में अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सका। क्योंकि मंगबर्नी की अनुपस्थिति में इसका प्रतिनिधि सैफुद्दीनहसन कारलूघ अब भी बड़ी सजगता से इस प्रदेश की रक्षा कर रहा था।

इल्तुतमिश की मृत्यु के उपरान्त थोड़े दिनों के लिए इसका बेटा रूकुनुद्दीन गद्दी पर बैठा। परन्तु इसे शीघ्र राजगद्दी से हटाकर रजिया (1236-40) को सुलताना बनाया गया। रजिया ने राजगद्दी पर बैठते ही सर्वप्रथम अपने विद्रोहियों में फूट डालकर अपनी सत्ता को मजबूत किया। रजिया की मजबूती उसके लिये स्वयं घातक सिद्ध हुई। वस्तुतः वे तुर्की सरदार जिन्होंने कुतुबुद्दीन के समय से ही राज्यशासन की कठपुतली की डोर अपने हाथों में ले रखी थी, रजिया जैसी सशक्त सुलताना को सहन न कर सके। रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र करके भटिण्डा के स्थान पर विद्रोह कराकर रजिया को पकड़ लिया गया और भटिण्डा के गवर्नर अलतूनिया के संरक्षण में छोड़ दिया।

परन्तु परिस्थितियां बड़ी तेजी से करवटें लेरही थीं। उपर्युक्त घटना के कुछ दिनों बाद ही अलतूनिया ने रजिया से विवाह करा लिया और अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये सैनिक भर्ती करने लगा। इसने विशेष रूप से गक्खर जाटों की भर्ती की और रजिया के खोये भाग्य को जगाने के लिए दिल्ली की ओर चल पड़ा। सन् 1220 ई० में बहराम की सेना के साथ रजिया की सेना टकराई। इस लड़ाई में जाट सैनिकों ने जुझारु ढंग से भिड़न्त दिखाई। परन्तु भाग्य रजिया के विपक्ष में गया और उसे भागकर पुनः भटिण्डा में शरण लेनी पड़ी।

परन्तु रजिया नें हिम्मत नहीं हारी और बिखरी सेना को पुनः इकट्ठा करना आरम्भ किया। सन् 1239 ई० में जाटों के सहयोग से पुनः एक बार रजिया ने अपने भाग्य को कैथल के मैदान में परखने के लिए उतारा। परन्तु परिणाम वही रहा और अलतूनिया तथा रजिया को पकड़ लिया गया और सन् 1240 ई० में इसकी मृत्यु डाकुओं द्वारा कर दी गई। इस प्रकार रजिया के उत्थान के लिये जाटों ने यथाशक्ति प्रयास किया।

इसके उपरान्त गुलाम वंश के शासक नासिरुद्दीन के काल में प्रधान मंत्री बलबन ने हरयाणा के विद्रोहियों को दबाने के लिए दोबारा प्रयत्न किए, परन्तु वह असफल ही रहा। डा० के० सी० यादव अपनी पुस्तक "हरियाणा के इतिहास" में लिखते हैं कि वास्तव में यह विदेशी शासकों के विरुद्ध प्रजा का युद्ध था जिसमें सब मेव, अहीर, राजपूत और जाट मिलकर कार्य करते थे। इस प्रकार जाटों ने गुलाम वंश के उखाड़ने में सहयोग दिया।

मुहम्मद बिन तुगलक ने अपने जिद्दी स्वभाव के कारण भूमि का लगान बढ़ा दिया था और इसको वसूलने के लिए अत्याचारी मुसलमान फौजदारों को नियुक्त किया था। इसके विरोध में पटियाला जिले के समाना और सुनाम के आस-पास रहनेवाले जाटों ने मीणा, राजपूत और भाटी तथा स्वजातीय किसानों के साथ मिलकर एक सैनिक मण्डल का निर्माण किया। इस सैनिक मण्डल ने योजनाबद्ध तरीके से फौजदार के अत्याचारों का प्रबल विरोध करते हुए भूमि कर रोक कर लूट-पाट और गड़बड़ उत्पन्न करदी। सुलतान ने इस जाट संघ को कुचलने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जाट संघ के कुचल दिए जाने पर जाटों को लाचार होकर अपनी उपजाऊ भूमि छोड़नी पड़ी।

तैमूर ने अपनी हरयाणा विजय में सर्वप्रथम सरस्वती (सिरसा) नगर के विषय में जानकारी प्राप्त की और उसे जीता। इसके बाद वह फतेहाबाद गया और वहां से अहरुनी के जंगलों को पार करता हुआ टोहाना पहुंच गया। वह "तुजुकेतैमूरी" में लिखता है "कि मैं जब वहां (टोहाना) पहुंचा तो मुझे पता चला कि यहां के निवासी वज्र-देहधारी जाति के हैं और वे जाट कहलाते हैं। वे केवल नाममात्र के मुसलमान हैं चोरी, डकेती करने में उनकी बराबरी नहीं की जा

सकती। ये जाट सड़कों पर आने-जाने वाले कारवां को लूट लेते हैं और इन्होंने मुसलमान यात्रियों के मन में भय उत्पन्न कर दिया है। ये लोग मेरे आक्रमण की बात सुनकर अब गांवों को छोड़कर गन्ने के खेतों, घाटियों और जंगलों में जा छुपे थे।"

टोहाना के समीपवर्ती जाट खेती करने में चतुर तथा जंगलों के बीच में आबाद ग्रामों में पशुपालन करते हुए भी स्वच्छन्द मनोवृत्ति के स्वामी थे। जब तैमूर को इस मनोवृत्ति का पता चला तो उसने हिन्दू कर-कर्ता के पुत्र तोकल बहादुर के नेतृत्व में एक बड़ी सेना तैयार करके जाटों को कुचलनें की आज्ञा दी। तोकल के पीछे-पीछे ही इनको दबाने के लिए नसिरुद्दीन को भी भेजा गया। इन दोनों ने जाटों का खेतों और जंगलों में पीछा किया। इन्होंने जाटों को दबाकर उनके 200 आदमियों को मार डाला तथा शेष को बन्दी बना लिया। उनके बहुत से पशुओं को छीनकर सैनिक डेरों में वापिस आगए।

अपने प्रथम अभियान में तैमूर हरयाणा के जाटों को पूर्ण रूप से दबा नहीं सका और उसने आगे चलकर अधिक सैनिकशक्ति का प्रयोग किया। तुजुके-तीमूरी (मुलफुजात-ए-तीमूरी) में वह स्वयं कहता है "फिर मुझे यह भी खबर मिली कि जाट लोग चींटियों और टिड्डियों की भांति अगणित हैं। उनके हाथों से कोई यात्री या व्यापारी नहीं बच सकता। अब वे भागकर ऐसे जंगलों और मरुस्थलों में चले गए हैं जहां प्रवेश करना अति कठिन है। इसमें से कुछ तो मारे जा चुके हैं, परन्तु मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि जिस देश को मैं जीतूं वहां चोरों और डाकुओं को निर्मूल कर दूं, जिससे ईश्वर के सेवक मुसलमान और यात्री उनके अत्याचारों से बच जाएं। हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने में मेरा मुख्य उद्देश्य यह था कि काफिर हिन्दुओं के विरुद्ध युद्ध करूं।"

अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए तैमूर के लिए जाटों का दमन करना अनिवार्य था। अतः उसने अपने प्रथम अभियान में जो कुछ भी माल लूटा था, उसे अमीर सुलेमान शाह को सौंपा और आदेश दिया कि इसको समाना नामक कस्बे में सुरक्षित पहुंचा दे।

जिस दिन तैमूर ने सारा सामान टोहाना से समाना के लिए रवाना किया था, उसी दिन उसनें जंगलों में जाटों का पीछा किया।

टोहाना के आस-पास जंगलों में जाटों और तैमूर के बीच डटकर मुकाबला हुआ। इस लड़ाई में 2000 जाट मारे गए और उनकी स्त्रियों और बच्चों को बन्दी बना लिया गया। पशुओं और सम्पत्ति को लूट लिया गया। तैमूर के अपने ही शब्दों में "इस प्रकार मैंने इस देश को जाटों से मुक्त कर दिया। बड़े अर्से से वहां के लोग जाटों से बड़े दुःखी थे।"

तैमूर और जाटों के संघर्ष को लेकर निहालसिंह लिखते हैं कि हरद्वार से पांच कोस दक्षिण में पथरीगढ़ के मैदान में सर्वखाप पंचायत के पच्चीस हजार सैनिकों ने तैमूर के घुड़सवार जत्थे पर तीर, भालों से भयंकर आक्रमण किया। गुलिया बादली जिला रोहतक के हरवीर जाट ने मुस्लिम सैनिक का भेष धारण करके तैमूर की छाती में जोर का भाला मारा। हरवीर जाट पर शत्रु के एकदम 60 भाले और पांच तलवारों के वार से 52 घाव आए। वीर हरवीर भूमि पर गिर पड़ा। अचेत अवस्था में उसको उठाकर लाया गया, परन्तु थोड़ी देर में उसकी मृत्यु होगई। इसके बाद सर्वखाप पंचायत की सेना ने तैमूरी सेना का अम्बाला तक पीछा किया। पंचायत के सेनापति के मर जाने पर उसके स्थान पर एक तंवर गोत्रीय जाट नें सेनापति का पद सम्भाला। इस प्रकार पंचायती मल्ल सेना के 35 हजार सैनिक देश के लिए बलिदान होगये[1]।

तरखान नामा (अर्गून नामा) से विदित होता कि सन् 1522 ई० में शाहबेग की मृत्यु हो जाने पर शाह हुसैन अर्गून उसकी गद्दी पर बैठा और सन् 1524 ई० में उसने मुल्तान पर आक्रमण करने का निश्चय किया। सन् 1525 ई० में हुसैन की सेनाओं नें उच्छ नगर पर अधिकार कर लिया।

शाह की विजय के समाचार शीघ्र ही मुलतान के शासक सुलतान मुहम्मद लंगाह को पहुंच गये, तो उसने चारों और अपने विश्वस्त मनुष्यों को भेजकर शीघ्रातिशीघ्र सेना खड़ी करने का आदेश दिया। इस आदेश के अनुसार एक महीने में 80000 हजार सेना, जिसमें सवार और पैदल दोनों हो थे, खड़ी करली गई। इस सेना में बलूच, जाट, रिंद, डाढ़ी और अन्य जातियां भी थीं। जाटों ने हुसैन की सेना का डटकर प्रतिरोध किया।

---

[1] सर्वहितकारी, 14, 21 जुलाई 1986.

सप्तम अध्याय

मुगलों से सम्बन्ध

मुगलों और जाटों के सम्बन्ध के विषय में चर्चा करते हुए यह सुविधाजनक प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से इन सम्बन्धों को दो भागों में बांट लिया जाए। इनमें से एक भाग बाबर से आरम्भ होकर शाहजहां तक तथा दूसरा भाग औरंगजेब से आरम्भ होकर अंग्रेजों के सत्ता हथियाने तक हो सकता है।

लोधी वंश के सुलतान इब्राहीम की नीतियों से तंग आकर अफगान सरदार दौलत खान लोधी ने अपने पुत्र दिलावर खान को काबुल में बाबर के पास इसलिए भेजा कि वह हिन्दुस्तान पर चढ़ाई कर दे। इस निमन्त्रण को पाकर बाबर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे भारत पर आक्रमण करने का अच्छा अवसर मिल गया। मुगल साम्राज्य के संस्थापक बाबर को पंजाब में प्रवेश करते ही जाटों से सामना करना पड़ा। उस समय जाट सिन्धु नदी के ऊपरी भाग (नीलाभ=नील-आब) तथा भीरा (नमक की पहाड़ियों) के मध्य गक्खर सरदारों की अधीनता में बस्ती बनाकर रहते थे। यद्यपि उन्होंने अस्थायी रूप से खेती का काम करना आरम्भ कर दिया था तथापि वे लूटने की पुरानी आदत को नहीं छोड़ सके थे। बाबर ने इनके विषय में लिखा है[1] कि यद्यपि कोई हिन्दुस्तान जाए तो उसे असंख्य घुमक्कड़ जत्थों के रूप में जाट और गूजर पहाड़ी तथा मैदानी भागों में बैल तथा भैंस लूटने के लिए शोर मचाते मिलेंगे। वे अभागे बड़े ही मूर्ख और निर्दयी होते हैं। लूट-पाट के विषय में वे कोई भेद-भाव नहीं रखते। एक बार स्यालकोट के निस्सहाय भूखे-नंगे भिखारी तथा दरिद्री लोग हमारे शिविर में शरण लेने के लिए आरहे थे। अचानक शोरगुल हुआ और वे लूट लिए गए। जिन मूर्खों ने यह शरारत की थी, मैंने उनकी खोज करवाई। दो-तीन आदमियों के विषय में आदेश दिया गया है कि उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएं।"

उपर्युक्त विचार स्वयं एक ऐसे निर्दयी तथा घुसपैठिये शासक के हैं, जिसका स्वयं का शासन निर्दयी निरंकुशता पर आधारित था।

---

(1) ए. एस. बेवेरिज, मैमोयार्स आफ बाबर, पृ० 454

वस्तुतः बाबर जाटों की छापामार युद्ध शैली से निरन्तर परेशान रहा और उनका कुछ न बिगाड़ सका। अतः उसने झुंझलाहट में जाटों के विरुद्ध अनर्गल प्रलाप किया। 12 अप्रैल, 1926 ई० को बाबर पंजाब से आगे बढ़ता हुआ पानीपत आ पहुंचा। वस्तुतः पानीपत का क्षेत्र दिल्ली का द्वार समझा जाता था। इस द्वार को जिसने जीत लिया वह दिल्ली को पकड़ने में समर्थ होगया। पानीपत के मैदान में बाबर की सेना का इब्राहीम लोधी की सेना के साथ मुकाबला हुआ। इस मुकाबले में पानीपत के चारों ओर बसे जाटों ने इब्राहीम का साथ दिया। यदुनाथ सरकार के कथनानुसार इब्राहीम लोधी के साथ सेहबन्दी पैदलों की जमात में जाट किसान भी सम्मिलित थे। किन्तु विजय बाबर के हाथ रही। जाट इस पराजय से हतोत्साहित नहीं हुए। इसके अतिरिक्त कंनिघम के अनुसार भी यह सिद्ध होता है कि सन् 1505 ई० से ही आगरा के समीपवर्ती जाटों ने लोधी-वंश को सहायता प्रदान करना आरम्भ कर दिया था।

पानीपत की जीत के बाद बाबर आगे बढ़ा। कन्वाह (खन्वाह) में उसकी मुठभेड़ राणा सांगा (संग्रामसिंह) के साथ हुई। दलीपसिंह[1] के कथनानुसार "राणा सांगा ने इस युद्ध के लिए 'सर्वखाप-पंचायत' से सहायता मांगी। राणा सांगा की प्रार्थना पर विचार करने के लिए गांव सिसौली जिला मुजफ्फरनगर (उत्तरप्रदेश) में सन् 1527 ई० में 'सर्वखाप-पंचायत की बैठक हुई। इसमें सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास किया गया कि पच्चीस हजार सैनिक भिन्न-भिन्न खापों से राणा सांगा की सहायता के लिए भेजे जाएं। ये सैनिक धौलपुर के जाट राणा के नेतृत्व में राणा सांगा की ओर से बाबर के विरुद्ध लड़े।"

दलीपसिंह ने उपर्युक्त विचार 'सर्वखाप-पंचायत' के दस्तावेज संख्या 47 को आधार मानकर लिखे हैं। यहाँ थोड़ा-सा विचार— 'सर्वखाप-पंचायत' के दस्तावेजों की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी कर लिया जाए, तो उचित हो रहेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुगलकाल के सम्बन्ध में मुसलमान इतिहासकारों के अतिरिक्त सर्वप्रथम प्राप्त देशीय दस्तावेजों में 'सर्वखाप-पंचायत'

1. कैप्टिन दलीपसिंह, जाटवीरों का इतिहास, पृ० 584

के दस्तावेज बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन दस्तावेजों की प्रामाणिकता के विषय में इतिहासकार एकमत नहीं हैं, सरकार तथा कानून-गो इनको महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी प्रामाणिक नहीं मानते। अतः इन्होंने जाटों के सम्बन्ध में लिखते हुए 'सर्वखाप-पंचायत' के दस्तावेजों का कहीं उल्लेख नहीं किया है। परन्तु दूसरी ओर ऐसे इतिहासकार भी हैं जिन्होंने बड़ी सावधानी से एक-दो प्रसंगों में इन दस्तावेजों को उद्धृत किया है। इस प्रकार के लेखकों में महेशचन्द्र प्रधान तथा गिरीशचन्द्र द्विवेदी और स्वामी ओमानन्द हैं। इतना होते हुए भी इन लेखकों ने 'सर्वखाप-पंचायत' के दस्तावेजों को पूर्ण प्रामाणिकता की परिभाषा के अन्तर्गत सन्देह की दृष्टि से देखा है। एक तीसरा वर्ग ऐसा भी है जो कि इन दस्तावेजों को पूर्णरूप से प्रामाणिक मानता है। इस प्रकार के लेखकों में दलीपसिंह प्रमुख हैं। हमारा विचार है कि ये दस्तावेज जाटों अथवा 'सर्वखाप-पंचायतों' के सामाजिक संगठन की माला के सूत्र तो अवश्य हैं परन्तु राजनैतिक इतिहास के सम्बन्ध में इनका उपयोग जोखिम से खाली नहीं। क्योंकि इनमें परस्पर तारतम्यता एवं अन्विति नहीं है। इसका प्रमाण हमें मन्त्री 'सर्वखाप-पंचायत' कबूलसिंह द्वारा लिखित "इतिहास सर्वखाप-पंचायत" (बालियान-खाप) भाग—1, पृ० 58–59 से इस प्रकार मिलता है जिसका उद्धरण दलीपसिंह ने किया है—

"मुगल बादशाह बाबर सन् 1528 ई० में सर्वखाप-पंचायत कार्यालय शोरम, जिला मुजफ्फरनगर में गया था। वहाँ पर चौधरी रामराय ने सब जाट खापों के चौधरी एकत्र किए थे, जो बाबर से मिले। बाबर नें कहा कि—जाट लोग बहुत ईमानदार, पवित्र विचार वाले, चरित्रवान्, न्यायकारी और अपनें अधिकार को चाहनेवाले हैं। हरयाणा खाप के मल्लयोद्धा तथा यहाँ की पंचायतों के पंच भारतवर्ष में सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं सब खापों और सर्वखाप पंचायतों के वजीरों को धन्यवाद देता हूं। मैं शोरम गांव के चौधरी को एक रुपया सम्मान का और एक सौ पच्चीस रुपये पगड़ी के भेंट के तौर पर देता रहूंगा।"

उपर्युक्त उद्धरण प्रथम उद्धरण पच्चीस हजार खाप सैनिकों नें बाबर के विरुद्ध युद्ध किया से मेल नहीं खाता। एक ओर पच्चीस हजार जाट सैनिक बाबर से लड़े और दूसरी ओर बाबर जाटों की

प्रशंसा करते हुये उन्हें पगड़ी का सम्मान दे रहा है अतः सर्वखाप पंचायात का यह दस्तावेज जिसमें 25 हजार खाप सैनिकों को बाबर के विरुद्ध लड़ते लिखा गया है, पुर्नविचार की ग्रावश्यकता रखता है। क्योंकि गोहद के जाट राणाओं की नामावली में हमें कीतिमल नामक राणा का नाम कहीं भी नहीं मिलता। सन् 1526 ई० के आसपास पानीपत के युद्ध में लोधी साम्राज्य के पतन के बाद अगले कुछ वर्षों में बाबर ने मालवा तक का क्षेत्र अपने अधिकार में ले लिया था। बाबर जैसे शक्तिशाली व्यक्ति को चुनौती देना गोहद (धौलपुर) के राणा के लिए सम्भव नहीं था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि गोहद का राणा (धौलपुर) सांगा और बाबर के युद्ध में तटस्थ रहा और उसका राज्य बाबर द्वारा एक जागीर के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

तैमूर के भारत से जाने के बाद और और बाबर के भारत प्रवेश के मध्य देश में अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न होगई थी, इस अराजकता का लाभ हरयाणावासियों ने भी उठाया और मोहनसिंह मंढ़ार (राजपूत) के नेतृत्व में कैथल के आस-पास अपना स्वतन्त्र रजवाड़ा स्थापित कर लिया। इस रजवाड़े की राजधानी किलायत थी। आज भी किलायत के समीपवर्ती क्षेत्र को 'मढ़ाड़' कहते हैं। डा० के० सी० यादव ने अपनी पुस्तक 'हरियाणा के इतिहास' में मोहनसिंह के विषय में लिखते हुये कहा है कि "मोहनसिंह स्वतन्त्रताप्रेमी था तथा बुद्धि, साहस और शौर्य में अद्वितीय था। पाँच से दस हजार तक मंढ़ार जाट तथा राजपूतों की सेना उसके इशारे पर समरांगण में आ डटती थी।

मोहनसिंह ने बाबर से लम्बे समय तक डटकर युद्ध किया। इस युद्ध में जाटों ने जमकर भाग लिया। उनके अनेक सरदार मारे गये तब कहीं जाकर मोहनसिंह ने हार मानी। इस प्रकार बाबर को हरयाणा की भूमि पर पग-पग पर जाटों से लड़ना पड़ा।

हुमायूं एवं शेरशाह—

बाबर की मृत्यु सन् 1530 ई० में होगई और उसके बाद उसका पुत्र हुमायूं राजगद्दी का अधिकारी बना। हुमायूं का शासनकाल 1530 से 1540 तक तथा पुनः सन् 1555 से 1556 ई० तक रहा। हुमायूं के शासनकाल का बीच में समाप्त होने और पुनः राजगद्दी प्राप्त करने का

इतिहास बड़ा विस्तृत है। इतिहास की मध्य कड़ी अफगान जाति है। बिलग्राम के युद्ध में हारकर भागते हुये हुमायूं को जाटों ने मनचाहा लूटा था। बाबर की मृत्यु के उपरान्त अफगान जाति शेरखान के नेतृत्व में अपने खोये हुये राज्य को प्राप्त करने के लिये मुगलों से जूझ रही थी।

शेरखान (शेरशाह) ने 1519 ई० में दक्षिण बिहार के सूबेदार बहारखान लोहानी (जाट) के यहां नौकरी की थी। लोहानी जाटों पर चच ने क्या-क्या अत्याचार किये थे, इस सम्बन्ध में पहले ही लिखा जा चुका है। वस्तुत: शेरशाह की राज्य प्राप्ति में जाटों का बड़ा भारी योगदान था। हुमायूं ने अपनी नीतियों के कारण जाटों को नाराज कर लिया था। मुगल बादशाह ने किसी बात पर नाराज होकर अपने हाकिम मुल्ला शकीबी[1] को ग्राम ढांढर्स (तहसील गोहाना, जिला सोनीपत) को घेरा देकर नष्ट करने के लिये भेजा। किन्तु जाट खापों ने मिलकर उस पर भयंकर आक्रमण करके उसकी सेना को भगा दिया। इस प्रकार जाटवीर हुमायूं के विरोधी होगए, और इस स्थिति का लाभ शेरशाह ने उठाया और जाट खापों की सहायता से हुमायूं को हटाकर दिल्ली और आगरे पर अधिकार कर लिया? इसमें कोई सन्देह नहीं कि दिल्ली और आगरे पर अधिकार करने के लिये इन दोनों नगरों (राजधानियों) के चारों ओर पड़े जटैत समुदाय की अनदेखी नहीं की जा सकती थी।

शेरशाह सूरी ने सन् 1540-45 के पांच वर्षों के शासनकाल में जिन जाटों की सहायता से राज्य प्राप्त किया था, उन्हें ही कुचलने की सोची। बाबर की मृत्यु तथा शेरशाह सूरी के राज्य सिंहसन हथियानें की बीच की अवधि में जाट कबीले लाहौर से दिल्ली जानेवाले मार्ग पर निर्भय और निस्संकोच होकर उत्पात मचाने लगे थे। शेरशाह सूरी के गद्दी पर बैठते ही मुलतान और उसके समीपवर्ती जाटों ने अपना अधिकार क्षेत्र बढ़ाने के उद्देश्य से कोट काबूला के शक्तिशाली जाट फतहखान को अपना सरदार बनाया। फतहखान का गढ़ पाकपत्तन था और वह देहली से लाहौर आने-जाने वाले मार्ग पर लूट मचाया करता था। फतहखान जाट ने बलूची सरदारों के साथ मिलकर लाखी जंगल

1 दलीपसिंह, जाटवीरों का इतिहास, पृ० 585

(रावी-सतलुज नदियों के मध्यवर्ती क्षेत्र) पर अपना अधिकार जमा लिया। जाटों की उपर्युक्त गतिविधि पर अंकुश लगाने के लिये शेरशाह ने हैबतखान नियाजी को सूबेदार बनाया। हैबतखान ने सूबेदार बनते ही जाटों पर आक्रमण करने की योजना बनाई। आक्रमण की योजना सुनकर फतहखान ने पाकपत्तन छोड़ दिया और परिवार सहित कुहरोर फतहगढ़ की गढ़ी में जाकर शरण ले ली।

परन्तु हैबतखान फतहखान का पीछा करता हुआ फतहगढ़ तक पहुंच गया। इस स्थिति में अपने को असुरक्षित समझकर फतहखान ने युद्ध न करके सन्धि प्रस्ताव ही रखना उचित समझा और कुतुब आलम शेख के पुत्र शेख इब्राहीम को सन्धि के लिए भेजा। जब सन्धि की शर्तों के अनुसार फतहखान स्वयं अफगान छावनी में पहुंचा, तो उसको पकड़ लिया गया। जब जाट और बलूची सैनिकों को इसका समाचार मिला, तो उन्होंने अपने परिवारों को स्वयं मार दिया और सीड नामक एक बलूच सरदार के नेतृत्व में तीन सौ सैनिकों के साथ एक रात अफगान सेना पर टूट पड़े। जाटों और बलूचों की शक्ति यद्यपि कम थी तथापि उन्होंने अभूतपूर्व शौर्य का परिचय दिया। फतहखान को पहले ही पकड़ा जा चुका था अब बलूचों का सरदार भी पकड़ा गया। शेरशाह ने इन दोनों सरदारों को लाहौर में मौत के घाट उतार दिया। इस प्रकार जाटों का विद्रोह कुशल नेतृत्व के अभाव में दम तोड़ गया।

सन् 1545 ई० में शेरशाह की मृत्यु होगई। इसके बाद अफगान सरदारों में आपसी झगड़े होने लगे। ऐसी स्थिति में हुमायूं को भारत लौटने का अवसर मिला। उसने बैरमखान की सहायता से अफगानों को हरा दिया और सन् 1555 ई० में पुनः दिल्ली और आगरा पर अधिकार कर लिया। दिल्ली और आगरा पर पुनः अधिकार होने पर हुमायूं ने जाटों के साथ अपने सम्बन्ध बिगड़ने नहीं दिये। क्योंकि सत्ता की स्थिरता के लिए यह अनिवार्य था। सन् 1556 ई० में हुमायूं की मृत्यु होगई।

अकबर

हुमायूं की मृत्यु के पश्चात् उसका बेटा अकबर सन् 1556 ई० में राजगद्दी पर बैठा। अकबर के काल में प्रायः समस्त हिन्दुओं के साथ

उदारता का व्यवहार होने लगा था। परन्तु इतना निश्चित था कि अकबर के समय जाटों की तुलना में राजपूतों को अधिक राज्याश्रय प्राप्त था अतः अनेक क्षत्रीय जातियों ने अपने आपको राजपूत घोषित करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु जाट अपने जातीय गौरव पर दृढ़ रहे। उन्हें चाहे इससे हानि ही उठानी पड़ी हो। जाटों ने राजपूतों की भांति मुसलमानों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं जोड़े और अपने रक्त की शुद्धता को बनाए रखा।

अकबर के मुसलमान हाकिमों ने अपने लम्पटी स्वभाव के कारण जब कभी जाट युवतियों की ओर बुरी दृष्टि से देखा तब ही उन्हें करारा उत्तर मिला। इस प्रकार की एक घटना का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

बादशाह अकबर के समय में रानाबाई* नाम की एक जाट लड़की थी। इसका जन्म सन् 1543 ई० में जोधपुर राज्य के हरनावा नाम के गांव में चौधरी जालिमसिंह धाना गोत्र के जाट के घर हुआ था। रानाबाई की बाल्यकाल से ही सांसारिक धन्धों में अरुचि थी। अतः उसने जीवन पर्यन्त अविवाहित ही रहने का निश्चय कर लिया था। हरनावा गांव के उत्तर में दो कोस की दूरी पर गाछोलाव नामक तालाब के समीप बादशाह अकबर का एक मुसलमान हाकिम 500 सैनिकों के साथ छावनी डालकर रहता था। वह हाकिम जहां अन्यायी था वहां वह बड़ा व्यभिचारी भी था। उसने जब रानाबाई के रूप और यौवन की प्रशंसा अपने गुप्तचरों से सुनी, तो उसने रानाबाई को अपने हरम की बेगम बनाने की सोची।

उसने रानाबाई के पिता चौधरी जालमसिंह को अपने पास बुलाकर कहा कि रानाबाई का हाथ मेरे हाथ में दे दो, मैं तुम्हें मुंहमांगा इनाम दूंगा। जालमसिंह ने उत्तर में कहा कि जब मेरी लड़की किसी हिन्दू से ही विवाह नहीं करना चाहती तो मुसलमान के साथ विवाह होने का प्रश्न ही नहीं उठता। मुसलमान हाकिम इस उत्तर को सुनकर तिलमिजा उठा और उसने जालमसिंह को कैद कर लिया और स्वयं सिपाहियों को लेकर रानाबाई को बलात् अपनी बीबी बनाने के उद्देश्य

---

* जाट बन्धु मासिक पत्र, आगरा, अंक जुलाई 1986

से हरनावा गांव में पहुंच गया और जालमसिंह का घर चारों तरफ से घेर लिया। जब वह रानाबाई को पकड़ने के लिए उसके पास गया तो उस वीर युवती ने उसको ललकारा और अपनी तलवार के वार से उसका सिर काट गिराया। इसके बाद तो रानाबाई मुस्लिम सिपाहियों की भीड़ में घुस गई और मार-काट आरम्भ कर दी। अनेक सिपाही मारे गये तथा कुछ भाग खड़े हुए।

उपर्युक्त घटना कोई सामान्य घटना नहीं है। इस प्रकार का शौर्य-प्रदर्शन अनेक जाट युवतियों ने सतित्व की रक्षा के लिए किया है। इस घटना के अतिरिक्त हमें दलीपसिंह* के इतिहास से यह भी मालूम होता है कि सन् 1574 ई० में गांव सिसौली के राव गंडेराय की अध्यक्षता में सर्वखाप पंचायत की एक बैठक गांव शोरम जिला मुजफ्फरनगर में हुई थी, जिसमें नब्बे हजार लोग उपस्थित हुए थे। इस पंचायत ने जहाँ अपनी जातीय समस्याओं और संगठन पर विचार किया था, वहां अकबर के सामने भी कुछ मांगें रखी थीं। इन मांगों में एक मांग यह भी थी कि खाप के प्रधान या नेता अपनी खाप के गांव से स्वयं राजस्व इकट्ठा करें। इस मांग के पीछे यह भावना प्रतीत होती है कि तत्कालीन मुस्लिम अधिकारियों के निर्दयतापूर्ण राजस्व प्राप्ति के व्यवहार से मुक्ति पाना था। दूसरी बड़ी महत्त्वपूर्ण मांग यह रखी गई कि खाप पंचायतें स्वयं कृषि कर लगाएं और वे उपज के अनुसार इस कर को कम या अधिक करने में स्वतन्त्र होंगी।

दलीपसिंह के कथनानुसार ये मांगें बादशाह अकबर ने मान लीं। परन्तु हमारा विचार इस पंचायत के विषय में दलीपसिंह के विवरण से मेल नहीं खाता। प्रथम तो नब्बे हजार लोगों का एक स्थान पर एकत्र होना तत्कालीन परिस्थितियों में कुछ कठिन था। दूसरे सर्वखाप पंचायत के प्रस्तावों को नब्बे हजार लोगों को सुनाना कहां तक सम्भव हो सकता है, यह पाठक स्वयं विचारें। जहां तक कृषि कर लगाने का सम्बन्ध है वहां तक कहा जा सकता है कि यह अधिकार अकबर ने कभी भी सर्वखाप पंचायत को नहीं दिया। अतः उपर्युक्त सर्वखाप पंचायत की बात में अतिशयोक्ति से काम लिया प्रतीत होता है। हां इससे एक बात अवश्य सिद्ध होती है कि अकबर के काल में जाटों का जातीय संगठन बड़ा दृढ़ था।

---

* दलीपसिंह, जाटवीरों का इतिहास, पृ० 588।

जहां तक जाटों के सम्बन्धों में भू-स्वामित्व का प्रश्न है वहां तक कहा जा सकता है कि मुगलकाल तक प्रायः बहुत कम जाटों को भू-स्वामित्व प्रदान करके जमींदार बनने का अधिकार प्राप्त था। यह बात 'आइने अकबरी' के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। इस पुस्तक के आधार पर हम उन सरकारों (प्रान्तों) का विवरण यहां देते हैं, जिनमें जाटों को कितना अधिकार जमींदार कहलाने का था।

1	2	3	4
सरकार नाम	कुल परगने	कुल परगनों की संख्या जहां जमींदार अंकित किये गये हैं।	कुल परगनों की संख्या जहां जाटों को जमींदार रूप में अंकित किया गया है।
1- मुलतान			
बेट जालन्धर	9	9	2
बारी द्वाब	11	11	2
रेचनो	6	6	2
सिन्ध सागर	4	2	1
विरू पंजरीद	17	10	शून्य
2- दियालपुर			
बेट जालन्धर	10	9	5
बारी	6	6	1
रेचनो	7	6	2
विरू पंजरीद	6	5	2
3- लाहौर			
बेट जालन्धर	60	42	4
बारी	52	29	12
रेचनो	57	40	17
चम्हाट	21	15	5
4- दिल्ली			
दिल्ली	48	45	18
सम्भल	47	39	6

सहारनपुर	36	35	6
रिवाड़ी	12	11	4
हिसार फिरोजा	27	27	18
सिरहिन्द	33	33	13
5- आगरा			
आगरा	33	32	6
कोइल (अलीगढ़)	21	21	1
ग्वालियर	13	13	1
भयावां	26	26	6
अलवर	43	41	1
नारनौल	16	16	2
सहर	6	6	5

शाहजहां—

बादशाह जहांगीर के काल में जाटों के सम्बन्ध शाही दरबार के साथ न अच्छे थे और न बुरे। परन्तु शाहजहां के काल में इन सम्बन्धों में कटुता आनी आरम्भ होगई थी। इस कटुता का कारण शाहजहां की नवीन जागीरदारी अथवा मनसबदारी प्रथा थी। जागीर पुर्ननिर्धारण नीति के कारण खालसा विभाग अधिकतम भूमि नवीन जमींदारों अथवा मनसबदारों के नियन्त्रण में चली गई। इससे मुगल साम्राज्य का भू-राजस्व अवश्य वढ़ा लेकिन इससे काश्तकारों पर अधिक बोझ पड़ा। जमीदारों द्वारा अधिक लगान की मांग और तरह-तरह के नवनी करों की वसूली और अत्याचारों के कारण ब्रज के जाटों का पुराना स्वाभिमान जाग उठा। अठारवीं शताब्दी के प्रमुख दार्शनिक शाहबली उल्लाह के अनुसार "जाट प्रारम्भ में काश्तकार थे और शाहजहां के शासनकाल में इनको घोड़े की सवारी करने तथा बन्दूक रखने की आज्ञा नहीं थी। गढ़ी (किला) बनाने पर भी इन पर प्रतिबन्ध था।" अपनी जाति की इस उपेक्षा को कुछ उत्साही जाट युवक सहन नहीं कर सके और शनैः शनैः ब्रजमण्डल में स्वाभिमान की एक ऐसी ज्योति जली जो बुझाए न बुझी और आगे चलकर दावानल बनकर मुस्लिम सम्राज्य के लिए प्रलयंकारी सिद्ध हुई। इसी का विवरण अगले पृष्ठों में है।

अष्टम अध्याय

ब्रज-मण्डल में जाटों की क्रान्ति

ब्रज-मण्डल में जाट राज्य के विषय में लिखने से पूर्व ब्रज-मण्डल की सीमाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करना उचित रहेगा। सन् 1560 ई० के आस-पास नारायण भट्ट ने 'ब्रजभक्ति विलास' काव्य में ब्रज प्रदेश की सीमाओं का उल्लेख करते हुए कहा है—

पूर्वं हास्यवननीयं पश्चिमस्योपहारिकम्।
दक्षिणे जन्हुसंज्ञाकं भुवनारण्यं तथोत्तरे॥

अर्थात् पूर्व में हास्य वन (अलीगढ़ जिले का बरहद गांव) पश्चिम में उपहारिक वन (गुड़गावां जिले में सोन नदी के किनारे तक), दक्षिण में जन्तुवन (आगरा जिले में बटेश्वर) और उत्तर में भुवन वन (मथुरा जिले का शेरगढ़ क्षेत्र) ब्रज-मण्डल की सीमायें हैं। ग्राउस ने 'मथुरा मेमायर्स' में चतुर्वेदीकृत 'मथुरा महिमा' का जो दोहा उद्धृत किया है वह भी लगभग ऊपर लिखे श्लोक की पुष्टि इस प्रकार करता है—

इत बरहद ओ सोननद उत सूरसेन को गाम।
ब्रज चौरासी कोस में मथुरा मण्डल धाम॥

ब्रज का और जाटों का सम्बन्ध बहुत पुराना है। अरब यात्री अलबेरूनी ने लिखा है कि श्री कृष्ण के पिता वसुदेव शूद्र थे और जट्ट वंश के पशुपालक थे। इसके अतिरिक्त 'ब्रज की रज दुर्लभ देवन कूँ, कछु जाटन कूँ कछु मेवन कूँ' यह लोकोक्ति भी यह प्रमाणित करती है कि जाटों का ब्रज भूमि पर अधिकार था। इस अधिकार की कहानी का सम्पूर्ण विवरण इस इतिहास की पुस्तक में देना सम्भव नहीं है। यहां तो मात्र इतिहास के उत्तर मध्यकाल में पनपनेवाली जाट रियासतों एवं जाट क्रान्ति का वर्णन करना है।

सुलतानों के काल के बाद लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में कुछ जाट कबीले राजनैतिक संघर्षों से तंग आकर पंजाब, हरियाणा और राजपूताना को छोड़कर दिल्ली और आगरा के मध्य भाग में

यमुना नदी के दक्षिण-पूर्व हिण्डौन तक मेवात के क्षेत्र में आकर बस गये थे। विलियम क्रुक* के अनुसार "यद्यपि इस विशाल भू-भाग पर इन जाट कबीलों ने एक साधारण खेतीहर और मजदूरों के रूप में प्रवेश किया था, लेकिन संख्या में अधिक होने से जातीय संगठन के बलबूते पर कठोर परिश्रम और कुशलता द्वारा इस क्षेत्र में बसे पुराने, कमजोर तथा आलसी जमीदारों तथा काश्तकारों को बेदखल करके नियमित लगान देने की शर्त पर अधिकांश जमीदारियां प्राप्त करली थीं।"

राजस्व अभिलेखों से पता चलता है कि ब्रज-मण्डल में जाटों की आबादीवाले क्षेत्रों को काठेर, सिदगिरी, नन्दवास, डांग, जगरौती तथा नाहरा आदि नामों से पुकारते थे। सत्तरहवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में ये जाट कबीले पूर्व में आगरा, मथुरा, कोयल (अलीगढ़) तथा पश्चिम में मेवात की पहाड़ियों तथा आमेर राज्य की सीमाओं तक, उत्तर में दिल्ली से 20 मील दूर मेरठ, होडल, पलवल, फरीदाबाद से लेकर दक्षिण में चम्बल नदी के पार गोहद तक फैल चुके थे। इससे यह विशाल भू-भाग 'जटवाड़ा' कहलाने लगा।

शाहजहां से संघर्ष

सम्राट् जहांगीर की मृत्यु के समय मुगल साम्राज्य का उत्तराधिकार का मामला बड़े संघर्ष में गुजर रहा था। राजगद्दी के लिए होनेवाले संघर्ष के कारण सर्वत्र अराजकता फैल गई थी। इसका लाभ ब्रज-मण्ढल के जाटों ने उठाया और स्थान-स्थान पर शाही राजस्व की अदायगी रोककर क्षेत्रिय संगठनों का निर्माण कर लिया। इन क्षेत्रीय संगठन (पालों) ने इधर-उधर लूट मार करनी आरम्भ कर दी। शाहजहां के काल में नवीन जागीरदारी अथवा मनसबदारी प्रथा में वृद्धि हुई और इस वृद्धि का सीधा प्रभाव जाटों पर पड़ना स्वाभाविक था। क्योंकि भूमि का अधिकतम भाग जागीरदारों के हाथ में चला गया था और जागीरदारों ने जाट किसानों से अधिक लगान की मांग करदी थी। इसके अतिरिक्त जागीरदारों ने नवीन करों को भी

*विलियम क्रुक—ट्राइब एण्ड कास्टस आफ नोर्थ वेस्टर्न प्राविंसेज एण्ड अवध, भाग 3, पृ० 35, 95

लगा दिया था। और वे बड़ी कठोरता से इन करों की प्राप्ति में लग गये थे। जाट मात्र आर्थिक स्थिति के कारण ही असन्तुष्ट थे यह बात नहीं थी। अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक शाह वली उल्लाह के अनुसार जाटों की सामाजिक स्थिति भी उन्हें क्षत्रियोचित सम्मान नहीं देती थी। वली उल्लाह के कथनानुसार शाहजहां के शासनकाल में जाटों को घोड़े की सवारी करने तथा बन्दूक रखने की आज्ञा नहीं थी। गढ़ी बनाने पर भी इन पर प्रतिबन्ध था। इन परिस्थितियों का मिला-जुला परिणाम यह निकला कि 1635 के आस-पास अन्य काश्तकार जाटों के नेतृत्व में लूट-पाट करने लगे और स्वाधीनता के लिये मार्ग प्रशस्त करने लगे। लूटने की यह प्रवृत्ति इनमें पहले से ही विद्यमान थी। बिलग्राम युद्ध में पराजित होकर रिवाड़ी की तरफ भागते हुए हुमायूं को सिनसिनवार सौगारिया तथा यमुना पार जाटों ने लूटा था।

इसी समय सिनसिनवार खाप में उत्पन्न रोरियासिंह जाट ने अपनी खाप के लोगों को संगठित किया और खाप की सरदारी प्राप्त करके मुगल साम्राज्य में गड़बड़ी मचाने लगा। पंजाब में भी लगभग ऐसी ही अराजकता की स्थिति में जाटों ने लूट-पाट आरम्भ की थी और मिसलों के माध्यम से जाट राज्यों की स्थापना की थी। राज्य व्यवस्था के डांवाडोल होने पर दमित और प्रताड़ित व्यक्ति स्वभावत: अपनी दमित भावनाओं की तृप्ति के लिए लूट-पाट तथा मार-काट करता है, यदि उसमें भुजबल हो तो। जाटों में भुजबल था और वे कभी भारत के शासक भी रह चुके थे अत: इनमें अस्मिता भी शेष थी। भड़कती हुई परिस्थितियों में बस पलिता देने भर की आवश्यकता थी और यही काम जाटों ने किया। यही कारण था कि इनके पीछे सम्पूर्ण ग्रामीण समाज लग गया। जाटों तथा किसानों की लगान सम्बन्धी कठिनाइयों को शासकवर्ग न समझ सका अथवा जान बूझकर समझना नहीं चाहता था। इसलिए मुगल सरकार ने कर न देनेवाले किसानों को विद्रोही मान लिया और ब्रज-मण्डल में इनका दमन आरम्भ कर दिया।

शाहजहां ने 1636 में लगान को कठोरता से वसूल करने एवं ब्रज-मण्डल में फैली किसानों (जाटों) की क्रान्ति को दबाने के लिए

मुर्शीद कुली खां तुर्कमान नामक व्यक्ति को कामा पहाड़ी, मथुरा और महावन परगनों का फौजदार नियुक्त करके भेजा। उसने आते ही इन परगनों में अपनी सैनिक चौकियां स्थापित कीं। तुर्कमान स्थान-स्थान पर जाटों को कुचलने लगा और इनकी बहू-बेटियों को अपमानित करने लगा। तुर्कमान के आने से पूर्व प्रायः जाटों ने इस क्षेत्र में अराजकता की स्थिति उत्पन्न करदी थी। तुर्कमान के व्यवहार ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करदीं कि अन्य जाति के लोग भी जाटों की मदद के लिए खुलकर सामने आने लगे। 'मुआसिलरू उमरा' नामक पुस्तक में तुर्कमान के अत्याचारों का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'जन्माष्टमी (कृष्ण) के जन्मदिन मथुरा के पास यमुना के पार गोवर्धन में हिन्दुओं का एक बड़ा भारी मेला लगता था। हिन्दुओं की चाल पर माथे पर तिलक लगाए तथा धोती पहने मुर्शीद कुली खान पैदल ही उस भीड़ में चला जाता था और जब कभी वह किसी चन्द्रमुखी लावण्यमयी ललना को देखता, उस पर मेमनों के झुण्ड पर झपटनेवाले भेड़िये की तरह झपटता और उसे पकड़कर भगा ले जाता था। यमुना नदी के किनारे उसके आदमी नौका के साथ तैयार रहते थे। वे उस ललना को नौका में बैठाकर बड़ी तेजी के साथ यमुना पार ले जाते। उसकी पुत्री का क्या हुआ ? इस बारे में हिन्दू कुछ भी कह नहीं पाते थे।*

खान के इस आचरण को जाट कैसे सहन कर सकते थे ? लंगोटी का धनी जाट बेटी की रक्षा के लिए प्राणों पर खेलकर सोटी चलाता है। अतः खान के व्यवहार से जाटों का उत्तेजित होना स्वाभाविक था। एक तरफ तो उनकी कमरें नए-नए करों को लगाकर तोड़ी जारही थीं, कठोर व्यवहार से उनकी कब्रें खोदी जारही थी तो दूसरी ओर इनको जलाने के लिए इनकी बहू-बेटियों के साथ दुर्व्यवहार किया जारहा था। इसका खुला परिणाम यह हुआ कि जाटों में प्रतिशोध की भावना जागृत हो उठी और वे मुगल सरदारों की टुकड़ियों और चौकियों पर आक्रमण करने लगे। जाटों के नेतृत्व में सारे हिन्दू, मुर्शीद कुली खान के प्राणों को लेने के लिए उतारू होगए। विद्रोही जाटों के दमन के लिए सन् 1638 ई० में मुर्शीद कुली खान ने सम्भल के अन्तर्गत 'जाटवाड़' नामक स्थान पर आक्रमण

---

* यदुनाथ सरकार, औरंगजेब, भाग तीन पृ० 331-32 (उद्धृत)

किया, परन्तु जाटों ने मौका पाकर शराब के नशे में चूर मुर्शीद कुली खान को रात्रि के समय घेर लिया और उसकी हत्या करदी। इस क्रांति का प्रभाव हिण्डौन परगना में आबाद जाटों तथा अन्य कृषक जातियों पर पड़ा और इन्होंने भी खालसा भूमि का राजस्व रोक लिया। हिण्डौन परगना के विद्रोह को दबाने तथा राजस्व वसूल करने के लिए शाहजहां ने आमेर के राजपूत राजा जयसिंह को नियुक्त किया। राजा जयसिंह सेना की सहायता से लगान प्राप्त करने में तो जैसे-तैसे सफल होगया, परन्तु वह जाटों की क्रांति-सम्वन्धी भावनाओं को कुचलने में समर्थ नहीं हो सका।

इसी बीच रौरियासिंह के पोते मदू ने सिनसिनी के क्षेत्र का ठाकुर (मुखिया) पद प्राप्त किया और शाही फौजदार करोड़ी सागरमल का विरोध करके अपनी खाप तथा समीपवर्ती अन्य खापों में सम्मानपूर्ण स्थान बना लिया। इसी मदू को सूदन कवि ने शाहजहां के हृदय का कांटा लिखा है। इसने नवयुवकों के साथ मिलकर आगरा तथा दिल्ली के मध्य खालसा (सरकारी गांव) और शाही मार्गों पर लूट करनी आरम्भ करदी। इसका परिणाम यह हुआ कि शाही मार्ग सुनसान से होगए और जागीरदार राजस्व वसूल करने में असमर्थ होगए। इस परिस्थिति को देखते हुए शाहजहां ने राजा मिर्जा जयसिंह को इन परगनों में विद्रोही जाटों को हर सम्भव प्रयास से कुचलने का आदेश दिया और कहा गया कि यदि विद्रोही शक्ति का प्रदर्शन करें तो उन्हें गोली का निशाना बना दिया जाए। लगभग एक वर्ष तक मिर्जा राजा जयसिंह और उसका पुत्र कीरतसिंह सैनिक–शक्ति के सहारे विद्रोही जाटों के नेतृत्व में लड़नेवाले व्यक्तियों से संघर्ष करते रहे। मदूसिंह तथा उसके चाचा सिंघा ने एक-एक इंच भूमि पर जमकर लड़ाई की। इस संघर्ष में अनेक जाट-परिवार तथा गूजर और मेव खेत रहे। अन्त में शाहजहां ने इन परगनों में अपने विश्वासपात्र राजपूत बसवाकर कहीं शान्ति की सांस ली। कुछ दिनों तक इन परगनों में व्यवस्था-सी बनी रही।

औरंगजेब से टकराहट

मुगलसम्राट् शाहजहां की बीमारी के साथ ही समस्त भारतवर्ष में अव्यवस्था फैलती चली गई और उसके चारों पुत्र राजगद्दी प्राप्त

करने के लिए सैनिक-शक्ति का प्रयोग करने में लग गए। इस संघर्ष में सफलता औरंगजेब के हाथ लगी। शाहजहां के प्रकट उत्तराधिकारी दाराशिकोह की हार के बाद ब्रज–मण्डल से प्रायः समस्त मुगल कर्मचारी भाग चुके थे। विद्रोही जाटों ने इस अव्यवस्था एवं अराजकता का लाभ उठाने में समय नहीं खोया। इस अराजकता की स्थिति में 'ठेनुआं' गोत्री नन्दराम जाट ने यमुनापारी जाटों का नेतृत्व सम्भाला और मुगल सेना की परस्पर व्यस्तता को देखकर विद्रोह का झण्डा बुलन्द कर दिया। इसने सन् 1660 ई० में अलीगढ़, मुरसान, हाथरस और मथुरा-क्षेत्र के कुछ ग्रामों पर अधिकार कर लिया।

औरंगजेब ने राजसिंहासन पर बैठते ही जाटों के विद्रोह को दबाने के लिए एक नए मुगल फौजदार को सेना सहित भेजने का विचार किया। अन्त में अपने सलाहकारों के कहने पर उसने यह विचार त्याग दिया और जाट को जाट से लड़ाने के लिए 'ठेनुआं' गोत्री विद्रोही जाट नन्दराम को ही तोछीगढ़ परगने का कार्यभारी फौजदार बना दिया। इस प्रकार औरंगजेब ने विद्रोही जाटशक्ति को अप्रत्यक्ष रूप से एक प्रकार की स्वीकृति प्रदान करदी। नन्दराम ने जाटों को कुचलने का यथाशक्ति प्रयास किया। क्योंकि फौजदार पद के व्यक्तिगत लाभ से वह औरंगजेब के ऐहसान के नीचे दबा हुआ था। परन्तु अन्य जाटधारों ने नन्दराम की जाति–विरोधी भावना को देखकर उसका साथ छोड़ दिया। इस प्रकार औरंगजेब की जाट को जाट से भिड़ाने की प्रथम चाल असफल रही और जाट उसी प्रकार शाही परगनों एवं शाही मार्गों पर व्यापारियों को लूटने में लगे रहे। जाटों का एक हाथ हल की मूठ पर तथा दूसरा हाथ धन की लूट पर टिका रहा।

औरंगजेब के राज-गद्दी पर बैठने के उपरान्त राज्य की धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक नीतियों में एकदम अन्तर आया। जिन दिल्लीश्वरों ने धार्मिक कट्टरता का विरोध करके एक धर्मनिरपेक्ष राज्य स्थापित करने में अपने जीवन का बड़ा भारी भाग खपाया था, उन्हीं के उत्तराधिकारियों ने धार्मिक कट्टरता अपनाकर इसकी जड़ें खोखली करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। औरंगजेब की

धार्मिक मतान्धता यहाँ तक बढ़ी कि उसने हिन्दुओं पर 'जजिया' कर लगा दिया। इस सन्दर्भ में ईलियट एण्ड डाउसन ने 'कंजूल महफूज' नामक प्राचीन पुस्तक का अवतरण देते हुए लिखा है कि—"आगरा नगर में एक विशाल मन्दिर था, जिसमें कितनी ही बहुमूल्य रत्नों और मोतियों से जड़ी प्रतिमाएं थीं। इन मूर्तियों के दर्शन के लिए प्रति-वर्ष कई वार काफिर (हिन्दू) लोग आया करते थे। प्रवेश के लिए प्रत्येक व्यक्ति से सरकार कर लिया करती थी। यात्रियों की संख्या बहुत होती थी और शाहीकोष में बहुत रुपया आता था। जब औरंगजेब को इस विषय में सूचित किया गया, तो उसने वहुत क्रुद्ध होकर यह कर वन्द कर दिया। इस आदेश को सुनकर उसके बड़े-बड़े अधिकारियों ने निवेदन किया कि इस कर से राज्य-कोष में बड़ी भारी धनराशि आती है। अतः इसको वन्द करने से राज्य की आय में बड़ी कमी आजाएगी। सम्राट् ने उत्तर दिया कि "आप जो कहते हैं, वह ठीक है। परन्तु मैंने इस विषय पर बहुत विचार किया है। यदि आप आय में वृद्धि चाहते हैं तो यह वृद्धि 'जजिया' लगाने से हो सकती है। इससे मूर्तिपूजा वन्द हो जाएगी, इस्लाम-धर्म का सम्मान होगा और राजकीय आय में वृद्धि होगी।"

जजिया कर

उपर्युक्त पुस्तक के अनुसार 'जजिया' कर सब छोटे-बड़े हिन्दुओं और विद्रोही काफिरों से साम्राज्य के कोने-कोने से लिया जाता था। 'जजिया' के संग्रह में सरकारी अधिकारियों ने बड़ी कठोरता दिखाई। इससे इस्लाम को बड़ा भारी आधिपत्य प्राप्त हुआ और लोग मुसलमानों से डरने लगे। यदि घोड़े पर जाते हुए कोई हिन्दू 'जजिया' करके चपरासी को देखता तो तत्काल उसका चेहरा फीका पड़ जाता और वह चपरासी की चाटुता करने लगता था।"

औरंगजेब की इस नीति से मालवा, बुन्देलखण्ड, खानदेश तथा जटवाड़ा प्रदेश (जाटों के प्रदेश) में विरोध हुआ। कई स्थानों पर 'जजिया' वसूली करनेवालों को पीटा गया। उनकी दाढ़ी नोच ली गई और उन्हें भगा दिया गया। यद्यपि यह घटनाएं छुट-पुट रूप में हो रही थीं, तथापि इससे यह सिद्ध होता है कि विद्रोह की आग शनैः शनैः सांस लेने लगी थी।

जहां तक आर्थिक स्थिति का सम्बन्ध है, उसने विशेषरूप से जाटों को तथा सामान्यरूप में कृषिपरक अन्य जातियों को दयनीय परिस्थितियों में धकेल दिया। भूमि का स्वामी होने के कारण औरंगजेब ने अपने अधिकारियों को नकद वेतन न देकर कुछ भूमियां उन्हें अपना खर्चा चलाने के लिए इस शर्त पर दे दी कि वे अपना तथा अपने सैनिकों का खर्चा निकालकर बचत में से कुछ भाग सरकार के कोष में देंगे। इस प्रकार के जागीरदारों ने किसानों पर कर का भार बढ़ा दिया। कर का यह भार समय के साथ घटने की अपेक्षा बढ़ता ही गया। इस प्रकार किसानों की आर्थिक कठिनाइयां उस परिस्थिति में और भी बढ़ जाती थीं जबकि एक जागीर कुछ समय के बाद किसी दूसरे जागीरदार के नाम परिवर्तित करदी जाती थी। इस प्रकार पहला जागीरदार जागीर के छिन जाने के भय से अधिक से अधिक लगान अथवा कर किसानों से वसूल करके अपने भविष्य को सुनिश्चित कर लेता था।' उसे किसान की कोई चिन्ता नहीं होती थी। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आती थी कि पूर्व जागीरदार के गुमाश्ताओं द्वारा संग्रहीत कर नए जागीरदार के आने पर पुनः प्राप्ति के लिए दबाव डाला जाता था और बलात् लिया जाता था। यदि किसान दुबारा कर नहीं देता था तो उसे कठोर यातनाएं दी जाती थीं। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती थी जबकि किसान को अपनी स्त्री, बच्चे तथा पशु तक बेचने पड़ जाते थे अथवा यातनाओं से बचने के लिए टांडा-डेरा उठाकर अन्यत्र जाने के लिए विवश होना पड़ता था। इस प्रकार मुगलों की जागीरदारी-प्रथा किसानों के लिए अत्यधिक हानिकारक तो थी ही, साथ-साथ में इसने राज्य के हितों पर भी कुठाराघात किया। इस परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि जाट जो मूलतः कृषिपरक थे अपने असन्तोष को प्रकट करते।

जाट स्वभाव से प्रजातन्त्री सिद्धान्तों में आस्था रखनेवाला है। औरंगजेब की नीति-निरंकुश एकतन्त्रवाद की ओर थी। इस प्रकार जाटों की औरंगजेब से मिल-जुलकर चलने की नीति का प्रश्न ही नहीं उठता था। जाट अपने जातीय संगठन में बाह्य हस्तक्षेप को सहन करने के अभ्यस्त नहीं थे। औरंगजेब ने उनकी परम्परागत संस्थाओं में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जाटों ने सन् 1661 ई० में 'छपरौली' में एक जातीय सम्मेलन (सर्व-

खाप पंचायत) बुलाई, जिसमें औरंगजेब की नीतियों की आलोचना की गई। इस प्रकार उपर्युक्त परिस्थितियों में जाटों ने मुसलमानों को तंग करने के लिए मथुरा–आगरा के मध्यवर्ती राज-मार्ग को घेर लिया। इस विद्रोह को कुचलने के लिए औरंगजेब ने अब्बदुन् नबी नामक व्यक्ति को मथुरा का गवर्नर बनाकर भेजा। मथुरा का गवर्नर बनते ही उसने जाट विद्रोहियों पर अचानक आक्रमण किए और उनके गांवों को नष्ट करना आरम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त अब्बदुन् नवी अक्षरशः औरंगजेब की धार्मिक नीति का अनुयायी था। वह कुफ्र को मिटाने तथा इस्लाम की जड़ें दृढ़ करने में ही लगा रहा। उसने दाराशिकोह द्वारा केशवराय के मन्दिर को भेंट की गई पत्थर की जालियों तक को निकलवा दिया और मूर्तियों को निर्दयता से नष्ट करना आरम्भ कर दिया।

उपर्युक्त परिस्थितियां स्वयं एक धमाका करने के लिए अन्दर ही अन्दर सुलग रही थीं। बड़े-बड़े कूटनीतिज्ञ इस धमाके के नेतृत्व या दिशा के अनुमानों में सिख अथवा मराठों के नामों का राग अलापते थे। परन्तु यह अनुमान धरा का धरा रह गया और यह धमाका किसी भी प्रकार की राजनैतिक शक्ति न रखते हुए भी जातीय संगठन के भरोसे पर जाटों ने कर दिखाया। जाटों के इस धमाके को देखकर इतिहासकार चकित होते हैं और उन्हें यह कहने के लिए विवश होना पड़ता है कि आखिरकार जाट-जाट है न जाने वह कब कहां ज्वालामुखी बनकर फूट पड़े। अतः जाटों से छेड़-छाड़ करना सोये हुए सिंह को जगाना है।

गोकुला

इस धमाके का अग्रदूत सिनसिनवार गोत्री गोकुला जाट था। इसने बीहड़ जंगलों और राजपथों पर दिन–रात विद्रोह की अग्नि धधकाई। गोकुला के परिवार में इसके पड़दादा सिंघा, रौरियासिंह के साथ मिलकर जाट क्रान्ति का बीज पहले ही छिटक चुके थे। जाटों के विषय में यह कहावत प्रचलित हो चुकी थी कि वे कर को बड़ी कठिनता से उगाहने देते हैं। अब्दुल फजल ने 'अकबरनामा' में लिखा है कि "यमुना के दोनों तटों पर बसनेवाले किसान (जाट) विद्रोही,

वीर और उत्साही हैं। गोकुला को विद्रोही बनाने में तथा मुगलों के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार करने में समर्थ गुरु रामदास का हाथ था, ऐसा माना जाता है।* परन्तु इसमें सत्यता का अंश इतना नहीं है जितना कि समझा जाता है। वस्तुतः उस समय हिन्दू जाति का प्रत्येक शुभचिन्तक प्रभावशाली व्यक्ति हिन्दुत्व की रक्षा के लिए प्रयत्नशील था। इस प्रकार के व्यक्तियों में समर्थ गुरु रामदास भी एक थे। दिल्ली और आगरा के मध्य समर्थ गुरु रामदास के विचार के समान सोचनेवाले अनेक साधु-सन्त थे जो कि जनता को कर्त्तव्यबोध की प्रेरणा दे रहे थे।

'मयासिरुल उमरा' नामक पुस्तक के अनुसार "गोकुला स्वभावतः क्रान्तिकारी जाट था और उसने कान्तिकारी भावनाओं को सबल बनाने के लिए लूटमार अथवा राहजनी का साहसिक धन्धा अपनाया। तिलपत गांव का प्रमुख जमींदार बनने से पूर्व गोकुला महावन क्षेत्र में रहता था। विभिन्न लेखकों के अनुसार गोकुला जाट स्वाधीनता प्रेमी, सुयोग्य संगठनकर्त्ता, पराक्रमी, निर्भीक और स्वाभिमानी सरदार था। व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा जातिगत एकता के महत्त्व को समझनेवाला तथा मुगल-साम्राज्य के विरोध में सशस्त्र क्रान्ति को जन्म देनेवाला प्रथम जाट मुखिया था। वह चाहता तो नन्दराम की भांति अपने स्वाभिमान को तिलांजलि देकर मुगल-सम्राट् के हाथ अपने आपको बेच देता। परन्तु वह तो बना ही अलग धातु का था, जिसकी परख मुगल बादशाह को बड़ी कसैली और तेज तर्रार लगी। गोकुला ने अपने साथियों में वह जीवनी-शक्ति फूंकी कि वे लाठी, बल्लम, तलवार के धनी होने के साथ-साथ बन्दूक चलाने में भी सिद्धहस्त होगए।

सन् 1669 ई० में गोकुला तिलपत गांव को छोड़कर मुगलों के अत्याचारों से मुकाबला करने के लिए महावन की ओर आगया था और उसने यहां किसानों को लगान न देने के लिए प्रोत्साहित किया। मथुरा परगने में उसे अपनी ही खाप के लोगों के अतिरिक्त मेव, मीणा, अहीर, गूजर, नरुका तथा पँवार लोगों से भी सहयोग मिला। सिंघोली और चावली आदि गांवों के जाट युवक भी उसके साथ मिल गए। विद्रोहियों की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर सन् 1669 ई० में अब्दुन्

* गिरीशचन्द्र द्विवेदी, दी जाट्स, पृ० 26

नवी खां विद्रोहियों के प्रमुख गढ़ सुरहा (सहोर) की ओर बढ़ा और उसने जाटों के कई गांवों पर अधिकार करके सुरहा गांव का घेरा डाल लिया। जाट लोगों ने उसको गोली से उड़ा दिया और मुगल सेना के पांव उखड़ गये और वह मैदान छोड़कर भाग खड़ी हुई। मुगल सैनिकों द्वारा छोड़ी गई बहुत-सी युद्ध सामग्री जाटों के हाथ आई। सुरहा गांव की विजय ने जाटों के उत्साह को दुगुना कर दिया और उनमें एक विशेष प्रकार की अपने शौर्य के प्रति भावना जागी। इस भावना और विजय से प्रोत्साहित होकर उन्होंने गोकुला के नेतृत्व में सादाबाद नगर तथा परगने में लूटमार की और अग्नि लगाकर एक भयावह दृश्य उपस्थित कर दिया। मुगल फौजदार इस लूट-पाट और अग्निकाण्ड को रोकने में असफल रहे। यदुनाथ सरकार तथा कानून-गो के अनुसार—'गांवों से मुगल कर्मचारियों का आतंक उठ गया और हिन्दू नागरिकों ने गोकुला का मुक्त-हस्त होकर साथ दिया।"

मुगल बाहशाह आलमगीर ने क्रान्तिकारियों को दबाने के लिए सैफशिकन खां को मथुरा का फौजदार नियुक्त किया और इसकी सहायता के लिए सेनापति रादअंदाज खां एवं राजपूत सरदार ब्रह्मदेव सिसौदिया को रवाना किया। परन्तु ये सेनापति भी जाट-नेतृत्व के पीछे चलनेवाले विद्रोहियों को नहीं दबा सके और मुगल-राज्य के प्रति विद्रोह की भावना निरन्तर बढ़ती रही, इससे मुगल सरकार तथा अन्य परगनों में गोकुला का भयंकर आतंक छा गया। चार महिने के शक्ति-परीक्षण के उपरान्त जब गोकुला से सैफशिकन खां तंग आगया तो उसने एक सन्धि-प्रस्ताव इस आशय का भेजा कि यदि वह (गोकुला) लूट का माल वापिस कर दे, भविष्य में लूट न करने का आश्वासन एवं अग्निकाण्ड आदि की उत्तेजनात्मक कार्यवाही न करे, तो उसे क्षमा किया जा सकता है। परन्तु गोकुला पर इस प्रस्ताव का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उसने यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। गोकुला का मन तो किसानों की दुर्व्यवस्था को दूर करने में इतना मग्न होगया था कि उसे अपने प्राण त्यागने में भी कोई संकोच नहीं था।

सन् 1669 ई० के व्यतीत होते ही जाट पुनः सक्रिय होगए। जाटों को दबाने के लिए स्वयं आलमगीर मथुरा पहुंचा और नदी के

किनारे छावनी डाली और यहीं से गोकुला के विरुद्ध मुगल सेना का संचालन किया। मुगल सेनाओं ने रेपाडा, चन्दरख और सरखरू नामक तीन गढियों पर अचानक आक्रमण किया। अचानक घेराबन्दी हो जाने से विद्रोहियों के परिवार घिर गए। अतः बहुत से जाट वीर अपनी प्राणप्रिय पत्नियों को जौहर की ज्वाला में विदा करके अथवा स्वयं उन्हें तलवार के धार उतार करके मुगलों की सेना पर शेर की भांति टूट पड़े। लेकिन बन्दूकचियों की मार के कारण विद्रोहियों को सफलता नहीं मिली। ऐसी परिस्थिति में गोकुला को सादाबाद परगना खाली करना पड़ा और उसने तिलपत में युद्ध की घोषणा करदी। अतः मुगल फौजदार हसनअली सादाबाद छोड़कर तिलपत की ओर बढ़ा। इसके अतिरिक्त मुगल तोपखाना और पैदल पल्टन की टुकड़ियां भी गोकुला का घेरा डालने के लिए रवाना हुईं। इस समय गोकुला के पास लगभग बीस हजार सवार एवं पैदल जाट तथा अन्य साहसी सैनिक थे। तिलपत से बीस मील दूर दोनों सेनाओं में भयंकर मुठभेड़ हुई। यहां गोकुला की पार नहीं बसाई और उसने तिलपत में युद्ध की तैयारियां आरम्भ करदीं। तिलपत को मुगल सेना ने घेर लिया। यह घेरा तीन दिन तक रहा और चौथे दिन मुगल सेना ने सुसज्जित होकर गांव पर एक साथ धावा बोल दिया। पैदल सेना की रक्षा के लिए तोपें आग उगल रही थीं। दोनों ओर से जमकर लड़ाई हुई। अल्हड़ जाट सैनिकों एवं किसानों ने इस युद्ध में असीम वीरता का परिचय दिया। जाटों की लाश पर तिलपत पर मुगली सेना का अधिकार होगया। गोकुला तथा उसका ताऊ उदयसिंह सिंघी सात हजार सैनिकों के साथ बन्दी बनाए गए।

1 जनवरी 1670 को आलमगीर ने मथुरा से अपनी छावनी उठाई। गोकुला को सभी बन्दी सैनिकों के साथ श्याम खां के नियंत्रण में आगरा ले जाया गया। महान्ध औरंगजेब ने सर्वप्रथम हथकड़ियों और बेड़ियों में बन्धे गोकुला को इस्लाम-धर्म स्वीकार करने के लिए बार-बार कहा। क्योंकि मुगल बादशाह जानता था कि यदि जाटों के सरदार गोकुला ने इस्लाम स्वीकार कर लिया तो अन्य कैदी सैनिक बड़ी सरलता से उसका अनुकरण करके इस्लाम-धर्म अपना लेंगे। इस्लाम-धर्म अंगीकार करने के लिए गोकुला को बड़े-

बड़े प्रलोभन भी दिए गए। परन्तु जाटनेता की नस-नस में जातीय स्वाभिमान और देशप्रेम की भावना हिलोरे ले रही थीं। उसकी आंखों के सामने मुगलों के अत्याचार नाच रहे थे। गोकुला ने केवल एक ही पाठ पढ़ा था कि जाटवीर की अकीर्ति मृत्यु से भी अधिक बढ़-चढ़कर होती है। अतः उसने औरंगजेब की कट्टर मनोवृत्ति का उपहास करते हुए कठोर शब्दों में उत्तर दिया कि अरे बादशाह! तू प्रलोभन और प्राणों का मोह दिखाकर मुझे अपना धर्म छोड़ने के लिए कहता है, लेकिन तुझे मालूम होना चाहिए कि मेरी नसों में सच्चा जाट-रक्त विद्यमान है जो कि आन-मान और मर्यादा के लिए एक-एक बूंद करके टपक सकता है। जाट टूट सकता है, पर अपने धर्म से नहीं डिग सकता। यह सुनकर बादशाह का पारा गर्म होगया और उसने गोकुला की नृशंसतापूर्वक हत्या करने का आदेश दे दिया। सन् 1670 ई० की जनवरी के प्रथम सप्ताह में जाति, धर्म एवं राष्ट्र के प्रेमी जाट सरदार गोकुला को आगरा की कोतवाली के सामने एक ऊँचे चबूतरे पर जंजीरों से जकड़कर जल्लादों के सामने लाया गया और जल्लादों ने बड़ी निर्दयता से उसके विभिन्न अंगों को एक-एक करके काट डाला, पर उस वीर ने आह तक न की। गोकुला के परिवार के विषय में इतिहासकार यह कहते हैं कि उसके लड़का और लड़की को मुसलमान बना लिया गया और उसकी लड़की का विवाह एक मुसलमान अधिकारी से किया गया तथा लड़के को कुरान का वाचक बनाया गया। परन्तु इस मान्यता पर पूर्ण सन्देह किया जा सकता है। गोकुला के परिवार को तो जाटों ने पहले ही सुरक्षित स्थान पर भेज दिया था। इस सम्बन्ध में कानून-गो भी मुसलमान होने की घटना को सत्य नहीं मानते, वे कहते हैं कि—"किसान लम्बे समय तक बिना घबराये शौर्य प्रदर्शित करते हुए लड़ते रहे। जब वे प्रतिरोध के योग्य नहीं रहे तब अनेक जाटों ने अपने परिवारों को मार डाला और अपने प्राणों का महंगा सौदा करने के लिए मुगलों पर टूट पड़े।"

गोकुला की हृदय-विदारक मृत्यु को हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने देखा। उनमें से कुछ के मन में औरंगजेब के प्रति घृणा और गोकुला के प्रति प्रेम और श्रद्धा के भाव उमड़ रहे थे। कुछ के मन में देश और

धर्म के लिए /प्राण न्यौछावर करनेवाले इस वीर के बलिदान से जातीय गौरव का अभिमान उठ रहा था। परन्तु बड़ा दुःख है कि वर्तमान समय में जाट जाति इस बलिदान को भूल गई है और जाति का रक्त लाल न होकर सफेद होगया है। अन्यथा क्या कारण है कि जाट जाति गोकुला के बलिदान स्थल पर आज तक एक ईंट भी नहीं लगवा सकी ? गोकुला के बलिदान से सिर्फ पांच वर्ष बाद दिल्ली में गुरु तेगबहादुर का बलिदान हुआ था। करोड़िया मिसल के सरदार बघेलसिंह ने रातों-रात कोतवाली चांदनी चौक में गुरुद्वारा शीशगंज के चबूतरे का निर्माण करवा दिया था। चाहे जाट जाति ने कोकुला का पार्थिव स्मारक न खड़ा किया हो परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि गोकुला के बलिदान ने मुगलों की दृष्टि में 'जाट शक्ति' की पहचान कराई और जाटों की अपनी भावी रणनीति में परिवर्तन करने का मार्ग प्रशस्त किया।

जाटों ने देखा कि गोकुला के नेतृत्व में बीस हजार सैनिक आमने-सामने की लड़ाई में मुगलों से हार गए। अतः उन्होंने भावी युद्ध-योजना में आमने-सामने की लड़ाई को मुख्य आधार न बनाकर 'छापामार' युद्ध शैली को अपनाया। इसके अतिरिक्त जाटों ने यह भी अनुभव किया कि उनकी गढ़ियां सुरक्षा की दृष्टि से उपयुक्त स्थानों में नहीं हैं। अतः उन्होंने भविष्य के लिए बीहड़ जंगलों और दुर्गम रतीले स्थानों पर अपनी गढ़ियां बनाना आरम्भ कर दिया। अन्त में गोकुल के बलिदान ने सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि जाटों को राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्ति के लिए सचेत कर दिया। इसी का परिणाम भरतपुर राज्य की स्थापना में दिखाई पड़ा।

जाटों के विद्रोह से पूर्व भी औरंगजेब के साम्राज्य में अन्य विद्रोह हुए थे। परन्तु वे इतने प्रबल नहीं थे। इसके साथ ही उन विद्रोहों का स्थान भी राजधानी से दूर था। लेकिन गोकुला का विद्रोह समय, स्थान तथा विस्तार की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। यह औरंगजेब की सत्ता को उसी की नाक के नीचे (राजधानी के समीप) नकारने का प्रथम शक्तिशाली प्रयास था।

राजाराम

गोकुला की मत्यु के कारण जाट लोग अत्यधिक उत्तेजित थे।

एक अच्छे प्रशासक के नाते औरंगजेब को चाहिए तो यह था कि वह राजधानी के समीप बसनेवाले निर्भीक एवं शक्तिशाली जाटों को तुष्टीकरण की नीति द्वारा अपने बसमें रखता। परन्तु औरंगजेब अत्यधिक जिद्दी तथा प्रतिशोध की भावनावाले व्यक्तित्व का बना हुआ था। उसने शक्ति द्वारा ही जाटों को दबाने का संकल्प कर लिया। इस संकल्प ने खेती करनेवाले शांतिप्रिय जाटों को धधकता अग्निपुञ्ज बना दिया। गोकुला की मृत्यु के बाद लगभग एक दशक तक जाटों के आन्दोलन में शिथिलता दिखाई पड़ती है। इस शिथिलता के अनेक कारण कहे जा सकते हैं। इनमें एक कारण यह हो सकता है कि मुगलसेना द्वारा कीगई जाटों की नृशंस हत्याओं की स्मृति उनमें शेष थी, जिससे वे अभी तक उभर नहीं सके थे। इसके अतिरिक्त औरंगजेब भी अन्य शत्रुओं पर विजय होने पर वह उत्तरी भारत में पूर्णशक्ति के साथ उपस्थित था। अत: जाट शीघ्रता में कोई कदम नहीं उठाना चाहते थे। परन्तु इतना निश्चित है कि जाट उचित समय की प्रतीक्षा में अवश्य थे।

यह उचित समय उस समय जाटों के हाथों में आया जब औरंगजेब दक्षिणी भारत में अनवरत होनेवाले युद्धों में भाग लेने के लिए उत्तर भारत से चला गया और राज्य की बागडोर मध्यम वर्ग के अधिकारियों के हाथ में आगई। जाटों ने समय तथा परि-स्थितियों को अपने अनुकूल जानकर भज्जासिंह और उसके पुत्र राजाराम के नए नेतृत्व में शीघ्र ही आन्दोलन को नई दिशा प्रदान की। इस आन्दोलन की नई दिशा से पूर्व भज्जासिंह का भाई ब्रजराज मुगल सत्ता को चुनौती देचुका था। ब्रजराज के विषय में मनुची निकोलाई[1] ने लिखा है कि "यह व्यक्ति आयु में सबसे वृद्ध और अधि-कार में सबसे बड़ा था। जिसने सरकारी खजाने में कर को नहीं जाने दिया।" औरंगजेब ने ब्रजराज को दबाने के लिए आगरा के फौजदार मुल्ताफतखान को भेजा। जाटों ने कर देने की अपेक्षा मरना उत्तम समझा और मुल्ताफतखान से उलझ पड़े। इस संघर्ष में मुल्ताफतखान मारा गया। ब्रजराज ने शाही मार्गों पर व्यापारियों को लूटा और सिनसिनी गढ़ी में शरण लेली। इस गढ़ी में मुगलसेना द्वारा घिर जाने

(1) मनूची निकोलाई, स्टोरिया दो मोगोर, भाग दो, पृ० 209

पर अपने परिवार को गढ़ी से बाहर भेज दिया और स्वयं युद्ध करता हुआ मारा गया। इसकी मृत्यु के उपरान्त इसी गर्भवती पत्नी से एक लड़का उत्पन्न हुआ जोकि जाट इतिहास में बदनसिंह के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसके उपरान्त हमें जाट इतिहास के सन्दर्भ में राजाराम का नाम सुनाई पड़ता है।

गोकुला की विद्रोहात्मक गतिविधियों का केन्द्र मथुरा और आगरा, का क्षेत्र था। परन्तु भज्जा का विद्रोहात्मक क्षेत्र भरतपुर और अलवर के जिले बने। भज्जासिंह जिसको भगवत नाम से भी जाना जाता था, तथा इसके भाई ब्रजराज के विषय में कहा जाता है कि ये दोनों भाई साधारण किसान के रूप में जीवन व्यतीत करते थे। इनके पास खेती करने के लिए एक जोड़ी बैल थे। एक जनश्रुति के अनुसार एक बार एक भाट घूमता हुआ सिनसिनी गांव में आया और भज्जासिंह के फूस के मकान में ठहरा। भज्जासिंह ने अपने जातीय व्यवहार के अनुरूप उसकी खूब सेवा की। प्रातःकाल अब वह चलने लगा तब भज्जासिंह ने उससे कहा—हमारे पास आपको भेंट देने के लिए कुछ नहीं है और बिना भेंट के भट्ट ब्राह्मण को घर से विदा करना हमारी मर्यादा के प्रतिकूल है। हमारे पास तो एक बैलों की जोड़ी है, जिससे हमारे परि-वार का निर्वाह होता है। हम उसी को भेंट करके अपने आपको कृतार्थ मानेंगे। यह कहकर बड़े भाई ब्रजराज ने बैलों की जोड़ी उस ब्राह्मण को दे दी। बैलों की जोड़ी लेकर भट्ट ब्राह्मण के मुंह से यह आशीर्वाद निकला कि—

इत दिल्ली उत आगरौ बीच हि तख्त मझार।
सुबस वसियौ सिनसिनी, जहं ब्रज भगवत दातार॥

कहते हैं कि इसी के परिणामस्वरूप भज्जासिंह का भाग्योदय हुआ। उपर्युक्त जनश्रुति ऐतिहासिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखती हां, इससे इतना आभास अवश्य होता है कि राजाराम के पिता भज्जा की प्रारम्भिक स्थिति एक सामान्य किसान जैसी थी। लोगों का प्रायः यह स्वभाव होता है कि किसी की आकस्मिक उन्नति को देखकर उसके साथ किसी-न-किसी करामात को जोड़ देते हैं, ठीक यही इस जनश्रुति के पीछे दिखाई पड़ती है।

राजाराम का परिवार सिनसिनी गांव का रहनेवाला था और थूण का प्रसिद्ध किला इनका निवास स्थान था। वस्तुतः भज्जासिंह से ही जाट राज्य की स्थापना का स्वप्न कुछ-कुछ साकार होने लगा था। उसकी इच्छा लूट-पाट और विद्रोह तक ही सीमित नहीं थी, अपितु वह मुगलसाम्राज्य के गाँवों पर अधिकार करके अपनी जमींदारी को बढ़ाना चाहता था। इस प्रकार पिता ने पुत्र के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

इसके अतिरिक्त राजाराम ने भूतकाल की घटनाओं से बहुत कुछ सीखा और वर्तमान काल की अनिवार्यताओं को अनुभव किया। इसने यह अनुभव किया कि जाट संगठित होकर किसी एक व्यक्ति के अनुशासन में रहकर अपने शौर्य का प्रदर्शन सफलतापूर्वक कर सकते हैं। जटवाड़ा क्षेत्र के जाट युवक राजाराम के नेतृत्व में कुछ करने के लिए कटिबद्ध हो गए।

कुछ कर दिखाने की कहानी 'मऊ' नामक स्थान के थानेदार से आरम्भ हो जाती है। जनश्रुति के अनुसार लालबेग थानेदार लम्पट स्वभाव का व्यक्ति था। एक दिन कोई अहीर अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ मऊ के थाने के पासवाले कुए पर पानी पीने विश्राम करने के लिए रुक गया। अहीर पत्नी की सुन्दरता के विषय में भिश्ती ने लालबेग को सूचित किया। लालबेग ने उस स्त्री का बलात् शील भंग किया। इसकी सूचना शीघ्र ही राजाराम के पास पहुंच गई। राजाराम ने जाट युवकों को एकत्र किया और लालबेग थानेदार की हत्या करने की योजना बनाई और गोवर्धन मेले के अवसर पर लालबेग की हत्या कर दी गई। इस प्रकार राजाराम के विद्रोही जीवन का श्रीगणेश हुआ। उसने अपने कबीले के अव्यवस्थित लोगों को संगठित करके सेना का रूप देना आरम्भ किया। इसके साथ राजाराम ने अपनी सुरक्षागढ़ियों की ओर भी ध्यान दिया और घने जंगलों में मिट्टी के परकोटे से घिरी पक्की गढ़ियां बनानी आरम्भ करदीं। ये गढ़ियां सुरक्षा के अतिरिक्त लूट-पाट के माल को सुरक्षित रखने के काम में भी आने लगीं। इस प्रकार सब तरफ से पूर्ण तैयारी करके राजाराम ने आगरा सूबे पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिए।

औरंगजेब जाटों की विद्रोहात्मक गतिविधियों से तंग आ चुका

था। उसने पहले उसे दण्डनीति का आश्रय लेकर कुचलना चाहा। परन्तु इससे काम बनता न देखकर आगरा के सूबेदार हिम्मतखां की सलाह पर औरंगजेब ने जाटों को दबाने के लिए साम नीति का सहारा लिया और राजाराम को मुगलों में निष्ठा प्रकट करने के लिए दिल्ली आमन्त्रित किया गया। राजाराम को पता था कि इसी प्रकार का एक प्रयास ठेनुआं गोत्री नन्दराम के समय में भी मुगलों ने किया था और नन्दराम जातीय बन्धुओं के परामर्श के बिना चला गया था और मुगलों का फौजदार बन गया था। परन्तु जाटों की पालों ने उसका विरोध किया था। अतः राजाराम ने यह सावधानी की कि उसने विभिन्न ढूंग तथा पालों की पंचायत की और जातीय पंचायत की स्वीकृति मिलने पर ही दिल्ली गया। राजाराम का दिल्ली में स्वागत हुआ। लूटमार बन्द करने के आश्वासन पर उसे मथुरा की सरदारी तथा 575 गांवों की जागीर प्रदान की गई। राजाराम को दी गई यह जागीर मुगल साम्राज्य के लिए कठिनाइयों का कारण बनी। राजाराम ने 'बन्दुकची-सवार' की नियमित शर्त पर अपने भाई-बन्धुओं में पुरस्कार के रूप में इन गांवों की जमीन बांट दीं। इसका परिणाम यह हुआ कि राजाराम को नियमित सेना रखने का अवसर मिला।

इसी अवधि में सिनसिनवार और सौगरिया जाटों का मिलकर एक संगठन बन गया। राजाराम ने सौगरिया रामकी चाहर (राम चेहरा) से मित्रता थी। इस एकता ने पश्चिम तटवर्ती (काठेड़) जाट शक्ति को एकसूत्र में बांध दिया। सन् 1683-84 ई० में राजाराम और रामकी चाहर ने जाट सैनिकों के साथ अपनी गढ़ियों से निकलकर शाही मार्गों की ओर प्रस्थान किया और अन्य कबीलों ने इनका साथ दिया। परिणाम यह हुआ कि शाही खजाना, सैनिक सामान और व्यापारियों को लूटने का प्रलोभन जाग उठा। फतूहात-ए-आलमगिरी के अनुसार जाट वीरों की भयंकर लूट, भय तथा आतंक से आगरा प्रान्त के समस्त राजमार्ग अवरुद्ध होगये। चारों ओर खजाना लूटनेवाले दीवानों का समूह दिखाई पड़ता था, जिसे पार करके साधारण व्यापारी क्या एक चिड़िया भी नहीं निकल सकती थी। इस लूट के माल से जाटों की साधारण गढ़ियां भरने लगी और बन्दूकों की नोकों पर जाटों और किसानों का बोलबाला होगया।

जाटों द्वारा की जाने वाली लूट का समाचार जब औरंगजेब ने सुना तो उसने मुहम्मद शफीखां को आगरा का सूबेदार बनाकर जाट क्रान्तिकारियों को दबाने का आदेश दिया। मुहम्मद शफीखां दक्षिण भारत के युद्धों के अनुभव के आधार पर जाटों को दबाना बहुत ही सरल समझता था। उसे क्या पता था कि जो जाट दीखने में सरल हैं, वे युद्ध में उतने ही कठोर हैं। उसने आगरा पहुँचकर क्रान्तिकारी जाट गुरिल्ला टोलियों को दबाने के लिए अपनी समस्त शक्ति लगा दी, लेकिन जाटों ने गुरिल्ला युद्ध में मुहम्मद शफीखां को चारों खाने चित्त कर दिया। इससे खिसियाकर अब मुहम्मद शफीखां सिनसिनी गढ़ी को घेरकर जाटों को समूल नष्ट करना चाहता था। इस योजना का भेद राजाराम को लग गया। अतः उसने मुगलों के सिनसिनी अभियान से पूर्व ही आगरा के किले पर चढ़ाई करदी। जाटों के भय के कारण मुहम्मद शफीखां ने किले का फाटक बन्द करवा दिया और उसकी हिम्मत नहीं हुई कि वह जाटों का सामना कर सके। इसके बाद क्या था ? राजाराम ने आगरा परगने को जी भर करके लूटा। जाट क्रान्तिकारियों ने किले का घेरा उठाकर अकबर की समाधि—सिकन्दरा की ओर कूच किया और वे उसके बहुमूल्य सामान को लूटना चाहते थे। इसकी सूचना मिलते ही मुगल सेना वहां पहुंच गई और सिकन्दरा जाटों के प्रथम आक्रमण से बच गया।

आगरा परगने की लूट के समाचार से आलमगीर की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उसकी दृष्टि में राजाराम वीर, साहसी और योद्धा न होकर नीच जाट, चोर और काफिर था। उसको कुचलना आवश्यक समझकर मुगल बादशाह ने उत्तर भारत के परगनों के प्रशासन में अनेक परिवर्तन किये। इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप मुगल सेनापति कोकलतास जफर जंग को आगरा भेजा गया। कोकलतास जफर जंग ने अपने पुत्र की कमान में राजाराम के विरुद्ध सेना को इधर-उधर फैला दिया और स्वयं राजमार्गों से जाटों की छापामार टुकड़ियों को इधर-उधर छितराने में जुटा रहा। परन्तु सालभर के प्रयत्न से भी वह जाटों को दबा नहीं सका। इसका प्रमुख कारण राजाराम की कूटनीति थी। राजाराम ने येन केन प्रकारेण मुगल साम्राज्य के अधिकारियों में से कुछ को अपना गुप्तचर बना लिया था और वे

कोकलतास जफरजंग के खेमे की सारी महत्त्वपूर्ण सूचना उसको देते रहते थे।

इस प्रकार की एक घटना का उल्लेख कालिकारंजन कानूनगो ने इस प्रकार किया है "फाजिलखां नामक आगरे के एक अधिकारी को चम्बल खण्ड के गांवों से लगान वसूलकर खजाना लाने के लिए सेना के साथ रवाना किया गया। उसने चलने से पहिले ही अपनी यात्रा का गोपनीय समाचार जाटों के पास भेज दिया। जाटों ने इस सूचना के उत्तर में फाजिलखां को सूचित किया कि उनके पास मुगल सेना का सामना करने के लिए युद्ध-सामग्री की कमी है। यह जानकर उसने तुरन्त गुप्तरूप से जाटों के पास हथियार भेज दिए और निश्चित योजना के अनुसार मार्ग में ही शाही खजाना लूट लिया गया।" इसी प्रकार राजाराम ने काबुल से बीजापुर के लिए चलनेवाले सेनापति अगरूरखान को लूट लिया।

अन्त में आलमगीर ने 1687 ई० में अपने पोते शाहजादा बेदारबख्त को मुगल सेना का मुखिया बनाकर जाटों के विरुद्ध भेजा। परन्तु बेदारबख्त के आने से पूर्व ही राजाराम ने सिकन्दरा को लूटने का इरादा कर लिया। मार्च 1688 के अन्तिम सप्ताह की एक रातको राजाराम ने अकबर की समाधि को घेर लिया। जाट सरदार गोकुला की मृत्यु की दर्दभरी कहानी उसकी आंखों के आगे नाचने लगी। वह बदले की भावना से उत्तेजित होउठा। उसने अकबर की कब्र को खोदकर और उसकी हड्डियों को निकालकर आग में झोंक दिया। इसके मकबरे की छत पर लगे सोने चांदी के पत्रों को उतारा और मुख्य द्वार पर लगे कांसे के किवाड़ों को तोड़ डाला। वहां से चलकर राजाराम ने अन्य दूसरे मुगल ग्रामों को लूटा। जाटों ने खुर्जा परगने को लूट लिया और पलवल के थानेदार को गिरफ्तार कर लिया। राजाराम को बहुत से इतिहासकार 'कलाविध्वंसक' कहकर पुकारते हैं। यह ठीक है कि राजाराम ने सिकन्दरा के मकबरे की कलात्मकता को नष्ट किया था। लेकिन इस सन्दर्भ में हमें तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों को नहीं भूलना चाहिए। औरंगजेब ने मन्दिरों एवं मूर्तियों को तोड़ने का आदेश देकर हिन्दुओं के मन में मुगल साम्राज्य के प्रति आक्रोश के बीज बो दिए थे। गोकुला की सिकन्दरा की लूट उसी की एक प्रतिक्रिया थी।

अकबर के मकबरे की लूट तथा खुर्जा और पलवल में होनेवाली गड़बड़ी के बाद बेदारबख्त ने आगरा को छोड़कर मथुरा को अपनी छावनी बनाया। इस समय आगरा सूबा तथा ब्रजमण्डल की स्थिति बड़ी संकटमय थी। क्षेत्रीय जनता जाट क्रान्तिकारियों की पूर्णत: सहायता कर रही थी। स्थितियां यहां तक भयावह हो गई थीं कि स्वयं बेदारबख्त मथुरा छावनी से बाहर निकलने की हिम्मत नहीं कर सकता था। ऐसी स्थिति में बेदारबख्त ने जाटों को प्रसन्न करने के लिए राजाराम की भतीजी के साथ विवाह करने का प्रस्ताव भेजा। इस विषय में हमीद-उद्-दीन लिखता है कि "बेदारबख्त ने राजाराम को सिनसिनी की गढ़ी खाली करके मुगल सैनिकों को सौंपने और अपनी भतीजी को मुगल हरम में प्रवेश करने का मौखिक आदेश भेजा।" परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि राजाराम स्वाभिमानी जाट था वह राजपूतों तथा अन्य मनसबदारों की भांति कन्या प्रदान द्वारा मुगलों का वरदहस्त प्राप्त करके अपयश का भागी नहीं बनना चाहता था। उसके सम्मान में हजारों जाट युवक प्राणों की बाजी लगाने के लिए तैयार थे, फिर उसे ऐसे घृणित प्रस्ताव पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वह न तो खरीदा जा सकता था और न ही झुकाया जा सकता था। वह जाट था जो डोला लेना जानता था, देना नहीं। बेदारबख्त अपने प्रस्ताव के ठुकराये जाने पर क्रोधित हो गया। उसने जाटों को समूल नष्ट करने का संकल्प लिया और जाटों को अकारण ही मौत के घाट उतारने लगा। जाट इस हत्याकाण्ड से घबराये नहीं।

जाटों की बढ़ती हुई विद्रोहात्मक गतिविधियों को समाप्त करने की इच्छा से आलमगीर ने आमेर के राजपूत राजा रामसिंह को (जो उस समय काबुल में था) बुलाया। परन्तु राजा रामसिंह की अचानक मृत्यु होगई और काम अधूरा ही पड़ा रहा। राजा रामसिंह की मृत्यु के उपरान्त उसके बेटे बिशनसिंह ने अपने वकील द्वारा औरंगजेब से अपनी पैतृक मथुरा की फौजदारी प्राप्त करने तथा जाटों को कुचलने की आज्ञा मांगी। बादशाह ने बिशनसिंह को 'राजा' की उपाधि और आमेर का टीका और एक खिल्लत प्रदान की। बादशाह ने उसे मथुरा का फौजदार भी नियुक्त कर दिया और बार-बार जाटों का कत्लेआम करने का आदेश दिया। इसके साथ ही उसे सिनसिनी की फौज-

दारी भी दे दी गई। बादशाह ने एक मौखिक आदेश में कहा कि "विशनसिंह का काम 'जाट-ए-बदजात' को समाप्त करना है।"

विशनसिंह ने जाटों को समाप्त करने के लिए ऊंचे पद और मनसब को भी एकमात्र अपना उद्देश्य बनाया था, ऐसा समझना पूर्णतः सत्य नहीं है। इसके पीछे अन्य कारण भी थे, ऐसा सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। राजा बिशनसिंह को जाटों के प्रति वैरभाव पैतृक रूप में मिला था। इसके अतिरिक्त उसके राज्य की सीमा से लगनेवाले जाटराज्य का विस्तार राजपूतों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को प्रभावित करता था। इससे पूर्व भी जाटों ने उसकी सीमा में प्रवेश करके कुछ भू-भाग पर अधिकार कर लिया था। इसके साथ ही राजा विशनसिंह स्वयं अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ाने का इच्छुक था। बादशाह औरंगजेब ने भी रामसिंह को इस कार्य के लिए उपयुक्त समझा था कि जाटों के नवोत्थान को रोकने के लिए कछवाहों को तेज काटा प्रभावकारी सिद्ध होगा। इस प्रकार जाटों को कुचलने के लिए मुगल और राजपूत दोनों राजाराम के विरुद्ध खड़े हो गए। परन्तु इसी बीच शेखावतों और चौहानों के मध्य 'वागथेरिया' परगने को लेकर लड़ाई छिड़ गई। मुगलों के नाक में दम करने के कारण राजाराम की प्रसिद्धि इतनी हो चुकी थी कि चौहानों ने अपनी सहायता के लिए राजाराम को बुलाया। शेखावतों ने मुगलों और राजपूतों से सहायता मांगी। अतः बेदारबख्त सहित अन्य मुगल सरदार तथा आमेर और हाड़ा के राजपूत शेखावतों की सहायता के लिए पहुंच गए। 'बीजल' नामक गांव के पास भयानक युद्ध हुआ। जाट सैनिकों ने मुगल सेना को युद्ध क्षेत्र में तितर-वितर करते हुए हाड़ा राजपूतों को करारी हार दी। जब युद्ध अपनी पूर्ण प्रचण्डता में था, तो राजाराम अपने कुछ साथियों सहित सेना के बीच में प्रविष्ट होकर मुगल सैनिकों पर टूट पड़ा। जाटों के भयंकर आक्रमण को देखकर बेदारबख्त भी घबरा गया। किन्तु इसी समय किसी मुगल सैनिक की गोली राजाराम की छाती में लगी और वह घोड़े से गिरकर मर गया। रामकी चाहर (रामचेहर) बेदारबख्त के हाथ में पड़ गया। उसे बन्दी बनाकर आगरा भेजा गया, जहां उसके सिर को काटकर प्रदर्शनार्थ किले के सामने ऊंचे फाटक पर लटकवाया गया। 'फतूहाते आलमगीरी' से पता चलता है कि मृत राजाराम का सिर भी काटकर आलमगीर

के दरबार में प्रस्तुत किया गया, वहां बड़े-बड़े उत्सव मनाये गये।

इस प्रकार एक जाट सेनानी का अन्त हो गया। इस सेनानी ने सर्वप्रथम जाटों के उत्कर्ष के लिए विभिन्न गोत्री जाटों को संगठित करके एक सैनिक संगठन बनाया। इस जाटवीर ने किसानों के मन से आलमगीर का भय तथा आतंक का भूत निकाल दिया।

वास्तव में राजाराम ने काठेड़ा और ब्रजमण्डल तथा दुआब के जाट कबीलों के मन में स्वाधीनता एवं प्रभुसत्तात्मक जाटराज्य की परिकल्पना का उपजाऊ पौधा लगाया। इसीलिए तो इसके विषय में कहा जाता है—

राज बीज ब्रजभूमि में बै गये राजाराम।
पहिले के सिरपांव दे, जात भयौ सुरधाम ।।

चूड़ामन :

राजाराम की मृत्यु के उपरान्त जाट शान्त और निष्क्रिय हो गए हों, ऐसी बात नहीं थी। परन्तु इतना ऐतिहासिक आधार पर ठीक है कि राजाराम तथा रामकी चहर की मृत्यु के बाद जाटों के विभिन्न गोत्रों के संगठन को बड़ा भारी धक्का लगा। सिनसिनवार सोगरिया संघ पर ही नहीं, अपितु इसकी मृत्यु से सिनसिनवार-खुटेला तथा सिनसिनवार-चाहर गोत्रों के संघ पर भी प्रभाव पड़ा। इस परिस्थिति में जाटों में फैली शून्यता को भरने के लिए जाटों का नेतृत्व चूड़ामन ने सम्भाला।

राजा रामसिंह की मृत्यु के उपरान्त आमेर की गद्दी के उत्तराधिकारी बिशनसिंह से आलमगीर ने यह वचन भरवा लिया था कि वह छः महीने में जाटों को कुचल डालेगा। परन्तु इतिहास इसका साक्षी है कि वह छः महीने में तो क्या छः वर्षों तक नियमित सैनिक प्रयत्नों के बाद भी जाट जनशक्ति को नहीं दबा सका। राजाराम की मृत्यु के बाद भी वह जाटों पर आक्रमण करने से कतराता रहा। बादशाह आलमगीर से इस निष्क्रियता के लिए उसे झिड़कियाँ मिलती रहीं।

बादशाह आलमगीर का लक्ष्य सिनसिनी की गढ़ी को बरबाद करके जाटों के उज्ज्वल भविष्य को सदा के लिए भूमिसात् करना था। सिनसिनी उस समय कोई बड़ा राज्य नहीं था, उसमें केवल तीस ही

गांव थे। परन्तु यह छोटा-सा राज्य विद्रोही जाटों का प्रमुख केन्द्र समझा जाता था। सिनसिनी का दुर्ग मैदानी क्षेत्र में स्थित होने पर भी दलदल और घने जंगलों से घिरा हुआ था। इसके अतिरिक्त इसके चारों ओर पैंघोर, कासौट, सोगर, अवार, सौंख, रायसीस और सोंखर-सोंखरी आदि छोटे-छोटे दुर्ग (गढ़ियां) वनी हुई थीं। अतः जब तक वाहरी जाट गढ़ियों पर अधिकार नहीं किया जाता तब तक सिनसिनी के दुर्ग तक पहुंचना कठिन था। मथुरा-सिनसिनी के बीच में प्रथम गढ़ी 'सौंख' थी। इसलिए मुगल-राजपूत संयुक्त सैनिक अभियान ने सबसे पहले सौंख गढ़ी पर सन् 1688 ई० सितम्बर मास में आक्रमण किया और चार महीने की लड़ाई के वाद सौंख गढ़ी पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार शाही सेना का मार्ग सिनसिनी के लिए खुल गया।

सिनसिनी के किले में बाहर से किसी भी प्रकार का रसद न पहुंचने पाए, इसका पूर्ण प्रवन्ध किया गया। निरन्तर भूख और प्यास से पशु और मनुष्य मरने लगे। परन्तु वीर जाटों ने मुगल और राजपूत सेना के आगे आत्मसमर्पण नहीं किया। इस प्रकार किले की नाकाबन्दी लगभग चार महिने कीगई। इन चार महिनों में मुगल सेना ने सिनसिनी के चारों तरफ होनेवाले जंगल को काट डाला। रक्षा के लिए खाइयां खोदलीं और ऊंचे स्थानों पर तोपें लगादीं। इस सारी तैयारी के मध्य उन्होंने किले के द्वार तक एक सुरंग खोदली। परन्तु जाट सैनिकों को इस सुरंग का पता लग गया और उन्होंने इसे अन्दर से बन्द कर दिया। इस वात का पता मुगल सेना को नहीं लगा और उन्होंने सुरंग को उड़ा दिया। परिणामस्वरूप बहुत से मुगल सैनिक खुदही मारे गए। इसके वाद दूसरी सुरंग खोदी गई। इस सुरंग का पता किले में बन्द सैनिकों को नहीं लगा। इस वार सुरंग की आग से किले की दीवार में बहुत बड़ी दराड़ आगई। जाट सैनिक एक-एक इञ्च भूमि के लिए लड़े। अन्त में वड़ी कठिनता से सिनसिनी को 15 फरवरी सन् 1690 में जीत लिया गया।

सिनसिनी के पतन से जाटों को गहरा धक्का लगा। राजाराम का बेटा फतहसिंह और चूड़ामन जैसे-तैसे बच निकले। इस पराजय का मुख्य कारण राजाराम के बेटे फतेहसिंह को समझा गया। अतः नेतृत्व बदलने के लिए जाटों में परस्पर मनमुटाव हुआ और अन्त

में जाति पंचायत तथा सरदारों की सलाह पर फटेहसिंह को हटाकर चूड़ामन को नेता चुना गया।[1]

चूड़ामन राजाराम का छोटा भाई था। इसमें नेता के सभी गुण विद्यमान थे। यह कुशल, साहसी, अवसरवादी, सफल मित्र और कुटिल राजनीतिज्ञ था। कानूनगो के कथनानुसार इसमें जाट स्वभाव की कठोरता और मराठों जैसी राजनैतिक चतुराई मौजूद थी।[2] इसने जाटों का नेता बनते ही दूर-दूर के गांवों में बसे जाटों को अपनी भूमियों पर बुलाकर जातीय शक्ति को संगठित किया। चूड़ामन ने जाटों का नेतृत्व सम्भालकर लुटेरा कही जानेवाली जाट जाति को अठारहवीं शताब्दी की राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलवाया। उसके समय में हमें पहली वार जाट-शक्ति शब्द सुनने को मिला।

चूड़ामन ने शनैः-शनैः पांचसौ घोड़े और एक हजार पैदल अपनी स्थायी सेना में भर्ती कर लिए। परन्तु इतनी बड़ी सेना का पालन-पोषण चूड़ामन की उस समय की आर्थिक स्थिति से वाहर था। अतः अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए सर्वप्रथम राजपूतों से 'राहिड़ी' और 'राजगढ़' के किले जीत लिए। शत्रु के आक्रमण से बचने के लिए सोंखर, सोगर और पनगौर आदि के किले दृढ़ कर लिए और थूण की नई गढ़ी बनाई और थूण का नया किला बनवाया। इस किले के विषय में शिवदास[3] लिखता है कि यहां के सघन जंगलों में चिड़ियाओं का उड़ना भी कठिन था। इसका परकोटा आसमान के समान ऊंचा था और इसके चारों तरफ खोदी गई खाई इतनी गहरी थी कि भूमि पर पानी रिसकर ऊपर आता रहता था। थोड़े समय में उसका छापामार दल काफी वढ़ गया। उसने आगरा, कोटा, वून्दी, हिण्डौन तथा बयाना के परगनों पर छापा मारना आरम्भ कर दिया।

चूड़ामन की गति-विधियों को देखकर बादशाह ने बिशनसिंह को धमकी देते हुए कहा कि या तो जाटों से किले को जीतो, वरना तुम्हारी मनसवदारी कम करदी जायेगी। राजा बिशनसिंह ने अपने सरदार हरीसिंह को जाटों से 'अवयार' का किला जीतने के लिए

(1) जाटों का नवीन इतिहास, उपेन्द्रनाथ, उद्धृत पृ० 188

(2) जाट इतिहास कानूनगो, पृ० 45

(3) शाह मुन्नवर कलाम, शिवदास, पृ० 17

भेजा और स्वयं सोंखर दुर्ग को जीतने के लिए चल पड़ा। राजा विशनसिंह की युद्ध योजनाएं जब चूड़ामन को जीतने में असमर्थ रहीं, तो उसने कूटनीति का सहारा लेकर ऊदा नाम के जाट जमींदार को अपनी ओर मिला लिया। तब कहीं जाकर वह सोंखर आदि किलों पर काबू पासका। राजा विशनसिंह की यह इच्छा थी कि जीता हुआ जाट इलाका उसके अधीन रहे। परन्तु दूसरी ओर बादशाह यह नहीं चाहता था कि आमेर राज्य की सीमाएं बहुत अधिक विस्तृत होजाएं। इसका परिणाम यह हुआ कि बादशाह और विशनसिंह में मन-मुटाव होगया और विशनसिंह जाटों को जीतने के काम को अधूरा छोड़कर आमेर (जयपुर) चला गया।

राजा बिशनसिंह के आमेर चले जाने के बाद जाटों को अपनी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त करने का अवसर मिल गया। चूड़ामन ने पूरा एक वर्ष अपनी शक्ति को पुनर्गठित करने में लगाया और नए सिरे से मुगलसाम्राज्य पर छापा मारने लगा। इन नए छापों से आलमगीर की आंखें खुलीं और उसने अपने ज्येष्ठपुत्र शाहजादा मुहम्मद मुअज्जम (आलमशाह) को सात वर्ष बाद शाही कैदखाने से मुक्त करके सन् 1695 में आगरा सरकार का वायसराय नियुक्त करके भेजा। आलमशाह आगरा में एक वर्ष रहा। इस अवधि में वह जाटों के विरुद्ध विशाल युद्ध छेड़कर उलझनों में नहीं पड़ना चाहता था। वह स्वयं अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं प्रभाव को बढ़ाकर हिंदुस्तान का साम्राज्य प्राप्त करने के लिए नवीन मित्रों की खोज में था। अतः इस स्थिति का लाभ उठाकर चूड़ामन के नेतृत्व में जाटों ने उत्पात मचाना आरम्भ कर दिया। चूड़ामन ने इस समय शाही खजानों को भी लूटा। इमाद उस्सादत नामक लेखक लिखता है कि "एक रातको चूड़ामन अपने सवारों के साथ शाही लश्कर पर टूट पड़ा। उसको बुरी तरह लूटा। मुगल सिपाही जो कुछ उस समय उनके हाथ लग सका साथ लेकर भाग निकले और उन्होंने पहाड़ की गुफाओं में जाकर अपनी जान बचाई।" इस प्रकार लूट के धन से चूड़ामन ने अपनी सेना को हर प्रकार से तैयार किया और सन् 1704 ई० में सिनसिनी के किले को मुगलों से छीन लिया और वह बेताज का जाट राजा कहलाने लगा।

सिनसिनी को खोदेने से आलमगीर को बड़ा भारी दुःख हुआ

और उसने आगरा के निजाम को पुनः सिनसिनी पर अधिकार करने का आदेश दिया। आगरा के निजाम मुख्तयारखान ने आलमगीर को विश्वास दिलाया कि यदि उसे अतिरिक्त सेना की भर्ती के लिए दस लाख रुपये दे दिए जाएं, तो वह दो वर्ष में जाटों को समाप्त कर सकता है। मुख्तयारखान को बादशाह के आदेश से आगरा के कोष से एक लाख रुपया अग्रिम रूप में दे दिया गया। आगरा तथा दिल्ली के फौजदारों को 5500 सवारों के साथ जाटों को कुचलने के लिए भेजा गया।

साम्राज्यवादी सेनाओं ने सन् 1705 ई० में सिनसिनी का घेरा डाल दिया। जाटों के अचानक आक्रमण तथा वर्षा ने मुगलसेना की घेराबन्दी को सफल नहीं होने दिया। जाटों ने सिनसिनी गढ़ को तोड़ने के लिए लगाई गई पांच तोपों में से तीन को बिल्कुल नष्ट कर दिया और एक तोप की नली में लोहे की सलाखें डालकर बेकार कर दिया। इतना होने पर शाही सेना की दाब के कारण जाटों के हाथ से पुनः सिनसिनी मुगलों के हाथ में चला गया।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि जब औरंगजेब ने राजगद्दी प्राप्त की थी उस समय 'जाट शक्ति' नाम की कोई सत्ता अस्तित्व में नहीं थी। औरंगजेब की दृष्टि में जाट केवल लुटेरे ही थे। परन्तु उसकी मृत्यु के समय 'जाट राज्य' तो नहीं, हां 'जाट शक्ति' उभरकर अपना सिक्का जमा चुकी थी। इसका जीता-जागता प्रमाण यह है कि मुगलों को समय-समय पर चूड़ामन से समझौता करना पड़ा। जब सन् 1707 ई० में औरंगजेब (आलमगीर) ने दक्षिण में अपने जीवन की अन्तिम सांस पूरी की, तो वह अपनी मृत्यु के समय एक विद्रोही भारत का मानचित्र छोड़ गया। उसके दो पुत्र बहादुर-शाह और आजमशाह सिंहासन प्राप्ति हेतु निर्णायक युद्ध के लिए 'जाजऊ' के स्थान पर एक दूसरे से भिड़े। जाजऊ' युद्ध ने चूड़ामन के भाग्य-निर्माण का मार्ग खोल दिया। उसने एक विशाल छापामार दल के साथ दोनों मुगल सेनाओं के आस-पास पड़ाव डाला। उसे किसी भी पक्ष की हार-जीत से कोई मोह नहीं था। वह तो कूटनीति का सहारा लेकर मुगल साम्राज्य का खजाना तथा सैनिकों को लूट-कर नवीन सैनिक शक्ति प्राप्त करने की प्रतीक्षा में था। वह इस

युद्ध में दोनों भाइयों की हार तथा जीत के परिणाम को गहरी दृष्टि से देखता रहा, जिससे वह हारनेवाले को मनचाहा लूट सके और जीतनेवाले का सहायक कहलाकर उसे मोहित कर सके।

मुहम्मद हाशिम खाकी खां[1] ने इस युद्ध में चूड़ामन के व्यवहार का वर्णन करते हुए लिखा है कि "दोनों ओर से तोपें आग बरसा रही थीं। लड़ाई के मैदान में अचानक अराजकता फैल गई। आज़मशाह के सेनापति आत्मसमर्पण करके बहादुरशाह की ओर आने लगे। इस भाग-दौड़ में बहादुरशाह के तम्बू में आग लग गई और चूड़ामन अपने सैनिकों के साथ बहादुरशाह की सेना में घुस गया तथा उसे लूटने लगा। इस युद्ध में आजमशाह की हार हुई। हार का रुख देखकर वह आज़म की सेना पर टूट पड़ा और पराजित छावनी को बुरी तरह लूटा। भाग-दौड़ में जाट सैनिकों ने हार-जीत का जरा भी ध्यान नहीं रखा और निष्पक्ष होकर दोनों ओर की सेनाओं को लूटते रहे।

सन् 1707 ई० का वर्ष चूड़ामन के ऐतिहासिक जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण रहा है। इस वर्ष उसे वह सम्मान, शक्ति और सम्पत्ति मिली जो कि उसके पूर्ववर्ती जाट सरदार प्राप्त नहीं कर सके थे।

'जाजऊ' की लड़ाई में बहादुरशाह की जीत हुई। इस जीत के बाद मुनीम खान को आगरा का गवर्नर बनाया गया। इससे पूर्व परिस्थितियों के अध्ययन के आधार पर यह अनुभव कर लिया था कि वह जाटों के सहयोग विना कानून व्यवस्था को सम्भाल नहीं सकता। अतः उसने प्रयास करके बादशाह और चूड़ामन में ताल-मेल करवाया। इसका परिणाम यह निकला कि बादशाह ने चूड़ामन को 1500 की जात और 500 सवारों का सम्मानजनक पद देकर 'मनसबदार' बनाया और इसके साथ ही उसे चम्बल और दिल्ली के मध्य के राज-मार्ग के कुछ भाग का 'राहगीर' बना दिया। इस प्रकार एक विद्रोही जाट शाही सम्मान की स्वीकृति से निरन्तर ऊंचाई की ओर चढ़ता चला गया। इससे चूड़ामन को यश और धन दोनों ही मिले और जनता उसके पास एकत्र होने लगी। इन परिस्थितियों में चूड़ामन ने अपनी नीति में कुछ काल के लिए परिवर्तन किया। कुछ अंश में उसने

(1) खाकीखां—मुन्तख बुल्लुबाब, भाग 2, पृ० 149

समझौतावादी नीति अपनाकर बहादुरशाह के प्रति निष्ठा दिखाई। वस्तुत: चूड़ामन की निष्ठा विश्वासोत्पादक न होकर अपनी ही सुविधा के लिए थी। बहादुरशाह से ताल-मेल होने पर जाटों को एक लाभ यह भी हुआ कि लगभग पचास साल से जाटों और मुगलों का आंख-मिचौनी जो छापामार आक्रमण होता रहा था, उसमें कुछ समय के लिए राहत मिली।

सरहिन्द और पंजाब प्रान्त जाट जमींदारों का प्रमुख केन्द्र था। अधिकांश जाटों ने गुरु गोविन्दसिंह द्वारा स्थापित खालसा पन्थ में प्रवेश ले लिया था। गुरु गोविन्दसिंह ने अपनी मृत्यु से पूर्व बन्दा बैरागी को अपना शिष्य घोषित कर दिया था। बन्दा बैरागी ने पंजाब में शाही परगनों को लूटना आरम्भ कर दिया और वहां का प्रशासन अपने हाथ में सम्भाल लिया। इस अवधि में बहादुरशाह राजपूत विरोधी अभियान की तैयारी में था। जब उसे बन्दा बैरागी की करतूतों की सूचना मिली तो उसने सिख आन्दोलन को कुचलने के लिए राजपूतविरोधी अभियान को त्याग दिया और अन्य फौजदार, मनसबदार तथा जमीदारों की भांति चूड़ामन को भी पंजाब अभियान में सम्मिलित होने का आदेश दिया। अक्टूबर, 1710 ई० के आस-पास चूड़ामन दिल्ली पहुंचकर शाही अभियान में सम्मिलित हो गया। इस समय चूड़ामन ने दूरदर्शिता से काम लिया। उसने कुछ सैनिक रिसालों को अपने साथ रखा तथा अन्य बहुसंख्यक जाट सैनिकों को दिल्ली के आस-पास ही छोड़ दिया। इस योजना के पीछे यह आशय था कि वह बहादुरशाह के सिखविरोधी अभियान को असफल करके दिल्ली तक लूटमार करके अपने कार्यक्षेत्र को बढ़ाना चाहता था। जाट सरदार ने शाही सेना के साथ मिलकर सैकड़ों मील दूर पहली बार शाही रण-क्षेत्र देखा। बन्दा बैरागी शाही सेना की आंखों में धूल झोंककर लोहगढ़ किले से निकल गया। बहादुरशाह स्वयं शाही सेनापति के साथ बन्दा बैरागी का पीछा छोड़कर लाहौर छावनी में पहुंच गया और 17 फरवरी, 1712 ई० में लाहौर में ही उसकी मृत्यु हो गई।

मृत्यु का समाचार सुनते ही उसके चारों पुत्र सिंहासन हथियाने के लिए सैनिक तैयारियों में लग गए, किन्तु सफलता जहांदार शाह को मिली। इस गृह-युद्ध में चूड़ामन ने अजीम उश्शान का साथ दिया था।

अतः निश्चित था कि विजयी जहांदार शाह दिल्ली पहुंचकर जाटों के दमन की तैयारी करता। जहांदार शाह ने सर्वप्रथम चूड़ामन की मनसबदारी छीन ली। इससे शंकित होकर चूड़ामन लाहौर युद्ध के बाद शीघ्र ही वापिस लौटा और अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए शाही राजमार्गों की लूट करके धन संग्रह करने लगा। जहांदारशाह के सिंहासन पर बैठते ही साम्राज्य में दलबन्दी ने जोर पकड़ा और प्रत्येक सरदार अपने-अपने व्यक्तित्व के निखार में लग गया। अतः चूड़ामन की गतिविधियों को किसी ने दबाने का प्रयास नहीं किया। कालिकारंजन कानूनगो[1] ने इस काल की परिस्थितियों का वर्णन करते हुए चूड़ामन के विषय में लिखा है कि "एक विजेता विद्रोही, जिसने अपने पौरुष तथा भुजबल से मुगलसाम्राज्य की सीमाओं में जबरदस्ती अपनी जागीर बनाई और साम्राज्य के अनेक गांव अपने अधिकार में कर लिए थे, वह जहांदारशाह के सैनिकों के बल से हीन प्रशासन में कदापि भयभीत नहीं हो सकता था और न सर्वोच्च सत्ता में अपनी भक्ति ही प्रदर्शित कर सकता था।"

इस समय चूड़ामन केवल जाटों का ही सरदार नहीं था। वह वास्तव में बिना ताज का स्वतन्त्र राजा बन चुका था। दिल्ली से चम्बल तक आबाद जाट तथा अन्य जातियों का वह न्यायाधिकारी, जीवन तथा सम्पत्ति का रक्षक था।

शहजाँदा फर्रूखसियर ने अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर 6 अप्रैल, 1712 ई० को अपने आपको हिन्दुस्तान का बादशाह घोषित कर दिया और दिल्ली की ओर चल पड़ा। बादशाह जहांदार-शाह को मई के महिने में अपने भतीजे फरूखसियर का सिंहासन प्राप्त करने के लिए दिल्ली की ओर बढ़ने की सूचना मिली। ऐसी संकटपूर्ण स्थिति में जहाँदारशाह ने विद्रोही हिन्दू शक्तियों को अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में चूड़ामन का सहयोग भी अपेक्षित था। शाही फरमान मिलने पर चूड़ामन अक्टूबर, 1712 ई० में दिल्ली दरबार में उपस्थित हुआ। जहां बहादुरशाह द्वारा दिया गया उसका मनसब पुनः प्रदान किया गया। इस प्रकार चूड़ामन ने गृह युद्ध में जहाँदारशाह का साथ देना उचित समझा और

(1) कालिकारंजन कानूनगो, हिस्ट्री आफ जाटस्, पृ० 49

उसे बादशाह के फरमान के अनुसार फर्रूखसियर के विरुद्ध लड़ाई के लिए आगरा पहुंचना पड़ा।

शहजादा फर्रूखसियर सैयद बन्धुओं के साथ आगरा पहुंच गया और सामूगढ़ के मैदान में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। इस गृह-युद्ध में सम्मिलित होने पर भी चूड़ामन शाही साम्राज्य का वास्तविक भक्त नहीं बन सका। इस लड़ाई में मौका पाकर चूड़ामन ने फर्रूखसियर की छावनी को लूटा। युद्ध का निर्णय फर्रूखसियर के पक्ष में रहा और वह बादशाह बन गया।

घरूखसियर ने बादशाह बनते ही चूड़ामन को दण्ड देने का निश्चय किया। क्योंकि उसने फरूखसियर और उसके पिता दोनों को ही लूटा था। सन् 1713 ई० में फरवरी महिने में आगरा के सूबेदार छबीलराम को फरूखसियर की तरफ से आदेश मिला कि वह चूड़ामन को जीतने के लिए कूच करे। परन्तु छबीलराम चूड़ामन को जीतने में असमर्थ रहा। इस असमर्थता के पीछे उसके विरोधी सैयद बन्धुओं द्वारा चूड़ामन की कमर थपथपाना माना जाता है। छबील राम की असफलता को लेकर उसके आगरा से स्थानान्तरण की बातें भी होने लगीं। जब उसे इस बात का पता चला तो उसने बादशाह को पत्र लिखते कहा कि "मुझे पता चला है कि आप मेरा स्थानान्तरण करने की सोच रहे हैं। यह मेरा सौभाग्य होगा, जो कोई व्यक्ति चूड़ामन को दबाने का संकल्प ले उसे यह सौंप देना चाहिए। लेकिन उससे यह भी पूछताछ कर लेनी चाहिए कि वह चूड़ामन को दबाने के लिए कितना समय लेगा। यह बात अपने आप में उसकी शेखी को उजागर कर देगी।" छबीलराम ने आगे लिखा कि "जिस किसी व्यक्ति को यह कार्य सौंपा जाएगा वह अपने कार्य में असफल होगा।"[1]

छबीलराम का उपर्युक्त कथन यह सिद्ध करता है कि अपनी कूटनीति के कारण चूड़ामन ने शाही दरबार में घुस-पैठ बना रखी थी और अपनी स्थिति को बड़ा सुदृढ़ बना लिया था। अतः उसे कम समय में जीतना कठिन था। छबीलराम के जाटविरोधी अभियान से हमें स्पष्ट पता चलता है कि जाटों के सम्बन्ध में शाही दरबार

(1) गिरीशचन्द्र द्विवेदी, दि जाट्स उद्धृत पृ० 59.

में प्रथम बार विभिन्न स्वर गूंजे। वजीर और मीरबख्शी दोनों ही चूड़ामन को थपथपाते रहे जबकि बादशाह उसको समाप्त करने पर तुला हुआ था।

छबीलराम के स्थान पर खाने दुर्रान शम्स-उद्-दौलाह को आगरा का सूबेदार इस शर्त पर बनाया गया कि वह चूड़ामन की शक्ति को कुचल डालेगा। नया सूबेदार यह जानता था कि चूड़ामन को युद्ध में जीतना इतना सरल नहीं है जितना कि यह कार्य ऊपर से सरल दिखाई देता है। अतः उसने कूटनीति का सहारा लेकर सैयद बन्धुओं की सहायता से बादशाह और चूड़ामन में समझौता करवा दिया। इस समझौते के अनुसार चूड़ामन शाही दरबार में उपस्थित हुआ। उसने बादशाह को इक्कीस मोहरें तथा दो घोड़े प्रदान किए। फरूखसियर ने चूड़ामन को 'राव बहादुर खान' की उपाधि और हाथी दिया। चूड़ामन की मनसब भी बढ़ा दी गई और दिल्ली से चम्बल तक को राहदारी भी सौंप दी गई। चूड़ामन के 'राहदार' के पद के विषय में टिप्पणी करते हुए कानूनगो लिखते हैं कि "एक भेडिये को भेडों के झुण्ड का रक्षक बना दिया गया।" इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुगल सरकार जाटों की उभरती शक्ति को देखकर उन्हें जैसे-तैसे सन्तुष्ट करके अपने पक्ष में रखना चाहती थी।

शाही दरबार द्वारा प्रदत्त सम्मान की कटु आलोचना करते हुए 'रोजनामचा' का लेखक कहता है कि "बादशाह को यह भ्रान्ति बनी हुई थी कि इस सम्मान प्राप्ति के बाद जाट लोग अपने रवैया में परिवर्तन कर लेंगे।" परन्तु परिणाम इसके विपरीत निकला और चूड़ामन ने अपनी स्थिति का लाभ उठाया और शाही सीमाओं में घुस-पैठ आरम्भ करदी। चूड़ामन ने राहदारी इतनी अधिक और कठोरता से उगाहनी आरम्भ करदी कि चारों ओर हाहाकार मच गया। उसने सहार परगने के किसानों को उत्तेजित किया कि वे जागीरदारों को कर न दें। चूड़ामन ने थूण परगने के प्रत्येक मनसबदार तथा जमींदार से दो रुपया प्रति मनसबदार तथा जमींदार से 'नजराना' वसूल करना आरम्भ कर दिया। वह स्थानीय जागीरदारों के मामले में भी हस्तक्षेप करने लगा मानो वह उनका एकमात्र अधिपति है। उसकी टोलियों ने मथुरा और सीकरी के परगने के गांवों को

लूटना आरम्भ कर दिया। चूड़ामन ने गुप्तरूप से अस्त्र और शस्त्र बनाने आरम्भ कर दिए और अपनी गढ़ियों को सुरक्षित कर लिया। चूड़ामन के इन कार्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वह अपने ऊपर होनेवाले किसी भावी आक्रमण की आशंका से ऐसी तैयारी कर रहा था। बादशाह और उसके दरबारी चूड़ामन की इन हरकतों से बड़े नाराज हुए।

किन्तु विद्रोही चूड़ामन को दबाने का कार्य कोई भी व्यक्ति लेने को तैयार नहीं था। अन्त में बादशाह फरूखसियर ने इस कार्य के लिए मिर्जा जयसिंह को चुना। जयसिंह को चुनने के पीछे फरूखसियर एक तीर से दो निशाने साधना चाहता था। सर्वप्रथम वह जयसिंह को यह विश्वास दिलाना चाहता था कि वही उसका सबसे विश्वसनीय व्यक्ति है। द्वितीय वह इस योजना द्वारा चूड़ामन को सजा देकर सैयद बन्धुओं की शक्ति को कम करना चाहता था। इसके साथ ही जयसिंह भी यह नहीं चाहता था कि उसकी पैतृक सीमा के समीप हो जाट शक्ति का उदय हो। अतः जयसिंह चूड़ामन को कुचलने के लिए तैयार होगया। शाही खजाने से युद्ध के निमित्त बड़ी भारी रकम लेकर 25 सितम्बर सन् 1916 ई० को आक्रमण करने के लिए जयसिंह चल पड़ा। कुछ फौजी टुकड़ियां संज्जरखान, शमशेरखान और बाला शाहीज के अधीन करके पलवल पर तैनात करदी गईं। यह इसलिए किया गया कि इस स्थान से एक तरफ होडल को और दूसरी तरफ फरीदाबाद को सैनिक सहायता पहुंचाई जा सके।

इस आक्रमण में जयसिंह के साथ चालीस हजार घुड़सवार और चालीस हजार पैदल सैनिक थे। इसके अतिरिक्त कोटा के महाराव भीमसिंह और बून्दी के महाराव बुधसिंह भी जयसिंह का साथ देरहे थे। जयसिंह की सेना की आरम्भिक टक्कर चूड़ामन के पुत्र मोहकमसिंह से 'बहोर' के किले पर हुई। मोहकमसिंह को दुर्ग खाली करना पड़ा। इसी प्रकार इस सेना के सामने बदनसिंह को भी पीछे हटना पड़ा। इस प्रकार प्रारम्भिक विजयों से उत्साहित होकर जयसिंह ने थूण के किले को घेर लिया। परन्तु चूड़ामन इस आक्रमण के प्रति बड़ा सचेत था। अतः उसने थूण के किले में खाद्य-सामग्री का पूर्ण संग्रह कर लिया था। इस विषय में कहा जाता है कि नमक, घी, तम्बाकू, कपड़ा और लकड़ियां इतनी थीं कि बीस वर्ष

तक भी समाप्त नहीं हो सकती थीं।[1] आक्रमण को अवश्यम्भावी समझकर चूड़ामन ने व्यापारियों को यह कहा कि वे अपना सामान किले में ही छोड़कर परिवार सहित बाहर चले जाएं। यदि वह जीत गया तो उनके सामान की भरपाई कर देगा। व्यापारियों ने बिना ननुनच किए किल
इस समय तक थूण
किले की सुरक्षा में

जयसिंह ने
लिया। चूड़ामन ने
निकलकर लड़ना
करता रहा, परन्तु
परिणामस्वरूप
17 मार्च, सन् 17
जबकि तुम्हें जाटों
तोपखाना और श
दुःख है कि थूण
कोस तक चारों
ओट में मुगल सै
है, यदि इससे पह
पर यह कार्य कठि

थूण के कि
जहांनी जो एक म
वहां से उसे आग
इसके अतिरिक्त
अब्दुल समदखां
उसे जाटों के विर
स्थान पर अजमे
विजय के लिए भेजा गया। थूण
गए। ऐसा यह सोचकर किया गया कि सम्भवतः जंगलों की ओट में होने वाले जाटों के छापामार आक्रमण कम हो जाएंगे। परन्तु ऐसा

(1) जाट इतिहास, कानूनगो, पृ० 52
(2) जाटों का नवीन इतिहास, उपेन्द्रनाथ; पृ० 260।

तक भी समाप्त नहीं हो सकती थीं।[1] आक्रमण को अवश्यम्भावी समझकर चूड़ामन ने व्यापारियों को यह कहा कि वे अपना सामान किले में ही छोड़कर परिवार सहित बाहर चले जाएं। यदि वह जीत गया तो उनके सामान की भरपाई कर देगा। व्यापारियों ने बिना ननुनच किए किला खाली कर दिया। मोहकमसिंह रूपा आदि भी इस समय तक थूण आचुके थे और चूड़ामन के नेतृत्व में प्राण-पण से किले की सुरक्षा में लगे हुए थे।

जयसिंह ने 19 नवम्वर सन् 1716 में थूण को चारों तरफ से घेर लिया। चूड़ामन के पुत्र मोहकमसिंह और भतीजे रूपा ने किले से बाहर निकलकर लड़ना आरम्भ कर दिया। राजा जयसिंह विजय की घोषणा करता रहा, परन्तु मार्च सन् 1717 तक वह थूण को नहीं जीत सका। परिणामस्वरूप फरूखसियर इस देरी से व्याकुल हो उठा और उसने 17 मार्च, सन् 1717 में जयसिंह को लिखा, "सात मास बीत चुके हैं जबकि तुम्हें जाटों को नष्ट करने का कार्य सौंपा था। इसके लिए तुम्हें तोपखाना और शाही खजाने से बहुत रुपया भी दिया गया था। परन्तु दुःख है कि थूण किसी दिशा से नहीं जीता जा सका। किले के आध कोस तक चारों ओर जंगल ही जंगल है। जाट सैनिक इन जंगलों की ओट में मुगल सैनिकों पर आक्रमण करते हैं। वर्षा ऋतु समीप आरही है, यदि इससे पहले किला नहीं जीता जा सका तो वर्षा आरम्भ होने पर यह कार्य कठिन हो जाएगा[2]।"

थूण के किले को जीतने के लिए एक बड़ी भारी तोप शहाजहांनी जो एक मन का गोला फैंकती थी, पलवल से होडल भेजी गई तथा वहां से उसे आगरा का नायव गवर्नर नसरतयारखां थूण ले गया। इसके अतिरिक्त थूण की विजय निश्चित करने के लिए लाहौर के गवर्नर अब्दुल समदखां को भी बुलाया गया। परन्तु किन्हीं विशेष कारणों से उसे जाटों के विरुद्ध मोर्चा लेने के लिए नहीं भेजा जा सका और उसके स्थान पर अजमेर के गवर्नर सैय्यद मुजफ्फर खाने-जहां को थूण की विजय के लिए भेजा गया। थूण के चारों तरफ के जंगल काट दिए गए। ऐसा यह सोचकर किया गया कि सम्भवतः जंगलों की ओट में होने वाले जाटों के छापामार आक्रमण कम हो जाएंगे। परन्तु ऐसा

(1) जाट इतिहास, कानूनगो, पृ० 52

(2) जाटों का नवीन इतिहास, उपेन्द्रनाथ; पृ० 260।

न हो सका। क्योंकि किले से बाहर रहनेवाले किसान और जमींदार जाट थे। उनकी सहानुभूति चूड़ामन के साथ थी। मोहकमसिंह और रूपा के नेतृत्व में शाही ग्रामों की लूट उसी प्रकार अबाध गति से चलती रही। होडल में आनेवाले 1300 आदमियों के एक काफिले को लूट लिया गया। जाट इस लूट के माल को अपने ग्रामों में ले गए। होडल की सुरक्षा के लिए नियुक्त संजरखां की यह हिम्मत नहीं हुई कि वह जाटों के ग्रामों में घुसकर लूट के माल को वापिस करा सके। इस परिस्थिति को देखकर जयसिंह की सहायता के लिए नई कुमुक भेजी गई। नई आई सैनिक सहायता के बावजूद जयसिंह थूण को जीतने में समर्थ नहीं हो सका और उसने 'सोनिले' गढ़ी की लड़ाई में मुंह की खाई। जयसिंह ने बादशाह को लिखा कि "उसने जाटों को अनेक स्थानों पर घेरे रखा जिसमें उसे सफलता भी मिली, परन्तु शाही दरबार से जाटों को समर्थन मिलता रहा, अतः वे हथियार डालने को तैयार नहीं हुए।" वस्तुतः चूड़ामन ने कूटनीति से काम लिया और शाही दरबार की फूट का लाभ उठाया। शाही दरबार में उस समय दो दल बन चुके थे। एक दल के नेता हिन्दुस्तानी वर्ग के सैय्यद भाई थे तथा दूसरे दल के नेता तुर्रानी वर्ग के निजाम-उल-मुल्क थे। सैय्यद भाई राजा जयसिंह के पक्ष में नहीं थे। अतः चूड़ामन ने खानेजहां के माध्यम से कुतुब-उल-मुल्क को तीस लाख की भेंट और वजीर को बीस लाख की भेंट देकर अपने लिए रास्ता साफ बना लिया था। वजीर ने बादशाह के सामने थूण के किले को लेकर कहा कि "लगभग दो करोड़ रुपया और दो वर्ष लगाकर भी जयसिंह जाटों को दबाने में समर्थ नहीं हो सका है। अतः हमें समझौता कर लेना चाहिए। इधर चूड़ामन भी लम्बे खिचते युद्ध के कारण परेशान होने लगा था और समझौते का इच्छुक था। अनिच्छुक बादशाह को वजीर के दबाव के कारण समझौता स्वीकार करना पड़ा। समझौते के अनुसार चूड़ामन को अपनी पत्नी, पुत्र और भतीजों सहित दरबार में उपस्थित होना था तथा साथ में यह भी कहा गया था कि वह डीग और थूण के किलों को नष्ट कर देगा और उसका परिवार आगरा सूबे में किन्हीं अन्य स्थानों पर बादशाह की नौकरी में रहेगा। मार्च, सन् 1718 ई० में चूड़ामन को क्षमा कर दिया गया और बादशाह ने जयसिंह को जाट विरोधी अभियान समाप्त करने के आदेश भेज दिए। इस प्रकार

जयसिंह की जाटों को कुचलने की इच्छा मन की मन में रह गई। इस सम्पूर्ण समझौता वार्ता में जयसिंह को दूर रखा गया, यह एक रहस्य ही था।

जाटों के विरुद्ध जयसिंह के अभियान के परिणामों पर यदि विचार किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि इस अभियान से चूड़ामन की प्रसिद्धि ही हुई। इसके अतिरिक्त इस अभियान ने शाही दरबार के विरोधी धड़ों को भी प्रभावित किया। इस अभियान ने जयसिंह और सैय्यद बन्धुओं के मध्य दुर्भावनाओं को गहराई तक पहुंचा दिया। इस अभियान ने जयपुर घराने तथा जाटों के आपसी सम्बन्धों को और भी कटु कर दिया और जयसिंह को अपमान की घूंट भरनी पड़ी।

इससे आगे का चूड़ामन का इतिहास सैय्यद बन्धुओं के इतिहास का भाग है। चूड़ामन की पूर्ववर्ती घटनाओं में सैय्यद बन्धुओं का सहयोग होने के कारण बादशाह और सैय्यद बन्धुओं के सम्बन्ध अत्यधिक कटु हो गये थे। परिस्थितियां यहां तक पहुंच चुकी थीं कि फरुखसियर को राजसिंहासन से हटा दिया गया। बादशाह फरुखसियर को राजगद्दी से उतारने में चूड़ामन ने सैय्यद बन्धुओं को पूरा सहयोग दिया। सैय्यद बन्धुओं ने किला तथा महल को घेर लिया। चूड़ामन को किले के पूर्वी द्वार पर नियुक्त किया गया। उसने किले के सभी द्वारों की तथा महल की चाबियां ले लीं। शीघ्र ही फरुखसियर को राजगद्दी से उतारकर अन्धा बनाकर कैद में डाल दिया गया। सैय्यद बन्धुओं ने उसके स्थान पर 'रफी-उद्-दरजात' नामक व्यक्ति को सिंहासन पर बैठा दिया। विरोधी शक्तियों द्वारा दूसरी ओर नेकूसीयर को बादशाह घोषित कर दिया और आगरे के किले पर अधिकार कर लिया। विरोधियों को राजा जयसिंह, छबीलराम जैसे शक्तिशाली व्यक्तियों का सहयोग मिल रहा था। इस प्रकार सैय्यद बन्धुओं की महत्ता और प्रभुता को बड़ा भारी खतरा उत्पन्न होगया। इस परिस्थिति में सैय्यद बन्धुओं ने चूड़ामन को सहायता के लिए बुलाया और आगरा के किले को घेर लिया। चूड़ामन ने यमुना नदी की तरफ एक खाई में अपना मोर्चा जमाया। उसने किले में बुरी तरह फंसे अधिकारियों से अपने ही ढंग से बातचीत आरम्भ करदी। किले के रक्षक चूड़ामन को

किले के अन्दर ले गए जहां गंगाजल उठाकर यह कसम खाई गई कि बादशाह नेकूसीयर और उसके भतीजे मिर्जा असगरी को पचास लाख रुपयों के साथ चूड़ामन को सौंप दिया जाए और वह उन दोनों को राजा जयसिंह के प्रदेश में पहुंचा देगा। लेकिन चूड़ामन नेकूसीयर को जयसिंह के राज्य में न ले जाकर सैय्यद बन्धु हुसैनअली खान के पास ले गया। हुसैनअली खान ने नेकूसीयर को अपनी सुरक्षा में ले लिया और रुपये चूड़ामन को सौंप दिए। इसके बाद चूड़ामन ने द्वारपाल से किले के द्वार खोलने के लिए कहा। इस प्रकार चूड़ामन की कूटनीति से किला और नेकूसीयर दोनों ही हुसैनअली खान के हाथ में आगए।

सितम्बर 1720 ई० में चूड़ामन ने अपने पुत्र मोहकमसिंह को हुसैनअली खान के दक्षिण अभियान में सहायता के लिए भेज दिया। इसके बदले में हुसैनअली खान ने चूड़ामन को 'राजा' की पदवी प्रदान कराने का आश्वासन दिया। परन्तु जब हुसैनअली खान दक्षिण अभियान से वापिस आरहा था तो 'टोडा भीम' नामक स्थान पर उसे अचानक घेरकर मार दिया। अतः चूड़ामन का राजा बनने का स्वप्न पूरा न हो सका। हुसैनअली खान के साथ पकड़े जानेवालों में चूड़ामन का बेटा मोहकमसिंह भी था। इसे बादशाह मोहम्मदशाह ने छोड़ दिया। सम्भवतः यह इसलिए किया गया हो कि चूड़ामन सैयदों का साथ छोड़कर बादशाह के पक्ष में आजाए। परिवर्तित परिस्थितियों से लाभ उठाकर चूड़ामन ने बादशाह के पक्ष में चले जाना उचित समझा।

बादशाही सेना की वापिसी का नेतृत्व चूड़ामन ने सम्भाला। उसने बादशाह को इस बात के लिए मना लिया कि वह अपने निश्चित मार्ग को बदल दे। क्योंकि बादशाही सेना का पूर्व निश्चित मार्ग चूड़ामन की जमींदारी में से होकर गुजरता था। चूड़ामन का इससे चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। क्योंकि वह जानता था कि सेनाएं यात्रा करते समय मार्ग में पड़नेवाले ग्रामों की खेती-बाड़ी को उजाड़ती हुई चलती हैं। वह यह नहीं चाहता था कि उसकी देख-रेख में उसकी प्रजा तंग हो। अतः चूड़ामन ने अपनी जमींदारी को बचाते हुए नया मार्ग अपने विरोधी जयसिंह की जमींदारी में से बनाया।

इसी बीच में अपने भाई की मृत्यु को सुनकर सैय्यद अब्दुल्लाखान दिल्ली के लिए चल पड़ा और उसने चूड़ामन को गुप्त–पत्र भेजकर अपनी ओर मिला लिया। बादशाह तथा सैय्यद भाइयों की सेना का मध्य 'हसनपुर' नामक स्थान पर सन् 1720 ई० में युद्ध हुआ। 'इकबालनामा' का लेखक जो कि हसनपुर के युद्ध में उपस्थित था, लिखता है कि ''चूड़ामन ने उस दिन (13 मोहरम, 1131 हिजरी) सैय्यद अब्दुल्ला को युद्ध न करने का परामर्श दिया। उसने कहा कि वह सैंकड़ों युक्तियों, कपटचालों और राहजनी से यह काम सरल कर सकता है लेकिन उसकी सलाह नहीं मानी गई।'' अन्त में चूड़ामन के नेतृत्व में जाटों ने इस युद्ध में अपने जौहर दिखाए और मुहम्मदशाह की छावनी में से भय के कारण भागते हुए लोगों को खूब लूटा। इसी बीच बड़ी बहादुरी से लड़ते हुए सैय्यद अब्दुल्ला की मृत्यु होगई। मुगल सिपाहियों ने सैय्यद के पड़ाव में लूट आरम्भ करदी। चूड़ामन भी इस लूट में सम्मिलित होगया। इस लूट में चूड़ामन के हाथ एक हजार गाड़ियां तथा सामान से लदे सैंकड़ों ऊंट हाथ लगे।

सैयद बन्धुओं के राजनैतिक क्षितिज से लुप्त होने के बाद जाटों पर मुगलों का दबाव बढ़ने लगा। इसके साथ ही चूड़ामन के अविवेकी रवैये से सिन-सिनवार जाटों में मतभेद उत्पन्न होने लगे। जाटों का एक भाग बदनसिंह के नेतृत्व में चूड़ामन के रूखे व्यवहार तथा लूट-पाट के अत्यधिक प्यार और छल-कपट की नीतियों का विरोधी बन गया। उन्होंने चूड़ामन पर दबाव डाला कि वह पड़ोसियों तथा मुगल दरबार से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाकर अपनी जमींदारी का विस्तार करे। चूड़ामन ने उत्तेजना में आकर बदनसिंह को बन्दी बना लिया। चूड़ामन के इस व्यवहार से जाटों में सन्देह उत्पन्न होगया और उन्होंने दबाव डालकर बदनसिंह को मुक्त करवा दिया।

उपर्युक्त घटना ने जाटों के मध्य विरोध की खाई को चौड़ा कर दिया और बदनसिंह कैद से छूटकर सीधा आगरा के सुबेदार सादातखान के पास चला गया। सादातखान ने बदनसिंह को अपने पक्ष में कर लिया। वह चूड़ामन से बदला लेना चाहता था, क्योंकि

चूड़ामन के पुत्र मोहकमसिंह ने सादतखान के नायब नीलकंठ नागर को मार दिया था। इसी बीच में चूड़ामन की मृत्यु होगई।

चूड़ामन की मृत्यु के विषय में कहा जाता है कि उसका कोई धनी सम्बन्धी विना पुत्र के ही मर गया। इस मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर मोहकमसिंह ने अपना एकाधिकार कर लिया। चूड़ामन के दूसरे पुत्र जुलकरण ने इस सम्पत्ति में से कुछ भाग मांगा। इस हिस्सेदारी के विषय को लेकर दोनों में मतभेद यहां तक पहुंच गया कि वे एक-दूसरे से लड़ने के लिए तैयार होगए। चूड़ामन दोनों लड़कों के विवाद को समाप्त करने की इच्छा से आया और उसने मोहकमसिंह से कहा कि वह जुलकरण को कुछ हिस्सा दे दे। मोहकमसिंह ने चूड़ामन की यह बात नहीं मानी और बात यहां तक बढ़ गई कि वह अपने पिता और भाई से लड़ने तक को तैयार होगया। चूड़ामन को इससे मानसिक आघात पहुंचा। उसने जहर खा लिया, जिसको वह हर समय अपने पास रखता था और बगीचे में जाकर अपना शरीर छोड़ दिया। बड़े आश्चर्य की बात है कि एक छोटी–सी बात पर चूड़ामन ने आत्महत्या करली। यह आत्महत्या चूड़ामन जैसे वीर योद्धा और कूटनीतिज्ञ के अनुकूल नहीं थी। इस आत्महत्या के पीछे वस्तुतः अन्य ही प्रबल राजनैतिक कारण थे। चूड़ामन के समय बादशाह, सैयद भाई और आमेर तीन बड़ी शक्तियां थीं। जिनके साथ उसके राज्य की सीमाएं लगती थीं। इन तीनों की पारस्परिक फूट का लाभ उठाकर ही चूड़ामन अपने लिए एक निश्चित स्थान बना सका था। परन्तु सन् 1720 ई० के आस-पास ये तीनों शक्तियां ही चूड़ामन की विरोधी हो चुकी थीं। अतः चूड़ामन मानसिक रूप से अत्यन्त व्याकुल था। बस इसी समय यह गृह-कलह भी आरम्भ होगया। जिसका परिणाम आत्महत्या के अतिरिक्त कुछ न था।

चूड़ामन के व्यक्तित्व की परख की जाए तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वह अपने उद्देश्य के प्रति पूर्णरूप से समर्पित था और उसका उद्देश्य था 'जाटराज्य की स्थापना'। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने सद् और असद् का विवेक नहीं किया। नटवरसिंह के अनुसार—"चूड़ामन में भावनाओं की कोमलता और हृदय की उदारता उसके स्वभाव में नहीं थी। वह चाणक्य की भांति नीति-

निपुण, कठोर और समय की पहचान का पारखी था। वह चन्द्रगुप्त के समान उत्साही और कर्मठ था। परन्तु इतना सब होने पर भी यदि विपक्ष की फूट और अविश्वास उसका साथ नहीं देते तो उसे इतनी सफलता नहीं मिलती, यह निश्चित था। 'मजमूल अखबार' नामक पुस्तक के अनुसार—"चूड़ामन का भाग्य उस पानी के समान था जिसने उसके जीवनरूपी क्षेत्र को सिंचित किया।" वह एक घृणित विद्रोही से उठकर स्पृहणीय 'पंच हजारी' मनसबदार के पद तक पहुंचा। भाग्य ने आरम्भ से ही उसका साथ दिया। परन्तु उसका अन्त दुर्भाग्यपूर्ण रहा। समय के साथ राजनीति में करवटें बदलना उसके स्वभाव में समाया हुआ था। चूड़ामन की लूट-पाट के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए जाते हैं। परन्तु सभी विचारक इस बात से सहमत हैं कि चूड़ामन की लूट-नीति के पीछे मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र जाट-राज्य स्थापित करने की भावना थी।

—o—o—

नवम अध्याय

जाट राज्य भरतपुर का उदय

बदनसिंह

पाठकों की जानकारी के लिए यह जानना आवश्यक है कि बदनसिंह के पिता भावसिंह और चूड़ामन दोनों सगे भाई थे। इनमें से भावसिंह बड़ा था। भावसिंह के रूपसिंह और बदनसिंह नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। बदनसिंह के दादा भज्जासिंह ने जाटों की शान बढ़ाने का अनथक परिश्रम किया था। इसका विवरण पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है। बदनसिंह के पिता भावसिंह के विषय में हमें पता चलता है कि उसने दो सौ युवकों की एक जमींदारा जाट फौज बनाकर 'अऊ' परगना के अत्याचारी मुगल तसीलदार पर आक्रमण करके उसे (अऊ) छोड़कर भाग जाने के लिए बाध्य किया था। भावसिंह की मृत्यु (सन् 1702 ई०) के बाद चूड़ामन को जाटों की सरदारी प्राप्त करने का सौभग्य मिला। इस प्रकार चूड़ामन बदनसिंह का चाचा लगता था।

समकालीन 'वाक्या-पत्रों' से ज्ञात होता है कि रूपसिंह ने चूड़ामन की सह-साझेदारी में परगना रूहार के अनेक गांवों व टप्पों का इजारापट्टा प्राप्त कर लिया था। मुगलों के साथ युद्ध करते हुए रूपसिंह निस्सन्तान मर गया। सिन-सिनवार डूंग की वंशानुगत व सामाजिक परम्पराओं के अनुसार बदनसिंह अपने ज्येष्ठ भ्राता रूपसिंह की जमींदारी का प्रबन्धक माना जाता था। किन्तु प्रचलित प्रथाओं के अन्तर्गत शाही दरबार से जमींदारी की मान्यता प्राप्त करना आवश्यक था। इसी मान्यता–प्राप्ति की कहानी जाटों के परस्पर के संघर्ष की कहानी है। इस संघर्ष के अतिरिक्त बदनसिंह चूड़ामन की राज्य-विस्तार के लिए की जानेवाली लूट–पाट और छल-कपट की नीतियों का भी समर्थक नहीं था। इसी प्रकार चूड़ामन के पुत्र मोहकमसिंह और बदनसिंह का संघर्ष दो व्यक्तियों का न होकर दो नीतियों का था। एक में अराजकता फैलाकर जाटों के रौद्ररूप

को दिखाना था तो दूसरे में नम्रता और सामाजिक-नीति का आश्रय लेकर और पड़ौसियों से अच्छे सम्बन्ध बनाकर 'जाट-शक्ति' को 'जाट-राज्य' के रूप में परिवर्तित करना था।

ऐसा कहा जाता है कि मोहकमसिंह ने जाटों में प्रचलित प्रथाओं को तोड़कर बलात् जाटों का नेतृत्व ग्रहण किया था। अतः जाटों के बहुमत ने उसके बलात् नेतृत्व को मन से स्वीकार नहीं किया था। इनमें से बदनसिंह भी एक था। बदनसिंह की वीरता और योग्यता तथा लोकप्रियता को देखकर राज्य छिन जाने के भय से मोहकमसिंह ने उसे डीग से छः मील दूर 'खोह' नामक स्थान पर कारागार में डाल दिया। मोहकमसिंह की इस हरकत से प्रमुख जाट सरदार नाराज होगए और उन्होंने मोहकमसिंह के गुरु माखनदास बैरागी के सहयोग से बदनसिंह को मुक्त करवाया।

मोहकमसिंह की कैद से छूटकर बदनसिंह अपने स्वत्व की प्राप्ति के लिए मोहकसिंह को जाटों के सरदार के रूप में हटाने के प्रयास में लग गया। वह इस निमित्त राजा जयसिंह के पास गया और सहायता की प्रार्थना की। राजा जयसिंह ने यह सोचते हुए कि उसका प्रभाव ब्रजमण्डल तक विस्तृत हो जाएगा, सहायता के लिए स्वीकृति दे दी। जिस समय मोहकमसिंह ने जातीयबन्धुओं के विरोध को बढ़ावा दिया था उसी समय उसने तथा उसके भाई जुलकरण ने मुगलों को भी अपने विरुद्ध उत्तेजित कर लिया। शाही दरबार मोहकमसिंह और जुलकरण भी लूट-पाट तथा सरकारी गांवों तथा जागीरों से बलात् कर प्राप्ति की घटनाओं से चिन्तित हुआ और उसने राजा जयसिंह को आगरा का राज्यपाल तथा मथुरा का फौजदार बनाकर मोहकमसिंह को दबाने के लिए भेजा। सैय्यद गुलाम हुसैन का मत है कि सवाई जयसिंह ने बदनसिंह के लिए राव चूड़ामन की वतन जागीर तथा जमींदारी का प्रबन्ध सौंपने के लिए शाही दरबार अनुज्ञा-पत्र प्रदान करने का भी आश्वासन प्राप्त कर लिया था। इस बार मोहकमसिंह के विरुद्ध थूण पर आक्रमण का अभियान मुगल सेना ने ही नहीं किया था, अपितु एक तानाशाही भाई के विरुद्ध जातीय संगठन का चहेता सरदार बदनसिंह भी साथ में था। 'जाट को मारे जाट या मारे करतार' की कहावत के अनुसार मोहकमसिंह वास्तविक संकट में था।

बदनसिंह ने मोहकमसिंह के सहयोगी जमींदार तथा नियमित सेना के जमादारों को धन-धरती तथा अपनी सेना में रखने का प्रलोभन देकर निष्क्रिय कर दिया। इसी प्रकार बदनसिंह ने देशवार पाल पंचायतों को भी तोड़ लिया। थूण के किले को तोड़ने के लिए दिल्ली से एक विशाल तोप, एक हजार रहकला तीन सौ वाण, पांच सौ मन सीसा तथा बारूद भेजने की तैय्यारी की गई।

इधर जयसिंह के थूण आक्रमण की बात को जानकर मोहकमसिंह ने राठौरों की सहायता प्राप्त करने के लिए अपना दल जोधपुर भेजा। थूण की इस बार की विजय में देरी न होने पावे इस दृष्टि से बदनसिंह ने थूण की गढ़ी के कमजोर स्थानों का भेद दे दिया। मोहकमसिंह ने गढ़ी में बारूदी सुरंगें लगवा दी थीं। उसने असहाय होकर बारूदी सुरंगों में आग लगवा दी और अपने परिवार एवं कोष सहित गढ़ी से निकलकर मार्ग में आरही राठौरी सेना की सुरक्षा में जोधपुर के क्षेत्र में पहुंच गया। यदि बारूदी सुरंगों की सूचना बदनसिंह ठीक समय पर जयसिंह को नहीं देता, तो जयसिंह के प्राण पखेरू उड़ जाते और थूण की गढ़ी की विजय मन की मन में धरी-धराई रह जाती। इस प्रकार वीरान थूण गढ़ी पर बादशाही सेना का अधिकार होगया।

थूण गढ़ी की विजय के बाद जयसिंह ने बदनसिंह द्वारा दीगई सहायता एवं कौमी पंचायत तथा डूंग-पाल की तात्कालिक संतुष्टि के लिए पूर्व वचनों की पालना में दिसम्बर 2, 1722 ई० के दिन बदन-सिंह के सिर पर सरदारी की पाग बांधी। राजाओं की भांति तिलक किया और पांच परिधानों के साथ पंचरंगी निसान सौंपकर 'ठाकुर' पद से सम्मानित किया। इसी समय बदनसिंह को 'सदर-ए-कोतवाली' के अधिकार भी सौंपे गए। इस प्रकार जयसिंह की अनुकम्पा तथा संरक्षण प्राप्त करने के लिए बदनसिंह ने नम्रता का मार्ग अपनाया। इतिहासकारों के अनुसार—"इस प्रकार बदनसिंह कछवाहों का खिदमती जागीरदार बन गया। यद्यपि बदनसिंह की आरम्भिक कठिनाइयां इस कथन के अनुरूप मानी जा सकती है फिर भी यह सत्य है कि बदनसिंह ने अपने आपको पूर्णरूप से जयसिंह को समर्पित नहीं किया था। यह तो समय की मांग थी, जिससे जाट-शक्ति फ़ौजी

संकटों से बचकर जाट-राज्य की ओर कदम बढ़ा रही थी। इसके अतिरिक्त हमें यह भी स्मरण रहना चाहिए कि बदनसिंह का क्षेत्र कभी भी कछवाहा राज्य का अंग नहीं बना। अतः 'खिदमती जागीर-दार' होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके साथ ऐतिहासिक दृष्टि से जयसिंह आगरा का राज्यपाल तथा मथुरा का फौजदार था। यह दोनों पद बादशाह की कृपा के कारण ही थे और कभी भी किसी अन्य व्यक्ति को प्रदान किए जा सकते थे। जयसिंह का व्यवहार भी यह सिद्ध करता है कि उसकी दृष्टि में बदनसिंह कछवाहा ठाकुर या सामन्त से भिन्न एक शाही जागीरदार अथवा मनसबदार के समान था। इसके अतिरिक्त बदनसिंह के लिए यह आवश्यक था कि वह जयसिंह को प्रसन्न रखता। क्योंकि उसका विरोधी मोहकम-सिंह जोधपुर में राठौरों के संरक्षण में था।

राजधानी के निकट स्थायी शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिए यह अनिवार्य था कि बादशाह मुहम्मद शाह बदनसिंह को सम्पूर्ण काठेड़ जनपद तथा उसके पूर्वकालिक अधिकार क्षेत्र के वैधानिक अधिकार सौंपकर उसको जाटों के सरदार के रूप में मान्यता प्रदान करे। मई 22, 1723 ई० को मुगल दरबार से प्रसारित खरीता से पता चलता है कि बादशाह ने राव चूड़ामन की जमींदारी के कुछ परगने प्रदान करके बदनसिंह को उत्तराधिकारी जाट जमींदार स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार आगरा प्रान्त में काठेड़ एक अलग राजनैतिक इकाई बन गया।

वैधानिक पद एवं अधिकार प्राप्त करने के बाद बदनसिंह ने आन्तरिक और बाहरी कठिनाइयों पर शान्ति, संयम और दृढ़ता से विजय प्राप्त की। राजनैतिक शक्ति की दृढ़ता तथा प्रसार के लिए बदनसिंह ने गुप्त राजाओं एवं ट्यूडर हेनरी सातवें के समान कामा, सहार, सलेमपुर, होडल, सीही, पथेना आदि के जमींदारों से 'दाम्पत्य सूत्र-बन्धन' का सिद्धांत अपनाया। मोहकमसिंह के सभी सैनिकों को अपनी सेवा में लेकर निजी सैनिक शक्ति को भी बढ़ाया। परगना 'खोहरी' में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए बादशाह ने बदन-सिंह को अनेक जाट-प्रभावित गांवों का स्थायी प्रबन्ध सौंप दिया। इन गांवों में चूड़ामन की जागीर के भी अनेक गांव थे। इन गांवों

की प्राप्ति पर बदनसिंह ने जयसिंह से (आगरा के राज्यपाल होने के नाते) पेशकशी या इस्मी जमींदार होने का अनुबन्ध कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ। कि बदनसिंह ने साधारण जमींदारों रय्यती जमींदारों, पटेलों व मुकदमों से 'माल-ओ-जकात-ओ-सायर' (कर तथा राजस्व-प्राप्ति का अधिकार) की प्राप्ति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिआ।

सीमित वैधानिक अधिकार तथा आर्थिक साधनों के बाद ही बदनसिंह ने भव्य नगर विशाल मैदानी तथा आकर्षक महलों एवं तालाबों का निर्माण किया। भवन-निर्माण कला की दृष्टि से बदनसिंह जाटों में शाहजहां के समान था। डीग को जाट-राज्य की प्रथम राजधानी बनाने के लिए पक्का दुर्ग तथा नगर की विशाल योजना आरम्भ की।

निस्सन्देह बदनसिंह ने जमींदाराना सिपाही तथा अपने निजी सैनिकों के बल पर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया था। परन्तु इससे उसकी सन्तुष्टि नहीं हुई और उसने तालुकेदारी या इजारेदारी की ओर ध्यान दिया। उसने आगरा परगने के अनेक गांव इजारे पर लेने में सफलता प्राप्त करली। फरीदाबाद, पलवल तथा मेवात क्षेत्र की राहदारी भी बदनसिंह को प्राप्त होगई। नागरिकों की सुरक्षा हेतु बदनसिंह के राज्य के डीग, कुम्भेर और वैर में रहकला, हथकला, गजनाल, सुतरनाल, जुजर्वा आदि तोप तथा बन्दूकें बनाने का काम शीघ्रता से होने लगा। यह सब देखकर उनके विरोधियों ने शाही दरबार में शिकायतें कीं परन्तु अपनी शान्ति और संयम के बल पर उसने इनको प्रभावहीन कर दिया।

"सुजान-चरित" के लेखक सूदन के कथनानुसार बदनसिंह ने राज्य-विस्तार के लिए सर्वप्रथम अपनी दृष्टि मेवात की ओर डाली। मेवात के साथ ही बदनसिंह ने अपने राज्य के दक्षिण में धीरे-धीरे कदम बढ़ाया। खेमकरण सोगरिया को अपने अधिकार में लेने के बाद उसने आगरा के परगनों पर दृष्टि डाली। सन् 1735 ई० के लगभग उसने हवेली आगरा के 61 गांव तथा कांगारोल आदि का सम्पूर्ण जाटप्रधान क्षेत्र इजारे पर उपलब्ध कर लिया। बदनसिंह का राज्य व शासन अस्सी लाख रुपए वार्षिक

जमा के क्षेत्रों तक पहुंच गया था। उसने जो गांव या परगना अपने पुत्रों के नाम जागीर या कांस्या (पालन-पोषण) में प्रदान किए थे वे इस जमा में सम्मिलित नहीं थे। अपनी नीतिनिपुणता से ही उसने एक दशक में चूड़ामन से कहीं अधिक जाट–राज्य का विस्तार करने में सफलता प्राप्त की थी।

बदनसिंह ने शस्त्रों की अपेक्षा, विवेक, असीम धैर्य और समयानुकूल नीति का अनुसरण करके अपने राज्य का विस्तार किया। नटवरसिंह के कथनानुसार "बदनसिंह के चरित्र में बल प्रयोग, अनुनय–विनय दोनों का समझदारी से मिश्रण था। मित्रों को पुरस्कार देने, अपने राज्य को समृद्ध करने, अपने प्रभावक्षेत्र को बढ़ाने के लिए उसने मनुष्यों को ज्ञात सभी उपायों से काम लिया।"

सन् 1740 ई० में जयपुर और जोधपुर के मध्य लड़ाई छिड़ गई। बदनसिंह ने अपने पुत्र सूरजमल को जयसिंह की सहायता के लिए भेजा। सूरजमल के राजकवि सूदन के कथनानुसार 'गंगवाना' के युद्ध में सूरजमल की वीरता के कारण ही जयसिंह की जीत हो सकी। वस्तुतः बदनसिंह ने सूरजमल को राजपूत सेनाओं के अधीन रहकर लड़ने के लिए नहीं भेजा था कि जयसिंह की मदद की जाए। अपितु इस सहायता के पीछे उसका अपना भय कार्य कर रहा था क्योंकि मोहकमसिंह और जुलकरण जोधपुर में शरण लिए हुए थे। बदनसिंह यह नहीं चाहता था कि इस युद्ध में जोधपुर की जीत हो। ऐसा होने पर निश्चय ही जोधपुर का राजा भरतपुर की राजनीति में हस्तक्षेप करता और मोहकमसिंह को एक बार पुनः जाटों का नेतृत्व मिलने की सम्भावना बढ़ जाती।

बदनसिंह ने अपने राज्य–विस्तार के लिए जाट डूंग व पालों के सरदारों की 'कौमी परिषद्' का गठन किया और उनको सलाह से शासन करने लगा। बाद में उसने दरबारी शिष्टता का मुस्लिमी वातावरण अपनाकर अपने दरबार की शोभा बढ़ाई। बदनसिंह को अपने देश में राजा के अनुरूप आदर मिलने लगा। बदनसिंह 'राजा' पद-प्राप्ति के लिए बड़ा लालायित रहा। इसका प्रमाण उस पत्र से मिलता है जो गुजरात प्रान्त में मराठा प्रवेश को रोकने में विफल होने पर राज्यपाल के पद से हटाए गए सर बुलन्दखान ने बदनसिंह को लिखा था। इस पत्र

में सर बुलन्दखान ने बदनसिंह को 'ठाकुर' पद से सम्बोधित किया था। इस पत्र के उत्तर में बदनसिंह ने लिखा कि "उसको 'ठाकुर' की अपेक्षा राजा के विरुद से सम्बोधित किया जावे।"

नादिरशाह के आक्रमण से पूर्व ही बदनसिंह ने राज्य विस्तार सैन्य-संगठन तथा राजनैतिक वार्ता का अधिकार अपने ज्येष्ठ पुत्र सूरजमल को सौंप दिया था। वह स्वयं 'कौमी परिषद्' के साथ बैठकर आंतरिक राज्य-प्रबन्ध के बारे में निर्देशमात्र देता था। बीस वर्ष के राज्य-संचालन के बाद बदनसिंह की नेत्र-ज्योति धूमिल होने लगी थी और वह दिन प्रतिदिन धूमिल होती गई। जीवन के अन्तिम दिनों में वह सहार में रहने लगा था और वहीं जून 7, 1756 ई० में उसका देहान्त होगया।

बदनसिंह का जाट इतिहास में मूल्यांकन करने से पूर्व हम एक बात पर अवश्य विचार करना चाहेंगे। इतिहासकारों ने जिनमें वैण्डल, सरकार आदि प्रमुख हैं कहा है कि 'बदनसिंह ने आगरा-दिल्ली प्रान्त के अन्यान्य पाल सरदारों, मेवातियों से लूट में साझेदारी निश्चित करके आगरा–दिल्ली तथा मेवात मार्गों पर लूट-पाट को प्रोत्साहित किया। जाट तथा मेवाती धारें निर्बाध गति से भव्य-भवनों और बागों को उजाड़ने लगीं। केवल कुछ तांबे के पैसों, संगमरमर के टुकड़ों तथा लोहे की सलाखों के लिए उन्हें तोड़ने लगीं। वे विशाल फाटक, भारी भरकम पत्थरों की कड़ाऊ तथा शहतीर आदि निकाल-कर उन महलों में ले जाने लगे थे, जिनको बदनसिंह बनवा रहा था। साथ ही ये लोग दो-दो सौ अथवा तीन-तीन सौ की धारों में लाठी, तलवार, भाला और बन्दूकों से सुसज्जित होकर कुल्हाड़ी तथा मसालों के साथ बिगुल बनाकर सम्पन्न व्यक्तियों को लूटने के लिए निकल पड़ते थे। वैण्डल ने तो इस सम्बन्ध में यहां तक लिख दिया कि क्रूरता और लूट में बदनसिंह ने चूड़ामन को भी मात दे दी।

वस्तुत: उपर्युक्त विचारों में सत्यता का अंश ठीक ढंग से खोजने का प्रयास नहीं किया है। जिस व्यक्ति (बदनसिंह) ने अपने जीवन का खतरा उठाकर चूड़ामन के समय से ही लूट-पाट और कपट-नीति का विरोध किया हो, वह अपने शासन में स्वयं किस प्रकार ऐसे अनैतिक कार्यों को प्रोत्साहन दे सकता है। वैण्डल की धारणा सम्भ-

वतः मुहम्मद शाह के उस काल की घटनाओं पर आधारित हो जब कि मोहकमसिंह इस प्रकार की गतिविधियों में संलिप्त था। सौभाग्य से हमारे पास ऐसे प्रमाण हैं जो वैण्डल की मान्यता का खण्डन करने में सक्षम है। 'इकबालनामा' में लिखा है कि—"बदनसिंह ने सुखी-जीवन का बीज बोया और अच्छाइयों के पेड़ को हरा किया। वह अनेक आदतों में अपने से पूर्ववर्ती (चूड़ामन) से भिन्न था जो कि लूट-पाट और राहजनी में विश्वास करता था।"

इसके अतिरिक्त हमें 'तारीखे अहमदशाही' और 'तारीखे आलमगीर सानी' से पता चलता है कि बदनसिंह का राज्य बड़ा सुरक्षित था। राजधानी (दिल्ली) के लोग अत्यधिक भय की स्थिति में इसके राज्य में शरण लेने के लिए आते थे। जाट केवल उनकी सुरक्षा ही नहीं करते थे अपितु उनसे अच्छा व्यवहार भी करते थे। यदि बदनसिंह की राज्य-सीमा में उसकी देख-रेख में लूट-पाट और आगजनी होती थी, तो यह कैसे सम्भव था कि बाहर के धनी व्यक्ति अपनी जान-माल की सुरक्षा के लिए उसके राज्य में शरण लेने आते।

वैण्डल के कथन में इतनी सत्यता अवश्य है कि यदा-कदा आगरा के क्षेत्र में खेमा जाट द्वारा लूट-पाट होती रहती थी। इसके साथ ही यह भी सम्भव है कि मोहकमसिंह को सेना के जो व्यक्ति बदनसिंह ने अपनी सेना में रख लिए थे वे भी अपनी पुरानी लूट-पाट की आदत को एकदम नहीं छोड़ सके हों।

बदनसिंह का मूल्यांकन करते समय हम निश्चय से कह सकते हैं कि वह बड़ा चतुर व्यक्ति था जो कि अवसर को चूकना नहीं जानता था। उसने कम रक्तपात में अधिक से अधिक प्राप्ति की। फ्रांसको के कथनानुसार वह सैनिक के रूप में अद्वितीय था। इतिहास में सूरजमल के योगदान के विषय में निस्संकोच कहा जा सकता है कि उसने इतस्ततः बिखरे जाट सरदारों को एक झण्डे के नीचे लाकर 'जाट-राज्य' का स्वप्न साकार किया। बदनसिंह ने गणतन्त्रात्मक कबीला प्रवृत्तिवाले जाटों को 'राज-सत्तात्मक' पद्धति की ओर मोड़ा। उसने जाटों से गद्दारी करने पर भी जयसिंह की जाट-राज्य को अपने अधीन रखने की इच्छा को सफल नहीं होने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जाट सुसंगठित होकर अपनी आर्थिक समृद्धि में लग

गए और राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में उनका महत्त्व बढ़ता गया।

सूरजमल

जाट क्रांतिकारियों तथा गोकुला, राजाराम, चूड़ामन, मोहकमसिंह और बदनसिंह के प्रयासों के बाद भी अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य तक कोई जाट व्यक्तित्व इस रूप में उभरकर नहीं आ सका, जिसे इतिहासकार सर्वमान्य जाटनेता कह सकें। सूरजमल के प्रयासों ने प्रथम बार यह पद प्राप्त करके इतिहास में यह दिखा दिया कि तत्कालीन कोई भी राजसत्ता जाटों को उपेक्षित करके भारत का शासक नहीं बन सकती। बस सूरजमल के जीवन की सम्पूर्ण घटनाएं इसी ताने-बाने में उलझी–सुलझी रहीं। इन्हीं घटनाओं की कहानी सूरजमल के जीवन की कहानी है।

जाटों का दुर्भाग्य ही समझिए कि इनके महान् वीरों और राजाओं की जाति के विषय में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। जाट राजा गुप्तों को भी इतिहासकारों ने शूद्र और वैश्य तक कहने में कमी नहीं छोड़ी। थानेसर के वर्धनों और यशोधर्मा को वे वैश्य मान बैठे। यही बात सूरजमल के विषय में भी ठीक बैठती है। जहां तक इसके नाम का सम्बन्ध है वहां तक साहित्यिक और ऐतिहासिक प्रलेखों में सूजा, सुजानसिंह, सूरजमल्ल या सूरजमल नाम से इसका उल्लेख मिलता है। इसकी जाति तथा पिता के नाम के विषय में हमें निम्नलिखित मत प्राप्त होते हैं—

फादर वैण्डल के मतानुसार सूरजमल बदनसिंह का बेटा नहीं था और उसके रक्त में बदनसिंह का अंश नहीं था। वह तो देवकी नामक स्त्री का पुत्र था। अपने मत की पुष्टि में वैण्डल ने एक कहानी दी है कि एक दिन कोई युवती अपने पुत्र के साथ राजभवन में रहने वाली अपनी बहिन से मिलने के लिए आई। बदनसिंह उस युवती के सौन्दर्य पर मोहित होगया और उसे अपनी पटरानी बना लिया। सूरजमल अपनी प्रतिभा के कारण सब राजकुमारों में श्रेष्ठ बन गया। जदुनाथ सरकार ने भी इस कहानी की सत्यता की खोज किए बिना ही वैण्डल के मत को स्वीकार कर लिया। डॉ० कुंजबिहारीलाल ने सूरजमल को बदनसिंह का दत्तकपुत्र माना है। इसी प्रकार एक

लोकगीत में जो कि भरतपुर में परम्परा से चला आरहा है कहा गया है—

> सूरजमल कायथ को लरिका
> गोरे मुख पर आयो पसीना
> झालर को पंखा—रे सूरजमल······
> जवाहरसिंह ने गजब ढायो
> कियो बाप तें वैर
> सूरजमल गरमाओ—रे सूरजमल······

उपर्युक्त लोकगीत में सूरजमल को कायस्थ जाति का बताया गया है।

राम पाण्डेय के अनुसार सूरजमल बदनसिंह का पुत्र न होकर रूपसिंह का पुत्र था। रूपसिंह और बदनसिंह भाई-भाई थे। रूपसिंह की मृत्यु के उपरान्त रूपा की विधवा पत्नी सूरजमल को लेकर बदनसिंह के राजभवनों में आई और बदनसिंह ने जाट जाति में प्रचलित 'धरेजना' (विधवा विवाह) प्रथा के अनुसार उसे अपनी पत्नी बना लिया।

'सुजान-चरित' के लेखक सूदन के अनुसार सूरजमल बदनसिंह का ही पुत्र था। सूदन सूरजमल के दरबार का कवि था। उसने 'सुजान-चरित' में सूरजमल का वंश विवरण देते हुए लिखा है—

> "ब्रजराज तिनके ओर तो ब्रजराज के परताप
> जिनि साहि के दल गाहि के निज साहिबी करि थाप
> पुनि भयौ भूपति भावसिंह भुजान बर भरपूर
> रविवंस में ज्यौं करन, त्यौं ससिवंस कौ वह सूर
> ता भावसिंह भुवाल कै बदनेस नाम नरेस
> नहिं ता समान धनेसहुं नरवतेस और दिनेस
> है बदनसिंह महेन्द्र महि पर धर्म धुरन्धर धीर
> ताकौं कुंवर सुजानसिंह सु करे पर उर पीर
> जिनि जीति वसुधा नीति सों कहुं भीति राखि नहीं
> इक प्रीति श्री हरदेव की कें पिता के पद मांही
> जिनि साहि के दरबार मांहि सु किये हुकमी मीर

सुलतान अहमद साहि आपु सराहि नौबत दीन
और राजा राई ते पदवी सवाई कीन ।

उपर्युक्त पदों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सूरजमल बदनसिंह का ही बेटा था ।

इस प्रकार सूरजमल की जाति और पिता के सम्बन्ध में हमारे सामने पांच मत उभर आते हैं । इनमें से तीन मत लगभग एक समान से हैं और इनका मुखिया वेण्डल है । इन तीनों मतों के पक्ष में हमें अभी तक कोई भी पारिवारिक तथा ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिला है । अत: यह मत विश्वसनीय नहीं माने जा सकते । परम्परावादी लोकगीत के 'कायस्थ जाति' के सम्बन्ध में तो कोई भी इतिहासकार सहमत नहीं है । डॉ० नत्थनसिंह ने 'इतिहास पुरुष महाराजा सूरजमल' नामक छोटी–सी पुस्तक में "सूरजमल कायथ को लरिका" वाक्य के साथ बड़ी खींचा-तानी की है और शब्द की लक्षणा-शक्ति का सहारा लेकर कहा है कि "सूरजमल राजनैतिक जोड़–तोड़ में कायस्थ के समान चतुर थे । "गौरे मुख पै आयो पसीना" का तात्पर्य है कि सूरजमल के यशस्वी कलंकहीन उज्ज्वल मुख पर पसीना है ।" डॉ० नत्थनसिंह का उपर्युक्त विचार साहित्यिक उड़ान में तो ठीक है, किन्तु इतिहास में इस प्रकार की उड़ान के लिए कोई स्थान नहीं है । राम पाण्डेय का मत ऐतिहासिक दस्तावेजों के अभाव में मान्य नहीं हो सकता । अत: एकमात्र बचा सूदन का मत ही वस्तुत: ठीक है ।

सूरजमल की उपलब्धियों को हम ऐतिहासिक दृष्टि से दो भागों में बांट सकते हैं । इनकी प्रथम उपलब्धियां कुंवर (राजकुमार) के रूप में आंकी जा सकती हैं । दूसरी उपलब्धियां बदनसिंह की मृत्यु के उपरान्त राजगद्दी का अधिकारी बनने के बाद की गिनी जा सकती है ।

कुंवर के रूप में बदनसिंह के नेतृत्व में सूरजमल ने खेमकरण सोगरिया को जीता । यहां यह लिखना आवश्यक है कि खेमकरण ने राव चूड़ामन की सह–साझेदारी तथा भाईचारा सिद्धान्त पर सिनसिनीवार सोगरिया डूंग की एकता के बाद सोगरिया डूंग की सरदारी प्राप्त करली थी और अट्ठारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में बाणगंगा तथा रूपारेल नदियों के तट पर सघन जंगलों के बीच वर्तमान भरतपुर किले के आंतरिक भाग में एक कच्ची गढ़ी का निर्माण कर लिया

महाराजा सूरजमल

था। खेमकरण बड़ा महत्त्वाकांक्षी था और इस प्रयास में रहता था कि उसे सम्पूर्ण काठेड़ जनपद की सरदारी मिल जाए।

सन् 1726 ई० में बदनसिंह ने मीर बख्शी खान के दौरान तथा कई एक शाही मनसबदारों की वतन-जागीर के गांव इजारे पर प्राप्त कर लिए थे। खेमकरण ने इसका विरोध किया और रबी की फसल पर बदनसिंह के गुमास्तों को कर वसूल नहीं करने दिया। फलतः मई, 1726 ई० में सूरजमल के नेतृत्व में बदनसिंह ने खेमकरण के विरुद्ध अपनी सैनिक टुकड़ियां भेजीं। सूरजमल ने खेमकरण की कच्ची गढ़ी पर कब्जा कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जाटों की राजनीति का केन्द्र डीग से परिवर्तित होकर भरतपुर होगया।

कुंवर के ही रूप में सूरजमल की 'गंगवाना' युद्ध में उपलब्धियों पर पिछले पृष्ठों में प्रकाश डाला जा चुका है।

गंगा-यमुना के मध्य 'कांठे' का सम्पन्न क्षेत्र है। मुगलकाल में 'कांठे' का प्रशासनिक केन्द्र कोयल (वर्तमान अलीगढ़) था। सम्राट् मुहम्मद शाह के शासन में इस जिले का प्रशासनिक अधिकारी मीर-जादा साबितखान था। नादिरशाह के आक्रमण के बाद साबितखान ने अन्य सरदारों की भांति मुगल-साम्राज्य की कमजोरी का लाभ उठाकर कोयल पर अपना स्वतन्त्र अधिकार कर लिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके बेटे फतेहअली खान ने बिना सनद के ही उत्तराधिकार प्राप्त किया। अतः बादशाह ने फतेहअली खान को बेदखल करने के लिए असदखान खानजादा को हल्के शाही तोपखाने [illegible] थ रवाना किया। इस स्थिति से निपटने के लिए फतेहअली ने सूरजमल की सहायता प्राप्त करने के लिए अपना दूत भेजा। सूरज-मल ने सहायता का वचन देकर शाही सेना से मोर्चा लेने के लिए अपनी सेना चन्दौस (अलीगढ़ से 32 कि० मी०) की ओर भेद दी। अब अफेहअली और असदखान के मध्य युद्ध होना अवश्यम्भावी था। इस युद्ध में सूरजमल एक हजार सवारों के साथ सम्मिलित हुआ। प्रातः दस बजे युद्ध आरम्भ होगया। जाट हरावल ने शत्रु पर भीषण प्रहार किया। यह देखकर असदखान ने तीव्र आक्रमण किया। फतेह-अली घबड़ाकर हाथी से उतर पड़ा। इसी समय सूरजमल ने जोर-दार आक्रमण किया और असदखान गोली लगने से मर गया। शाही

सेना में भगदड़ मच गई। जाट सेना ने पराजितों का 9 मील तक पीछा किया। इस प्रकार इस युद्ध में फतेहअली को सूरजमल के कारण विजय मिली।

सन् 1743 ई० में आमेर के राजा जयसिंह की मृत्यु होगई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके लड़के ईश्वरीसिंह और माधोसिंह में उत्तराधिकार के लिए युद्ध छिड़ गया। वस्तुत: बड़ा होने के नाते ईश्वरीसिंह गद्दी का अधिकारी था। परन्तु उदयपुर की राजकुमारी से उत्पन्न होने के कारण ही माधोसिंह भी अपना उत्तराधिकार जता रहा था। माधोसिंह ने अपनी सहायता के लिए मराठों को निमंत्रित किया तो ईश्वरीसिंह ने अपनी सहायता के लिए बदनसिंह को याद किया।

सूदन कवि ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है :—

देषि देश को चाल ईश्वरीसिंह भुवाल ने
पत्र लिख्यो तिहि काल बदनसिंह ब्रजपाल को
करी काज जैसी करी गरुड़ध्वज महाराज
पत्र पुष्प के लेत ही पे आज्यो ब्रजराज
आयो पत्र उताल सौ ताहि बांचि ब्रजयेस
सुत सूरज सौ तब कह्यो थामि ठूठाहर देस ॥

बदनसिंह ने कुंवर सूरजमल को 2,000 पैदल और 10,000 घुड़सवारों के साथ ईश्वरीसिंह की मदद करने के लिए भेजा। बदनसिंह की स्थायी सेना के अतिरिक्त इस युद्ध में जाति-पंचायत के सैनिकों ने भी भाग लिया। जिसका वर्णन सूदन कवि ने इस प्रकार किया है :—

संग चढ़े "सिनसिनवार" है वहु जंग के जितवार है।
खल खण्डने "खुटेल" हैं कबहैं न जै मन में भय लहैं।
चढ़ि चाह "चाहार" हैं टेर दै दल दें सवार दरेर दें।
अस वीर हौत "अवारिया" जिन कितै बैर बिदारिया।
कर डारि "डागुर" धाईयौ वहु मैन वार सु आईयो।
गुनवन्त "गौदार" चढ़िढ़यौ सर सैर "सांगन" मढ़िढ़यौ।
सजियौ प्रचण्ड सु "भौगरे" "जितवार" झगुन के करै।
खिनवारे "गौधे" बंक हैं जिन किये राजा-रंक हैं।

सिरदार "सोगरवार" है रनभूमि मांझ पहार है।
वरवीर "साहरोते" सजे रनकाज ने रन लै गजै।
सजि "नौहावार" निसंक हैं रुतवार "रावत" बंक हैं।
मोहि नाम इतै अहै बहुजाति जाट कितै कहैं।

यह युद्ध 'मोती डूंगरी' स्थान पर हुआ। इस युद्ध में जब जयपुर की सेना मुख्य युद्धस्थल से भागने लगी तो सूरजमल ने भयंकर आक्रमण किया और मराठों की तलवार की धार को मोड़ दिया। सूरजमल ने इस युद्ध में स्वयं पचास शत्रुओं को तलवार के घाट उतारा और एक सौ आठ घायल सैनिक रणभूमि में सिसकते रहे। इस युद्ध में सूरजमल की कमान में काठेड़ी सैनिकों ने अभूतपूर्व साहस, वीरता और अदम्य उत्साह दिखाया और विजय-घोष के साथ वापिस लौटे।

राजकवि सूर्यमल मिश्र ने सूरजमल की इस युद्ध में वीरता, साहस और रणकौशल को देखकर लिखा है :—

सह्यो भलेहि जट्टनी, जाय अरिष्ट–अरिष्ट।
जाठर तस रविमल्ल ह्वै, आमेरन को इष्ट ॥
बहुरि जट्ट मल्हार सन लरन लग्यो हरवल्ल।
अंगार है हुल्कर, जाट मिहर मल्ल प्रतिमल्ल ॥

अर्थात् जाटनी ने व्यर्थ ही प्रसूति पीड़ा सहन नहीं की। जिसके गर्भ से शत्रु-संहारक आमेर राज्य का हितैषी सूरजमल उत्पन्न हुआ। फिर चन्दौल में विजय प्राप्त करके जाट व मल्हार राव हरावल में बढ़–चढ़कर युद्ध करने लगे। यदि होल्कर आग है, तो प्रत्येक जाट योद्धा सूरजमल के समान सूर्य है।

इसी प्रकार एक अन्य राजस्थानी कवि से बगरू के महलों से किसी तरुणी ने गर्वोन्नत होकर पूछा कि वह व्यक्ति कौन है, जिसकी पगड़ी पर मोरपंख का निशान है और जो घोड़े की लगाम दांतों में दाबकर दोनों हाथों से तलवार चला रहा है। नीचे खड़े कवि ने उत्साह से कहा—

जायौ जाटणी सावणी कुल सेहरो।
दिल्ली ढ़हाणी, तुर्कान लूट्यौ गेहरो ॥

अर्थात् यह जाटनी के गर्भ से उत्पन्न सूरजमल है और सावर्णी वंश का सरताज है। इसी ने दिल्ली को बर्बाद किया और तुर्कों को बुरी तरह लूटा।

ईश्वरीसिंह ने राजा बनते ही जाटों को सहायता के ऋण से मुक्त होने के लिए बादशाह को लिखा कि बदनसिंह को 'राजा' की उपाधि प्रदान कर देनी चाहिए। इस प्रकार सूरजमल के पराक्रम के कारण ही उसके पिता बदनसिंह को राजा की उपाधि मिली। इससे यह लाभ हुआ कि जाट जो अब तक जमींदार या ठाकुर पद तक ही सीमित थे 'राजा' भी बन गए। 'राजा' की पदवी प्राप्त करने पर वे साधारण किसान न रहकर शासक-जाति के व्यक्ति होगए।

मुहम्मद शाह के शासन के अन्तिम वर्षों में मुगल–साम्राज्य घटकवाद में अत्यधिक संलिप्त था। इसके कारण मुगल जाटों की प्रगति व विकास रोकने में पूर्णतया असफल रहे। आगरा जिले में चम्बल नदी तक, मथुरा जिले में यमुना के आर–पार सभी परगनों, सम्पूर्ण मेवात और उत्तर में दिल्ली प्रान्त में फरीदाबाद तक जाट-शासक तथा उसके अनुयायी जाट सरदारों का वास्तविक नियन्त्रण हो चुका था। मुहम्मद शाह की मृत्यु सन् 1748 ई० में होगई। इसकी मृत्यु के बाद अहमद शाह नया बादशाह बना और परिस्थितियां परिवर्तित हुईं। इसने नवाब सफदर जंग को अपना वजीर बनाया। वजीर बनते ही सफदर जंग ने बलराम तथा सूरजमल को लिखा कि बल्लभगढ़ और फरीदाबाद को छोड़ दे, क्योंकि यह स्थान उसकी जागीर में हैं। परन्तु सूरजमल ने वजीर की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः नवम्बर 20, 1749 ई० को सफदर जंग चढ़ाई के लिए चल पड़ा। इसके साथ मीर बख्शी भी था। "तारीखे मोहम्मद शाही" से पता चलता है कि जाटों पर दो भिन्न-भिन्न दिशाओं से आक्रमण करने का गुप्त समझौता नवाब सफदर जंग और मीर बख्शी सलावत खान में हो चुका था।

जाट इतिहास में यह प्रथम अवसर था, जबकि वजीर और मीर दोनों ने मिलकर दो भिन्न दिशाओं से जाटराज्य पर आक्रमण किया। परन्तु भाग्य ने सूरजमल का साथ दिया और इसी समय सफदर जंग को यह अशुभ समाचार मिला कि पठानों ने कयाम खान बंगश को

मार दिया है। अतः वजीर ने दिल्ली लौटकर जाटों से उलझने की अपेक्षा फरूखाबाद पर अधिकार करने की योजना पर अधिक बल दिया। फलतः वजीर और मीर के बीच सम्पन्न समझौता अप्रभावी होगया। इधर सूरजमल ने अपना वकील मीर बख्शी के पास भेजा और कहा कि हमने कोई अपराध नहीं किया है। अतः आप आक्रमण के विचार को त्याग दें। वकील की बात को सुनकर मीर बख्शी ने उत्तर दिया कि मेवात उसकी जागीर का भाग है, जिसके अनेक परगनों तथा देहातों पर जाटों ने बलात् अधिकार कर लिया है। बूढ़े असद खान खानजादा को मारकर सूरजमल ने बड़ा अपराध किया है। इससे उसको बड़ा घमण्ड होगया है।

सम्भवतः मीर बख्शी ने जाटों को निर्बल समझा था और सैनिक बल से उन पर काबू पाना चाहता था। अपनी योजना के अनुसार मीर बख्शी ने मेवात को बुरी तरह लूटते हुए अजमेर–मारवाड़ की ओर जाने की योजना को स्थगित करके जाटों को दबाने की भावना से आगरा की ओर कूच करने का निश्चय किया और सराय शोभाचन्द में अपना पड़ाव डाला। सूरजमल के नेतृत्व में जाटों ने सलावत खान की छावनी को बड़ी तेजी से घेर लिया। शाही सैनिकों को अभी तक जाट बन्दूकचियों की अचूक निशानेबाजी और युद्ध में जमकर लड़ने की कला का पता नहीं था। जाटों के धावे से मुगल सेना घबड़ा गई और उनमें भगदड़ मच गई। भगदड़ मचते ही मुगल सैनिकों ने मीर बख्शी के डेरे में शरण ली। जाट सैनिक वहां भी पहुंच गए और उन्होंने मीर बख्शी के डेरे को घेर लिया। इस सम्बन्ध में अब्दुल अली खान जो कि इस अभियान में शामिल था, लिखता है कि—"सौभाग्य से जाट कुंवर केवल आत्मरक्षा करने तक ही सीमित रहा। उसने दो दिन तक लगातार शाही–शिविर का घेरा डालकर ही सन्तोष कर लिया। वास्तव में उसका विचार मीर बख्शी को मृत्यु दण्ड देकर अपयश अर्जित करने का नहीं था।" अन्त में सलावत खान को आत्म-समर्पण करके जाटों के साथ समझौता करना पड़ा। यह समझौता अनाक्रमण सन्धि से सम्बन्धित न होकर धार्मिक पहलुओं पर अधिक बल देनेवाला था। इसके अनुसार बख्शी ने यह स्वीकार किया जाट क्षेत्र में उसके व्यक्ति पीपल का पेड़ नहीं काटेंगे

और मन्दिरों को क्षति नहीं पहुंचायेंगे। इस समझौते से सूरजमल को सामान्य लोगों की सहानुभूति के साथ धार्मिक यश भी मिला।

फरूखाबाद के नवाब कयाम खान की मृत्यु के कारण सफदर जंग को अपना प्रथम जाट विरोधी अभियान स्थगित करना पड़ गया था। फरूखाबाद की व्यवस्था करने के बाद वह दिल्ली लौटा और स्थगित जाट विरोधी अभियान में लग गया। उसने सर्वप्रथम जाटों से शाही परगने खाली करने के लिए कहा। परन्तु जाटों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप दिल्ली के दक्षिण में स्थित शम्सपुर नामक स्थान पर जाटों के साथ मुठभेड़ हुई। इसमें वजीर का थानेदार मारा गया। इससे उत्तेजित होकर सफदर जंग स्वयं विशाल सेना के साथ जाटों का दमन करने के लिए चल पड़ा और शम्सपुर थाना के पास बाग में रात्रि विश्राम किया। यहां पर उसे कयाम खान के छोटे भाई तथा इसकी माता की कमान में भयंकर पठान-विद्रोह का समाचार मिला। अब सफदर जंग के सामने दो मोर्चे थे। एक पठानों को दबाने का और दूसरा जाटों को कुचलने का। वह एक साथ दो शक्तियों से लोहा नहीं ले सकता था। अतः उसने जाटों के साथ मित्रता का हाथ बढ़ाया और समझौता कर लिया। इस समझौते में शाही परगना के अपहरण को मान्यता देकर बलराम को बल्लभगढ़ सहित इस क्षेत्र का सरदार मान लिया गया। इस प्रकार सूरजमल की सैनिक क्षमता तथा योग्यता का आदर हुआ और जाटों तथा वजीर में मित्रता की जड़ें जम गईं।

कयाम खां बंगश की मृत्यु के उपरान्त सफदर जंग पठानों से पूरी तरह बदला लेना चाहता था। सफदर जंग अवध का सूबेदार था और वह नहीं चाहता था कि उसके राज्य के समीप पठान शक्ति संचय करके कोई राज्य स्थापित करे। वह पठानों को अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में सब से बड़ा घातक शत्रु मानता था। अतः उसने मराठों और सूरजमल को सहायता के लिए लिखा। सूरजमल अपने 15,000 जाटसैनिकों के साथ कोयल (अलीगढ़ का पुराना नाम) के स्थान पर सफदर जंग से जा मिला। सम्मिलित सेनाओं ने पठानों पर आक्रमण किया। नवाब सफदर जंग जख्मी होकर युद्ध के क्षेत्र से भाग गया तो सूरजमल को भी मैदान छोड़ना पड़ा। परन्तु सन् 1750 में पुनः

सफदर जंग ने अपनी सेना का संगठन किया और जय अप्पा सिंधिया और मल्हार राव होल्कर के नेतृत्व में 25,000 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से मराठा सेना और सूरजमल के नेतृत्व में 15,000 रुपये प्रतिदिन के हिसाब से जाट सेना जुटाई।

इस सम्मिलित सेना ने पठानों को करारी हार दी और पठान अपना सब सामान छोड़कर हिमालय की तराई की ओर भाग गए। पठानों का प्रदेश तीन भागों में बराबर बांटा गया। मथुरा की फौजदारी भी सूरजमल को इसी समय प्रदान की गई। मथुरा की फौजदारी मिलने पर सूरजमल का यमुना के दोनों किनारों पर स्वामित्व होगया।

सूरजमल समय का बड़ा परखी था। सफदर जंग की मित्रता का वह अपने पक्ष में लाभ उठाना चाहता था अतः उसने चकला कोयल के फौजदार बड़गूजर बहादुरसिंह पर चढ़ाई करदी। बड़गूजर बहादुरसिंह 'घसेरा' का शासक था। यह नगर दिल्ली से 40 मील दक्षिण की ओर गुड़गावां जिले में है। सफदार जंग तो बहादुरसिंह से इसलिए नाराज था कि उसने पठानों के विरुद्ध उसकी खुलकर सहायता नहीं की थी। सूरजमल इसलिए क्रोध किए बैठा था कि उसके कुछ लोग भरतपुर की जमींदारी के इलाकों से ऊंट चुराकर ले गए थे और बार-बार मांगने पर भी उन्हें वापिस नहीं कर रहे थे। बड़गूजर बहादुरसिंह को दण्ड देने के लिए सूरजमल ने 'घसेरा' पर धावा बोल दिया। बहादुरसिंह 500 तोपचियों 700 घुड़सवारों और 400 पैदल सैनिकों के साथ नगर से बाहर मुकाबले के लिए आ खड़ा हुआ।

दोनों ओर की सेनाओं में 15 दिन तक युद्ध होता रहा। नगरवासियों ने दुःखी होकर बहादुरसिंह पर सन्धि कर लेने का दबाव डाला। सन्धि के लिए वह तैयार होगया और जालिमसिंह सेनापति को सूरजमल के पास सन्धि करने के लिए भेजा। समझौते की शर्तों में बहादुरसिंह दस लाख रुपया और 'रूहकला' तोप सूरजमल को भेंटस्वरूप देगा यह निश्चय हुआ। बहादुरसिंह समझौता तो चाहता था, परन्तु तोप एक भी नहीं देना चाहता था अतः युद्ध दोबारा आरम्भ होगया। बहादुरसिंह के हठीले स्वभाव के कारण जालिम-

सिंह ने आत्महत्या करली। सुजान–चरित में सूदन ने इस घटना के विषय में कहा है :—

देन कहे दस लाख रुपइया तोप रोहकला सब्बे,
जब ही यह पहुंचे सुजान पै उठे मोरचा तब्बे,
ए सुनि जालिम बैन, महा हठीले राव के,
फिर न दिखाए नैन तरफराते ही ज्यौं तज्यो।

बहादुरसिंह लड़ता हुआ मारा गया। उसका पुत्र फतेहसिंह युद्ध के समय परिवार सहित दिल्ली में था, अतः वह बच गया। बाद में फतेहसिंह ने मराठों और मुगलों की सहयता से 'घसेरा' वापिस ले लिया। सूरजमल इस पराजय को कब सहन कर सकता था। वह समय की प्रतीक्षा में बैठा रहा। उसने सन् 1755 में जवाहरसिंह को भेजकर 'घसेरा' को जीतकर ही दम लिया और उसे अपने राज्य में मिला लिया।

सन् 1751 ई० में अहमद शाह अब्दाली के तृतीय आक्रमण के कारण दिल्ली का बादशाह बड़े संकट में पड़ गया। इस समय सफदर जंग पठानों (रुहेलों) से निपटने के लिए दिल्ली से बाहर गया हुआ था। बादशाह ने शीघ्र ही दिल्ली आने के लिए सफदर जंग के पास सन्देश भेजा। सफदर जंग ने दिल्ली आते ही भाप लिया कि उसकी दीर्घकालीन अनुपस्थिति का लाभ उठाकर जाविद खान शासन-प्रबन्ध एवं राजनैतिक मामलों का व्यावहारिक स्वामी बन गया है। अतः सफदर जंग ने जाविद खान को राजनैतिक रंगमंच से सदा के लिए ओझल कर देने की योजना बनाई और उसकी हत्या करदी गई। जाविद खान की मृत्यु के उपरान्त राजमाता उधमबाई, इन्तिजाम-उद्-दौला गाजी-उद्-दीन ने बादशाह के कान भरे और सफदर जंग को वजारत से हटवाकर दम लिया। इस गृह–कलह के कारण सशस्त्र लड़ाई अवश्यम्भावी होगई। सफदर जंग ने पिछले अनुभवों से यह बात अच्छी तरह समझ ली थी कि सूरजमल से अच्छा मित्र उसे कोई नहीं मिल सकता। सूदन कवि ने लिखा है कि सफदर जंग ने अपनी पगड़ी की लाज के लिए इस गृह–युद्ध में भाग लेने के लिए सूरजमल को कहा। यद्यपि सूरजमल 23 अप्रैल सन् 1753 को 'घसेरा' के किले को काफी रक्तपात के बाद अपने अधिकार में लेने के बाद अभी पूर्णरूप से

सम्भल भी नहीं पाया था, तथापि सफदर जंग के निमन्त्रण पर वह एक मई सन् 1753 को 15.000 सैनिक लेकर उपस्थित होगया।

सफदर जंग ने सूरजमल और राजेन्द्र गोसांई को पुरानी दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए उसकाया। 9 मई सन् 1753 में सूरजमल की सेना ने पुरानी दिल्ली को नष्ट-भ्रष्ट किया और लोगों को लूटा। 10 मई को जाट दिल्ली और आगे के गांव सैयदवाड़ा, बीजल मस्जिद, तारकागंज और अब्दुल्लानगर (जैसिंहपुरा के पास) को लूटते हुए नगर द्वार तक पहुंच गए। 'इमाद-उद्-सआदत' के वर्णनानुसार "चूरानिया' और 'वकीलपुरा' मोहल्लों का तो यहां तक सर्वनाश कर दिया गया कि इन स्थानों पर दीपक भी नहीं जलता था।" बादशाही सेना को तंग करने के लिए जाट प्रतिदिन पुरानी दिल्ली को लूटने लगे। केवल उन्हीं स्थानों की रक्षा हो सकी थी जहां शाही सेना की टुकड़ियां पहुंच जाती थीं या जो स्थान शाही तोपखाना के पास था। जाटों के इस छापामार आतंक के विषय में कहा जाता है कि "लोग निराशा और घबराहट के कारण एक घर से दूसरे घर में, एक गली से दूसरी गली में लहरों पर टूटे हुए जहाज के समान इधर-उधर भटक रहे थे।"

सफदर जंग की स्थिति दिन-प्रतिदिन निराशाजनक होती जारही थी। प्रतिदिन कोई न कोई उसका निजी सम्बन्धी या बड़ा अफसर उसका साथ छोड़ जाता था। शाही सेनाओं को सूचित किया गया कि सफदर जंग की सेना में बिखराव आ चुका है केवल सूरजमल जाट ही उसका सहायक है। सूरजमल युद्ध के परिणामों के विषय में सदा सचेत रहनेवाला व्यक्ति था। वह यह चाहता था कि सफदर जंग की सहायता तो की जाए, परन्तु वह यह नहीं चाहता था कि वह अपने राज्य की सीमाओं को भी संकट में डाल दे। उसे इस गृह-कलह का परिणाम सफदर जंग के विपक्ष में जाता दिखाई पड़ रहा था अतः उसने नए वजीर से सन्धि करने का प्रस्ताव रखा। परन्तु गाजी-उद्-दीन ने सन्धि प्रस्ताव को सिरे नहीं चढ़ने दिया।

······सन् 1753 ई० को सफदर जंग ने गोसांई और जाट सेना को शाही सेना के साथ युद्ध करने के लिए भेजा। इस मुठभेड़ में शाही सेना की पराजय हुई और वह भाग खड़ी हुई। जाटों ने भागती हुई

शाही सेना का पीछा किया। इसी समय दुर्भाग्य से एक गोला सूरजमल के मुख्य बख्शी को लगा और वह अपने घोड़े से गिरकर मर गया और विजय पराजय में परिवर्तित होने लगी। इस स्थिति को देखकर सफदर जंग सूरजमल की छावनी में बातचीत करने के लिए गया। सूरजमल ने कहा कि जब तक हम शत्रु को किले से बाहर मैदानी भाग में आने से विवश नहीं करते तब तक हमारी हानि ही हानि होती रहेगी अतः शत्रु को मैदान में लाने के लिए पीछे हटना उचित है। सफदर जंग ने सूरजमल की बात मानकर रक्षा की खाइयों से निकलकर तिलपत की ओर कूच किया। शाही सैनिकों को रोकने के लिए सूरजमल ने जाट टुकड़िया दिल्ली को ओर रवाना करदीं। इस स्थिति को देखकर शाही सरदारों ने बादशाह से खुला युद्ध करने का आग्रह किया। परन्तु बादशाह इस बात को टालता रहा। अन्त में निराश होकर रुहेला, बंगश और बलूचों ने मिलकर सूरजमल की छावनी के निकट मैदान गढ़ी पर अधिकार करने का प्रयास किया। जाटों ने गोलियों तथा तीरों की अचूक निशानेबाजी से शाही टुकड़ियों को मैदान छोड़कर भाग जाने के लिए बाध्य कर दिया।

29 सितम्बर, 1753 को सूरजमल तथा सफदर जंग के अन्य सेनानायकों ने पूरी शक्ति से अनेक बड़ी तथा छोटी तोपों की सहायता से शाही खाइयों की दाहिने तरफ बनी हुई मराठा खाइयों पर आक्रमण किया। इस लड़ाई में इमाद के हाथी का दांत टूट गया और दोनों ओर से बहुत से सैनिक मारे गए। सैनिक सफलता में विलम्ब होने के कारण बादशाह की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। प्रायः प्रतिदिन सेना की कोई न कोई टुकड़ी वेतन के अभाव में खाइयों से निकल आती और दिल्ली के बाजारों में लूट-मार करने लगती अतः भूखों मरने से बचने के लिए यह अनिवार्य होगया कि बादशाह विद्रोहियों के साथ जैसे-तैसे सन्धि कर ले। किन्तु वजीर इन्तिजाम और मीर बख्शी में सन्धि-प्रस्ताव को लेकर हितों और नीतियों के कारण परस्पर विरोध था। मीर बख्शी इमाद सफदर जंग को समूल नष्ट कर देना चाहता था परन्तु वजीर इन्तिजाम इस बात से चिन्तित था कि कहीं इमाद उससे अधिक शक्तिशाली बनकर उसके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में खड़ा न हो जाए अतः इन्तिजाम सफदर जंग से मित्रता चाहता

था जिससे इमाद के साथ उसके भावी संघर्ष में उसकी सहायता ली जा सके।

सूरजमल ने जब यह देखा कि नया वजीर इन्तिजाम सफदर जंग से मित्रता का इच्छुक है तो उसके मन में यह आशंका उत्पन्न हुई कि यदि कहीं ये दोनों परस्पर मिल गए तो जाटराज्य का, जिसका कि वह स्वप्न ले रहा है अधूरा रह जाएगा। अतः उसने गुप्तरूप से वजीर के साथ समझौते की बातचीत आरम्भ की और सन्धि के एवज में बारह लाख रुपए देने का आश्वासन दिया। परन्तु उस समय यह सन्धि–वार्ता सिरे न चढ़ सकी। सूरजमल इससे निराश नहीं हुआ अपितु उसने इसी बीच एक नई योजना पर विचार किया कि यदि सन्धि–प्रस्ताव इमाद के पास भेजा जाए तो ठीक रहेगा। क्योंकि सूरजमल वजीर और बख्शी दोनों में से एक को अपने हक में करना चाहता था। अतः उसने अक्टूबर के मध्य अपने राजदूत को सीधे इमाद के पास भेजा और सन्धि–प्रस्ताव में लिखा कि जो प्रदेश इस समय उसके पास हैं वे सब उसे स्थायीरूप से दे दिए जाएं तो वह कुछ लाख रुपया कर के रूप में देने को तैयार है। परन्तु इमाद का विचार ही दूसरा था, वह सूरजमल को केवल वे ही प्रदेश देना चाहता था जो उसके पिता बदनसिंह के पास थे और जो प्रदेश उसने हथिया लिए थे वे सब वापिस छीनना चाहता था अतः यह समझौता भी सफल न हो सका।

इसी बीच जब बादशाह ने देखा कि इमाद-उल-मुल्क गाजी-उद्-दीन राज्य में तानाशाह बनता जारहा है, तो उसने अपने सामन्तों में सर्वोच्च राजा माधोसिंह को अपनी सहायता के लिए बुलाया और कहा कि वह इस संकट में राज्य की रक्षा करे। राजा सूरजमल ने अपने कुछ साथियों के साथ सफदर जंग और माधोसिंह से भेंट की। सन्धि-प्रस्ताव में राजा सूरजमल की एक ही जिद्द थी कि उसकी तलवार उसी समय म्यान में जाएगी जबकि बादशाह अवध और इलाहाबाद की गवर्नरी सफदर जंग को पुनः सौंप देगा। इस प्रकार सूरजमल ने अपने मित्र को प्रायः सर्वनाश से बचा लिया जबकि उसको गाजी-उद्-दीन की अप्रशाम्य शत्रुता मोल लेनी पड़ी। इतिहासकार लिखते हैं कि इस सन्धि के अनुसार सूरजमल को क्षमा कर दिया गया, यह एक आश्चर्य की बात है।

मराठा और सूरजमल

महाराजा सवाई जयसिंह की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर जो लड़ाई हुई थी, उसमें जाट और मराठा क्रमशः ईश्वरीसिंह और माधोसिंह के सहायकों के रूप में एक दूसरे के विपक्ष में लड़े थे। दूसरी बार जाट और मराठा एक दूसरे से कन्धा से कन्धा मिलाकर सफदर जंग के पक्ष में रुहेलों के साथ लड़े थे। परन्तु तीसरी बार का यह युद्ध दोनों का साक्षात् एक दूसरे के विरुद्ध हुआ। यह दो उदीयमान शक्तियों के बीच सीधा संघर्ष था। जिसमें राजनैतिक आर्थिक और राज्य-विस्तार का उद्देश्य था।

जब सफदर जंग का विद्रोह आरम्भ हुआ था तो बादशाह ने पेशवा से सहायता के लिए प्रार्थना की थी। दिल्ली में स्थित मराठा प्रतिनिधि ने भी पेशवा को बार-बार पत्र लिखे कि वह एक सशक्त सेना भेजे जो हिन्दुस्तान में मराठों की स्थिति को दृढ़ करे। पेशवा ने एक सेना दिल्ली भेज दी। मराठा सेना को यह आदेश था कि वह घटनाओं की गतिविधियों का अध्ययन करे और दिल्ली के गृह-युद्ध के अन्त की प्रतीक्षा करे तब या तो वह विजेता से मिल जाए या दोनों की थकान का लाभ उठाकर उत्तरी भारत में मराठों का आधिपत्य बढ़ाए।

सन् 1752 ई० की मराठा तथा दिल्ली दरबार की पारस्परिक रक्षा-सन्धि के अन्तर्गत मराठों की इच्छा आगरा, अजमेर, मथुरा, नारनौल तथा अन्य परगनों की फौजदारी पर वास्तविक अधिकार प्राप्त करने की थी। परन्तु आगरा प्रान्त के अधिकतर जिलों और परगनों पर सूरजमल का अधिकार था और उसको मथुरा को फौजदारी भी प्राप्त हो चुकी थी। अतः जाट मराठा संघर्ष अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा था। बादशाही गृह-युद्ध में सूरजसल ने सफदर जंग का साथ दिया था। मीर बख्शी उमाद–उल्–मुल्क अपनी नैतिक पराजय के कारण सूरजमल के प्रति ईर्ष्यालु था और वह जाट परगनों पर अधिकार करने के लिए लालायित था इसीलिए मराठों को उकसा रहा था। इसके अतिरिक्त मराठा सरदारों का विश्वास था कि सूरजमल ने आस-पास के प्रदेश तथा शाही परगनों को लूटकर कई करोड़ रुपयों की धनराशि एकत्रित करली है इस लोभ में आकर

सम्पन्न 'जाटराज्य' के लूटने में उनका स्वार्थ था। मराठों ने जाटों पर आक्रमण करने का विचार इसलिए भी बनाया प्रतीत होता है कि सन् 1753 ई० से मोहकमसिंह उनके साथ ताल-मेल बनाए हुए था। अतः उपर्युक्त सम्पूर्ण परिस्थितियां जाट-मराठा संघर्ष के कारणों का किसी न किसी रूप में बीज बनीं।

मराठों की दृष्टि में सूरजमल उत्तरी भारत में उनका आधिपत्य न जमने देने में एक वड़ा भारी रोड़ा था। मराठे बड़े चतुर थे, वे स्वयं आगे न आकर किसी अन्य शक्ति को उकसा कर जाटों के विरुद्ध चढ़ना चाहते थे। सुयोग उनके हाथ आया। दूसरी और इमाद-उत्-मुल्क भी अकेला जाटों को दण्ड देने में समर्थ नहीं था। अतः उसने मल्हारराव होल्कर को जाटों पर आक्रमण करने के लिए बुलाया। मल्हारराव होल्कर ने प्रतिक्रियास्वरूप अपने पुत्र खाण्डेराव तथा प्रसिद्ध सेनापति गंगाधर तांतिया के साथ एक सेना दिल्ली भेजदी, जिससे इमाद से मन्त्रणा करके जाटों के विरुद्ध पूर्ण योजना बना सके।

जाट अभी तक दिल्ली के गृह-युद्ध में हुई सैनिक क्षति को पूरा नहीं कर सके थे, इसलिए सूरजमल इस लड़ाई को जैसे-तैसे टालना चाहता था। अतः इसने अपने ब्राह्मण मंत्री पण्डित रूपराम को मराठों की मित्रता खरीदने के लिए भेजा, क्योंकि सूरजमल को पता था कि मराठा लालची हैं और उन्हें धन देकर पीछा छुड़ाया जा सकता है। यदि मित्रता सम्बन्धी प्रस्ताव पूरा भी नहीं हो, तो कम से कम जाट राजा को इतने समय में युद्ध की तैयारी का समय तो मिलेगा ही। रूपराम ने मराठों के डेरे पर जाकर समझौता-वार्ता आरम्भ की। मल्हारराव होल्कर ने सूरजमल से दो करोड़ रुपया मांगा, क्योंकि उसने दिल्ली के आस-पास के प्रदेशों से इससे भी अधिक धन-राशि इकट्ठी करली थी।

मराठों की मांग एक प्रकार से 'चौथ' थी, जिसका अभिप्राय यह था कि मराठों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया जाए। परन्तु सूरजमल इसके लिए बिल्कुल भी तैयार नहीं था। इसके दूत रूपराम ने बादशाह को निश्चित कर देने के अतिरिक्त चार लाख रुपया मराठों को देने का प्रस्ताव किया। किन्तु मल्हारराव ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं

किया। सूरजमल इस अवधि में अपने भरतपुर, कोयल (अलीगढ़) तथा अन्य किलों को सुदृढ़ करके हर प्रकार की खाद्य-समाग्री और युद्ध के साधनों से भरपूर कर चुका था। उसने डीघ और भरतपुर के मध्य कुम्भेर के किले को युद्ध की दृष्टि से उचित समझकर वहां अपनी सेनाएं एकत्रित करलीं। रूपराम ने मराठा पड़ाव से आकर सूरजमल को सारी घटना बता दी। प्रत्युत्तर में सूरजमल ने अपने जाटस्वभाव के अनुसार पांच गोले और बारूद एक थैले में बन्द करके मराठा डेरे पर भेज दिए और कहलवाया कि जाटराज्य में उनका स्वागत इसी प्रकार होगा। जाट सैनिकों में भ्रातृत्व-भावना का आवेश था, उन्हें इस बात का साभिमान ज्ञान था कि कभी हारे नहीं हैं।

जनवरी सन् 1754 ई० में मराठे कुम्भेर के किले के सामने आगए परन्तु कुम्भेर के किले की भयानक दीवारों ने मराठों का भ्रम छितरा दिया। अब मराठे अपनी अनुचित मांग पर अनुताप करने लगे। मराठों के पास कुम्भेर के किले का घेरा डालने के लिए तोपें नहीं थीं। मल्हारराव के अनुरोध पर इमाद ने मथुरा से कुम्भेर को कूच किया, वहां अकीवत भी उससे आ मिला। किन्तु इस किले के विरुद्ध इन मित्र-सेनाओं के प्रतिदिन के प्रयास विफल होते रहे। वे सूरजमल का कुछ भी नहीं बिगाड़ सके और किले में सूरजमल के आदमियों का आवागमन भी नहीं रोक सके। मल्हारराव ने अपने मित्र इमाद-उल-मुल्क के द्वारा बादशाह से प्रार्थना की कि वह दिल्ली और आगरा के शस्त्रागार से घेरे के लिए तोपें उधार दें। परन्तु बादशाह ने इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। इससे मराठों को बड़ी निराशा और इमाद को बड़ा भारी दुःख हुआ। उधर कुम्भेर के किले से जाटों की तोपें आग उगल रही थीं और इधर भारी तोपों के अभाव में मित्रसेनाएं असहाय खड़ी थीं। खांडेराव किसी प्रकार ढकी हुई पंक्तियां बनाकर किले की दीवार के पास पहुंच गया। एक दिन जब वह अपनी खाइयों का निरीक्षण कर रहा था तो गोलों की वर्षा होने लगी और एक गोला लगने से उसकी मृत्यु हो गई।

मल्हारराव अपने इकलौते बेटे की मृत्यु के शोक में क्षुब्ध होगया और उसने जाटों के नाश का निश्चय कर लिया। सर्वप्रथम उसने

अपने पुत्र का दाह संस्कार पवित्र नगरी मथुरा में किया। इमाद ने भी इस मृत्यु पर संवेदना प्रकट करते हुए कहा—"कि अब से आप मुझे खण्डू के स्थान पर अपना पुत्र समझो।" सूरजमल ने भी औपचारिकता निभाते हुए इस दुर्घटना पर खेद प्रकट किया। परन्तु मल्हारराव को जो चोट लगी थी, उसकी किसी के पास दवा नहीं थी। अब वह जाटों के विनाश पर उतारू था और उसे अब समझौते की बातें अच्छी नहीं लगती थीं। उसने कहा कि वह कुम्भेर के किले की दीवारों को धूली-धूसरित कर देगा। इसकी मिट्टी को यमुना में बहा देगा और सूरजमल का सिर काट लेगा। केवल इसके बाद ही वह अपने जीवन को धन्य समझेगा। यदि मैं विफल रहा तो प्राणों को त्याग दूंगा। प्रतिशोध की आग में मराठों ने कुम्भेर पर और अधिक सूझ-बूझ और सतर्कता से आक्रमण किया और जाट सेना उनका दबाव मानने लगी। लगातार तीन महीने तक घेरा रहा और प्रत्येक दिन सूरजमल के लिए कठिन से कठिनतर होता गया। भारतवर्ष में उस समय ऐसी कोई शक्ति नहीं थी, जो खुले रूप से मराठों के विरोध में जाकर सूरजमल की सहायता कर सके।

अब सूरजमल के नाश के दिन इने-गिने थे। जाट अब उस दिन की प्रतीक्षा में थे जबकि डीघ के किले से जौहर की ज्वालाएं धधक उठेंगी। इसी समय महाराजा सूरजमल की सहायता के लिए रानी किशोरी उपस्थित हुई। यह विवरण आगे पढ़ें, इससे पूर्व उचित है कि रानी किशोरी के विषय में कुछ लिख दिया जाए।

रानी किशोरी

महाराजा सूरजमल ने विवाहों के सम्बन्ध में अपने पिता की नीति का अनुसरण किया था। इसने अपने पुत्र नवलसिंह का विवाह कोटमान के शक्तिशाली जाट सरदार सीताराम की पुत्री से किया था और स्वयं अपना विवाह होडल के चौधरी काशी की लड़की किशोरी से किया। रानी किशोरी वस्तुतः एक ऐसी स्त्री थी जो विपत्तियों में भी नहीं घबराती थी। उसकी बुद्धि संकट काल में स्फुरित होती थी।

रानी किशोरी ने अपने पति की घटती हुई उत्साह शक्ति को बढ़ाया। उसने यह सुन रखा था कि जयाजी अप्पा सिन्धिया मराठों में एक विश्वसनीय सरदार है। उसे यह भी पता था कि सिन्धिया

और होल्कर की आपस में नहीं बनती है और वह यह भी जानती थी कि मराठों को घूस देकर शान्त किया जा सकता है। मराठों में मनमुटाव करने के लिए उसने एक दिन रूपराम के पुत्र तेजराम को महाराजा सूरजमल के पत्र और पगड़ी के साथ सहायता के लिए सिन्धिया के पास भेजा और प्रार्थना की कि आप भी बदले में अपनी पगड़ी भेजेंगे। सिन्धिया ने पत्र मिलते ही दूत द्वारा सहायता का वचन देकर अपना पत्र और पगड़ी भेजी। इसके अतिरिक्त उसने बेल के पवित्र पत्तों को भी भेजा जो कि उनके कुलदेवता 'बेलभन्दर' की पूजा में चढ़ाए जाते थे। जयाजी अप्पा इस बात के लिए सहमत हो गया कि वह अपने प्रभाव से रघुनाथराव होल्कर पर यह दबाव डालेगा कि कुम्भेर का घेरा उठा लिया जाए। इस गुप्त पगड़ी बदल समझौते की बात जब मल्हारराव को पता चली तब वह बहुत निराश हुआ कि वह जाटों को समूल नष्ट करने की अपनी प्रतिज्ञा को पूरा नहीं कर पाएगा। जयाजी अप्पा ने होल्कर पर दबाव डालना आरम्भ किया और कहा कि कुम्भेर का किला जीतना असम्भव है। इसलिए यह उचित होगा कि जाट राजा से सन्धि करली जाए और इस व्यर्थ के युद्ध को समाप्त किया जाए। न उनके पास दूरभेदी तोपें होंगी न किले का घेरा हो सकेगा। यह बात सारे मराठा सरदारों को भी इसलिए पसन्द थी कि वे इस युद्ध से बहुत ही तंग आ चुके थे। जहां जयाजी अप्पा इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न करके सन्धि का वातावरण तैयार कर रहा था, वहां दूसरी ओर सूरजमल कूट-नीति का आश्रय लेकर बादशाह और इन्तिजाम उद्-दौला से जो कि गाजी-उद्-दीन के मराठों से मेल को शंका की दृष्टि से देखते थे गांठ-सांठ में लगा हुआ था। उसने बादशाह को लिखा कि गाजी-उद्-दीन मराठों से मिलकर साम्राज्य का नाश कर रहा है जो कि समय पाकर अपने बूढ़े चाचा को वजारत से हटा देगा और आपके साथ कठोरता का व्यवहार करेगा अतः उसकी इन घृणित और नाश-कारी प्रवृत्तियों को रोकना अनिवार्य है।

सूरजमल और इन्तिजाम-उद्-दौल्ला मराठा और गाजी-उद्-दीन के चारों तरफ एक षड्यन्त्र रच रहे थे और बादशाह भी इसका अंग बन गया। सूरजमल की कूटनीति काम कर गई और बादशाह ने जयपुर के महाराज माधोसिंह और सफदर जंग को एक पत्र लिखा

कि आप दोनों हिन्दुस्तान को मराठों के नाश से बचाने के लिए शाही आदेश में संगठित हो जाओ। यह सारी बातें सूरजमल के पक्ष में गईं और समझौता होगया। जिसके अनुसार सूरजमल मराठों को तीन वर्षों की तीन किस्तों में तीस लाख रुपये देगा। कुम्भेर का युद्ध समाप्त होगया। इसमें मराठा और इमाद दोनों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। इस समझौते से सिन्धिया तथा जाट-परिवार सदा के लिए एक-दूसरे के समीप आगए। समुचित प्रमाणों के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि सूरजमल ने मराठों को रकम दी अथवा नहीं ? सम्भवत: सूरजमल ने आगामी वर्षों में रुपया नहीं दिया। इस सौदे-बाजी में सूरजमल का हाथ ऊपर रहा।

सन् 1754 के लगभग रघुनाथ राव ने दिल्ली के आस-पास का बहुत-सा प्रदेश अपने अधीन कर लिया था। अब उसने यह सोचा कि सूरजमल से किसी प्रकार समझौता करके मराठा सेनाओं का उत्तर-भारत में बेरोक-टोक आने-जाने का मार्ग प्रशस्त किया जाए। रघुनाथ राव युद्ध के द्वारा सूरजमल से नहीं निपटना चाहते थे। क्योंकि कुम्भेर पर शक्ति-परीक्षण के उपरान्त उनके मन में यह बात जम चुकी थी कि युद्ध की धमकियों से सूरजमल को नहीं झुकाया जा सकता। सूरजमल भी यह अच्छी तरह जानता था कि मराठे उसके इलाके में से ही गुजरकर दिल्ली तथा अधीन क्षेत्रों में जा सकते हैं। सूरजमल भी अपने राज्य को विस्तृत करने का इच्छुक था। अत: वह डटकर सौदा किए बिना कुछ लेने-देने को तैयार नहीं था। अत: मराठों के लिए आवश्यक होगया कि यदि वे उत्तरी भारत को अपने प्रभाव में रखना चाहते हैं तो सूरजमल से मधुर सम्बन्ध रखें। रघुनाथ राव ने सूरज-मल की मित्रता प्राप्त करने के उद्देश्य से एक प्रस्ताव रखा। जिसमें मराठा सेना को सूरजमल के राज्य में होकर दिल्ली जाने की सुविधा के बदले आगरा का मराठा अधिकार का अधिकांश भाग सूरजमल को दे दिया और उस पर सूरजमल का वैधानिक अधिकार मान लिया गया। सिकन्दराबाद का किला भी सूरजमल को मिल गया।

सूरजमल अपने राज्य की विस्तारवादी-नीति में बड़ा महत्त्वा-कांक्षी था, इस पर उसे यह सुनहरी मौका मिल गया। इसका लाभ उठाकर उसने अपनी सेना (27 सितम्बर सन् 1754 ई० को) पलवल

की विजय के लिए भेज दी। उस समय पलवल इमाद की जागीर थी। जाटों की सेना ने वहां के कानूनगो सन्तोखराम को मार डाला। यह वही अमीन था जिसने अकीबत खां को बल्लभगढ़ के बल्लू जाट को मार डालने के लिए उत्तेजित किया था। पलवल पर अधिकार कर लेने की घटना से इमाद–उद्–मुल्क को अति घबराहट हुई।

डासना की सन्धि

उसने अपने मराठा मित्रों से कहा कि वे सूरजमल की इस विस्तारवादी नीति को रुकवाएं। परन्तु मराठे पहिले ही सूरजमल को यह अधिकार दे चुके थे। सूरजमल ने इसी समय धीरे-धीरे अलवर और आस–पास के प्रदेश भी जीत लिए और यमुना पार रामगढ़ (अलीगढ़) को भी अपने अधिकार में लेकर दोआब की सुरक्षा के लिए उसे मुख्य केन्द्र बना लिया। सूरजमल के बढ़ते हुए पंखों को काटने के लिए इमाद ने नजीब खां को सूरजमल की शक्ति का नाश करने का आदेश दिया। नजीब खां सूरजमल से गंगा-यमुना के दोआब के इलाके को छीनने के विचार से 29 जून सन् 1755 को सेनासहित चल पड़ा। सूरजमल और नजीब खां की सेनाओं में झड़पें होने लगीं। सूरजमल की शक्ति का थोड़ा ही परीक्षण होने पाया था कि शाही दीवान नागरमल की मध्यस्थता के कारण 'डासना' नामक स्थान पर 26 जुलाई सन् 1755 को सन्धि होगई। इस सन्धि के अनुसार अलीगढ़ का जो भू-भाग सूरजमल ने हथिया लिया था, उसको भरतपुर का ही मान लिया गया। जाविद खां और बादशाही जागीरें सूरजमल को इस शर्त पर सौंप दी गईं कि वह छब्बीस लाख रुपया प्रतिवर्ष शाही खजाने में जमा करवाएगा। सूरजमल से कहा गया कि वह सिकन्दराबाद के किले को खाली कर दे और आठ लाख रुपया शाही राज-कोष में जमा करवाए।

महाराजा सूरजमल की सन् 1756 के बाद की विजयों का लेखा-जोखा उनके विधिवत् राजा बनने के बाद का है। वस्तुतः दिल्ली को पकड़ने के लिये उस समय मराठे, अफगान और जाट जूझ रहे थे। 7 जून सन् 1756 में राजा बदनसिंह की मृत्यु होगई और उसके बाद सूरजमल विधिवत् भरतपुर के राज-सिंहासन पर बैठे। राजकुमार की हैसियत से सूरजमल ने अपने पिता के समय में अनेक लड़ाइयां

लड़कर भरतपुर राज्य की शक्ति और सीमा को बढ़ा दिया था। परन्तु राज-गद्दी पर बैठने के उपरान्त एकदम ही उनके सामने बाहरी आक्रमण की समस्या उत्पन्न होगई। यह समस्या उस समय उत्पन्न हुई जबकि अहमद शाह दुर्रानी ने, जो कि बाद में अहमद शाह अब्दाली के नाम से प्रसिद्ध हुआ, भारत पर सन् 1756–57 में चौथा आक्रमण किया।

लगभग सन् 1755 से 1756 तक दिल्ली की नई सरकार ने सूरजमल के साथ किसी भी प्रकार का झगड़ा नहीं किया, क्योंकि गाजी-उद्-दीन और मराठा दोनों पंजाब की राजनीति में उलझे हुए थे। इधर दिल्ली की राजनीति भी एक नया मोड़ ले रही थी। बादशाह आलमगीर सानी स्वयं इमाद की अधिनायकवादी प्रवृत्ति तथा राजस्व अपहरण की नीति से परेशान था। नजीब खां रुहेला इमाद की तानाशाही से ईर्ष्या करने लगा था और राजधानी में अब दोनों सैनिक सत्ताओं का झगड़ा आरम्भ हो चुका था। राज्य-दरबार में एक साथ दो महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं था। एक म्यान में दो तलवारें समानी मुश्किल थीं। नजीब को भय था कि वजीर इमाद कहीं मराठों से गठ-जोड़ करके उसके लिए विनाश का कारण न बन जाए। अतः उसने अपनी सहायता के लिए अहमद शाह दुर्रानी से गांठ-सांठ आरम्भ करदी और उसे भारत पर आक्रमण के लिए उत्साहित किया। आक्रमण के इस निमन्त्रण में लिखा कि सूरजमल की शक्ति निरन्तर बढ़ रही है तथा उसके राज्य में कोई भी मुस्लिम रीति-रिवाज के अनुसार अजान (प्रार्थना) नहीं दे सकता।

अवध का नवाब, शुजा-उद्-दौला यह नहीं चाहता था कि प्रभावहीन दिल्ली-बादशाह के स्थान पर दुर्रानी–शक्ति स्थायीरूप से बस जाए। क्योंकि ऐसा होने से उसके शत्रु अफगानों की शक्ति में वृद्धि होती थी। इसके साथ जाटराजा सूरजमल भी इस बात को अच्छी तरह से जानता था कि गंगा और यमुना दोआब पर दुर्रानी का आक्रमण उसके राज्य के मूल्य पर होगा। दुर्रानी के इस आक्रमण के समय मुगल अमीरों का इतना पतन हो चुका था कि साम्राज्य की तथा नागरिकों की सम्मान की सुरक्षा के लिए किसी ने एक भी गोली नहीं चलाई। मुगल–साम्राज्य की सीमाओं पर शाह दुर्रानी को

चुनौती देनेवाला केवल एक स्वतन्त्र जाटराजा सूरजमल ही था। सूरजमल ने यह सिद्ध कर दिया कि स्वदेश की रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग करनेवाले योद्धा अभी मरे नहीं हैं।

सूरजमल ने भी अच्छी प्रकार से विचार कर लिया था कि वह अकेला अब्दाली के आक्रमण का मुकाबला करने में असमर्थ है। इसकी विचारधारा में अब्दाली और मराठा दोनों ही उत्तर भारत के लिए घातक थे। इतना होने पर भी सूरजमल ने विदेशी की अपेक्षा मराठों को राष्ट्रहित में सहयोग देना स्वीकार किया। क्योंकि दुर्रानी की अपेक्षा मराठा भारतीय तो हैं ही। मराठा और जाटों का संगठन केवल विदेशी सत्ता के विरोध में ही था। सूरजमल वस्तुत: स्वतन्त्र भारतीय राजाओं का एक संघ बनाकर अब्दाली को हार का एक अच्छा पाठ पढ़ा देना चाहता था।

इसी दृष्टि से उसने मराठा सरदारों के सम्मुख प्रस्ताव रखते हुए कहा कि हमें सर्वप्रथम नजीब–उद्–दीन को समाप्त कर देना चाहिए और रुहेला अफगानों की सारी बस्तियों को नष्ट कर देना चाहिए। जिससे अब्दाली को किसी भी प्रकार की आन्तरिक सहायता न मिल सके। दूसरे हमें नवाब शुजा–उद्–दौला को इमाद गाजी-उद्-दीन के स्थान पर वजीर बना देना चाहिए। क्योंकि गाजी-उद्-दीन उत्तरी–भारत में न तो अपना प्रभुत्व रखता है और न ही प्रभाव। इसके मुकाबले में शुजा-उद्-दौला अवध का शक्तिशाली शासक है। इसका परिवार किजिलबिस वंश से सम्बन्धित है और यह शिया है। परन्तु जाटराजा की इन बातों को नहीं माना गया। सूरजमल ने यह विचार राजनीति को हर प्रकार से सोच-समझकर ही दिए थे। यदि यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिए जाते तो भारत का मानचित्र दूसरे ही प्रकार का होता।

सूरजमल की बातों पर जब ध्यान नहीं दिया गया तो उसने अपना ध्यान अपने राज्य की ओर लगाया और वह सोचने लगा कि जाट-राज्य को अब्दाली के आक्रमण से कैसे बचाया जाए? सूरजमल ने सर्वप्रथम अब्दाली के पास अपना दूत भेजा और कहा कि उसने तो अब्दाली को कोई हानि नहीं पहुंचाई है। अत: उसके राज्य पर आक्रमण नहीं किया जाना चाहिए। परन्तु अब्दाली कब माननेवाला था, वह तो लूट के लिए भारत आया था।

अब्दाली ने महाराजा सूरजमल को अपने पड़ाव में आने का निमन्त्रण दिया। महाराजा सूरजमल ने अच्छी तरह भांप लिया था कि उसका वही हाल होगा जो गाजी–उद्–दीन का नरेला कैम्प में जाने पर हुआ था। गाजी–उद्–दीन ने स्वयं नरेला जाकर अब्दाली की अधीनता स्वीकार करली थी, परन्तु दिल्ली आने पर अब्दाली ने उससे खूब धन बटोरा। अतः वह उससे मिलने नहीं गया। इसका क्या दुष्परिणाम होगा, इसे सूरजमल अच्छी तरह जानता था, अतः वह कुम्भेर के किले में सुरक्षा का उपाय करने लगा। वह किसी भी प्रकार से अब्दाली को आक्रमण करने के लिए उत्तेजित नहीं करना चाहता था। उसने मराठा दूत अन्ता जी को 4 फरवरी सन् 1757 में मथुरा में कह दिया था कि अफगान बादशाह अब्दाली ने केवल पचास हजार सवारों की सहायता से भारत के शासन पर अधिकार कर लिया है। उस पर किसी ने गोली तक न चलाई और न ही किसी ने विरोध में प्राण दिए हैं। अब वह दिल्ली का पूर्णरूप से स्वामी बन चुका है। इस स्थिति में मैं अकेला क्या कर सकता हूं।

अब्दाली की लूट

अब्दाली ने सुन रखा था कि इस समय भारत में दो ही व्यक्ति धनाढ्य हैं एक नवाब शुजा-उद्-दौला और दूसरा महाराजा सूरजमल। अतः वह भरतपुर के खजाने को लूटने के लिए बड़ा व्याकुल था। किन्तु उसके सारे दांव–पेंच सूरजमल से कानी कौड़ी भी नहीं निकाल पाए। अतः उसने बल्लभगढ़ पर आक्रमण कर दिया। यहां सूरजमल के पुत्र जवाहरसिंह ने अब्दाली के एक दल को जो कि फरीदाबाद की ओर खाद्य-सामग्री की खोज में गया हुआ था, काट दिया। यह समाचार सुनकर अब्दाली क्रोध से आग बबूला होगया और उसने अब्दुल समद खां को आदेश किया कि खेतों पर छापे मारकर लूट लो। अब्दाली की एक भागती हुई टुकड़ी का पीछा करता हुआ जवाहरसिंह उनके घेरे में आगया, परन्तु अपनी चतुराई से जैसे-तैसे बच निकला। अफगानों ने कुछ गांवों को लूट लिया और बहुत से मनुष्यों को मौत के घाट उतार दिया। 12 फरवरी सन् 1757 में स्वयं अब्दाली दिल्ली से चला और उसने निश्चय किया कि वह कुम्भेर, डीघ और भरतपुर जीतकर ही दम लेगा।

उसने अपने सेनापति जहान खां तथा नजीब-उद्-दौला के नेतृत्व में एक अग्रिम सेना इस आदेश के साथ भेद दी कि "अपराधी जाट-राजा की सीमाओं में प्रवेश कर जाओ। उसके राज्य के कस्बों और जिलों में लूट और हत्या का काण्ड मचा दो। मथुरा हिन्दुओं का एक पवित्र तीर्थ है। मैंने सुना है इस समय सूरजमल वहां है। उस नगर के सारे निवासियों को मार दो। तुम अपनी शक्ति के अनुसार आगरा तक कुछ भी खड़ा न रहने दो।" अब्दाली अपनी इसी घोषणा से सन्तुष्ट नहीं हुआ, अपितु उसने कहा कि "सैनिक जो कुछ लूटेंगे वह उन्हीं की सम्पत्ति होगी। प्रत्येक सैनिक जो सिर काटकर लाएगा, उसे प्रत्येक सिर पर पांच रुपये इनाम मिलेगा। यह सिर वजीरे आज़म के खेमे के आगे डाल देने चाहिएं जिनकी एक मीनार बनाई जाएगी।

बल्लभगढ़ में जवाहरसिंह और उसके साथी सरदारों ने दो दिन तक डटकर अब्दाली की सेना का मुकाबला किया। इससे खीझकर उसने लूट और हत्या की आज्ञा दे दी। एक सैयद ने जो कि अफगान खेमे में था। इस लूट का आंखों देखा हाल इस प्रकार लिखा है—

"यह मध्य रात्रि का समय था, जबकि अब्दाली सेना ने आक्रमण किया। एक घुड़सवार एक घोड़े पर चढ़ा हुआ था और उसने उस घोड़े की पूंछ के साथ दस से बीस तक घोड़ों को एक-दूसरे की पूंछ से बांध रखा था। प्रातःकाल होने पर देखा गया कि प्रत्येक घुड़सवार अपने दस या बीस घोड़ों पर लूट का सामान लादे आरहा था। इनके साथ पकड़ी हुई लड़कियां और पकड़े हुए मनुष्य भी थे। प्रत्येक पकड़े हुए मनुष्य के सिर पर काटे हुए सिरों की गठरियां रखी हुई थीं। जो सिर काटकर लाए गए थे उनसे मीनारें बनाई जातीं और जो मनुष्य उन कटे हुए सिरों को अपने सिरों पर लादकर लाते, उनसे पहले चक्की पिसवाई जाती और फिर उनके भी सिर काट लिए जाते।"

बल्लभगढ़ के बाद मथुरा पर अब्दाली की दृष्टि थी। मथुरा बिना प्राकार तथा परिखा का नगर था। अतः दुर्रानी आक्रमण से बचाव के लिए सूरजमल ने यहां जवाहरसिंह के नेतृत्व में पांच हजार

सैनिक नियुक्त कर रखे थे। जवाहरसिंह बिना प्रतिरोध किए दुर्रानी सैनिकों को आगे न जाने देने का संकल्प किए बैठा था। आस-पास के किसान भी यह प्रण लिए बैठे थे कि दुर्रानी की सेना उनकी लाशों पर ही गुजरकर ब्रज की राजधानी में प्रवेश कर सकती है। मथुरा के पास "चौमुहा" नामक स्थान पर जवाहरसिंह ने अब्दाली के सैनिकों का मार्ग रोक लिया और लड़ाई आरम्भ होगई। यह लड़ाई दस घण्टे तक चली और इसमें दस से बारह हजार तक दोनों पक्षों के आदमी मारे गए। अन्त में जवाहरसिंह को युद्ध-क्षेत्र से हटना पड़ा और उसने डीघ में जाकर दूसरा दृढ़ मोर्चा बनाने की सोची। दुर्रानी सैनिकों ने मथुरा में जो मनमानी की उसका वर्णन करना कठिन है। कानूनगो के कथनानुसार—"होली के दो दिन बाद मथुरा-निवासियों को खून की होली खेलनी पड़ी। जिन माताओं के स्तनों से दुधमुंहे बच्चे छीनकर मारे जारहे थे, उनकी रोने की आवाज से आकाश गूंज उठा। यमुना का नीला पानी रक्त की धारा से लाल होगया। हिन्दू संन्यासियों के गले काटकर उनके साथ गौओं के कटे गले बांध दिए गए। दुर्रानी के अत्याचार से मात्र हिन्दू ही पीड़ित हुए हों, ऐसी बात नहीं थी। चाहे मुसलानों ने अपने शरीर नंगे करके प्राण बचा लिए हों तो भी उनकी बहू-बेटियों की इज्जत और आबरू धूल में मिला दी गई थी।"

लूट-पाट करने की इच्छा से ही अब्दाली को सेना ने गोकुल पर धावा किया। वहां लगभग चार हजार संन्यासियों ने जो कि अपने धम के लिए प्राण देने पर उतारू थे, शत्रु का डटकर मुकाबला किया। दो हजार संन्यासी इतने ही अब्दाली के सैनिकों को मारकर स्वर्ग सिधार गए। सर देसाई के कथनानुसार गोकुल बच गया। लेकिन वृन्दावन में अब्दाली सेना को कोई कठिनाई नहीं आई। उसने यहां भी यमुना में स्नान करने के लिए आते-जाते और संसार से मुक्ति पाने के इच्छुक असंख्य नर-नारियों को तलवारों से काट डाला।

इस लूट-मार से अभी अब्दाली सेना का मन नहीं भरा था, अतः उनका अगला निशाना आगरा था। क्योंकि अब्दाली ने सुना था कि आगरे में जाट राजा सूरजमल की प्रजा के बहुत से लोग बहुत धनी हैं। जब धनी लोगों को यह पता चला कि यहां भी बल्लभगढ़, मथुरा

आदि की भांति लूट-पाट होगी तो वे पांच लाख रुपया भेंट के रूप में देने के लिए अब्दाली के सेनापति जहान खां के स्वागत में चल पड़े। परन्तु इतना धन इकट्ठा करने के लिए काफी समय अपेक्षित था और पठान सेनापति धन के लिए उतावला होरहा था। अतः उसने सेना को शहर लूटने की आज्ञा दे दी। अब्दाली सेना को आशा से कहीं अधिक प्रतिरोध मिला और सिपाहियों को लम्बे अर्से से घर से बाहर रहने के कारण घर की याद सता रही थी। अतः अहमद शाह दुर्रानी मथुरा-वृन्दावन की लूट-बर्बादी के बाद जाटराज्य के डीघ और कुम्भेर को बिना जीते अपने देश के लिए चल पड़ा। उसने अपने पूर्व वचनों का पालन क्यों नहीं किया, इस विषय में इतिहासकार अनेक कारणों को प्रस्तुत करते हैं। अफगानों के द्वारा किया गया नर-संहार स्वयं ही उनके सिर पर चढ़कर उत्पात मचाने लगा। वृन्दावन और मथुरा का रक्त-रंजित यमुना का जल दुर्रानी के डेरों तक चला गया। परिणामस्वरूप दुर्रानी के सैनिकों को वही जल पीना पड़ा। इसके अतिरिक्त सड़ते शवों से वायुमण्डल दूषित होगया। इसका परिणाम यह हुआ कि दुर्रानी की सेना में हैजा फैल गया और लगभग एक सौ पचास सैनिक प्रतिदिन मरने लगे। कहते हैं कि इस बीमारी को रोकने के लिए 'इमली' का पानी बताया गया। परन्तु 'इमली' का भाव भी सौ रुपए का एक सेर होगया। अफगान सेना घोड़ों का मांस खाने लगी थी। इससे घोड़ों की कमी होगई। जो सैनिक बच रहे थे उन्होंने घर जानें का कोलाहल मचा दिया। उपर्युक्त परिस्थिति में दुर्रानी को अपना विचार त्यागना पड़ा।

इन प्राकृतिक आपदाओं के अतिरिक्त 'तारीखे आलमगीर सानी' का लेखक एक अन्य कारण का उल्लेख करते हुए कहता है कि "सूरजमल के पास चार सुदृढ़ पक्के दुर्ग हैं। उनका कच्चा परकोटा काफी ऊंचा और चौड़ा है। इनके चारों ओर खाइयां इतनी गहरी खोदी गई हैं कि भूमि से पानी निकलने लगता था। इन चारों दुर्गों का एक-दूसरे से सम्बन्ध रखने के लिए अन्य कच्ची गढ़ियों का निर्माण कराया गया था। नगर परकोटा के बाहर दो मील की दूरी पर पड़ाव तैयार किए गए थे। इन पड़ावों पर रहकला, सामान ले जानेवाले बेलदार तथा बन्दूकची सवार तैनात थे। सूरजमल ने दुर्गों में गल्ला, घी तथा तेल आदि खाद्यान्नों तथा घास-दाना आदि उपयोगी वस्तुएं एकत्र

करली थीं। जिससे कुछ समय तक दुर्भिक्ष का मुकावला किया जा सके। दुर्गों की रक्षा के लिए छोटी-बड़ी तोपें, रहकला, वाण, गोला-बारूद तथा सीसा आदि का प्रचुर भण्डार जमा था। अनेक वर्षों के नियमित तथा सतर्क घेरे के बाद भी इन दुर्गों का समर्पण कराना या अधिकार करना सरल नहीं था।" हमारा विचार है कि उपर्युक्त स्थिति को देखते हुए अहमद शाह दुर्रानी ने सोचा कि इन दुर्गों के अधिकार में अनेक वर्ष लगेंगे। अतः उसने जटवाड़ा प्रदेश की लूट के विचार को छोड़ दिया और घर की राह पकड़ी।

अब्दाली को करारा उत्तर

इन सारी परिस्थितियों को देखकर अब्दाली ने अपने सेनापति जहान खां को आगरे के किले का घेरा उठाने का आदेश दे दिया। इस प्रकार अब्दाली के सामने जाट-राज्य से लौट जाने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रहा और भरतपुर राज्य से अब्दाली की सेनाएं लौटनी आरम्भ होगईं। 'भागते भूत की लंगोटी ही सही' के अनुसार अब्दाली ने चलते समय एक बार फिर जाटराजा से धन ऐंठने का विफल प्रयास किया। उसने शेरगढ़ नामक स्थान पर डेरा डालकर जुगलकिशोर और अन्य अफगान अधिकारी को अपना दूत बनाकर सूरजमल के पास इस सन्देश के साथ भेजा कि यदि उसने बादशाह को नजराना नहीं भेजा तो डीग, कुम्भेर और भरतपुर के किलों को मिट्टी में मिला दिया जाएगा। किन्तु सूरजमल इस गीदड़ धमकी से डरने वाला नहीं था. वह बड़ा कूटनीतिज्ञ था। वह जानता था कि अब अब्दाली के लिए उसकी सीमाएं छोड़कर जाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। अतः वह अब्दाली के सामने किसी भी प्रकार चारा गेरने के लिए तैयार नहीं था।

जवाब में सूरजमल ने एक पत्र लिखवाकर दुर्रानी के पास भिजवा दिया, जिसमें लिखा था कि "तुमने अभी तक भारत को विजय नहीं किया है। यदि तुमने एक अनुभवहीन राजनीति में अधकचरे बच्चे (इमाद) पर अधिकार कर लिया है, जिसके पास दिल्ली का शासन था, तो कोई गर्व करने की बात नहीं। यदि तुम्हें कोई गर्व है तो मुझ-पर आक्रमण करने में ढील क्यों कर रहे हो? मेरी राज्यसीमा में तुम लूटने और भरतपुर राज्य को मिट्टी में मिलाने आए थे, यह तुम्हारी

इच्छा अभी अधूरी ही है।" इस लम्बे पत्र के अन्त में लिखा कि "यह शाह की कृपा होगी कि वह मुझसे युद्ध करे, जिससे भविष्य में संसार में यह घटना याद रहे कि परदेश से एक बादशाह आया था, जिसने दिल्ली को तो विजय कर लिया था, किन्तु एक किसान राजा के आगे मजबूर होगया।" महाराजा सूरजमल के करारे उत्तर से यद्यपि अब्दाली जैसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को क्रोधित होकर पुन: आक्रमण कर देना चाहिए था। तथापि इसका प्रभाव उल्टा ही पड़ा। वही हुआ जो सूरजमल चाहता था और दुर्रानी आक्रान्ता चुपचाप दिल्ली की तरफ हो लिया।

सूरजमल पर अब्दाली का यह आक्रमण राजनीतिक दृष्टि से असफल ही कहा जा सकता है। क्योंकि सूरजमल की सैनिक-शक्ति और प्रभुत्व-शक्ति इससे किसी भी प्रकार कम नहीं हुई। वह इसके डीग, कुम्भेर और भरतपुर के सुदृढ़ किलों को जीत नहीं सका। वह सूरजमल को युद्ध करने के लिए किसी भी प्रकार सुरक्षात्मक स्थानों से बाहर न ला सका। जब अब्दाली ने कुम्भेर पर आक्रमण करने की सोची थी तो सूरजमल ने आक्रमण न करने के बदले में एक करोड़ की पेशकश की थी, परन्तु अब्दाली पर संकट आने पर उसने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैं दस लाख से अधिक धनराशि नहीं दे सकता। यदि आपको मित्रता चाहिए तो वह इसे स्वीकर करे, अन्यथा युद्ध तो निश्चित है ही। लेकिन आश्चर्य है कि सूरजमल ने दस लाख भी नहीं दिए। इस प्रकार दुर्रानी खाली हाथ ही लौटा।

स्वदेश लौटते समय अब्दाली नजीब-उद्-दौला को भारत के अपने साम्राज्य का मुख्य कार्यकारी अधिकारी बना गया था। इससे नजीब-उद्-दौला को इतना अभिमान होगया कि वह बादशाह आलमगीर द्वितीय से भी उचित शिष्टाचार के साथ पेश नहीं होता था। इमाद भी अपने स्थान पर नजीब को नया वजीर देखकर अत्यधिक दु:खी था। इसलिए बादशाह और इमाद दोनों ही नजीब की तानाशाही से छुटकारा पाने की कोशिश में थे। इमाद ने ऐसे समय मराठों को उत्तरी भारत में फिर आने का निमन्त्रण दिया। इधर मराठा भी इस ताक में थे कि नजीब से अपना पुराना बदला ले सकें। अत: रघुनाथराव ने नजीब को लिखा कि उन्हें पूर्ववत् चौथ मिलनी

चाहिए, क्योंकि जिन इलाकों से मराठों को चौथ मिलती थी वे अब्दाली के आक्रमण के समय नजीब ने हड़प लिए थे। इसके साथ ही रघुनाथराव ने नैरोशंकर और सखाराम को कुछ सैनिक टुकड़ियां देकर दिल्ली के पास पहुंचने की आज्ञा दी। मराठों की दिल्ली पर आक्रमण की तैयारी देखकर नजीब को युद्ध करना पड़ा। मराठा सेना दिल्ली पर टूट पड़ी और विवश होकर नजीब को सन्धि-प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा।

अहमद शाह अब्दाली के भारत से जाने और पुनः आने के समय तक महाराजा सूरजमल ने अपनी नीति में परिवर्तन किया। उसने मराठा और नजीब के झगड़े से अपने आप को दूर रखा। उसने यह नीति बड़ी दूरदर्शिता से सोचकर अपनाई थी। क्योंकि वह जानता था कि अब्दाली पुनः भारत पर आक्रमण करने आएगा। अतः परस्पर के झगड़ों से दूर रहकर अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए। परन्तु उसे क्या पता था कि उसके विषय में अब्दाली को क्या-क्या लिखा जा रहा है। बादशाह आलमगीर द्वितीय ने अब्दाली को लिखा कि– "उसे (आलमगीर को) शीघ्रातिशीघ्र भारत का ताज और सिंहासन प्रदान कर दिया जाए, अन्यथा गाजी-उद्-दीन और जाट–राजा सूरजमल न जाने किसको राज्य सिंहासन पर बैठा देंगे और राज्य की पहिले से भी अधिक असाध्य अवस्था हो जाएगी।" जाटों के विषय में उसने आगे घृणापूर्ण शब्दों में लिखा कि—"जाट नाम से जो जाति भारत में रहती है वह और उसका राजा इतना शक्तिशाली होगया है कि उसकी खुली खुलती है और उसकी बंधी बंधती है।"

सूरजमल की शरण में

अब्दाली के आक्रमण की खबर मिलते ही भारत की राजधानी में निराशा फैल गई और दिल्ली में भगदड़ मच गई। हिन्दू और मुसलमान अपना धन और सामान बचाने के लिए जाट–राजा सूरजमल के राज्य की शरण लेने लगे। मराठों ने भी अपने परिवारों को भरतपुर भेज दिया और उनके परिवारों के साथ वजीर का परिवार भी अपने उदार–शत्रु राजा सूरजमल के राज्य में शरण के लिए आया। यह वही वजीर था जो सूरजमल को समूल नष्ट करना चाहता था।

महाराजा सूरजमल मराठों की उन्नति के समय तो प्रायः तटस्थनीति का आश्रय लिए रहा। परन्तु मराठों पर आपत्ति के समय वह शान्त न रह सका और अब्दाली की नाराजगी की परवाह किए बिना ही मराठों की सहायता के लिए आगे बढ़ा। जाटराजा सूरजमल अभी तक कुम्भेर के घेरे के समय जयाजी अप्पा सिन्धिया द्वारा दी गई सहायता को नहीं भूला था। वह इस बात की प्रतीक्षा में था कि कब अवसर आए और मराठों का ऋण चुकाएं।

अब्दाली यह चाहता था कि सूरजमल का सम्बन्ध मराठों से न होने पाए। इसके लिए उसने रुहेला सरदार हाफीज़ रहमत खां को मथुरा इस उद्देश्य से भेजा कि वह अब्दाली से मित्रता स्थापित कर ले। परन्तु जाटराजा ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और अब्दाली के साथ बादली की लड़ाई में घायल हुए मराठा सरदार जनकोजी को शरण देने के लिए कुम्भेर के किले में ले गए।

नाराज अब्दाली ने सूरजमल से वफादार न होने के कारण धमकी देकर दो करोड़ रुपया नजराना के रूप में मांगा। परन्तु जाटराजा सूरजमल बहुत बड़ा नीतिज्ञ था। उसने सोचा इतना धन देकर केवल शत्रु की शक्ति को ही बढ़ाना होगा, क्यों नहीं मैं इस धन से अपनी सेना की शक्ति को बढ़ाऊं। यदि मैंने यह धन अब्दाली को दे दिया तो इसकी अगली मांग होगी कि युद्ध-शरणार्थियों को वापिस करो। अतः सूरजमल ने दो करोड़ रुपया देने में असमर्थता प्रकट की और समझौते के लिए अपना प्रतिनिधि अब्दाली के पास भेजा। समझौता होने पर पैंतालीस लाख रुपया भेंट के रूप में देना स्वीकार हुआ। परन्तु सूरजमल ने न कभी अब्दाली को पहले कुछ दिया था और न ही इस बार कुछ देना चाहता था। सौभाग्य से दोआब से लौटते हुए मल्हार राव से सूरजमल की मित्रता होगई और इस मित्रता ने पुनः मिलकर अब्दाली के छक्के छुड़ा दिये। इस स्थिति में बेचारा अब्दाली सूरजमल से कुछ भी न ले सका।

यद्यपि सूरजमल मराठों के हाथों से बहुत संकट झेल चुका था, तथापि उसने मराठों के साथ मित्रता करके राजनैतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया। उसे मराठों के वार्षिक आक्रमणों से अधिक भयानक आक्रमण नई मुस्लिम-शक्ति के प्रतीत हुए। अतः उसकी दृष्टि में यह

आवश्यक था कि मराठा उत्तरभारत में रहें, क्योंकि इससे दो लाभ होंगे, एक तो विदेशी आक्रमणकारी को रोकने में सहायता मिलेगी और दूसरे हिन्दू और मुस्लिम शक्तियों का सन्तुलन रहेगा।

भाऊ ने पगड़ी बदली

दत्ता जी सिन्धिया की मृत्यु का समाचार सुनकर पेशवा ने अपने भाई सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में एक बड़ी भारी सेना भेजी और आदेश दिया कि यदि तुम अब्दाली पर विजय पाना चाहते हो तो यह अनिवार्य है कि सूरजमल को अपने साथ रखो। पेशवा की दृष्टि में सूरजमल की नाराजगी मराठों के नाश का कारण हो सकती है। क्योंकि उसकी स्थिति कूटस्थानीय है। अतः उसने भाऊ को यह निर्देश भी दिया कि वह जाट-राजा से 1754 की बकाया राशि भी न मांगे। भाऊ ने धौलपुर से सूरजमल को चापलूसीभरे पत्र लिखने आरम्भ किए जिसमें मित्रता की कामनाएं प्रकट की गई थीं। सूरजमल की यह इच्छा थी कि मराठों के मार्ग में पड़नेवाली उसके राज्य की सीमाएं लूट–पाट से बची रहें, अतः आगरा में भाऊ और सूरजमल की मुलाकात हुई और दोनों ने मित्रतास्वरूप पगड़ियां बदलीं। दोनों सरदार मथुरा होते हुए दिल्ली की ओर बढ़े। सूरजमल की साठ हजार सेना भाऊ की सेना से दिल्ली आकर मिल गई। इस प्रकार दिल्ली जाट-मराठा सेना और इमाद की सहायता से जो कि भरतपुर में शरण लिए था, दिल्ली पर विजय पा ली गई। इसके उपरान्त सूरजमल ने मराठों का साथ छोड़ दिया और वह अपनी राजधानी वापिस आगया।

मराठों से नाराजगी

महाराजा सूरजमल मराठों से नाराज होकर दिल्ली से (पानीपत की तीसरी लड़ाई) अपने राज्य में क्यों लौट आया, इस विषय पर भिन्न-भिन्न इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

(1) सर देसाई और सियार नामक लेखकों का कहना है कि दिल्ली पर मराठों ने अधिकार कर लिया और वे दीवाने-खास की चांदी से जड़ी छतों को उखाड़ने लगे। इस हरकत को देखकर सूरज-मल को बड़ा भारी धक्का लगा और उसने मराठा सरदारों से ऐसा

न करने का आग्रह किया, परन्तु वे न मानें और उन्होंने उस चांदी को टकसालों में ढलवाने के लिए भेज दिया और नौ लाख रुपए के सिक्के ढलवाए। सूरजमल मराठों का मित्र तो बन चुका था, परन्तु वह इस प्रकार के कार्यों में उनका साथ देकर बदनाम नहीं होना चाहता था। सूरजमल ने भाऊ से कहा कि—"आपने दीवाने-खास की छतों से बहुमूल्य रत्न निकलवाकर राजसिंहासन की मर्यादा को नष्ट किया है। आपने मुझसे मित्रता करते समय सत्यनिष्ठा के प्रमाणस्वरूप में जो यमुना-जल का स्पर्श किया था, उसे आप क्या यही महत्त्व देते हैं ?" अत: दिल्ली छोड़कर अपनी राजधानी चला गया।

इस कारण के पीछे दो तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं। एक तर्क तो यह है कि सूरजमल भवन-निर्माणकला का पारखी था, अतः वह नहीं चाहता था कि दिल्ली के भवनों को नष्ट किया जाए। दूसरा तर्क अधिक सशक्त और प्रामाणिक हो सकता है। इसके अनुसार सूरजमल के मन में स्वयं दिल्ली का बादशाह होकर इन भव्य-भवनों में बैठकर राज्य करने की इच्छा थी। वह यह चाहता था कि इन सम्पत्तिशाली भवनों का स्वयं स्वामी बने। अत: वह चाहता था कि इनकी कोई हानि न की जाए। जब उसकी यह प्रार्थना स्वीकार न की गई तो वह मराठों का साथ छोड़ गया।

(2) सूरजमल अनुभवी, दूरदर्शी एवं उच्चकोटि का कूटनीतिज्ञ था। वह अनेक युद्धों में स्वयं लड़ चुका था और अनेक लड़ाइयों का कुशल नेतृत्व कर चुका था। वह अपने मित्र मराठों को अपने अनुभवों का लाभ उठाने के लिए प्रेरित करना चाहता था। इसलिए फादर वैण्डल और जदुनाथ सरकार के मतानुसार सूरजमल ने मराठों को एक समयोपयोगी परामर्श दिया था कि वे युद्ध के समय अपने साथ रहनेवाले नौकरों-चाकरों और स्त्रियों को युद्ध-भूमि से दूर किसी स्थान पर भेज दें। इसके लिए सूरजमल ने अपना राज्य सुरक्षित समझकर इन्हें वहां भेजने के लिए प्रस्ताव रखा। परन्तु भाऊ ने सूरजमल के समयोपयोगी प्रस्ताव को यह कहकर ठुकरा दिया कि तुम तो गंवार हो। वस्तुत: इस प्रस्ताव को अस्वीकार करने के पीछे मराठों का शंकित हृदय था। वे नहीं चाहते थे कि उनका परिवार सूरजमल के राज्य में जाए। क्योंकि उन्हें भय था कि यदि हम जीत गए तो

सूरजमल परिवारों की सुरक्षा के वदले मराठों से अपने राज्य के लिए निश्चित भू-भाग मांगेगा। यदि मराठे जीत न सके, तो भी संकटकाल में परिवारों की रक्षा के ऊपर होनेवाले खर्चे की मांग करेगा और 1752 की सन्धि को तोड़ने की इच्छा करेगा। उन्हें यह भी आशंका थी कि मराठों ने सूरजमल को सदा तंग ही किया है। उनकी और सूरजमल की वर्तमान मैत्री स्थायी नहीं कही जा सकती। अतः कहीं सूरजमल अब्दाली से मिलकर मराठों के परिवारों का अपने आश्रय में होने के कारण सौदेवाजी न करने लगे। अतः सूरजमल के प्रस्ताव को ठुकराना स्वाभाविक ही था।

(3) सूरजमल का मराठों का साथ छोड़ने का अन्य कारण यह भी कहा जाता है कि मराठों ने 1760 में जाटसेना की सहायता से विजय पाई थी और वे विजय के उपरान्त तुरन्त दिल्ली की प्रशासन-व्यवस्था में परिवर्तन करने लगे। इस व्यवस्था के अनुसार नरोशंकर को दिल्ली का नया प्रवन्धक वनाया गया। यह बात सूरजमल को विल्कुल पसन्द नहीं थी। वह चाहता था कि दिल्ली की वजारत इमाद के पास ही रहे। क्योंकि इस व्यवस्था के अनुसार मुसलमान और हिन्दू दोनों ही कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ सकेंगे। इसके साथ-साथ सूरजमल ने यह प्रस्ताव भी रखा कि उत्तरभारत का एकमात्र अधिकारी होने के नाते दिल्ली का स्वयं संरक्षक होगा। क्योंकि वह भलीभांति समझता था कि दिल्ली पर मराठों अथवा अब्दाली के आधिपत्य होने का यही अभिप्राय था कि जाटराज्य को सदा के लिए खतरा वना रहे। परन्तु मराठा सरदार दिल्ली पर अधिकार छोड़ने के लिए किसी भी मूल्य पर तैयार नहीं थे। अतः सूरजमल नाराज होकर अपने राज्य में चला गया।

(4) सूरजमल का मराठों का साथ छोड़ने का एक वड़ा भारी कारण यह भी था कि सूरजमल अपने पहले अनुभवों के आधार पर यह भलीभांति जानता था कि अब्दाली की शक्तिशाली सेना का खुले मैदान में आमने-सामने डटकर मुकावला करना कठिन है। अतः उससे छापामार लड़ाई करनी उचित होगी। मराठा सेनापतियों ने भी इस का समर्थन किया। परन्तु भाऊ सूरजमल को नया रईस समझता था। अतः उसकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त इस

समय अकाल पड़ रहा है और सेना की खाद्य-सामग्री के आने-जाने में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आनी चाहिए। अतः मैं भरतपुर-राज्य से सब प्रकार की सुविधाएं जुटा सकता हूं। क्योंकि मेरा राज्य शत्रु की पहुंच से परे है। उसने भाऊ को यह परामर्श भी दिया कि अपनी सेना की एक टुकड़ी पूर्व की ओर तथा दूसरी लाहौर की ओर भेजनी चाहिए, जिससे अब्दाली की सेना की खाद्य-सामग्री का आना-जाना काटा जा सके। मराठा सेना के सरदारों ने सूरजमल की इस योजना की प्रशंसा की। परन्तु अभिमानी मराठा सरदार भाऊ इस प्रकार के छापामार युद्ध को अपनी शान के खिलाफ समझता था। उसने इस योजना को होल्कर जैसे सरदारों की बुढ़ापाजनित और सूरजमल की मूर्खता समझा। अतः सूरजमल मराठों को छोड़ गया।

(5) 'इसाद-उस-सादात' के लेखक का कथन है कि भाऊ ने सूरजमल से बकाया दो करोड़ रुपए की मांग की, अतः इस आपत्काल में जबकि सूरजमल मराठों से कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने के लिए तैयार था, तो मराठों का बकाया मांगना उचित नहीं था। सूरजमल के मन में इस मांग को लेकर मराठा–नीति में छल ही छल दिखाई दिया और उसे यह शंका हुई कि शायद इस विषय को लेकर मराठा मेरे राज्य पर आक्रमण न कर दें। अब्दाली को तो वह पहले ही मराठों का साथ देकर नाराज कर चुका था। अतः उसने सोचा कि अब तो मराठों का साथ छोड़कर और अपने राज्य में जाकर अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना चाहिए।

(6) कुछ मराठा वृत्तान्तों के अनुसार सूरजलल ने मराठों का साथ इसलिए छोड़ दिया था कि अवध का नवाब मराठा और अब्दाली में शान्ति-समझौता कराने का प्रयास कर रहा था। नवाब शुजा के प्रस्ताव के अनुसार यह प्रावधान था कि मराठा और दुर्रानी सरदार अपने-अपने प्रदेशों में वापिस चले जाएं और उनके स्थान पर बादशाह को शक्ति सौंप दी जाए। क्योंकि सूरजमल को इस सन्धि में कहीं पर भी स्थान नहीं दिया गया था, अतः वह अपने प्रदेश में चला गया।

(7) अन्य विचारकों के अनुसार नजीब के स्वार्थों को जब-जब ठेस पहुंचती थी, तो वह विदेशी आक्रान्ता अब्दाली को भारत पर आक्रमण करने का निमन्त्रण देता था और उसकी सैनिक सहायता से

मनमाने अत्याचार कराकर अपनी पुरानी शत्रुता का बदला लेता था अतः सूरजमल ने मराठों के सामने प्रस्ताव रखा कि सबसे पहले नजीब की सत्ता को ही समाप्त किया जाना उचित है। मराठा सरदार मल्हारराव ने इस सुझाव का विरोध किया। क्योंकि विपत्ति के समय नजीब उसे अपना धर्मपिता कहकर काबू में कर लेता था। अतः सूरज-मल को विवश होकर मराठों का साथ छोड़ना पड़ा।

(8) सर जदुनाथ सरकार ने सूरजमल द्वारा मराठों का साथ छोड़ देने का एक अन्य ही कारण बताया है। उनके विचार से अलीगढ़ किले को सूरजमल हर प्रकार सुदृढ़ एवं युद्धोपयोगी बनाना चाहता था। परन्तु उन दिनों मराठा सरदार गोविन्द अलीगढ़ के पास के प्रदेशों का स्वामी था। उसने गुप्तरूप से अलीगढ़ को भी अपने अधिकार में लेने की चेष्टा की और उसी समय अब्दाली का भारत पर दबाव बढ़ने लगा और इस सरदार का षड्यन्त्र बुरी तरह विफल हुआ। इससे सूरजमल का मराठों पर से विश्वास जाता रहा। उसने सोचा यदि अब्दाली के विरुद्ध इनकी सहायता भी की, तो यह विजयी होने पर उसके राज्य को हड़पने का प्रयास अवश्य करेंगे। अतः वह अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए मराठों को छोड़ गया।

(9) राम पाण्डेय के मतानुसार सूरजमल की अन्तरिम अभि-लाषा थी कि वह मराठा और अब्दाली दोनों के पारस्परिक संघर्ष से दूर ही रहे। उसे यह स्पष्ट पता था कि जो कोई पक्ष जीते वह सूरजमल द्वारा अनधिकार रूप से हथियाएं प्रदेशों को वापिस करने के लिए कहेगा। अतः यही अच्छा है कि वह अपने प्रदेश में लौट जाए और अपनी स्थिति को दृढ़ करे।

(10) सूरजमल के मराठा पक्ष को छोड़ने में एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि मथुरा में कुछ मस्जिदों को पूर्णरूप से सुरक्षित देखकर भाऊ क्रोध में आगया और उसने सूरजमल को इस विषय में खरी-खोटी सुनाई। इस पर सूरजमल ने कहा कि यदि हमें अब्दाली पर विजय पानी है तो हमें मुस्लिम धार्मिक स्थानों को सुरक्षित रखते हुए मुसलमनों का भी विश्वास पाना है। इस प्रकार सूरजमल और भाऊ के विचारों में विरोध बढ़ता गया और जब उसे यह पता चला कि भाऊ उसकी गिरफ्तारी की सोच रहा है तो वह रात को मराठा

छावनी छोड़कर भरतपुर आगया। भाऊ ने उसका पीछा किया परन्तु उसका प्रयास निष्फल रहा।

सूरजमल की स्थिति कूटस्थानीय थी। अतः प्रत्येक शासक उससे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। यदि किसी कारण से मित्रता न हो सके तो प्रत्येक यह चाहता था कि सूरजमल तटस्थ बना रहे। मराठों की तरफ अब सूरजमल कदापि नहीं जा सकता था। अतः अब्दाली ने समय को खोये बिना ही सूरजमल से मित्रता का हाथ बढ़ाया। क्योंकि उसे पता था कि मराठों को जीतना सरल है, परन्तु सूरजमल के किलों को जीतना दुष्कर कार्य है। उसने पहले भी सूरजमल से सन्धियां करनी चाही थीं, लेकिन वे किसी न किसी कारण से सफल न हो सकीं। इस बार पुनः अब्दाली ने नवाब शुजा-उद्–दौला, राजा देवीदत्त और अलीबेग के माध्यम से बात-चीत करनी आरम्भ की। सूरजमल ने सन्धि–प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस सन्धि का क्रियात्मक अभिप्राय यह था कि सूरजमल अफगानों को सक्रिय सहयोग न देकर तटस्थ रहेगा। इतना सब कुछ होने पर भी सूरजमल का मन मराठों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण ही था।

मराठों से मानवीय व्यवहार

जनवरी सन् 1761 में पानीपत के मैदान में अब्दाली और मराठों की सेना का घमासान युद्ध हुआ। चौदह जनवरी को मराठों की बुरी तरह हार हुई और सदाशिव भाऊ मारा गया। मराठों की पानीपत में हार कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। इसके परिणाम के विषय में राजनीतिज्ञों को पूर्व ही मालूम था। मराठे अपनी नीति के कारण मानो पहिले ही अब्दाली से हार चुके थे। उन्होंने अपने एक मित्र सूरजमल को जो हर प्रकार से उनकी सहायता के लिए तैयार था, नाराज कर लिया था।

पानीपत के मैदान में हारने के बाद मराठा सैनिकों की जो दुर्गति हुई उसका वर्णन करना बड़ा कठिन है। किसानों ने उनके हथियार, सम्पत्ति और वस्त्र तक छीन लिए। नंगे और भूखे एक लाख मराठा सैनिक सूरजमल की राज्यसीमा में प्रविष्ट हुए। राजा सूरजमल ने मानवीय आधार पर उनका हर प्रकार के आतिथ्य किया। यदि सूरजमल मराठों की पुरानी बातों को याद करके उनके

साथ अन्यथा बर्ताव करता तो बहुत ही कम मराठे नर्वदा को पार करके पेशवा से पानीपत की दुर्घटना का वर्णन करने के लिए बच पाते। सूरजमल ने यह सब कार्य अब्दाली की नाराजी को सोचते हुए भी किया। ग्रांट डफ लिखता है कि सूरजमल ने भगौड़े मराठा सैनिकों के साथ जो व्यवहार किया, उसे मराठा आज भी कृतज्ञता तथा आदर के साथ याद करते हैं।

ज्योंही मराठा सैनिक मथुरा में सूरजमल की राज्य-सीमा में प्रविष्ट हुए तो उसने उनके बचाव के लिए अपनी सैनिक टुकड़ियां भेजीं और उनके दुःखों को वस्त्र, भोजन और दवाओं द्वारा दूर किया। भरतपुर में महारानी किशोरी ने मराठा शरणार्थियों के प्रति गहरी सहानुभूति दिखाई। तीस से चालीस हजार मराठों को उसने सात दिन तक लगातार खाना खिलाया। ब्राह्मणों को दूध, पेड़े और अन्य मिठाइयां दी गईं। राज्य में घोषणा कर दी गई कि प्रत्येक नागरिक का घर-द्वार मराठों की सेवा-शुश्रूषा के लिए हर समय खुला रहे। मराठा सैनिकों के दुःख दूर करने के बाद सूरजमल ने प्रत्येक सैनिक और उसके सहायकों को एक-एक रुपया, एक वस्त्र, और एक सेर अन्न देकर अपनी सेना की सुरक्षा में मराठों की सीमा ग्वालियर में भेज दिया।

सदाशिवराव भाऊ की पत्नी तथा बालाजीराव का सौतेला भाई शमशेरबहादुर एक लम्बी यात्रा के बाद अपने परिचारकों सहित डीघ के किले में पहुंचे। वहां दो-तीन दिन तक भाऊ की पत्नी ने अपने मृत-पति का शोक मनाया और महाराजा सूरजमल और रानी किशोरी उनके दुःख में सम्मिलित हुए। अन्त में कड़े सुरक्षा-प्रबन्धों के साथ उन्हें दक्षिण भेज दिया गया। परन्तु सूरजमल के इस मानवीय व्यवहार को अब्दाली ने अमित्रता का व्यवहार समझा और उसने सूरजमल को सन्धि तोड़ने का दोषी ठहराया। अतः अब्दाली ने सूरजमल पर आक्रमण करने की योजना बनाई और कहा कि वह उसे भेंट दे। सूरजमल ने अपने प्रतिनिधि नागरमल को अब्दाली से बात चीन करने तथा खेद प्रकट करने के लिए भेजा। क्योंकि वह किसी न किसी प्रकार अब्दाली को टालना चाहता था। राज-माता जीम्नत-महल भी सूरजमल से बहुत अधिक नाराज थी। क्योंकि यह उसके

पति इमाद के हत्यारों की योजना में सम्मिलित था। अतः उसने अब्दाली के वजीर से कहा कि सूरजमल के दूत को बिना समझौते के ही वापिस भेज दो। परन्तु अफगान सिपाही, चार वर्ष पूर्व होनेवाले हैजे की याद से चिन्तित होने लगे। अब्दाली को भी यह आशंका होने लगी थी कि शायद मेरे सैनिक अब बहुत थक चुके हैं और आगे बढ़ने में आनाकानी कर सकते हैं। इससे शायद मुझे हानि हो और सूरजमल पर विजय न पाई जा सके।

इसके अतिरिक्त सूरजमल भी यह जानता था कि अफगान सेनाएं गर्मियों तक भारत में नहीं ठहर सकतीं। अतः वह समझौते के लिए बहुत अधिक व्यय नहीं करना चाहता था। सूरजमल ने समझौते की बात को मार्च सन् 1761 से मई सन् 1761 तक विस्तृत किया। परन्तु इस अवधि में भी वह भारत की द्वितीय राजधानी आगरा को जीतने में लगा रहा। अब्दाली के भारत से चलने के पांच दिन पहले ही उसको खबर मिली कि सूरजमल की सेना ने अकबराबाद (आगरा) के किलेदार से किला छीन लिया है। सूरजमल ने समझौते के रूप में अब्दाली को एक लाख रुपया दिया और पांच लाख आगे देने के सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर किए, जो कि उसने कभी भी नहीं दिए। जिद्दी जाट से इतने रुपयों से सन्तोष करके अब्दाली बाईस मई को अफगानिस्तान के लिए रवाना होगया।

राजाओं का संघ

पानीपत के युद्ध के पश्चात् कुछ समय उत्तरी-भारत में एक विशेष प्रकार का शान्तिमय वातावरण बना रहा। क्योंकि मराठा पानीपत की हार से चूर-चूर होकर दक्षिण में चले गए थे। वहां हैदरअली और निज़ाम उन्हें उलझाए हुए थे। अब्दाली के भारत से चले जाने के बाद दिल्ली का सिंहासन प्रायः रिक्तता की दशा में था। इस स्थिति का लाभ सूरजमल ने उठाया। वह यह चाहता था कि अब्दाली के भावी आक्रमण को रोकने के लिए अब्दाली और रुहेलों के मध्य एक ऐसी शक्ति खड़ी कर दी जाए, जिससे उनका सम्पर्क ही टूट जाए। इसके लिए वह जाटों और पंजाब के सिखों का एक संगठन बनाने का इच्छुक था। जिससे रावी से लेकर यमुना तक अब्दाली और रुहेलों के सम्पर्क को रोकने के लिए एक सुदृढ़

दीवार बन जाए। इसके अतिरिक्त सूरजमल ने मराठों के उत्तरी भारत पर अक्रमणों को रोकने के लिए राजपूतों से नाता जोड़ा। इसके बाद उसने गोहद के जाटराजा से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया, जिससे मराठा चम्बल से परे ही रहने पावें।

इसके उपरान्त उसकी इच्छा थी कि गाजी–उद्–दीन को दिल्ली का वजीर बनाकर और उसके माध्यम से अपने राज्य का विस्तार किया जाए और अप्रत्यक्षरूप से दिल्ली का स्वामित्व लिया जाए। परन्तु अपने राज्य के विस्तार के लिए यह आवश्यक था कि प्रथम वह आगरा को जीते जो कि उसके राज्य की सीमाओं से सटा हुआ था। आगरा को जीतने में सूरजमल को अधिक कठिनाई नहीं आई। क्योंकि अब्दाली पक्ष के थके हारे सैनिक सूरजमल की शक्तिशाली सेना का मुकाबला नहीं कर सके। घेरा डाली हुई सूरजमल की सेना के सामने किलेदार को किवाड़ खोलने पड़े। इस विजय में सूरजमल को पचास लाख रुपए और बहुत-सा सैनिक सामान हाथ लगा। आगरा जीतने की योजना और उस पर आक्रमण अब्दाली के भारत छोड़ने से पांच दिन पूर्व ही आरम्भ किया जा चुका था।

सूरजमल ने इसके उपरान्त दिल्ली को जीतने की अपेक्षा उसके चारों तरफवाले प्रदेशों को अपने अधीन करने की सोची। ऐसा वह इसलिए करना चाहता था कि दिल्ली पर चक्रव्यूह की रचना करके दिल्लीश्वर कहला सके। अतः उसने अपने पुत्रों जवाहरसिंह और नाहरसिंह को क्रमशः हरियाणा और दोआब की विजय के लिए भेजा।

हरियाणा और सूरजमल

सिखों और भरतपुर राज्य का मध्यवर्ती हरियाणाप्रदेश शक्तिशाली मुसलमान जागीरदारों द्वारा शासित था। सूरजमल की राजनैतिक दूरदर्शिता इस बात में थी कि हरियाणा से मुसलमान जागीरदारों को निकालकर इस प्रदेश को अपने राज्य में मिला लिया जाए। क्योंकि ऐसा होने पर सिख राज्य की सीमाओं से उसका राज्य मिल जाएगा और बीच का मुसलमान जागीरदारों का कांटा दूर हो जाएगा। परिस्थितियां भी इसके अनुकूल थीं।

हरियाणा की जाट–जनता भी सूरजमल के पक्ष में थी । क्योंकि उनकी जातीय भावनाएं, सामाजिक मान्यताएं और धार्मिक प्रवृत्तियां समान ही थीं। अतः जवाहरसिंह को आदेश दिया कि वह फरुखनगर पर आक्रमण करे जहां कि शक्तिशाली बिलोच सरदार मुसाबो खां शासन कर रहा था। यह अफगान मोहमद शाह के समय यहां आकर बस गए थे और अब वे नजीब की शरण में थे। जवाहरसिंह बार–बार आक्रमण करके भी फरुखनगर को जीतने में जब असफल रहा, तो सूरजमल अपनी सेना के साथ यहां आया और उसने फरुखनगर का घेरा डाला। दो महीने के घेरे के पश्चात् मुसावी खां ने हथियार डाले और उसे गिरफ्तार करके डीघ अथवा भरतपुर भेज दिया गया। इसके बाद रेवाड़ी, गढ़ी हरसरू और रोहतक पर भरतपुर की सेनाओं ने अपना अधिकार कर लिया। अब बहादुरगढ़ सूरजमल का निशाना था। बहादुरगढ़ में बहादुर खां बिलोच जागीरदार के रूप में राज्य करता था। सूरजमल के आक्रमण को सुनकर बहादुर खां ने सहायता के लिए नजीब से प्रार्थना की। अब सूरजमल को नजीब का संघर्ष अनिवार्य-सा प्रतीत हुआ। सूरजमल ने नजीब को यह कहलाकर भेजा कि वह दिल्ली और दोआब को छोड़कर चला जाए और उन्हें वह सूरजमल को सौंप दे। नजीब लाचार था, वह अब्दाली की सहायता के बिना सूरजमल से लड़ नहीं सकता था। इसके साथ-साथ स्थानीय जाटों का सहयोग भी उसे प्राप्त नहीं था, अतः वह सूरजमल के आक्रमणों को असमर्थ होकर देखता रहा। बहादुर खां को नजीब से कोई सहायता प्राप्त न हो सकी और बहादुरगढ़ को जीत लिया गया। इसके साथ ही सराय बसन्त और सोहना को भी भरतपुर की सेना ने अपने अधिकार में ले लिया। इस प्रकार दिल्ली के पश्चिम में जाटों की एक सुदृढ़ दीवार बन गई। इसी प्रकार सूरजमल ने मराठों को चम्बल नदी के पार ही रोकने के लिए गोहद के जाट राणा के साथ मिलकर एक शक्तिसम्पन्न संघ बनाने का सफल प्रयास किया। इस समय राजपूत भी सूरजमल की नीति तथा शक्ति का विरोध नहीं कर सकते थे और वे 'मराठा निरोधक संघ' के लिए प्रयत्नशील थे। इसके उपर्युक्त तीन शासकों गोहद के राणा, राजपूत एवं सूरजमल) ने 'पुष्कर' के स्थान पर मुलाकात की और अपने राज्यों से मराठों को खदेड़ने का एक समझौता भी किया।

हिण्डन की लड़ाई

इसके वाद सूरजमल ने दोआव की ओर अपना ध्यान दिया। यहां सूरजमल के छोटे लड़के नाहरसिंह के साथ वलराम आदि जाट सरदार पहले ही लड़ाई कर रहे थे। इन्होंने मुसलमानों के वहुत से महत्त्वपूर्ण स्थानों को जीतकर अपने अधिकार में ले लिया। सूरजमल अपनी विजय को सुनिश्चित मानता हुआ हिण्डन नदी को पार करके गाज़ियावाद पहुंच गया और उसकी सेनाओं ने गाजियावाद के परगने में वड़ा आतंक फैला दिया। इसके उपरान्त जाटसेना दिल्ली के दक्षिण में लड़ाई करने के लिए आगई। नजीव खिजरावाद के समीप अपनी सेना के साथ आया, परन्तु विना युद्ध किए ही वापिस चला गया। 25 दिसम्वर सन् 1763 को जव जाटसेनाओं का दबाब पड़ा तो नजीब ने हिण्डन नदी के पश्चिमी किनारे पर युद्ध की तैय्यारियां प्रारम्भ कर दीं। 25 दिसम्वर को प्रातः ही जाट सेना और नजीव की सेना में जोर-शोर की लड़ाई आरम्भ होगई और यह लड़ाई सायंकाल तीन बजे तक चलती रही। इस घमासान लड़ाई में दोनों ओर से एक-एक हजार सैनिक मारे गए। सूरजमल अपने सैनिकों का उत्साह वढ़ाते हुए जव नदी के एक कटाव में से गुजरा तो, यहां जो अफगान सैनिक घात लगाये बैठे थे उन्होंने सूरजमल को पहचान लिया और उस पर टूट पड़े। सैयद मोहम्मद खान वलूच ने सूरजमल के पेट पर अपना खंजर दो-तीन वार मारा। इसके वाद अन्य सैनिकों ने तलवारों से वार किया। सूरजमल की दांई भुजा कटकर गिर गई और अन्त में वह धराशायी होगया। उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए। सैयद का एक सैनिक सूरजमल की कटी भुजा को अपने भाले की नोंक में पताका की भांति उठाकर नजीव-उद्-दौला के पास ले गया। इस प्रकार जाटों में सवसे अधिक नीतिनिपुण व्यक्ति की वलिदानी मृत्यु 25 दिसम्वर सन् 1763 ई० में होगई।

शत्रुपक्ष ने जाटराजा सूरजमल की मृत्यु का समाचार वड़े जोर-शोर से फैलाया, जिससे जाटसेना में अनुशासन भंग होकर भगदड़ मच जाए और शाहीसेना जाट सैनिकों का 'कत्ले आम' करने में समर्थ हो सके। परन्तु जाट-सेना यथावत् रणक्षेत्र में जमी रही और हाथी पर निरन्तर निशान फहराता रहा। राजा सूरजमल की

मृत्यु का समाचार जाटों में दूसरे रूप में प्रचलित हो रहा था। इसके अनुसार राजा सूरजमल को आक्रमण से बचाने के लिए जसवंत रैवारी ने अपने सिर पर राजसी कलंगी धारण करके अपने प्राणों की आहुति दे दी है और महाराजा को कोई चोट नहीं आई। महाराजा सूरजमल की अचानक मृत्यु पर नजीब भी "जाट मरा तब जानिये जब तेरहवीं हो लेय" के कारण विश्वास नहीं कर सका। उसके विचार से यदि सूरजमल खेत रहा होता तो उसकी बीस हजार सेना मैदान में डटी नहीं रहती। 'देहली क्रानीकल' के अनुसार—"सैयद मोहम्मद बलूच सूरजमल की एक भुजा और सिर काटकर अपने साथ ले गया था और दो दिन तक अपने पास रखा। इसके बाद उसने इनको (भुजा और सिर) नवाब नजीम-उद्-दौला के सामने प्रस्तुत किया। तब सभी को पूर्ण विश्वास हुआ कि सूरजमल वास्तव में मर गया है।

महाराजा सूरजमल के समय में भरतपुर राज्य अपनी चरम-सीमा पर पहुंच चुका था। इसकी सैनिक और आर्थिक स्थिति बड़ी सुदृढ़ थी। उसकी सेना में पन्दरह हजार घुड़सवार, पच्चीस हजार पैदल, छह सौ तोपें और साठ हाथी थे। पुस्तकीय-ज्ञान में यद्यपि सूरजमल अधिक नहीं था तथापि 'राज्य प्रबन्ध विज्ञान' में वह बड़े-बड़े नीतिज्ञों के कान काटता था। चाणक्य के 'षाड्गुण्य के आधार समय और परिस्थितियों को भांपते हुए वह सन्धि, यान, आसन, विग्रह, संश्रय और द्वैधीभाव को खूब पहचानता था। भारतीय इतिहास में सूरजमल ने मुगलों की नाक के नीचे 'जाटराष्ट्र' का निर्माण किया। राजनैतिक दृष्टि से वह सदा सचेत रहा। इमाद-उद्-सादात पुस्तक के लेखक सैयद गुलाम अली नकवी ने लिखा है कि "नीतिज्ञता, राजस्व एवं दिवानी आदि की प्रबन्धनिपुणता में भारत के आसफ जहां बहादुर निजाम के अतिरिक्त कोई उसकी बराबरी नहीं कर सकता था। वह किसी उत्तेजनापूर्ण खेल में चाहे वह युद्ध हो, चाहे राजनीति वह कपटी मुगलों और चालाक मराठों को समानरूप में मात देता था। फ्रेंच जॉन गोट लिइव कोहन के अनुसार "वह जाटजाति के नेत्रों का तारा और देदीप्यमान ज्योति नक्षत्र था।" इसी प्रकार के विचार फादर वैण्डल ने प्रकट करते हुए लिखा है कि सूरजमल अपने जन्म संस्कारों से अधिक चतुर सफल

राजनीतिज्ञ, शूरवीर एवं प्रभावशाली राजा था। विदेशी आक्रान्ता उससे भयभीत थे और पड़ौसी शत्रु भी उसकी कूटनीति के सामने झुक जाते थे। अन्यान्य पड़ौसी नवाब और हिन्दू जमींदार उसकी प्रशंसा करते थे और उसकी अपार सैनिकशक्ति से भयभीत भी थे।"

सूरजमल की वीरता के विषय में समकालीन कवि जुलकरण लिखता है—

रंग राच्यो रणभूमि झूमि-झूमि लड्यो सूजा,
संग को सगोती लोग पीछे को हटि गयो,
कहे 'जुलकरण' अनल सौ तातो भयो,
रातो भयौ रूपछवि छोभ में पटि गयो।
टारे से टर्यो न ऐसो धरत समान रुप्यो,
तन टूक-टूक तरवारन कटि गयो,
वेध रविमण्डल को छेदि गयौ परलोक,
सुरलोक बारेन को फाटक फटि गयो॥

जवाहरसिंह

महाराजा सूरजमल के जीवित रहते समय जवाहरसिंह ने अनेक युद्धों में भाग लेकर अपनी वीरता की धाक जमा दी थी। दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह ने राज्य की बड़ी तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों में सन् 1747 ई० में बदनसिंह को 'बाहादुर' की उपाधि से और सूरजमल के ज्येष्ठ पुत्र जवाहरसिंह की तीनहजारी जात का मसनब और 'राव' की उपाधि से सम्मानित किया था। सूरजमल के नेतृत्व में ही रहकर जवाहरसिंह ने घसेरा का घेरा डाला था। घसेरा को जीतने के बाद सूरजमल ने जवाहरसिंह पर कोयल (अलीगढ़) को जीतने का भार डाला था। बल्लभगढ़ तथा मथुरा की रक्षा में जवाहरसिंह ने अपने जौहर दिखाए थे। उपर्युक्त घटनाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि सूरजमल की मृत्यु के उपरान्त निश्चितरूप से जवाहरसिंह ही राज–गद्दी को प्राप्त करेगा। परन्तु अपने अधैर्य और असंयम के कारण जवाहरसिंह ने अपने पिता को नाराज कर लिया।

वस्तुतः सूरजमल और ज़वाहरसिंह के आपसी मतभेदों का कारण प्रौढ़ (सूरजमल) तथा उदीयमान युवक (जवाहरसिंह)

के व्यक्तित्वों की टकराहट थी। एक तरफ सूरजमल स्वाभिमानी, चतुर राजनीतिज्ञ तथा धनाढ्य होने पर भी बड़ी सोच समझ के साथ रुपया खर्च करने की प्रवृत्ति का व्यक्ति था। दूसरी तरफ मनसबदार होकर भी जवाहरसिंह सम्पन्न राजा का पुत्र था और उसे अपने दादा बदनसिंह का वरदहस्त प्राप्त था। हमें यहां यह भी कहना है कि सूरजमल के समय भरतपुर राज्य में तीन प्रभावशाली घटक काम करते थे। एक घटक का नेता सूरजमल तथा उसका साला बलराम नाहरवार था, तो दूसरा घटक जवाहर, रानी गौरी और उसके सम्बन्धी गौर राजपूतों का था। तीसरा घटक रानी किशोरी के नेतृत्व का तटस्थ घटक कहा जा सकता है। इन घटकों के मध्य शीतयुद्ध-सा चल रहा था। रानी किशोरी के कहने सुनने से सूरजमल ने अपने जिद्दी तथा महत्त्वाकांक्षी पुत्र जवाहरसिंह को जेब-खर्च के लिए डीग जिले का कुछ क्षेत्र जागीर में प्रदान करके डीग शहर का प्रबन्ध सौंप दिया था। इससे जवाहरसिंह की आमदनी बढ गई थी। परन्तु इसकी तुलना में उसका इन्द्रिय-सुख तथा शराब पीने की आदत भी कई गुना बढ़ गई थी। सुना जाता है कि इसने अली कुली खान की विवाहित पुत्री गन्ना बेगम को बलात् उठाकर अपने महलों में भी रखने का प्रयास किया था। इस प्रकर जवाहरसिंह ने अपनी हरकतों से सूरजमल को नाराज कर लिया।

सन् 1758 ई० के आस-पास पिता पुत्र में काफी तनाव बढ़ गया। अतः सूरजमल ने जवाहर की उपेक्षा करके नाहरसिंह को राज-काज की व्यवस्था में बढ़-चढ़कर भाग लेने का अवसर दिया। अपनी उपेक्षा को सहन न करते हुए जवाहरसिंह ने अपने आपको डीग का स्वतन्त्र शासक घोषित करने की इच्छा से बन्दूकची, सवार तथा पैदल सेना की संख्या बढ़ाकर डीग के किले की दीवारों पर तोपखाना व्यवस्थित कर दिया। यह देखकर सूरजमल ने अपने पुत्र को समझाने के लिए अनेक समझदार व्यक्तियों को भेजा। लेकिन दुराग्रही पुत्र ने किसी की भी सलाह नहीं मानी। सन् 1758 ई० के अन्त में स्थिति यहां तक आ पहुंची कि पिता-पुत्र में 'पीली पोखर' नामक स्थान पर लड़ाई हुई। इस लड़ाई में जवाहरसिंह के शरीर और भुजा पर तलवार और बर्छा के तीन घाव बने और पैर में बन्दूक की गोली लगी और

वह रणक्षेत्र में ही गिर पड़ा। इस हृदयविदारक दृश्य को देखकर सूरजमल के हृदय में पुत्र-स्नेह जाग उठा और उसने अपने साहसी पुत्र को खोने की अपेक्षा डीग पर अपना अधिकार छोड़ना उचित समझा। सूरजमल के घायल पुत्र को डीग के दुर्ग में भेज दिया गया, जहां उसका उपचार हुआ, इस प्रकार भरतपुर घराने में आन्तरिक विद्रोह समाप्त हुआ। अन्त में रानी किशोरी के समझाने पर जवाहर ने अपना हठ छोड़ दिया। अपने पिता के जीवनकाल में वह जाट राजधानी भरतपुर में नहीं लौट सका और स्वयं अपने भाग्य के निर्माण में मेवात में इधर-उधर भटकता रहा।

सूरजमल की मृत्यु के पश्चात् भरतपुर की गद्दी के लिए जवाहरसिंह और नाहर के मध्य संघर्ष छिड़ गया। सूरजमल का ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी उसके जन्म, मातृपक्ष तथा युवराज का पद विवादास्पद बना हुआ था। भरतपुर के घराने ने वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा अपनी शक्ति को दृढ़ किया था, इसका संकेत पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है कि वे सूरजमल की राजपूत रानी से उत्पन्न लड़के थे। नन्दगांव और बरसाना के समीपवर्ती क्षेत्रों में 'गौरया' राजपूतों की घनी आबादी थी। सामाजिक दृष्टि से 'गौरया' राजपूत कछवाहों से निम्न श्रेणी के माने जाते हैं। बदनसिंह ने 'गौरया' राजपूतों की पुत्री का विवाह सूरजमल के साथ करके इस खाप को अपने साथ मिलाया था। भरतपुर के महलों में यह रानी 'गौरी' के नाम से जानी जाती थी। नाहरसिंह तथा रणजीतसिंह जाटरानी से उत्पन्न लड़के थे। किन्तु इन लड़कों की माताओं को राजा सूरजमल का वह प्यार नहीं मिला था जो कि निस्सन्तान रानी किशोरी को मिला हुआ था। रानी किशोरी और राजा सूरजमल में पुत्रों के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार थे। रानी किशोरी का मोह जवाहरसिंह में था। क्योंकि उसने जवाहर को गोद ले रखा था।

सूरजमल की मृत्यु के उपरान्त कौमे मजलिस में राज-परिवार में होनेवाली अन्तःकलह को ध्यान में न रखते हुए बिना समय खोये नाहरसिंह को डीग की गद्दी पर बैठा दिया। रामपाण्डेय के विचार से यह इसलिए किया गया था कि जिससे सूरजमल का साला बलराम नाहरवार नाहरसिंह के बहाने से स्वयं राज्य चलाता रहे। परन्तु हम

देखते हैं कि 'कौमे मजलिस' भी नाहरसिंह के पक्ष में थी। सम्भवतः 'कौमे मजलिस' के विचार में जाटरानी से उत्पन्न नाहरसिंह राजपूतरानी से उत्पन्न जवाहरसिंह की तुलना में जातीयता के आधार पर भरतपुर की गद्दी के लिए अधिक उपयोगी था।

परन्तु जब इस बात का पता रानी किशोरी को लगा तो वह बड़ी परेशान हुई। क्योंकि उसके पति सूरजमल के समय से ही वह राज-कार्यों में पूर्ण रुचि लेती रही थी। मराठों की फूट का लाभ उठाकर होल्कर से सन्धि-प्रस्ताव की योजना उसके मस्तिष्क की उपज थी। अपने पति की मृत्यु के उपरान्त राज-गद्दी के विषय को लेकर उससे कुछ न पूछा जाये, उसे यह कैसे सह्य हो सकता था। उसने 'कौमे मजलिस' से अपील की कि वह चाहती है कि उसके पति की मृत्यु का बदला लिया जाए। अतः गद्दी उसी को देनी चाहिए जो कि मृत्यु का बदला लेने में समर्थ हो। 'कौमे-मजलिस' के ध्यान में यह बात समा गई और उसकी दृष्टि में नाहरसिंह की अपेक्षा जवाहर सिंह बदले के लिए अधिक सशक्त दिखाई दिया। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने पहले निर्णय को बदलकर जवाहर को गद्दी पर बैठा दिया। जवाहरसिंह ने कहा कि उसे गद्दी की इतनी अभिलाषा नहीं है, जितनी को पिता की मृत-आत्मा से आनेवाली यह आवाज कि मेरे रक्त का बदला लेना होगा। पिता के हत्यारों से बदला लेने के पश्चात् मैं देखना चाहूंगा कि गद्दी का वास्तविक अधिकारी कौन है ? इस घोषणा ने नाहरसिंह को इतना भयभीत कर दिया कि वह उसी रात को अपने सहयोगियों के साथ अपनी रियासत धौलपुर भाग गया।

जवाहरसिंह यद्यपि भरतपुर की गद्दी का स्वामी बन गया, तथापि लोगों के मनों को जीतने में उसे काफी समय लगा। महाराजा सूरजमल के समय के पुराने अधिकारियों ने उसे मन से अपना स्वामी नहीं स्वीकारा। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने राज्य के कोष को किसी भी प्रकार सौंपने से इन्कार कर दिया। बलराम ने किले के उस भाग को ताला लगा दिया, जहां सूरजमल का गुप्त खजाना दबा पड़ा था और उसे किसी भी मूल्य पर नहीं बताया। इसके अतिरिक्त नाहरसिंह ने मराठों के पास शरण ले ली थी। अतः उनका

भय भीत निरन्तर जवाहरसिंह के दिमाग पर दवाव डाल रहा था। दूसरी ओर प्रतापसिंह का पुत्र बहादुरसिंह जो कि वैर के किले का स्वामी था, पैतृक आधार पर जवाहरसिंह को उखाड़ना चाहता था। इस प्रकार घरेलू उलझनों से घिरे हुए जवाहरसिंह ने सोचा कि सैनिक-शक्ति के अतिरिक्त उसके पास अन्य कोई साधन नहीं जो कि उसकी सत्ता को स्थिर रख सके। रानी किशोरी ने सैनिक-संगठन के लिए जवाहरसिंह को अपार धनराशि दी।

पर्याप्त सैनिक-शक्ति होने पर जवाहरसिंह ने सर्वप्रथम अपने राज्य के उन अधिकारियों के विरुद्ध कार्यवाही की जिन्होंने उसे गद्दी का अधिकारी बनाने में रोड़ा अटकाया था। अपने विरोधियों को पकड़ने की योजना ऐसी चतुराई से बनाई गई थी कि एक ही दिन सब पकड़े गए। बलराम तथा उसके अन्य सहयोगियों को तो इतना भय हुआ कि उन्होंने कैद में ही आपस में एक-दूसरे के गले काटकर आत्महत्या कर ली। इसके उपरान्त उसका दूसरा निशाना वैर किले का स्वामी बहादुरसिंह था। बहादुरसिंह प्रतापसिंह का पुत्र और बदनसिंह का सगा पोता था। जवाहरसिंह ने वैर पर आक्रमण कर दिया और तीन महीने तक किले का घेरा चलता रहा। इसके बाद बहादुरसिंह ने आत्म-समर्पण किया और उसे बन्दी बनाकर डीग के किले में भेज दिया गया।

दिल्ली पर आक्रमण

घरेलू झगड़ों से निपटकर जवाहरसिंह ने अपने पिता की हत्या का बदला लेने के लिए दिल्ली की ओर कूच किया। इस समय जवाहरसिंह की सेना में साठ हजार सैनिक, सौ तोपें थीं। इसके अतिरिक्त इसने पचास हजार रुपया प्रतिदिन के हिसाब से पच्चीस हजार मराठा सैनिक और पन्दरह हजार रुपया प्रतिदिन के हिसाब से पन्दरह हजार सिख सैनिक किराये पर लिए हुए थे। इतनी बड़ी सेना के साथ जवाहरसिंह ने दिल्ली पर धावा बोल दिया। इतनी लम्बी-चौड़ी तैयारी गुप्त न रह सकी और नजीब को इसका पता चल गया। प्रथम तो नजीब ने जवाहरसिंह को शान्त करने का प्रयास किया किन्तु जब उसकी योजना सफल नहीं हुई तो उसने अपने परिवार को शुक्रताल जिला सहारनपुर में भेज दिया और खाइयां

खोदकर युद्ध के लिए तैयार होगया। नजीब ने अन्य रुहेला सरदारों को अपनी सहायता के लिए बुला लिया और मेघराज नामक व्यक्ति को अब्दाली के पास भेजा कि वह शीघ्र सहायता के लिए आए। जवाहरसिंह ने दिल्ली शहर के पूर्व में मराठा सेना को और सिख सेना को उत्तर-पश्चिम में नियुक्त किया। जवाहरसिंह ने अपनी कुछ सेना को यमुना के पूर्वी किनारे पर तथा बाकी सारी सेना को दिल्ली दरवाजा और अजमेरी दरवाजा पर तैनात किया।

इस प्रकार लगातार तीन महीने तक दिल्ली का घेरा चलता रहा। नजीब की घेरा तोड़ने की सारी योजनाएं विफल होती चली गईं। दिल्ली शहर की प्रजा भूखों मरने लगी। दिल्ली के लोग दिल्ली से निकलकर जाटों के पड़ावों में अन्न के लिए भीख मांगने आने लगे। वस्तुत: यह सैनिक आत्मसमर्पण न होकर प्रत्यक्षरूप से प्रजा का आत्मसमर्पण ही था। राजा जवाहर ने नजीब को किले से बाहर आकर लड़ने के लिए ललकारा और वह अपनी सैनिक योजना के अनुसार पांच-छ: कोस फरीदाबाद की ओर पीछे हट गया। नजीब किले से बाहर आया और एक भयंकर लड़ाई हुई जिसमें मित्र सेनाओं (जाट, मराठा और सिख) ने नजीब को बुरी तरह हरा दिया। दिल्ली का शहर जाटों के कब्जे में आगया और उसे सैनिकों ने इच्छानुसार रौंद डाला। जाट दिल्ली से "अष्टधाती" किवाड़ और काले संगमरमर का सिंहासन उठाकर भरतपुर ले आए।

दिल्ली पर जब जाटों की विजय निश्चित-सी ही थी कि मराठा सरदार मल्हारराव ने जवाहरसिंह के साथ छल–कपट किया। उसने उस समय समझौता कराने की कोशिश की जबकि नजीब बिना शर्त के आत्म-समर्पण करने को तैयार था। लाचार होकर जवाहरसिंह को समझौता करना पड़ा। नजीब मल्हारराव के पड़ाव में गया और उसके साथ जाट पड़ाव में जाकर क्षमा मांगी। सूर्यास्त के समय लोगों ने देखा कि नजीब खाद्य-सामग्री को लादे घोड़ों के साथ शहर की ओर आरहा है।

मल्हारराव की हार

जिस समय जवाहरसिंह वैर के किले में बहादुरसिंह को कुचलने का प्रयास कर रहा था तो नाहरसिंह ने सोचा कि अब उसका नम्बर

भी शीघ्र ही आनेवाला है। इन्हीं दिनों मल्हारराव होलकर चम्बल के दूसरे किनारे पर पड़ाव डाले हुए था और गोहद के जाटराजा से शत्रुता का बदला लेने का विचार कर रहा था। समय और स्थिति का लाभ उठाते हुए बहादुरसिंह ने मल्हारराव से भरतपुर की राज-गद्दी प्राप्त करने के लिए गांठ-सांठ आरम्भ करदी। मल्हारराव को भी भरतपुर के राज-घराने की गद्दी के झगड़े में साथ देकर रुपए ऐंटने का अच्छा शुभ अवसर प्राप्त हुआ और उसने बहादुरसिंह को सहायता का वचन दे दिया। इधर गोहद के जाट-राजा ने अपनी सहायता के लिए जवाहरसिंह के पास अपना दूत भेजा और सहायता का वचन ले लिया।

मल्हरराव ने सुलतान जी लम्भते आदि मराठा सरदारों के नेतृत्व में पन्दरह हजार सेना चम्बल के पार भेजी। इस सेना ने धौलपुर से लेकर डीग तक के जाटों के ग्रामों को लूटा। जब मराठों ने इस प्रकार का उत्पात मचाया तो जवाहरसिंह ने अपनी मदद के लिए सिखों की सेना को बुलाया और शीघ्र ही चम्बल के तट पर शत्रु से लोहा लेने की तैयारी की। जो मराठा सेना जाट-इलाके में प्रवेश कर गई थी, उसे घेर लिया गया। धौलपुर से सात कोस की दूरी पर जमकर लड़ाई हुई और मराठा सेना हार गई। जाटसेना ने मराठा सेना को इतनी बुरी तरह हराया कि उनके लिए यह दूसरा पानीपत सिद्ध हुआ। इसके पश्चात् जवाहरसिंह ने धौलपुर पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में ले लिया। नाहरसिंह ने एक छोटे से राजपूत राजा के यहां जाकर शरण ली और अन्त में निराश होकर विष खाकर आत्महत्या करली। जवाहरसिंह हारे हुए मल्हार-राव का पीछा करके मालवा से मराठों को निकाल देना चाहता था, परन्तु उसके सहयोगी सिख सैनिक अत्यधिक गर्मी के कारण आगे बढ़ने से मनाकर गए।

जवाहरसिंह की इस विजय ने राज्य-विस्तार की इच्छा को बढ़ा दिया और उसने सोचा कि उत्तरी मालवा के राजा से सन्धि करके मराठों के प्रतिरोध के लिए एक सुदृढ़ आधार बना लेना चाहिए। उत्तरी मालवा (गोहद) का जाटराजा पहले से ही मराठों का मुकाबला कर रहा था। उसकी सहायता करना जवाहरसिंह के लिए राज-

नैतिक दृष्टि से उचित था। क्योंकि गोहद की हार के बाद मराठों का आक्रमण जवाहरसिंह पर होना निश्चित था। जवाहरसिंह और गोहद के जाटराजा के विरुद्ध रघुनाथराव की नई सेना और मल्हारराव की बची सेना ने मोर्चा लेने की सोची। रघुनाथराव ने गोहद का घेरा डालकर जवाहरसिंह से बकाया राशि की मांग आरम्भ कर दी। जवाहरसिंह मराठों के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने ही वाला था कि मराठों ने उसके सहायक अनूपगिरि गोसांई और उमरावगिरि गोसांई को जाटों से फोड़कर अपनी ओर मिला लिया। अनूपगिरि और उमरावगिरि ने मराठों को यह आश्वासन दे दिया कि वे जवाहरसिंह को कैदी बनाकर मराठों को सौंप देंगे। महाराजा जवाहरसिंह के जासूसों ने समय रहते यह सूचना महाराजा को दे दी। जवाहरसिंह इस सूचना को प्राप्त करके प्रतिशोध की भावना से जल उठा और उसने सूचना–प्राप्ति की आधी रात को ही गोसांइयों के पड़ाव पर आक्रमण कर दिया। अनूपगिरि और उमरावगिरि तो जैसे-तैसे भागने में सफल होगए, परन्तु उनके परिवारों को बन्दी बना लिया गया। इस आक्रमण में एक हजार सौ घोड़े, साठ हाथी और सौ के लगभग तोपें जवाहरसिंह के हाथ लगीं।

मराठों से सन्धि

इसी समय अब्दाली पंजाब में कुछ आगे बढ़ आया था। जवाहरसिंह और मराठा दोनों ही अब्दाली को भारत से बाहर खदेड़ने में अपना भला समझते थे, क्योंकि अब्दाली दोनों ही के लिए समान शत्रु था। अनूप गोसांई और उमराव गोसांई की मित्र-द्रोही गतिविधियों से परेशान होकर जवाहरसिंह अपने राज्य को वापिस लौट आया और रूपराम के भतीजे को मराठों के साथ सन्धि करने के लिए भेज दिया। इस सन्धि के अनुसार जो मराठा कैदी भरतपुर में थे, उन्हें छोड़ दिया गया और जवाहरसिंह ने मराठों को पुराना बकाया पन्द्रह लाख रुपया देना स्वीकार कर लिया। मराठों ने महाराजा जवाहरसिंह के राज्य से लगता छोटा–सा राजपूती-क्षेत्र उनके पक्ष में छोड़ दिया।

यद्यपि यह सन्धि होगई थी, तथापि दोनों पक्ष इसकी प्रतिबद्धता के लिए इतने चिन्तित नहीं थे। वे इस सन्धि को किसी भी अधिक

उपलब्धि के लिए बड़ी सरलता से तोड़ सकते थे। अब्दाली का भारत में डटकर मुकाबला हुआ। पंजाब के सिक्ख सैनिकों ने अब्दाली को भारत से बाहर खदेड़ दिया। इस स्थिति में मराठों के साथ जवाहर-सिंह की सन्धि का कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहा और उसने ग्वालियर के उत्तर पूर्व में स्थित अटेर पर आक्रमण कर दिया। अटेर के आक्रमण से जवाहरसिंह को मालुम होगया कि मराठा-शक्ति ढ़ीली पड़ी हुई है अतः उसने अपने आक्रमण को कालपी तक बढ़ा दिया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी से ताल-मेल

इसी समय बंगाल में ब्रिटिश साम्राज्य की ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उत्तरी भारत की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। बंगाल सरकार शीघ्र ही यह समझ गई कि भारत (उत्तरी) में भरतपुर का जाटराजा चतुर प्रशासक और शक्तिशाली सेना का स्वामी है। उसे बड़ी सरलता से अपना मित्र बनाया जा सकता है। क्योंकि अब्दाली और मराठों की इच्छाओं को कुचलने का उद्देश्य दोनों का समान है। इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर बंगाल के गवर्नर ने जवाहरसिंह को लिखा कि वह अंग्रेजों के शत्रु समरू को अपनी सेना से निकाल दे। परन्तु जाटराजा ने लिखा कि वह अंग्रेजों से किसी भी प्रकार की शत्रुता नहीं रखता। उसने तो समरू को इसलिए अपनी सेना में रखा हुआ है कि जिससे उसकी पैदल सेना आधुनिक प्रकार से तैयार की जा सके। अंग्रेजों ने इस उत्तर को बुरा माना। जवाहरसिंह ने ऐसा उत्तर जान बूझकर दिया था। जवाहरसिंह ने इस नाराजगी की कोई परवाह नहीं की क्योंकि उस समय उसके राज्य पर किसी भी प्रकार के बाह्य आक्रमण की सम्भावना नहीं थी। अतः अंग्रेजों का प्रथम प्रयास असफल रहा। सन् 1767 में दुर्रानी ने पंजाब पर इस दृष्टि से आक्रमण किया कि वह सिक्खों को पंजाब से उखाड़ देगा और फिर बंगाल में मीर कासिम को गद्दी पर बैठाएगा। अब्दाली के इस आक्रमण ने बंगाल की सरकार को विशेष रूप से परेशान किया। अतः बंगाल सरकार ने जवाहरसिंह के साथ पुनः एक बार मित्रता का हाथ बढ़ाया। इस समय स्वयं जाटराजा भी मित्रता का इच्छुक था, क्योंकि अब्दाली और मराठा दोनों ही से उसे इस समय सामना करना था। अंग्रेजों की ईमानदारी को देखकर जवाहरसिंह उनसे

रक्षात्मक और आक्रमणात्मक दोनों ही प्रकार की सन्धि करने की सोचता रहा। अतः उसने प्रतिनिधि श्रीकिशन के हाथ रजा खां को एक पत्र भेजा कि वह बंगाल की ब्रिटिश सरकार से बातचीत करके मित्रता कराए, जिससे अब्दाली के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त की जा सके। जवाहरसिंह ने अपने पत्र में एक कूटनीतिज्ञ की भांति अंग्रेजों की इस इच्छा को कि "शाह आलम को दिल्ली का बादशाह बना दिया जाए" प्रकट तो किया, "किन्तु साथ में अपनी इच्छा को भी लगा दिया कि रणथम्भौर का किला उसके हाथ में होना चाहिए।"

इस पत्र के उत्तर में गवर्नर ने जवाहरसिंह को लिखा कि मैं बनारस जारहा हूं, अतः अपने दूत को वहां भेजें। जवाहरसिंह ने डोन पेड्रो डी सेल्वा को बनारस भेज दिया और इसी बीच अब्दाली को जैसे-तैसे टालता रहा। अन्त में अंग्रेजों से सन्धि हो ही गई। अब्दाली के भारत से बाहर जाने पर दक्षिण में इंगलिश सरकार और हैदरअली के मध्य लड़ाई छिड़ गई। इस लड़ाई का लाभ उठाते हुए मराठों ने पुनः भारत (उत्तरी) पर अपना अधिकार जमाने की कोशिश की। परन्तु अंग्रेज और जाटराजा की सम्मिलित सेना के भय से वे ऐसा करने में असमर्थ रहे। मारवाड़ के महाराजा विजयसिंह के एक दरबारी ने गोवर्धन की यात्राप्रसंग में महाराजा जवाहरसिंह के पराक्रम और शौर्य के विषय में बहुत कुछ सुना था। वह जाटराज्य की समृद्धि को देखकर चकित रह गया। उसने यात्रा से लौटने पर अपने महाराजा को परामर्श दिया कि वह महाराजा जवाहरसिंह से मित्रता स्थापित करने का प्रयास करे। महाराजा विजयसिंह ने उसकी सलाह का आदर करते हुए अपने वकील पंचोली प्रसादीराम को जवाहरसिंह के पास मित्रता का प्रस्ताव लेकर भेजा। जाटराजा ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

पुष्कर स्नान और मांड की लड़ाई

महाराजा जवाहरसिंह अपनी शक्ति और विजयों के कारण उन्नति की चरमसीमा पर पहुंचता जारहा था। उसे यहां तक अभिमान होगया था कि वह अपनी सेना और धन के बल से अपने पड़ौसी राज्यों को जब चाहे तब विजय कर सकता है और यही अभिमान उसे अन्त में ले डूबा। जयपुर और भरतपुर के राज्यों की सीमाएं

परस्पर मिलती थीं, जो कि पारस्परिक शत्रुता के लिए काफी थी। कौटिल्य के मण्डल-सिद्धान्त के अनुसार अपनी सीमा से मिलता पड़ौसी राज्य सदा शत्रु बना रहता है। अतः जयपुर का राजा माधोसिंह यह नहीं चाहता था कि उसका पड़ौसी जाटराज्य इतना शक्तिशाली बन जाए कि उसके लिए खतरा पैदा कर दे। यह भी सत्य है कि भरतपुर राज्य कभी जयपुर के राजाओं की सहायता का अपेक्षी था परन्तु महाराजा सूरजमल के समय में एक शक्ति बनकर जयपुर की राजगद्दी के लिए उठनेवाले ईश्वरीसिंह और माधोसिंह के झगड़े में ईश्वरीसिंह का साथ दे चुका था। अतः मधोसिंह तो जाटराजा से इस कारण पहले से ही नाराज था। जवाहरसिंह ने महाराजा माधोसिंह के दशहरा दरबार में न जाकर सम्बन्धों को और भी कटु बना लिया था। महाराजा जवाहरसिंह अपने आपको जयपुर के राजघराने के वंश और जाति की तुलना में किसी भी प्रकार कम नहीं समझता था। यह कहा जाता है कि किसी व्यक्ति ने जवाहरसिंह को सुझाया कि वह माधोसिंह के प्रति सम्मान प्रकट करे, क्योंकि वह क्षत्रियों की उस परम्परा में से है जिसमें राम उत्पन्न हुए थे और समुद्र पर पुल बांधा था। यह सुनकर जवाहरसिंह ने कहा कि हम कौन–से कम हैं? हमारे वंशज श्रीकृष्ण ने अपनी सबसे छोटी उंगली पर सात दिन तक गोवर्धन पर्वत को उठाए रखा। महाराजा जवाहरसिंह ने जयपुर घराने के समान ही "सवाई महाराज भारतेन्दु" की उपाधि धारण करली थी। यह बात भी माधोसिंह को सह्य नहीं थी।

इसके अतिरिक्त फादर वैण्डल के कथनानुसार "कामा" नाम का एक छोटा-सा भू-भाग जो कि डीघ से पन्दरह मील की दूरी पर था, भरतपुर और जयपुर के झगड़ों का कारण था। इन्हीं दिनों माधोसिंह और अलवर के महाराजा प्रतापसिंह के मध्य कुछ झगड़ा होगया। झगड़े से डरकर प्रतापसिंह ने जवाहरसिंह के राज्य में शरण ले ली। अतः माधोसिंह जवाहरसिंह से खार खाने लगा। इधर जवाहरसिंह भी माधोसिंह को शत्रुता की दृष्टि से देखता था, क्योंकि माधोसिंह ने भरतपुर की राज-गद्दी के आपसी झगड़े में भाग लेनेवाले नाहरसिंह को शरण दी थी। नाहरसिंह की मृत्यु पर जवाहरसिंह ने उसकी पत्नी तथा बच्चों को वापिस देने की मांग की। परन्तु ऐसा न हो सका और

नाहरसिंह की पत्नी ने विष खाकर आत्महत्या कर ली।

इस प्रकार दोनों एक–दूसरे से वैरभाव रखते थे और किसी उचित समय में एक दूसरे को युद्ध द्वारा नीचा दिखाने के प्रयत्न की प्रतीक्षा में थे। भाग्य ने वह समय किसी न किसी रूप में उपस्थित कर ही दिया। लोक–मान्यता के अनुसार महारानी किशोरी ने अपने पुत्र (दत्तक) जवाहरसिंह के सामने पुष्कर–स्नान की इच्छा प्रकट की। पुत्र के नाते माता की इच्छा-पूर्ति करना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। अतः उसने निश्चय किया कि वह बड़ी शान–शौकत से पुष्कर-स्नान के लिए रवाना होगा । पुष्कर–स्नान के पीछे जवाहरसिंह की जहां माता को स्नान कराने की अभिलाषा थी, वहां अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना तथा मारवाड़ के राजा से मिलकर भावी योजना भी बनाना था। मारवाड़ का राठौर राजा पहले ही जवाहरसिंह का पगड़ी बदल मित्र बन चुका था। राजा जवाहरसिंह झण्डे फहराता तथा नगाड़े बजाता सेना की बड़ी सज–धज के साथ जयपुर राज्य की सीमा को रोंधता पुष्कर-स्नान के लिए चल पड़ा। पुष्कर पहुंचकर जवाहरसिंह और विजयसिंह में मराठों के आक्रमण के विषय में वार्तालाप हुआ और विजयसिंह ने माधोसिंह को भी इसमें सम्मिलित होने का निमन्त्रण भेजा । परन्तु माधोसिंह ने निमन्त्रण को ठुकरा दिया और जवाहरसिंह के विषय में अपमानजनक शब्द कहे।

पुष्कर-स्नान से वापिस आते समय विजयसिंह साम्भर तक जवाहरसिंह के साथ आया और आगे के मार्ग के लिए जवाहरसिंह को अकेला ही जाने के लिए कहा। क्योंकि वह माधोसिंह से यह वचन ले चुका था कि वह जवाहरसिंह पर आक्रमण नहीं करेगा। परन्तु माधोसिंह ने अपना वायदा तोड़ दिया। उसकी सेना जवाहरसिंह के वापिस आने के मार्ग पर आक्रमण की प्रतीक्षा में बैठ गई। जवाहरसिंह की शक्तिशाली सेना के साथ राजपूत मैदान में नहीं लड़ना चाहते थे। जवाहरसिंह ने अपनी सेना का मार्ग बदल दिया और उसकी सेना तोरावाटी क्षेत्र की पहाड़ियों के मध्य से चलने लगी। इसी समय जवाहरसिंह की शरण में रहनेवाले प्रतापसिंह ने जवाहरसिंह को दगा दे दिया और वह जयपुर की सेना के साथ जा मिला। जब जाट सेना संकुचित मार्ग से जारही थी तो राजपूत सेना ने आक्रमण कर

दिया और 14 दिसम्बर सन् 1767 में मांड नामक स्थान पर दोनों सेनाओं में डटकर लड़ाई हुई। इस लड़ाई की विशेषता यह रही कि दोनों पक्षों ने इसे अपनी-अपनी जीत समझा। इसमें दोनों ओर के लगभग पांच-पांच हजार सैनिक मारे गए। इस युद्ध में जवाहरसिंह ने अपूर्व शौर्य का परिचय दिया।

मांड की लड़ाई के उपरान्त महाराजा जवाहरसिंह की शक्ति श्रौर समृद्धि में एक धक्का लगा। उसे मित्रों ने छोड़ना और शत्रुओं ने आक्रमण करना श्रारम्भ कर दिया। हर दिशा और प्रदेश से यही स्वर सुनाई देने लगा कि "अब समय है जवाहरसिंह को दबोचने का।" इसका परिणाम यह हुआ कि चम्बल के परे का भाग उसके विरोध में खड़ा होगया श्रौर यह प्रदेश जितनी सरलता से जीता था, उतनी ही सरलता से खोया गया। महाराजा माधोसिंह ने साठ हजार सैनिकों के साथ जाट-राज्य की सीमा में प्रवेश करके लूट-पाट मचानी आरम्भ कर दी। राजपूत राजा मधोसिंह ने शाह आलम द्वितोय को लिखा कि वह कुमुक भेजकर भरतपुर पर आक्रमण में उसकी सहायता करे। उसको यहां तक लालच दिया कि आगरा की गद्दी तुम्हारी होगी। जब शाह आलम से कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिला, तो माधोसिंह अपने राज्य को वापिस चला गाया।

इस स्थिति में प्रत्येक समझदार व्यक्ति ने जवाहरसिंह को सलाह दी कि वह राजपूतों से समझौता कर ले। परन्तु "जाट जाट होता है, वह टूट सकता है परन्तु झुक नहीं सकता।" जवाहरसिंह के विषय में यह बात पूरी सिद्ध हुई और उसने राजपूत राजा से किसो भी प्रकार का समझौता करना अपना अपमान समझा। ऐसे आड़े समय में उसने कूटनीति से काम लिया और सिखों को सात लाख रुपया देकर इस बात पर मना लिया कि वे भरतपुर की राज्य-सीमा में किसी भी प्रकार का उत्पात नहीं मचाएंगे और उसके पक्ष में बीस हजार सैनिक भर्ती करेंगे। इस प्रकार हर प्रकार से युद्ध की तैयारी करके जवाहरसिंह पुरानी हारों का बदला लेने को तैयार होरहा था। इसी समय नवाब शुजा-उद्-दौला ने जवाहरसिंह को कुचलने का एक षड्यन्त्र रचा। उसने बादशाह को सुझाया कि सिख सरदारों को जितना रुपया जाटराजा ने दिया है, उतना रुपया देकर जवाहर

सिंह की सहायता करने से विमुख कर दिया जाए। दूसरे शाही दरबार से एक राजकुमार रुहेलों के पास जाए कि उनसे मिलकर वे यमुना के बांए क्षेत्र और रुहेलों की सीमा से लगते क्षेत्र पर आक्रमण कर दें। इस प्रकार कब्जे में किया गया क्षेत्र उन्हीं की जागीर होगी। परन्तु इस संकट की घड़ी में बंगाल की सरकार ने मित्रता के आधार पर जवाहरसिंह का बचाव किया। अंग्रेजों की अवहेलना करके बादशाह और शुजा-उद्-दौला जाटों पर आक्रमण करने से घबरा गए।

युद्धों में सम्भावित परिणाम न मिलने पर भी जवाहरसिंह के स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आया। वह तो युद्ध–प्रिय व्यक्ति था, एक मोर्चे से हटा तो दूसरा तैयार होगया। राजपूतों से पीछा छूटा तो स्वयं अन्य मोर्चा तैयार कर लिया। जाटराजा ने समीप के एक राजपूत पर आक्रमण करने के लिए मैडेक को भेजा। परन्तु जब मैडेक को सफलता नहीं मिली तो जवाहरसिंह स्वयं मोर्चा सम्भालने आ गया। परन्तु भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया।

जवाहरसिंह की मृत्यु के सम्बन्ध में यह धारणा प्रचलित है कि राजा माधोसिंह की प्रेरणा से एक सिपाही ने उनको जान से मार डाला। फोर्ट विलियम इण्डिया हाउस के कागजात से भी इसकी पुष्टि होती है। परन्तु फिर भी इतिहासकार इस घटना की सत्यता पर सन्देह प्रकट करते हैं। ज्वालासहाय ने इनकी मृत्यु के विषय में लिखा है कि एक सिपाही ने जिसे जवाहरसिंह ने ऊँचे सैनिक-पद पर बैठा दिया था, इनकी हत्या कर दी। एक हुक्के की चोरी में राजा ने उसका अपमान किया था, अतः उसने राजा की हत्या करके अपमान का बदला लिया। फ्रेंच जनरल रेने मैडेक के कथनानुसार जो उस समय महाराजा जवाहरसिंह की सेना में था, महाराजा जवाहरसिंह की हत्या एक सैनिक ने उस समय की जबकि वह अपने गिने-चुने सिपाहियों के साथ एक बगीचे में हाथियों की लड़ाई देख रहा था। कारण चाहे कुछ भी हो जवाहरसिंह युद्ध में न मरकर किसी द्वारा मारा गया था। इसके अतिरिक्त 'ब्रजेन्द्र वंश भास्कर' नामक पुस्तक में लिखा है कि जवाहरसिंह को मारनेवाले का नाम सुजात मेव था।

जवाहरसिंह का मूल्यांकन करते समय यह कहना पड़ेगा कि वह जिद्दी स्वभाव का महाराजा था। उसने भरतपुर की राज-गद्दी पर बैठने से पूर्व अनेक लड़ाइयों में अपना कौशल दिखाया था। सूरजमल की यह धारणा थी कि जवाहरसिंह घर के नाश का कारण बनेगा। अतः वह यह चाहता था कि भरतपुर के राज्य से बाहर हरियाणा में उसके लिए एक अलग राज्य स्थापित कर दिया जाए। युद्ध की नीतियों के सम्बन्ध में जो 'मित्र-संघ' उसके पिता के काल से बनना आरम्भ हुआ था, वह और भी अधिक सुदृढ़ होता रहा। सैनिक प्रशिक्षण की दृष्टि से जवाहरसिंह ने यूरोपीय सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति करके अपनी सेना का आधुनिकीकरण किया था। फादर वैण्डल के शब्दों में "वह यह नहीं जानता था कि अपने सौभाग्य का फल कैसे भोगा जाए। उसने अपने भाग्य में स्वयं अड़चनें उत्पन्न कीं।" सूरजमल मरते समय भरतपुर के विस्तृत साम्राज्य को छोड़ गया था। अतः जवाहरसिंह के सामने इस विस्तृत राज्य की सुरक्षा का ही प्रश्न नहीं था, अपितु नई विजयों का भी उद्देश्य था। परन्तु अपनी नई विजयों में महाराजा जवाहरसिंह को स्थायी उपलब्धियां नहीं मिलीं। सूरजमल की तुलना में जवाहरसिंह में धार्मिक सहिष्णुता कम थी। इसने आगरा की मस्जिद में अनाज मण्डी खुलवा दी थी। यद्यपि यह सत्य है कि जवाहरसिंह ने जाट-राज्य को एक केन्द्रीय सत्ता बना दिया था, किन्तु उसने वैतनिक विदेशी सैनिकों की भर्ती करके राज्य के पुराने सैनिक सेवकों को सेना की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी का बनाकर उनके देशाभिमान को ठेस पहुंचाई थी।

राजा रतनसिंह (1768)

मई सन् 1768 में राजा जवाहरसिंह की मृत्यु के उपरान्त उसका छोटा भाई रतनसिंह भरतपुर की गद्दी पर बैठा। रतनसिंह में अपने पूर्वजों जैसी प्रतिभा नहीं थी। उसने भरतपुर के पुराने राजाओं की मान-मर्यादा को छोड़कर विलासिता का जीवन बिताना आरम्भ किया। कहा जाता है चार हजार नर्तकियां उसे घेरे रहती थीं। उसने कृष्ण की रासलीला को वास्तविक रूप प्रदान करने के लिए इन नर्तकियों के साथ वृन्दावन की यात्रा की और यमुना के तट पर उनके साथ रंगरलियां मनाईं। मैडेक के अनुसार राजा रतनसिंह को

जादूगरों तथा रासायनिकों की करामात देखने में बड़ी रुचि थी। वह वृन्दावन जाते समय अपने साथ रूपानन्द गोसांई को भी ले गया था। गोसांई ने बहुत समय से राजा को यह कह रखा था कि वह सोना बनाने की रासायनिक क्रिया को जानता है। वृन्दावन में राजा रतनसिंह ने उससे कहा कि वह सोना बनाकर दिखाए, अन्यथा उसे मार दिया जाएगा। रूपानन्द गोसांई ने कहा कि वह मध्यरात्रि में एकान्त में राजा को सोना बनाकर दिखाएगा। राजा रतनसिंह इतना अल्पमति था कि उसके बहकावे में आगया और एकान्त में गोसांई रूपानन्द ने उसे मार दिया। मरते समय रतनसिंह ने अपने सरदारों को बुलाया और अपने अवयस्क पुत्र केहरीसिंह को उत्तराधिकारी घोषित किया।

केहरीसिंह और नवलसिंह (1769–75)

आन्तरिक कलह

राजा रतनसिंह की अकस्मात् मृत्यु के उपरान्त राज्य के मुखियों की एक बैठक डीघ में हुई, जिसमें दानशाही नामक व्यक्ति को केहरीसिंह का शासन सहायक बनाया गया। परन्तु जब नवलसिंह और रणजीतसिंह को इस बात का पता चला तो उन्होंने मुखियों को यह कहकर भड़का दिया कि दानशाही राज-वंश का व्यक्ति नहीं है अतः उसे शासन सहायक होने का हक नहीं है। इसके साथ रानी किशोरी भी यह नहीं चाहती थी कि दानशाही केहरीसिंह के शासन सहायक के रूप में कार्य करे। नवलसिंह और रणजीतसिंह रतनसिंह के सौतेले भाई थे। दोनों ही की इच्छा थी कि दानशाही के स्थान पर उन्हें शासन–सहायक नियुक्त किया जाए। अतः उन्होंने प्रचार करना आरम्भ कर दिया कि दानशाही किसी न किसी बहाने भरतपुर की गद्दी को हड़पना चाहता है। दोनों भाइयों की चाल सफल हुई और दानशाही को सहायक के रूप से हटा दिया गया। लेकिन अब दोनों भाइयों में शक्ति लेने के लिए मनमुटाव होगया। महारानी किशोरी देवी को जब इस बात का पता चला कि उसके पति द्वारा स्थापित विशाल राज्य को आपसी कलह के कारण नष्ट किया जा रहा है, तो उसने दोनों भाइयों में समझौता कराने का प्रयास किया। परन्तु नवलसिंह यह भलीभांति जानता था कि रानी किशोरी रणजीतसिंह

को अधिक योग्य समझती है और बड़ा होने पर भी योग्यता के सामने तेरा हक ढीला पड़ जाएगा। अतः उसने रानी किशोरी की बातें मानने से इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि नवलसिंह ने राज्य के मुखियों को अपने पक्ष में करना आरम्भ कर दिया और वह नाम से तो शासन सहायक बना रहा और वास्तव में उसने सारा प्रबन्ध अपने हाथ में ही ले लिया। इस परिस्थिति में रणजीतसिंह भी चुप-चाप बैठनेवाला नहीं था।

रणजीतसिंह ने सिक्खों से गांठ-सांठ करके अपने भाई नवलसिंह पर आक्रमण कर दिया। मैडेक जो कि नवलसिंह का सहायक था, उसने कुम्भेर के किले में रणजीतसिंह को घेर लिया। इसी बीच सिखों की सत्तर हजार सेना रणजीतसिंह की सहायता के लिए आ गई। मैडेक की सहायता से नवलसिंह ने सिक्खों को करारी हार दी। परन्तु दुबारा सिक्ख बड़ी भारी तैयारी के साथ लड़ने के लिए आगए। इसी समय मराठों के आक्रमण की सूचना भी मिलने लगी। अतः नवलसिंह ने सिक्खों से समझौता कर लिया और उन्हें रुपये देकर भेज दिया। सिक्ख भी रुपए लेकर द्रोही रणजीतसिंह को अपने भाग्य पर छोड़कर चल दिए।

सन् 1769 के अन्त में तुकोजी होल्कर और महदजी सिन्धिया आदि एक बार फिर (उत्तरी) भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए एक बड़ी सेना के साथ चल पड़े। इन्होंने नर्वदा को पार करके जाटराजा (गोहद) के राज्य में लूट–मार करनी आरम्भ करदी। जब नवलसिंह और रणजीतसिंह तलवार के द्वारा शासन–सहायक के पद के लिए अपने–अपने भाग्य को आजमाने में लगे हुए थे तो मराठा इस घरेलू झगड़े को करोली के स्थान पर ठहरकर अच्छी प्रकार देखने में लगे हुए थे। जब नवलसिंह ने रणजीतसिंह को हरा दिया और सिखों को प्रसन्न करके लौटा दिया, ठीक इसी समय मराठा जाटराज्य की सीमा में प्रविष्ट हुए। क्योंकि रणजीतसिंह ने उन्हें अपनी सहायता के लिए बुलाया था। मार्च सन् 1970 को मराठा सैनिक कुम्भेर के किले के पास पहुंच गए और उन्होंने जाटों के गावों को लूटा और रणजीतसिंह के नाम पर अधिकारी नियुक्त किए। मराठों ने नजीब को भी निमन्त्रण दिया कि वह भी जाटों को नष्ट

करने में उनका सहयोग दे। जो नजीव महाराजा जवाहरसिंह के भय से नजीबाबाद की ओर भाग गया था, उसने भी इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया और एक शक्तिशाली सेना लेकर दोआब में सिकन्दराबाद तक आगया।

सौंख की लड़ाई

मराठा सैनिक जाटसेना के साथ खुले मैदान में नहीं लड़ना चाहते थे। अतः उन्होंने कुम्भेर के किले की शरण लेकर लड़ना उचित समझा। जाटों ने उन्हें चुनौती दी कि लड़ना है तो किले की दीवार की आड़ का सहारा छोड़कर मैदान में आओ। इस समय जाटों को सूचना मिली कि तुकोजी होल्कर नजीब से मिलने के लिए दोआब की ओर चल पड़ा है। राजा नवलसिंह इस सूचना को पाते ही 6 अप्रैल सन् 1770 को डीघ के किले से निकलकर बड़ी भारी सेना के साथ मराठों का पीछा करने के लिए गोवर्धन की ओर चल पड़ा। नवलसिंह की सेना और मराठों की सेना सौंख नामक स्थान के पास एक दूसरे के बहुत समीप आगई। नवलसिंह अभी लड़ाई नहीं करना चाहता था। परन्तु दानशाही और बालानन्द गोसांई की प्रेरणा से उसे लड़ाई करनी पडी, जबकि समरू और मैडेक भी इस समय लड़ाई छेड़ने के पक्ष में नहीं थे। जमकर लड़ाई हुई परन्तु हार को सहन न करने के कारण नवलसिंह दिल और दिमाग का सन्तुलन खो बैठा। उसने "कहीं मैं पहचान न लिया जाऊँ" के भय से अपने शाही वस्त्र उतार दिए और गोवर्धन के किले में जाकर शरण ले ली। परन्तु अभी तक हार और जीत बीच में ही लटक रही थी। अतः सैनिक सरदार नवलसिंह के पास एक और कहा कि आप एक बार चलकर सेना को दर्शन दे दें तो लड़ाई का रुख ही बदल सकता है, परन्तु भीरू राजा ने उनकी बात नहीं मानी। जाट सैनिकों ने बड़ी बहादुरी से यह लड़ाई लड़ी परन्तु अन्त में उनकी बुरी तरह हार हुई। सौंख की इस लड़ाई में जाटसेना के सबसे अधिक सैनिक मारे गए और नवलसिंह ने भागकर फिर डीघ में शरण ली। महारानी किशोरी इस दृश्य को देखकर और मराठों पर किए गए उपकार को याद करके रोने लगी। ये वही मराठे थे, जिन्हें पानीपत की लड़ाई में बुरी तरह हार खानी पड़ी थी और शरण के लिए भरतपुर आए थे।

आज वही मराठे उस सेवा का बदला भरतपुर राज्य को नष्ट करके चुका रहे थे ।

जाटों का पतन

नजीब और मराठों की सम्मिलित सेना ने अब जाट-राज्य को एक निश्चित योजना के अनुसारि जीतना आरम्भ कर दिया । मराठों ने मथुरा में अपना पड़ाव डाला और नजीब ने सिकन्दराबाद को जीतकर अलीगढ़ पर अपना अधिकार जमा लिया । जाट-राज्य की और भी दुर्गति होती कि इसी समय मराठा सरदारों में जीत को लेकर मनमुटाव होगया । तुकोजी होल्कर यह चाहता था कि नजीब के साथ मिलकर मराठों को योजना बनानी चाहिए, परन्तु महदजी सिन्धिया नजीब पर विश्वास करने के लिए किसी भी प्रकार तैयार नहीं था । नवलसिंह ने इस परिस्थिति का लाभ उठाया और सन्धि-प्रस्ताव के लिए अपना प्रतिनिधि मराठों के पास भेज दिया । 8 सितम्बर सन् 1770 में समझौता होगया । इस समझौते के अनुसार नवलसिंह ने पैंसठ लाख रुपये मराठों को और बीस लाख रुपए वार्षिक आयवाली एक जागीर और कुम्भेर का किला रणजीतसिंह को देना स्वीकार किया ।

इस प्रकार टूटी-फूटी रियासत, निराश और थकी-हारी सेना तथा दलों में बंटे जाट सरदार बस यही तो हाथ लगा नवलसिंह के । इस पारस्परिक गृह-कलह ने जाटों के चमकते सितारे को खुद ही अपने हाथों से तोड़ डाला । नवलसिंह ने जहां युद्धक्षेत्र से भागकर जाटों के शौर्य को कलंक लगाया, वहां रणजीतसिंह ने गृह-कलह का बीज बोकर जाटों को टुकड़ों में विभाजित करवा दिया । दिल्ली के स्वामी बनने के इच्छुक जाट अब अपने ही घर में परायों के हाथों द्वारा राज्य प्राप्त कर रहे थे ।

इसी समय सन् 1771-72 में शाह आलम द्वितीय दिल्ली नगर में पुनः प्रतिष्ठित हुआ । हरियाणा, दोआब और मेवात के मुस्लिम व जागीरदारों को आशा बंधी कि वे सूरजमल द्वारा छीनी गई अपनी जागीरों को बादशाह की सहायता से प्राप्त कर सकेंगे । उनकी आशा की पूर्ति के लिए नफज खां जाटों को कुचलने के लिए बड़ी भारी सेना को तैयार करने में लगा हुआ था । जाटों के लिए इस समय एक

बड़ा भारी दुर्भाग्य यह रहा कि उनका जाना-माना और प्रत्येक युद्ध में प्राणों की बाजी लगाकर लड़नेवाला सैनिक सरदार मैडेक उन्हें धोखा दे गया और शाह आलम द्वितीय के साथ जा मिला। इस समय नजफ खां के दो ही दुश्मन थे एक जावित खां और दूसरे जाट। जाटों के प्रदेश हरियाणा और दोआब पर नजफ के आक्रमण चल रहे थे तो इधर मराठों ने भी जाट-राज्य पर आक्रमण कर दिया। परन्तु नवल-सिंह के सौभाग्य से शाह आलम द्वितीय और मराठों में किसी बात पर अन-बन होगई। ऐसी स्थिति में मराठों ने जाट और शाह आलम द्वितीय दोनों शक्तियों से एक साथ लड़ना उचित नहीं समझा। अतः मराठों ने नवलसिंह से समझौते की बातचीत आरम्भ करदी। नवल-सिंह ने इस मौके का लाभ उठाया, क्योंकि उसकी दृष्टि में शाह आलम द्वितीय जाटों की सहायता न करके उन्हें उखाड़ने में ही अपनी रुचि रखता था। तभी तो उसने सहायता के लिए प्रार्थना करने (नवलसिंह ने पहले मैड़ेक को दूत के रूप में शाह आलम के पास सहायता के लिए भेजा था) पर भी मराठों को जाट-राज्य में लूट मचाने से नहीं रोका था। इसके अतिरिक्त नवलसिंह मराठों का झुकाव भी अपने राज्य की ओर से हटाकर दिल्ली की ओर करना चाहता था, जिससे उसका राज्य लूट-पाट से बचा रहे। इसके अतिरिक्त नजफ खां का नाश करना भी उसका उद्देश्य था, अतः उसने मराठों के साथ समझौता कर लिया। अपने पूर्वजों की भांति दिल्ली पर अधिकार करना इस समझौते का लक्ष्य नहीं था।

नवम्बर सन् 1772 के अन्त में जाट, मराठा और जाबित खां तीनों की सम्मिलित सेनाओं ने दिल्ली पर धावा बोल दिया। 28 दिसम्बर सन् 1772 को डटकर लड़ाई हुई। तीनों सेनाओं से दिल्ली को चारों तरफ से घेर लिया। मिर्जा नजफ खां इनका मुकाबला नहीं कर सका और वह दिल्ली छोड़कर भाग गया। इस लड़ाई में नवलसिंह को यह लाभ हुआ कि उसने अपने खोये हुए प्रदेशों को फिर जीत लिया।

किन्तु थोड़े समय के पश्चात् नजफ खां और जाबित खां में समझौता होगया और मराठों को पेशवा की मृत्यु के कारण आन्तरिक झगड़ों से सुलझने के लिए दक्षिण जाना पड़ा। केवल अब जाट ही

ऐसे रह गये थे, जिनसे कोई समझौता नहीं हो सका था। सन् 1773 में नजफ खां ने जाटों पर आक्रमण करने की तैयारी की। इसमें कुछ जाट–विद्रोहियों और रणजीतसिंह के सरदारों ने उसका साथ दिया।

नजफ खां की सैनिक तैयारियां सुनकर नवलसिंह ने बादशाही सेना का विरोध करने के लिए सिक्खों से बातचीत करनी आरम्भ कर दी। उसने बादशाही सेना से लड़ाई के लिए तीन विभिन्न योजनाएं बनाईं। उसकी सेना का एक भाग दिल्ली के दक्षिण में फरुखनगर में नियुक्त होकर आक्रमण करेगा। सेना का दूसरा भाग अलीगढ़ से दोआब पर आक्रमण करेगा और मुख्य सेना बल्लभगढ़ की दिशा से दिल्ली पर झपटेगी। मिर्जा नजफ खां ने भी बदरपुर में अपना पड़ाव डालकर बल्लभगढ़ से दिल्ली जाने के मार्ग को रोक लिया। जाट सेना ने मैदानगढ़ी से बादशाही सेना के साथ लड़ने का निश्चय किया। इस छोटी-सी लड़ाई में मैदानगढ़ी को छोड़कर पीछे हटना पड़ा। यह हार ही मानो भरतपुर के राज्य पर उल्कापात के समान थी। यहीं से भरतपुर राज्य का अशुभ आरम्भ हुआ।

धनकौर की लड़ाई

इस हार से नवलसिंह बौखला उठा और उसने अपने साले धनसहाय के नेतृत्व में बड़ी भारी सेना दुर्जनसिंह और चन्दू गूजर की सहायता के लिए भेजी, जो कि नवलसिंह के गवर्नर के रूप में क्रमशः अतरौली और अलीगढ़ का शासन सम्भाले हुए थे। इन सब ने मिलकर दोआब को रौंद डाला, सिकन्दराबाद और गाजियाबाद के परगने नष्ट-भ्रष्ट कर डाले और बादशाही सत्ता को हिला दिया। दूसरी ओर फरुखनगर से शंकर जाट के नेतृत्व में आक्रमण आरम्भ किया गया और उसने गढ़ी हरसरू को जीत लिया। दोआब में जाटों की विजय को सुनकर नजफ खां ने नियाज बेग खां और ताज मोहम्मद खां बिलोच के नेतृत्व में एक बड़ी भारी सेना जाटों को कुचलने के लिए भेजी। दोनों सेनाओं के मध्य धनकौर के स्थान पर 15 सितम्बर सन् 1773 में जमकर लड़ाई हुई। चन्दू गूजर बड़ी बहादुरी से लड़ा परन्तु उसकी हार हुई। इसके बाद धनसहाय ने मोर्चा सम्भाला और सेना का उत्साह बढ़ाया। परन्तु भाग्य तो जाटों के विरुद्ध था अतः

वह भी मारा गया। इस युद्ध में जाटों को अपने अनेक सुयोग्य सेना-नायकों से हाथ धोना पड़ा। इस युद्ध के लगभग पन्दरह दिन के उपरान्त नजफ खां को सूचना मिली कि जाट फरुखनगर से गढ़ी हरसरु पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे हैं। इस मोर्चे को सम्भालने के लिए उसने अपने सेनानायक नजफ कुली खां को भेजा। इधर दोआब में जाटसेना की हार को सुनकर नवलसिंह निराश हो गया और वह अपने पड़ाव फतेहपुर विलोच से पलवल आगया और वहां से होड़ल को चल दिया। गढ़ी हरसरू जाटों के हाथ से चली गई। अब बल्लभगढ़ की बारी आई।

बल्लभगढ़ का पतन

बल्लभगढ़ पहले किसनदास और बिसनदास के अधीन था, इसे नवलसिंह ने उनसे ले लिया था। अतः उनके पुत्र अजीतसिंह और हीरासिंह नवलसिंह से खार खाये बैठे थे। कुछ इतिहासकार इन दोनों को बल्लू जाट का पुत्र मानते हैं।

जब नजफ खां की सेना जाटों का पीछा करते हुए बनचारी ग्राम तक आगई जो कि होड़ल से साढ़े तीन मील की दूरी था, तो अजीतसिंह और हीरासिंह ने गद्दारी करके अपनी सेवाएं मिर्जा नजफ खां को सौंप दी और हीरा की इस गद्दारी के कारण जाटों की कमर ही टूट गई और बल्लभगढ़ भी जाटों के हाथों से जाता रहा। इसके उपरान्त तो नवलसिंह को भवानी खेड़ा और पलवल भी खाली करने पड़े। नजफ खां की सेना ने जाटों के इलाकों को खूब लूटा और सेना में भगदड़ मच गई। नवलसिंह इस दृश्य को असहाय–सा देखता रहा और हाथी पर कोटमान की ओर भाग गया।

डीग पर आक्रमण

नवलसिंह के भागने के उपरान्त मिर्जा नजफ खां ने निर्णय लिया कि भागती हुई जाटसेना का पीछा किया जाए। परन्तु हीरासिंह ने मिर्जा को कहा कि भागती हुई सेना का पीछा करने की अपेक्षा हमें डीघ पर आक्रमण करने की सोचनी चाहिए। यह योजना मिर्जा नजफ खां को पसन्द आई और मिर्जा की सेना कोसी और छट को लूटती हुई साहार पहुंच गई। जब इस बात का पता नवलसिंह को लगा तो वह कोटमन को छोड़कर नन्दगांव होता हुआ बरसाना पहुंच गया।

31 अक्तूबर को लगभग आठ बजे नवलसिंह और मिर्जा नजफ खां की सेनाओं में युद्ध के लिए पूर्ण तैयारियां होगईं। नवलसिंह ने अपनी सेना को तीन भागों में बांटा। समरू को दाहिनी ओर, नागा बैरागियों को बाईं ओर तथा नवलसिंह स्वयं मध्य भाग में आया। दूसरी ओर मिर्जा नजफ खां ने समरू की सेना के मुकाबिले में रहीम बेग खां, रजा बेग खां तथा बादशाही सेना को खड़ा किया। मुल्ला रहीम दाद खां अपने रुहेले सैनिकों के साथ नागा बैरागियों के सामने आ डटा और नजफ कुली खां नवल की सेना से टक्कर लेने के लिए तैयार हुआ। इस प्रकार दोनों तरफ से भयंकर लड़ाई आरम्भ हो गई। आक्रमणों से नवलसिंह की सेना का बायां भाग बिखर गया, किन्तु समरू ने आकर स्थिति को संभाला। नवलसिंह की मध्य सेना नजफ कुली खां के आक्रमण से घबराकर भाग खड़ी हुई और नवलसिंह बरसाना से डीघ की ओर भाग गया। जाटराज्य का नाश होते देखकर राजा रतनसिंह की विधवा रानी ने मिर्जा नफज खां से बात-चीत करनी चाही, परन्तु मिर्जा ने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

नवाब सफदर जंग के समय से ही अवध के नवाब जाटों के मित्र रहे हैं। अतः पुरानी मित्रता का आधार लेकर नवलसिंह ने नवाब शुजा-उद्-दौला को सहायता के लिए लिखा। शुजा-उद्-दौला का आगमन सुनकर नफज खां ने डीघ पर आक्रमण करने का विचार त्याग दिया और आगरा में शुजा–उद्–दौला और जाटों का परस्पर सम्पर्क न बनने पाएं, इस दृष्टि से आगरा की ओर चल पड़ा। शुजा-उद्-दौला जबकि इवाटा तक ही पहुंचा था उसे सूचना मिली कि जाटसेना बरसाना की लड़ाई हार चुकी है और नजफ खां आगरा के लिए रवाना हो चुका है। नवलसिंह ने सहायता के बदले आगरा का किला शुजा-उद्-दौला को सौंपने का प्रस्ताव किया था। परन्तु मिर्जा नजफ खां की सेना ने जाट किलेदार पर आक्रमण करके किले को पहले ही अपने अधिकार में ले लिया और दाऊद खां देग को किलेदार बना दिया।

नई शक्ति राव प्रतापसिंह

विपत्ति जब आती है तो अकेली नहीं आती। अतः नवलसिंह को अपने ही भाइयों ने धोखा दिया तो दूसरी ओर राव प्रतापसिंह

एक नई शक्ति के रूप में उभरकर आया। राजा माधोसिंह (जयपुर) की मृत्यु के उपरान्त प्रतापगढ़, अजबगढ़ और घाजिक थाने जीतकर उसने अपनी स्थिति राजा जैसी बना ली थी। जाटों को गृह-युद्ध और बादशाही सेना के साथ उलझा देखकर उसने परिस्थिति का लाभ उठाया तथा मेवात का क्षेत्र जाटों से छीन लिया। उस समय अलवर भी जाटों के अधीन था। उसने जाटों की दुर्ग-रक्षक सेना को रुपया देकर अपनी ओर मिला लिया, क्योंकि जाट-सैनिकों को अनेक महीनों से वेतन नहीं मिला था। उसने इस प्रकार अलवर का स्वतन्त्र-राज्य स्थापित कर लिया।

सोंखर की लड़ाई

थके, हारे जुआरी के समान एक बार फिर नवलसिंह ने अपने भाग्य को आजमाना चाहा। मिर्जा नजफ खां की अनुपस्थिति में उसने अपने खोये हुए यश को फिर प्राप्त करना चाहा। उसने डीघ के किले से निकलकर मिर्जा नजफ खां के कारिन्दों को अपने राज्य से खदेड़ना आरम्भ कर दिया। उसकी सन्तुष्टि यहां तक नहीं हुई, अपितु उसने दिल्ली पर भी आक्रमण करने की सोची। जब इस बात का पता नजफ खां को लगा तो उसने जबीत खां के विरुद्ध अपने अभियान को स्थगित कर दिया और जाटों को एक बार फिर सदा के लिए नष्ट करने का विचार किया। जबकि वर्षा ऋतु अपने पूरे यौवन पर थी, उसी समय मिर्जा ने अपने आक्रमण की योजना बनाई।

मिर्जा की सेना के आने से पूर्व ही जाटसेना ने सोंखर में अपना जमाव कर लिया। जब मिर्जा बरसाना पहुंचा तो उसके लिए जाटों को सोंखर में ही घेरकर युद्ध करने के अतिरिक्त कोई चारा न था। क्योंकि सोंखर को छोड़कर डीघ पर आक्रमण करना खतरे से खाली नहीं था। नवलसिंह को सुदृढ़ दीवारवाले तथा जयपुर की प्राकृतिक सीमा से लगे सोंखर के जिले से निकालना मिर्जा नजफ खां के लिए एक कठिन कार्य था। इधर राजपूत भी इस बात के लिए सशंक होगए कि उनकी सीमा से लगे किले को जीतकर मिर्जा उनसे भी कर इत्यादि मांगने की स्थिति में हो सकता है। अतः राजपूत सूरजमल और माधोसिंह के समय से आती पुरानी शत्रुता को भूलकर जाटों की सहायता को तैयार होगए। कामा के किले से नवलसिंह की सेना को

बराबर रसद जाती रही। मिर्जा नजफखां ने चार महिने तक सोंखर का घेरा डाले रखा। नजफखां को अब्दुल अहमदखां के षड्यन्त्रों के सिलसिले में दिल्ली का बुलावा आगया और वह नजफकुलीखां को घेरे का रक्षक बना दिल्ली चला गया। दिल्ली से उसने समरू को जो कि जाट राजा को छोड़कर बादशाही सेना में आगया था, कुमुक देकर भेजा।

समरू ने जोकि किले की स्थिति से पूर्ण परिचित था, नजफकुली खां को कहा है कि जब तक कामा से रसद आती रहेगी तब तक सोंखर को जीतना कठिन है। नजफकुलीखां ने राजनैतिक परिणामों को सोचे बिना ही कामा पर आक्रमण कर दिया। नवलसिंह मौका देखकर सोंखर छोड़कर डीघ के किले में चला आया। वस्तुत: सोंखर को छोड़कर चले जाने में नवलसिंह ने एक बड़ी सैनिक भूल की। यदि वह थोड़ा भी जागरूक होता तो दो भागों में बंटी मिर्जा की सेना को सरलता से हरा सकता था। नजफकुलीखां की तोपें कामा के किले के लिए कारगर साबित नहीं हो रही थीं। क्योंकि इस किले की दीवार इतनी चौड़ी थी कि दो गाड़ियां सरलता से एक साथ जा सकती थीं। नजफ कुलीखां ने रुहेला सरदार रहीम दाद को कहा कि यदि वह इस किले को अपनी शक्ति से जीत लेगा तो यह किला उसी को दे दिया जायेगा। रहीम दाद ने प्राणों की परवाह किए बिना ऐसा आक्रमण किया कि कामा का किला राजपूतों के हाथ से निकल गया। नजफकुलीखां नें अपना वचन नहीं निभाया और समरू को किले का स्वामी बना दिया। रहीम दाद इस बात से इतना निराश और नाराज हुआ कि वह अपने बारह हजार सैनिकों के साथ नवलसिंह से जा मिला।

कामा के पतन ने राजपूतों को उत्तेजित कर दिया और उन्होंने खुले रूप में जाटों से गठबन्धन कर लिया। अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए जयपुर के राजा ने कुछ मराठा सैनिकों को युद्ध के लिये किराये पर ले लिया। इसी समय मिर्जा नजफखां की मृत्यु का झूठा प्रचार होगया और इस सूचना ने जयपुर के राजा के मन में नया उत्साह भर दिया। उसने कामा के परगने को पुन: जीत लेने का अच्छा अवसर जानकर उस पर आक्रमण कर दिया। चार अप्रैल सन् 1775 में जब नजफखां अपनी बीमारी से ठीक हुआ तो वह जाटों और राजपूतों से युद्ध करने के लिए चल पड़ा। जाटों, राजपूतों, रुहेलों और मराठों

की सम्मिलित सेना ने मिर्जा नजफखां की सेना का मुकाबला किया। मिर्जा नजफखां ने रहीम दादखां को अपनी तरफ मिलाने की बहुत कोशिश की। उनकी बातचीत चलती रही। इससे नवलसिंह को शक होगया कि रहीम दादखां बादशाही सेना से मिलने का प्रयास कर रहा है। अतः उसने रहीम दाद को हिण्डौन और बयाना के परगने लूटने के लिए भेज दिया और कहा कि लूट का माल तुम्हारा ही रहेगा। उस समय मैडेक के अधीन हिण्डौन और बयाना के परगने थे। रहीम दाद ने इन परगनों में बड़ा भारी उत्पात मचा दिया। फलतः उसने मुहम्मद बेगखां हमदनी के नेतृत्व में एक विशाल सेना आगरा की ओर रहीम दाद के उत्पात को दबाने के लिए भेजी। नवलसिंह और सहायक मैडेक और मुहम्मद बेगखां हमदनी के अभाव में बादशाही सेना को कमजोर समझकर खाइयों से बाहर निकल पड़े और अठारह मई सन् 1775 को जमकर लड़ाई हुई। परन्तु नवलसिंह बादशाह की अनुशासित सेना के सामने न टिक सका और उसे तथा मराठा सेना को भागकर डीघ के किले में शरण लेनी पड़ी। 10 जून सन् 1775 में जब नवलसिंह धार्मिक उत्सव में भाग लेने के लिए गोवर्धन गया तो वहां फिर एक बार बादशाही सेना से उसकी टक्कर हुई और यहां भी उसे हार का मुख देखना पड़ा।

विजयी बादशाही सेना डीघ के किले के चारों तरफ गर्ज रही थी। वह यह चाहती थी कि या तो जाट राजा किले से निकलकर युद्ध करे अथवा आत्मसमर्पण करे, किन्तु नवलसिंह दोनों ही स्थितियों के लिए तत्पर नहीं था। क्योंकि नवलसिंह सोचता था कि वर्षा ऋतु के बाद मराठों का आक्रमण भारत (उत्तरी) पर अवश्य होगा और मिर्जा नजफखां को विवश होकर जाटराज्य से जाना पड़ेगा। वह इस खबर से भी बहुत प्रसन्न था कि सिक्खों और जाबितखां में सैनिक गठबन्धन होगया है और वे शीघ्र ही बादशाही इलाकों पर आक्रमण कर रहे हैं। बादशाह ने परिस्थितियों की गम्भीरता को देखते हुए नजफखां को वापिस आने के लिए लिखा और एक बार फिर डीघ जाटों के पास ही रह गया।

10 अगस्त सन् 1775 में राजा नवलसिंह की मृत्यु होगई। राजा नवलसिंह में लड़ने का उत्साह तो था परन्तु कुशल योद्धा के गुण नहीं थे। उसके राज्यकाल में जाटों को पीछे हटने के सिवाय और कोई

लाभ नहीं हुआ। परन्तु आश्चर्य है कि जाट सरदारों ने ऐसे अशक्त और अदूरदर्शी राजा का सदा साथ दिया।

रणजीतसिंह

नवलसिंह की मृत्यु के उपरान्त रणजीतसिंह गद्दी पर बैठा। उसके बैठते ही रहीम दादखां बयाना और आगरा के परगनों में छापा मारकर वर्षा ऋतु के आरम्भ में ही डीघ में आगया। राजा नवलसिंह की मृत्यु ने उसके विचारों को बदल दिया। उसने सोचा कि क्यों नहीं डीघ को जीतकर जाटराज्य का स्वामी बन जाए। यह विचार आते ही वह जाटों का मित्र न रहकर शत्रु बन गया। जिस समय जाट लोग किले के अन्दर नवलसिंह की मृत्यु का शोक मना रहे थे, उसी समय रहीम दादखां ने किले में प्रविष्ट होकर उस पर कब्जा कर लिया और किले के जवाहर महल तक पहुंच गया। उसने महल में स्थित स्त्रियों से कहा कि वह केहरीसिंह को गद्दी पर बैठा रहा है और स्वयं उसका नायब बनकर कार्य करना चाहता है। इस प्रकार रहीम ने शनैः-शनैः राज्य के सारे विभागों पर अपना अधिकार कर लिया और राजा नवलसिंह के विश्वस्त व्यक्तियों को समाप्त करना आरम्भ कर दिया।

रणजीतसिंह इस समय चुप न बैठ सका और उसने गुप्त रूप से जातीय सरदारों को कुम्भेर के किले में एकत्र किया और रहीम के विरुद्ध लड़ाई करने की योजना बनाई। अपनी योजना को पूरी करने के लिए उसने नागा गोसाइयों और वैतनिक मराठा सैनिकों को अपने साथ लिया और एक रात डीघ के किले को घेर लिया। वह स्वयं चुपके से अपने कुछ सैनिकों के साथ किले में प्रविष्ट होगया और बाहर से मराठा तथा नागाओं ने आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। यह सब कार्य इतनी सावधानी से किया गया कि इस आक्रमण को देखकर रहीम दाद हक्का-बक्का रह गया। रणजीतसिंह किले में उदित होते प्रातः कालीन सूर्य की भांति प्रकट हुआ। उसको देखते ही रहीम दाद के भय से छिपे जाट सरदार उभर आए। इसके अतिरिक्त रणजीतसिंह ने उन जाट सरदारों को जो रहीम दाद का साथ दे रहे थे, अपनी ओर मिला लिया था। अब रणजीतसिंह ने रुहेलों को किले से बाहर खदेड़ना शुरू किया। उसने उन्हें पशुओं की भांति पीट-पीटकर निकाला। इस लड़ाई में लगभग चार हजार आदमी मारे गए। रहीमदाद का पुत्र

जाटों के हाथ में आगया। रहीमदाद जो केहरीसिंह का नायब बनकर जाट-राज्य को हड़पना चाहता था, डीघ के किले से निकलना पड़ा और उसने बादशाह के यहां आकर नौकरी करली। रणजीतसिंह को डीघ की गद्दी पर बैठा दिया गया।

यद्यपि रणजीतसिंह को जाट-राज्य बचाने के उपलक्ष्य में डीघ की गद्दी पर बैठा दिया गया था, किन्तु थोड़े दिनों के उपरान्त नाबालिग राजा केहरीसिंह और रणजीतसिंह के अधिकारियों में झगड़ा उत्पन्न होगया। इस गृह-कलह ने इतना विस्तार ले लिया कि रणजीत सिंह ने अपनी सहायता के लिए नजफखां को बुला लिया। परन्तु जाट सरदारों ने नजफखां के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इसी बीच रानी माता (जवाहरसिंह की विधवा पत्नी) ने रणजीतसिंह को समझाया कि मुसलमानों के साथ समझौता करके जाट-राज्य को बदनाम मत करो। बहुत विचार-विमर्श के उपरान्त निर्णय हुआ कि रणजीतसिंह को राज्य के सारे कार्यों का मुखत्यार बना दिया जाए। रणजीतसिंह का यह सौभाग्य समझिए कि इसी समय केहरीसिंह की चेचक निकलने से मृत्यु हो गई।

यद्यपि रणजीतसिंह ने विद्रोही होकर नवलसिंह को कुचलने के लिए सिक्खों, मराठों और नजफखां से सांठ-गांठ की थी और भरतपुर राज्य को मिट्टी में मिलाना चाहा था, किन्तु राजा बनते ही उसने अपने पूर्व कुकर्मों को धोने का प्रयास किया और जाटों के खोये प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने की तैयारी की। रणजीतसिंह ने आगरा प्रदेश में अपनी गतिविधियों द्वारा लूट-पाट आरम्भ कर दी। मिर्जा नजफखां जो कि आगरा और मथुरा के मध्य फराह नामक स्थान पर पड़ाव डाले हुआ था, इससे बड़ा चिन्तित हुआ और उसने अफर सियाबखां को दोआब से बुलाकर रणजीतसिंह को कुचलने की सोची।

नजफखां का डीघ पर आक्रमण

वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर नजफखां ने डीघ पर आक्रमण किया। परन्तु डीघ का जीतना कोई सरल कार्य नहीं था। डीघ नगर के चारों ओर इतनी ऊंची दीवार थी कि वह एक छोटी-सी पहाड़ी के समान दिखाई पड़ती थी। नगर के चारों तरफ गहरी और चौड़ी खाई खुदी हुई थी। नगर के बीच में किला बना हुआ था और इसके चारों

तरफ सुरक्षा के लिए छोटी-छोटी गढ़ियां बनी हुई थीं। नजफखां ने थोड़े दिन किले की सुरक्षा के प्रबन्ध को देखा। सुरक्षात्मक तोपों से युक्त डीघ का किला उसे जीवित ज्वालामुखी के समान दिखाई पड़ा। नगर की किलाबन्दी इस प्रकार की थी कि उसकी सम्पूर्ण सेना मिलकर भी किसी एक द्वार पर आक्रमण करने में असमर्थ थी। अतः वह बहुत दिनों तक डीघ के बाहर ही नाकाबन्दी करता रहा। किन्तु शाहबुर्ज़ और गोपालगढ़ी के बीच के बाग में जाट राजा को नागा सेना मोर्चा लिए हुए थी। इस स्थान से वे बादशाही सेना पर गोले बरसाते थे। और बादशाही सेना की रसद को काट देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि नजफखां की सेना में खाद्य सामग्री ऊंचे भावों पर बिकने लगी।

किले के जाट सिपाही रात को बाहर निकलकर खाद्य-सामग्री लाया करते थे। एक रात इसी प्रकार के एक दल पर नजफ की सेना ने आक्रमण कर दिया। जब इस बात का पता जाट सेना को लगा तो किले से निकलकर शत्रु-सेना पर टूट पड़े और किले से तोपें आग बरसाने लगीं। मुगल-सेना में इतनी हड़बड़ाहट फैली कि एक-एक जाट ने दस-दस मुगल सैनिकों को मौत के घाट उतारा। यदि समरू स्थिति को नहीं सम्भालता तो नजफ को भी स्वर्ग का रास्ता नजर आता।

बादशाही सेना का प्रथम प्रयास असफल हो गया। इसी समय मुहम्मद बेगखां और नजफ कुलीखां खाद्य-सामग्री के साथ मिर्जा नजफखां की सहायता के लिए आ पहुंचे। इससे मिर्जा नजफ का उत्साह बढ़ा और उसने युद्ध की योजना का परिवर्तन किया और नागा गोसांई सैनिकों द्वारा मोर्चा बनाए गए बगीचे को लेने का निश्चय किया। लड़ाई आरम्भ होगई और गोसांई सैनिकों की सहायता के लिए हजारों की संख्या में जाट सैनिक भी आगए। महाराजा रणजीतसिंह भी किले से बाहर निकल आया और युद्ध के लिए प्रोत्साहन देने लगा। चारों तरफ से मिर्जा नजफखां की सेना पर आक्रमण होने लगा, जाट घुड़सवार उन पर टूटने लगे। ऐसा दीखता था कि नजफ की हार निश्चित है, परन्तु मिर्जा ने हिम्मत न हारी और एक बार ऐसा जोर का आक्रमण किया कि नागा गोसांई सैनिकों के पांव उखड़ गए और वे किले में भाग गए। अब डीघ और गोपालगढ़ी के मध्य का बगीचा जो कि सैनिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण था, मिर्जा के सैनिकों के हाथ में था।

परिस्थितियों का अध्ययन करने के बाद मिर्जा नजफ खां ने सोचा

कि डीघ के किले को शक्ति के बल पर जीतना असम्भव-सा है। डीघ का किला उसके मान-अपमान का विषय हो गया। उसने नजफ कुली खां को आदेश दिया किले में जाने वाली रसद को यथाशक्ति रोका जाए। नजफ खां के घुड़सवारों ने दिन-रात पहरा देना आरम्भ कर दिया। अब जाटों की खाद्य-सामग्री का आवागमन काट दिया गया। इसी समय मैडेक भी नजफ कुली खां से आ मिला। मैडेक ने सुझाव दिया कि जब पहरेदार सुस्त पड़ जाएं तो रात को शत्रु के दुर्ग पर आक्रमण किया जाए। योजना के अनुसार यह निश्चित किया गया कि मैडेक के साथ कुछ सिपाही जब किले में प्रविष्ट हो जाएं तो बन्दूकों की आवाज सुनकर नवाब अपनी सेना के साथ आक्रमण करने के लिए चल पड़े। रात्रि के अन्धकार में जब पहरेदार सुस्त पड़ गए तो मैडेक के साथ लगभग सौ सिपाही किले की दीवार पर अपनी संगीनों से निशान बनाते और उन पर पैर रखते हुए दीवार पर चढ़ गए। मैडेक इतना उत्तेजित हुआ कि उसने समय की प्रतीक्षा किए बिना ही गोली चलाने का आदेश दे दिया। इससे किले के पहरेदार सावधान हो गए। उन्होंने शाही सेना के सिपाहियों को दुबारा बन्दूक भरने का मौका ही नहीं दिया और वे शाही सैनिकों पर टूट पड़े और लगभग बहुत-से सिपाहियों को मौत के घाट उतार दिया। बन्दूक की गोलियों की आवाज सुनकर नवाब अपने सैनिकों को योजना के अनुसार चल पड़ा। किन्तु वह किले से कुछ दूर ही था कि इतने में सूर्योदय का समय हो गया और जाट सेना ने किले से बाहर निकलकर नवाब की सेना पर आक्रमण कर दिया।

इस अचानक आक्रमण को देखकर नवाब की सेना के अनुभवी सैनिक सरदार भी हक्के-बक्के रह गए। सैनिकों के पांव उखड़ने लगे और उनमें भगदड़ मच गई। जाट सेना का उत्साह इतना बढ़ गया कि भाला लिए जाट नवाब की सेना में प्रविष्ट होने लगे और नवाब की सेना के सिपाही मूर्ति की तरह निश्चल खड़े रहकर हत्याकाण्ड देखते रहे। इसी बीच समरू ने आकर स्थिति सम्भाली और जाट-सेना किले के अन्दर चली गई। जाट सेना निरन्तर घेरे में आती जारही थी और नवाब की सेना नई शक्ति कुमुक आजाने से बढ़ती जारही थी। अन्न की कमी के कारण डीघ में अकाल फैल गया। मनुष्यों को कुछ भी अच्छी-बुरी खाने को वस्तु मिलती उसे मुंह में डाल लेते। इस प्रकार

बीमारी से सौ के लगभग लोग रोज मरने लगे। रणजीतसिंह के सरदारों ने उससे कहा कि या तो युद्ध करो अथवा आत्मसमर्पण, इस प्रकार भूखे मरने से कोई लाभ नहीं। रणजीतसिंह एक रात सेना के साथ डीघ से निकलकर कुम्भेर चला गया और सैनिकों को डीघ की सुरक्षा का भार सौंप गया।

रणजीतसिंह की डीघ को छोड़कर चले जाने की बात सुनकर 29 अप्रैल 1776 को मिर्जा नजफ खां डीघ में प्रविष्ट हुआ। किन्तु जो सैनिक किले में रह गए थे उन्होंने मिर्जा का डटकर मुकाबला किया। परन्तु समरू की सेना के गोलों के सामने उनकी एक न चली। अन्त में एक रात उन्होंने अपने आपको जीवन की अन्तिम यात्रा के लिए तैयार किया। उन्होंने हर प्रकार के भय को छोड़कर शत्रु पर आक्रमण कर दिया। समरू की तोपें आग उगल रही थीं, परन्तु जाट सैनिकों को उनका कोई भय नहीं था। उनके लिए मृत्यु कोई महत्त्व नहीं रखती थी। एक-एक जाट सैनिक तीस-तीस शाही सैनिकों से लड़ा। उन्होंने अपनी तलवारें समरू की तोप से जा टकराईं। इस प्रकार वे वीरतापूर्वक लड़ते हुए मारे गए।

धनकौर की लड़ाई के उपरान्त दोआब में बहुत-से जाट व्यक्तिगत रूप से अपने-अपने छोटे-छोटे राज्य बनाने में लग गए। इन व्यक्तियों ने न केवल बादशाही सेना को ही दोआब से निकालने का प्रयास किया, अपितु ये लोग गुप्त रूप से डीघ की सहायता भी करते रहे। मिर्जा नजफ खां ने दोआब के इन जाटों को कुचलने के लिए अफरसियाब खां को भेजा। इसने दोआब में आते ही जाटों का दमन आरम्भ कर दिया। जवाहरसिंह के समय से जिस अलीगढ़ के किले को जाटों ने अपने हथियारों का भण्डार बना रखा था, उसे कई महीनों के घेरे के बाद अफरसियाब खां ने जीत लिया। परन्तु मुरसान और हाथरस के राजा भूपसिंह ने अफरसियाब खां को दम नहीं लेने दिया और उससे निरन्तर युद्ध करते रहे। राजा भूपसिंह की प्रेरणा से दोआब के जाटों ने भूमि कर देने से इन्कार कर दिया। जब स्थिति अफरसियाब खां के काबू में नहीं रही तो उसने मिर्जा नजफ खां से दोआब में पहुंचने की प्रार्थना की। मिर्जा नजफ खां ने दोआब में जाकर मुरसान और हाथरस को जीत लिया और राजा भूपसिंह ने राजा हिम्मतसिंह के जरिये बादशाह से समझौता करके अपने राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया।

कुम्भेर का पतन

यद्यपि मिर्जा नजफखां ने डीघ को जीत तो लिया था, परन्तु वह जाटों की स्वतन्त्रता को नहीं छीन सका। किसी भी प्रकार का समझौता किए बिना रणजीतसिंह अपने बचे किलों को सुदृढ़ करने लगा। क्योंकि इस समय दोआब से नजबखां को दिल्ली के बादशाह ने जाबिद खां को कुचलने के लिए बुला लिया था। नजफखां की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर रणजीतसिंह ने हिण्डौन और बयाना के बहुत से ग्राम पुनः अपने अधिकार में ले लिए। नजफखां ने मुहम्मद बेगखां हमदनी को कुम्भेर का किला घेरने के लिए भेजा और अपना पड़ाव डीघ में डाल दिया। राव राजा प्रतापसिंह को जिसके विषय में मिर्जा की यह धारणा बन गई थी कि यह रणजीतसिंह की सहायता कर रहा है, कुचलने के लिये एक बार कुम्भेर का घेरा उठा दिया गया, परन्तु पुनः कुम्भेर का घेरा डालकर उस पर और भी दबाव डाला गया।

इसी बीच रणजीतसिंह को शाही दरबार से एक पत्र आया, जिसमें लिखा था कि वह बादशाह से क्षमा मांगले। परन्तु रणजीत सिंह के जिद्दी और अभिमानी स्वभाव पर इस पत्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जाटसेना बादशाहीसेना के निरन्तर बढ़ते हुए दबाव से तंग आगई थी। उनके सरदार रानी किशोरी के पास गये जो भरतपुर राज्य को टूटता देखने के लिए जिन्दा थी। सरदारों ने रणजीत सिंह को यह भी कहा कि वह रानी किशोरी को शाही दरबार में समझौता करने के लिए भेज दे। परन्तु रणजीतसिंह इस बात से डरता रहा कि कहीं रानी किशोरी को कैद करके उसे बिना शर्त हथियार डालने के लिए कहा जाए। अतः एक रात रणजीतसिंह कुम्भेर को छोड़कर भरतपुर भाग गया। प्रातःकाल होते ही किला बादशाही सेना के हाथ आगया और रानी किशोरी कैदी के रूप में पकड़ी गई। रानी किशोरी ने बादशाह से समझौते की बात चलाई। बादशाह ने कुम्भेर का किला रानी को रहने के लिए दे दिया और रणजीतसिंह के अपराधों को क्षमा करते हुए भरतपुर का किला और सात लाख रुपये की जागीर उसे दे दी। रणजीतसिंह अब (1777) में भरतपुर राज्य के प्रायः उतने ही भू-भाग का स्वामी रह गया था, जितना कि सन् 1722 में बदनसिंह के पास था। इस प्रकार पचपन वर्षों में जिस

जाटराज्य को जाटों ने अपने शौर्य से विस्तृत किया था, उसके अब टुकड़े-टुकड़े हो चुके थे।

रणजीतसिंह सदा इस ताक में रहता था कि कब दिल्ली की बादशाहत ढीली पड़े और कब वह अपने खोये प्रदेशों पर पुन: अधिकार प्राप्त करे। मिर्जा की मृत्यु के उपरान्त होनेवाले बादशाही दरबार के आन्तरिक झगड़ों ने रणजीतसिंह की आशाओं को बल दिया और उसने हारे हुये कुछ प्रदेशों को पुन: जीत लिया। इनमें से आगरा का एक प्रदेश भी था। स्थानीय गवर्नर मुहम्मद बेगखां हमदनी जाटों के आक्रमणों को आगरा के कई इलाकों में नहीं रोक सका, अत: उसने दिल्ली दरबार से सहायता की प्रार्थना की। दिल्ली दरबार की तरफ से नायब शफी को भेजा गया उसने रणजीतसिंह से बकाया कर मांगा। परन्तु रणजीतसिंह ने गरीबी का बहाना करके कर देने से इन्कार कर दिया। रणजीतसिंह इन्कारी का अर्थ समझता था आक्रमण। अत: उसने आक्रमणों को रोकने की पूर्ण तैयारी की और अपने किलों को दृढ़ बनाया। बड़े कड़े संघर्ष के बाद शफी रणजीतसिंह से बयाना और अक्षयगढ़ के किले जीत सका।

बादशाही दरबार की फूट का लाभ उठाते हुए रणजीतसिंह ने मुहम्मद बेग हमदनी को अपने पक्ष में कर लिया और उसको बीस हजार रुपये और कुछ हथियार इसलिए दिए कि वह शफी द्वारा छीने गये इलाकों को उसे वापिस करा देगा। परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी मुहम्मद बेगखां शफी को नहीं मना सका। इसका परिमाम यह हुआ कि शफी की हत्या करवा दी गई। अब दिल्ली दरबार में सत्ता के लिए अफरसियाबखां और मुहम्मद बेगखां हमदनी में संघर्ष आरम्भ होगया। रणजीतसिंह ने इस पारस्परिक संघर्ष का लाभ उठाकर भरतपुर के आस-पास का क्षेत्र फिर अरने अधीन कर लिया।

शफीखां ने महद जी सिन्धिया से मिलने के उपरान्त ही भरतपुर के छीने हुए इलाके देने से इन्कार कर दिया था अतः शफीखां की मृत्यु में महद जी सिन्धिया मुहम्मद बेगखां हमदनी के साथ जाट राजा रणजीतसिंह का हाथ भी दिखाई दिया। महदजी सिन्धिया बिना सोचे-समझे रणजीतसिंह से नाराज होगया। परन्तु रानी किशोरी और रणजीतसिंह ने तरसी के पड़ाव पर उसे प्रसन्न कर लिया। महाराजा रणजीतसिंह ने सन् 1787 में जब महद जी सिन्धिया ने बादशाही

सेना का नेतृत्व करते हुए जयपुर पर चढ़ाई की थी, तो सिन्धिया की मदद की थी। उसने हारकर भागते हुए सिन्धिया को मथुरा तक पहुंचाया था।

भरतपुर और मराठा सम्बन्धों की मित्रता का ही परिणाम था कि इस्माइल बेग और गुलाम कादिर की सम्मिलित सेना को गोपालगढ़ की लड़ाई में हार का मुख देखना पड़ा। सन 1788 में महद जी सिन्धिया और रणजीतसिंह ने मिलकर मुगलों पर फतहपुर सीकरी की दिशा से आक्रमण किया। परिणामस्वरूप मुगलसेना को आगरा छोड़कर दोआब की ओर जाना पड़ा। मराठों ने रणजीतसिंह की सहायता के उपलक्ष्य में उसे चार लाख की आयवाले तीन परगने दिये। इससे पहले भी महद जी सिन्धिया रणजीतसिंह की सेवाओं को देखते हुए उसे ग्यारह परगने दे चुका था। परन्तु महद जी सिन्धिया की मृत्यु के उपरान्त रणजीतसिंह ने मराठों का साथ छोड़ दिया और ब्रिटिश राज्य की ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ मित्रता करली।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी से मित्रता

ब्रिटिश साम्राज्य की ईस्ट इण्डिया कम्पनी का सेना-नायक लेक भली-भांति यह समझ गया था कि भरतपुर और अलवर के राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्ध के अभाव में मराठों को जीतना सम्भव नहीं है। अतः 29 सितम्बर सन् 1803 में लेक और रणजीतसिंह के मध्य एक सन्धि होगई। इस सन्धि के अनुसार ब्रिटिश-राज्य की ईस्ट इण्डिया कम्पनी रणजीतसिंह के राज्य को सम्मान देगी उससे किसी भी प्रकार का राज्य-कर नहीं लेगी। रणजीतसिंह भी आवश्यकता पड़ने पर ब्रिटिश-राज्य की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सैनिक सहायता करेगा। यह सन्धि राजा रणजीतसिंह के लिए बड़ी लाभकारी सिद्ध हुई। क्योंकि इस सन्धि के उपरान्त मराठों को प्रतिवर्ष दिया जानेवाला दो लाख रुपया बच गया। इस प्रकार जाट-राज्य में समृद्धि होने की सम्भावना बढ़ गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भरततुर, किशनगढ़, रिवाड़ी, गोकलगढ़ और सहर के आस-पास के इलाके जो उसने मराठों से छीने थे, महाराजा रणजीतसिंह को दे दिए।

मराठों का साथ

सन् 1803 में, उत्तर भारत के स्वामित्व को लेकर मराठों और

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मध्य युद्ध छिड़ गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ समझौता होने पर भी रणजीतसिंह ने यशवन्तराव होल्कर का साथ दिया। इतिहासकार कहते हैं कि रणजीतसिंह को बाध्य होकर कम्पनी की सहायता से मुख मोड़ना पड़ा। क्योंकि सन् 1803 की सन्धि के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भरतपुर-राज्य के आन्तरिक मामलों में कोई दखल नहीं देना था, परन्तु कम्पनी ने भरतपुर में ब्रिटिश न्यायालय खोलने का विचार कर लिया। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों की गो-हत्या सम्बन्धी नीति ने भी भरतपुर-राज्य की धार्मिक नीति में भी हलचल मचा दी। यह भी कहा जाता है कि यशवन्तराव होल्कर ने अपने एक प्रतिनिधि को भरतपुर के दरबार में पुरानी मित्रता के आधार पर सहायता के लिए भेजा। इधर जोधपुर के राजा भी यह चाहते थे कि जाट-राजा रणजीतसिंह मराठों की सहायता करे।

मराठों के साथ सन् 1803 की लड़ाई में ब्रिटिश-राज्य की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रणजीतसिंह को सहायता के लिए कहा। रणजीतसिंह ने सैनिक सहायता भी भेजी, परन्तु उसके सैनिक अंग्रेजों की सहायता पर न जाकर मराठों की सहायता के लिए गए। राजा रणजीतसिंह के इस विरोधी रुख को देखकर अंग्रेजों ने उसे धकमी दी और परिणाम भुगतने के लिए कहा। परन्तु इस धमकी का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

लेक का आक्रमण

इन परिस्थितियों में लेक ने निश्चय लिया कि मराठों को शक्ति और साधन देनेवाले राज्य के किलों पर आक्रमण किया जाए, जिससे न रहे वांस और न बजे बांसुरी। लेक ने गवर्नर-जनरल को पत्र लिखा कि रणजीतसिंह मराठों की निरन्तर सहायता कर रहा है इसलिए आवश्यक है कि मराठों को समाप्त करने के लिए रणजीतसिंह के राज्य पर आक्रमण किया जाये। गवर्नर-जनरल ने "कोर्ट आफ डायरेक्टर्स" को इस सम्बन्ध में लिखा और लेक को आदेश दिया कि वह जाट राज्य की सम्पूर्ण सीमाओं को रौंद डाले और उसे अंग्रेजी राज्य में मिला ले। जाट राजा के विरुद्ध लिया जानेवाला ब्रिटिश-राज्य की ईस्ट इण्डिया कम्पनी का कदम इतना कठोर होना चाहिये, जिससे पड़ौसी देशी राज्यों में भी आतंक फैल जाये और वे इस प्रकार के विद्रोह के लिए कभी भी तैयार न हो सकें।

12 दिसम्बर सन् 1804 को लेक ने, कम्पनी की इच्छा को पूरा करने के लिए डीघ पर घेरा डाल दिया। 23 दिसम्बर को लगातार गोलाबारी करने से डीघ के किले की दीवार में दरार पड़ गई और रात में आक्रमण करने का कार्य 76वीं इंगलिश सेना के नायक मैकरा को सौंपा गया। 24 दिसम्बर को दुर्ग-रक्षक सेना ने किला खाली कर दिया और रणजीतसिंह को सपरिवार भरतपुर के किले में शरण लेनी पड़ी। ऑक्टर लोनी ने गवर्नर-जनरल को सूचना भेजी कि डीघ के किले को जीत लिया गया है। इस विजय से अंग्रेज फूले न समाये।

डीघ के किले के पतन के उपरान्त रणजीतसिंह उत्साह खो बैठा और उसने अपने वकील को लेक के पास समझौता करने के लिए भेजा। परन्तु लेक डीघ की विजय से इतना अभिमानी हो गया था कि उसने दूत की बात तक न सुनी। रणजीतसिंह ने हर प्रकार से निराश होकर अपने परिवार जयपुर अथवा जोधपुर शरण लेने के लिए भेजने की योजना बनाई। परन्तु रानी ने ऐसे अवसर पर राजा को उत्साह दिलाते हुए कहा "दिल तोड़ने की कोई बात नहीं और स्थिति को उत्साह करके सम्भालो। दरबार का प्रत्येक व्यक्ति रक्त की अन्तिम बूंद तक तुम्हारा साथ देगा।" इन बातों से राजा रणजीतसिंह में नया जोश आगया और उसने निर्णय लिया कि वह भरतपुर के किले में रहता हुआ ही अंग्रेजों से लड़ेगा।

डीघ के किले को जीतने में राव राजा प्रतापसिंह (अलवर) के वकील अहमद बक्श खां ने अंग्रेजों की सहायता की थी। अतः उन्होंने संगरूर और फिरोजपुर उसे सौंप दिये। इसी अहमद बक्श खां ने आगे चलकर हरियाणा में लोहारू रियासत को जन्म दिया।

अजेय भरतपुर

अब अंग्रेजों का अगला उद्देश्य भरतपुर को जीतने का था। सन् 1805 की एक जनवरी को जनरल लेक डाऊड वैल की सेनाएं मथुरा की ओर से चलकर भरतपुर के दक्षिण में आगई और खाइयां खोदकर आक्रमण की तैयारियां आरम्भ कर दीं। इस समय कम्पनी की सेना में लेक की सेना के दो हजार चार सौ घुड़सवार, छः हजार चार सौ पैदल सिपाही और बम्बई सेना के तीन हजार मंजे हुए सिपाही थे। डीघ के किले के आक्रमण के समान ही भरतपुर के किले की दीवारों में दरार पैदा करके आक्रमण जी योजना बनाई गई। 4 जनवरी को

भरतपुर के किले से पांच सौ गज की दूरी पर तोपें लगा दी गईं और 7 जनवरी से गोलाबारी आरम्भ हो गई। 9 जनवरी को सूचना मिली कि किले की दीवारों में दरार पड़ गई है। समय को खोये बिना मेजर हाडक्स और कर्नल रेयान ने कुम्भेर द्वार की तरफ से आक्रमण किया, परन्तु इन दोनों का आक्रमण विफल हुआ और इसमें कर्नल मेटलेंड मारा गया।

10 जनवरी को पुनः आक्रमण किया गया अंग्रेजों की सेना खाइयों से निकलकर किले की ओर चली। परन्तु किले की खाई इतनी गहरी थी कि वे उसे पार नहीं कर सके और फिर निराश होकर अपनी खाइयों में वापिस आगए। 16 जनवरी को सूचना मिली कि जाट सेना ने दरार के स्थान पर एक बाड़ा बना लिया है और वे सतर्क होकर पहरा दे रहे हैं। यद्यपि तोपों के गोलों की मार से जाटों की सेना का काफी नुकसान होरहा था, रणजीतसिंह का बड़ा लड़का रणधीरसिंह भी घायल होगया था, तथापि जाटों के हौंसले उसी प्रकार बुलन्द थे।

18 जनवरी को मेजर जनरल स्मिथ की तीन बटालियनें आगरा से चलकर जनरल लेक की सेना से आ मिलीं। जनरल को नया उत्साह हुआ और उसने जाटों के सहायक मराठों पर आक्रमण करने का विचार किया। वस्तुतः डीग और भरतपुर दोनों के आक्रमण में मराठा सेना जाट राजा का साथ देरही थी, क्योंकि रणजीतसिंह अंग्रेजी सेना का साथ छोड़कर जसवन्तराव होल्कर का मददगार बन गया था। सेना भरतपुर के किले से बाहर दीवार की ओट में आड़ लिए हुए थी और अंग्रेजी सेना को परेशान कर रही थी। जनरल लेक ने मराठों पर आक्रमण किया और उनके बहुत-से हाथी, घोड़े और हथियार छीन लिए लेकिन जसवन्तराव होल्कर फिर भी जैसे-तैसे डटा रहा।

रणजीतसिंह ने इस स्थिति में कूटनीति से काम लेने की योजना बनाई। उसने बुन्देलखण्ड के अमीर खां को छः लाख रुपये देकर अंग्रेजी सेना को तंग करने के लिए प्रेरित किया। 22 जनवरी को कैप्टेन वाल्स की देख-रेख में जानेवाली एक सेना को कुम्भेर के निकट अमीर खां ने घेर लिया। परन्तु लेक को जब यह खबर मिली तो वह तुरन्त घटनास्थल पर पहुंचा और अमीर खां को मार भगाया।

राजा रणजीतसिंह की सहायता अमीर खां और मराठा दोनों ही कर रहे थे, परन्तु सफलता किसी भी प्रकार नहीं मिल रही थी और

भरतपुर राज्य पर लगातार खर्च बढ़ता जारहा था। इस स्थिति में रणजीतसिंह ने अमीर खां और मराठों के सामने एक योजना रखी कि दोनों के साथ मिलकर एक मोर्चे पर लड़ने की अपेक्षा भिन्न-भिन्न मोर्चों से शत्रु पर आक्रमण करें। इस योजना के अनुसार मराठा तो भरतपुर में रह गए और अमीर खां शत्रु के राज्य की सीमाओं पर आक्रमण करने के लिए बुन्देलखण्ड की ओर चला गया।

जरनल लेक ने अमीर खां को दबाने के बाद भरतपुर पर आक्रमण करने की नई योजना बनाई। उसने अपनी सेना को तीन भागों में बांट-कर अलग-अलग हमला करने का विचार किया। सेना के एक भाग का नेतृत्व कर्नल डून को सौंपा गया, दूसरे का नेतृत्व कैप्टेन ग्रांट और तीसरे का लेफ्टीनैन्ट टेलर को दिया। परन्तु भरतपुर की सेना ने प्रथम प्रयास में इसकी योजना को नाकारा कर दिया। अंग्रेजी सेना न तो भरतपुर की बुर्ज पर चढ़ सकी और न ही खाई को पार कर सकी। अंग्रेजों ने भरतपुर को रिश्वत देकर भी जीतना चाहा, परन्तु यहां भी उनको सफलता नहीं मिली। भरतपुर के किले पर आक्रमण करते समय अंग्रेजों के 3100 सैनिक और 103 सैनिक अफसर मारे गए।

कम्पनी से सन्धि

भरतपुर के युद्ध से अंग्रेज और रणजीतसिंह दोनों ही तंग आगए थे। रणजीतसिंह ने यह उचित समझा कि अंग्रेजों से सन्धि करली जाए। क्योंकि भरतपुर जीता तो नहीं जा सका था, परन्तु उसके चारों तरफ अंग्रेजी सेना का घेरा पड़ा हुआ था और अंग्रेजी सेना किले के चारों तरफ के इलाके को तहस-नहस कर रही थी। रणजीतसिंह ने यह भी देख लिया था कि अमीर खां और जसवन्तराव होल्कर के हौसले भी पस्त होते जारहे हैं। दूसरी ओर अंग्रेज भी यह चाहते थे कि मराठा और जाटों का परस्पर तालमेल टूट जाना चाहिए। जिससे अंग्रेज सिन्धिया के विरुद्ध निश्चिन्त होकर लड़ सकें। अतः सन् 1805 में अंग्रेजों और रणजीतसिंह के मध्य सन्धि होगई। इस सन्धि के अनु-सार राजा रणजीतसिंह को बीस लाख रुपये युद्ध के हर्जाने के रूप में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को देने पड़े और यह शर्त भी स्वीकार करनी पड़ी कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर किसी भी प्रकार के बाह्य आक्रमण में राजा को उसकी सहायता करनी पड़ेगी।

शर्त में यह भी तय हुआ कि रणजीतसिंह ईस्ट इण्डिया कम्पनी

के किसी भी विरोधी से कोई भी तालमेल अथवा पत्र-व्यवहार नहीं रखेगा। सन्धि की अन्य शर्त में यह कहा गया था कि जाट राजा किसी भी विदेशी को कम्पनी की स्वीकृति के बिना अपनी सेवा में नहीं रखेगा। सन्धि की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी यह थी कि राजा का एक बेटा हर समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास रहेगा और डीघ में कम्पनी की दुर्गरक्षक सेना रहेगी। दूसरी ओर सन्धि में कम्पनी ने राजा रणजीतसिंह को आश्वासन दिया कि वह उसकी सीमाओं की सुरक्षा में सहयोग देगी और आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी।

रणधीरसिंह (1805-1823)

रणजीतसिंह की इस सन्धि के उपरान्त मृत्यु हो गई और उसके चार बेटों में से रणधीरसिंह जो कम्पनी की देख-रेख में रहता था, राज्य का उत्तराधिकारी बना। रणधीरसिंह ने 1805 से 1823 तक राज्य किया इस काल में भरतपुर और अंग्रेजों के सम्बन्ध सदा ही कटु रहे। आरम्भ में इस कटुता का कारण एक छोटीसी घटना थी। भरतपुर के कुछ लोगों ने बनारस और बरेली के इलाकों में डकैती डाली और वे भरतपुर वापिस आगए। उस प्रदेश के अधीक्षक ने रणधीरसिंह से निवेदन किया कि वह उन्हें वापिस सौंप दे। परन्तु रणधीरसिंह ने उन्हें न वापिस किया और न ही कोई दण्ड दिया। इस बात की सूचना जब मैटकाफ ने कलकत्ता में कम्पनी सरकार को दी, तो कम्पनी अधिकारियों ने लिखा कि अभी भरतपुर के मामले में हस्तक्षेप करने का उचित समय नहीं है। कम्पनी समय की प्रतीक्षा में बैठी थी। इसी समय दिल्ली में रहनेवाले कम्पनी के अधिकारी ने कम्पनी को सूचित किया कि जयपुर, मछेरी, अमीर खां और भरतपुर राजा के मध्य कुछ समझौता होने जा रहा है। सन् 1814 में नैनसुख नाम के एक आदमी ने कम्पनी के राज्य की सीमा में अशान्ति उत्पन्न कर दी और वह भरतपुर भाग आया। कम्पनी के अधिकारी मैटकाफ ने नैनसुख को वापिस करने के लिए लिखा, परन्तु रणधीरसिंह का उत्तर था कि यह व्यक्ति भरतपुर का पुराना कर्जदार है, अतः मैंने इसे अपने संरक्षण में ले लिया है और उचित दण्ड दिया जाएगा।

दिल्ली में रहनेवाले ब्रिटिश अधिकारी ने गवर्नर जनरल को लिखा कि भरतपुर के राजदरबार में अपना एक वकील छोड़ देना चाहिए, जिससे कम्पनी विरोधी गतिविधियों को रोका जा सके। इसी

उद्देश्य को लेकर देवीदास नाम का व्यक्ति भरतपुर दरबार में रखा गया। परन्तु मैटकाफ के अनुसार "जाट राजा रणधीरसिंह ने देवीदास को अपने राजदरबार में बैठने ही नहीं दिया। न ही उसे भरतपुर के किले की दीवार के अन्दर प्रवेश करने दिया। उसे विवश होकर बाहरी क्षेत्रों में अपना डेरा डालना पड़ा। मैटकाफ के बार-बार लिखने पर भी कम्पनी ने भरतपुर के विरुद्ध प्रत्यक्षरूप से कोई कार्यवाही नहीं की। क्योंकि अनेक युद्धयात्रायों के कारण कम्पनी की अपार धन-जन की क्षति होचुकी थी। अत: कम्पनी ने अहमद बख्स खां को भरतपुर के विरुद्ध आक्रमण के लिए प्रेरित किया।

अहमद बख्श के आक्रमण की सम्भावना को टालने के लिए रणधीरसिंह ने मराठों से पत्र-व्यवहार आरम्भ किया और बुन्देलखण्ड के अमीर खां को सहायता के लिए लिखा। मराठों की सहायता तो शायद जाट-राजा को न मिल पाई, परन्तु अमीर खां अवश्य जाटों की सहायता के लिए हाथरस तक आगया था। कम्पनी की ओर से धमकी मिलने पर वह वापिस चला गया। अब अन्य कोई उपाय न देखकर रणधीरसिंह ने गवर्नर जनरल से बातचीत आरम्भ की। समझौते के अनुसार जाट राजा ने कम्पनी के वकील को अपने दरबार में रखना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार भरतपुर और कम्पनी के सम्बन्ध पुन: सुधर गए।

राजा रणधीरसिंह ने सम्बन्धों को स्थायी रखने के लिए गोरखाओं का कम्पनी के साथ युद्ध होने पर कम्पनी की सेनाओं को अपने राज्य से गुजरने दिया। इसी प्रकार पिण्डारियों के विरुद्ध कम्पनी के आक्रमण में जाटों ने पूरी-पूरी सहायता दी। पिण्डारी किसी विशेष जाति के व्यक्ति न होकर अनियन्त्रित लुटेरे थे।

बलदेवसिंह

राजा रणधीरसिंह की मृत्यु अगस्त सन् 1823 में होगई। उसके कोई सन्तन नहीं थी। उसके उपरान्त उसका छोटा भाई बलदेवसिंह भरतपुर की गद्दी पर बैठा। बलदेवसिंह के शासनकाल में भरतपुर राजघराने में फिर एक बार राज्यगद्दी के लिए आन्तरिक संघर्ष हुआ। वस्तुत: इसी आन्तरिक संघर्ष के समय से कम्पनी का भरतपुर के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप होगया।

रणजीतसिंह के सबसे छोटे लड़के लछमनसिंह के बेटे दुर्जनसाल ने भी राजगद्दी के लिए अपना हक जतलाना आरम्भ कर दिया, क्योंकि उसे रणधीरसिंह ने गोद ले रखा था। अपने इसी हक को लेकर उसने ऑक्टर लोनी के पास अपना वकील भेजा। परन्तु ऑक्टर लोनी ने उसके वकील की कोई बात नहीं सुनी और बलदेवसिंह को ही राजा माना। बलदेवसिंह कम्पनी का इतना कृतज्ञ हुआ कि वह हर प्रकार से उसे प्रसन्न करने का प्रयास करने लगा। कुछ मेवों ने कम्पनी के राज्य में विद्रोह करके भरतपुर राज्य में शरण लेली थी। कम्पनी से आदेश मिलने पर बलदेवसिंह ने उन मेवों को वापिस कम्पनी को सौंप दिया। बलदेवसिंह का यह व्यवहार रणधीरसिंह के व्यवहार के विपरीत था। रणधीरसिंह ने कम्पनी के साथ सन्धि होने पर भी शरणागत को कभी भी वापिस नहीं किया था।

बलदेवसिंह को कम्पनी द्वारा राजा बनाये जाने के उपरान्त रणधीरसिंह की विधवा रानी लक्ष्मी चुप नहीं बैठ सकी। वह राज-सत्ता को अपने अधिकार में रखना चाहती थी और यह तभी हो सकता था, जबकि दुर्जनसाल राजा बन जाए। बलदेवसिंह को रानी और दुर्जनसाल के षड्यन्त्र का पता चल गया और उसने दुर्जनसाल को कैद कर लिया और रानी को भरतपुर से निकाल दिया। रानी लक्ष्मी ने कम्पनी के अधिकारियों से शिकायत की, परन्तु कम्पनी ने उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाई।

बलदेवसिंह बूढ़ा होता चला जारहा था और उसका लड़का बलवन्तसिंह अभी केवल सात ही वर्ष का था। उसे यह चिन्ता बनी रहती थी कि कहीं राजगद्दी उसके बेटे को नहीं मिल सके। ऐसी स्थिति में ऑक्टर लोनी को बहुमूल्य उपहार देकर अपने बेटे को उत्तराधिकारी निश्चित कराने की योजना को सफल बना लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भरतपुर में कम्पनी का प्रभाव पूर्णरूप से स्थिर होचुका था।

वस्तुतः भरतपुर के आन्तरिक मामलों में कम्पनी का हस्तक्षेप जाटराज्य की भलाई के लिए न होकर अपने निहित स्वार्थों के कारण ही था। क्योंकि ऑक्टर लोनी ने गवर्नर-जनरल को एक पत्र लिख कर यह आवश्यक समझा था कि भरतपुर के आन्तरिक मामलों में

कम्पनी का हस्तक्षेप अनिवार्य है। इससे कम्पनी का उत्तर भारत में राज्य सुदृढ़ और शान्तिपूर्ण ढंग से चल सकता है।

दुर्जनसाल और बलवन्त का झगड़ा

बलदेवसिंह की मार्च सन् 1825 में मृत्यु होगई। इस अवसर का लाभ उठाते हुए दुर्जनसाल (जो कैद से छोड़ दिया गया था) ने बलवन्तसिंह के विरुद्ध विद्रोह करके राजगद्दी हथिया ली। दुर्जनसाल द्वारा गद्दी हड़प लेने पर कम्पनी को बड़ी चिन्ता हुई, क्योंकि भरतपुर के मामले में हस्तक्षेप करने की नीति में इससे अड़चन आने की सम्भावना थी। अतः ऑक्टर लोनी ने बड़ी भारी सेना लेकर भरतपुर की ओर प्रस्थान किया और लोगों में घोषणा की "तुम अपने वास्तविक राजा को धोखा मत दो, कम्पनी भी तुम्हारे साथ है। वह बलवन्तसिंह को वास्तविक राजा मानती है और दुर्जनसाल का गद्दी पर कोई हक नहीं।"

दुर्जनसाल ऑक्टर लोनी की सैनिक तैयारियों को देखकर चिन्तित हुआ और उसने गवर्नर जनरल के पास एक पत्र भेजा, जिसमें राज्य में होनेवाली सारी घटनाओं का विवरण लिखा। इसके साथ साथ दिल्ली में ऑक्टर लोनी को भी अपने वकील द्वारा कहलाया कि वह समझौते के लिए तैयार है।

गवर्नर-जनरल ने ऑक्टर लोनी को भरतपुर पर सैनिक कार्यवाही के लिए रोक दिया। इससे ऑक्टर लोनी को मानसिक आघात लगा और उसने त्याग-पत्र दे दिया। ऑक्टर लोनी के स्थान पर मैटकाफ को लगाया गया। मैटकाफ पहले से ही भरतपुर के विरुद्ध था। अतः उसके प्रकोप से बचने के लिए दुर्जनसाल ने फौजदार चूड़ामन, दीवान जवाहरलाल और दीवान हरदेवबख्श को मैटकाफ के पास भेजा कि वह बलवन्तसिंह को राजा बनादे और दुर्जनसाल को उसका नायब स्वीकार करले परन्तु मैटकाफ ने इस प्रस्ताव को अमान्य कर दिया। वह तो हर प्रकार से भरतपुर राज्य को कम्पनी के अधीन करना चाहता था। मैटकाफ ने गवर्नर-जनरल को इस बात के लिए सहमत कर लिया कि सैनिक शक्ति के अतिरिक्त भरतपुर को बस में करने का कोई उपाय नहीं है। अतः वह बड़ी भारी सेना लेकर बलवन्तसिंह को राजगद्दी और दुर्जनसाल को आत्मसमर्पण कर देने के लिए चल पड़ा।

भरतपुर की आन्तरिक राजनीति नें कम्पनी के उद्देश्य को पूरा करने में नई करवट ली। महाराजा बलदेवसिंह की पटरानी जुलकरण ने दुर्जनसाल के छोटे भाई माधोसिंह को अपने पक्ष में कर लिया।

भरतपुर का पतन

अंग्रेज यह भली-भाँति जानते थे कि भरतपुर को युद्ध द्वारा जीतना कठिन है, क्योंकि 1805 में भरतपुर में बुरी तरह हार खाचुका था। अत: मैटकाफ ने कूटनीति से काम लेना आरम्भ किया। उसने माधोसिंह को प्रलोभन दिया कि उसे दुर्जनसाल की अपेक्षा कम्पनी बलवन्तसिंह का नायब बनाने को तैयार है। अब दुर्जनसाल ने देखा कि अंग्रेज उसके माध्यम से भरतपुर को हड़पना चाहते हैं, तो उसने सिक्खों, मराठों और राजपूतों से जोड़-तोड़ करना आरम्भ किया। लाहौर अखबार से स्पष्ट होता है कि दुर्जनसाल ने महाराजा रणजीत-सिंह के पास सहायता के लिए अपना वकील भेजा था, परन्तु वहां से उसे निराश लौटना पड़ा। परन्तु करौली के और जयपुर के राजपूत राजाओं ने अपनी सेनाएं सहायता के लिए भेजीं। ज्वालासहाय के कथनानुसार मराठा राजा सिन्धिया ने भी दुर्जनसाल की सहायता के लिए अपनी सेना भरतपुर भेजी।

दोनों ओर से पूर्ण सैनिक तैयारियां आरम्भ होगईं। 9 दिसम्बर सन् 1825 में लार्ड कॉम्बरमारे ने मथुरा से चलकर भरतपुर को घेर लिया और जनरल निकोलस ने आगरा से चलकर भरतपुर में पड़ाव डाल दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेनाओं ने भरतपुर में मोती झील के किनारे पड़ाव डाला। इस पड़ाव का मुख्य उद्देश्य था कि किले में जल की सुविधाओं को काट दिया जाए।

22 दिसम्बर तक युद्ध की सम्पूर्ण तैयारी होगई और अंग्रेजों के खोजीदल ने कदम कुंज और बलदेव बगीचे को छीनकर किले की दीवार के पास मोर्चा लगाया। दुर्जनसाल को जब यह पता लगा कि अंग्रेजी सेना जंघीना दरवाजे की ओर से आक्रमण करने का इरादा रखती है, तो उसने भरतपुरी तोपों से अंग्रेजी सेना पर मार आरम्भ कर दी, परन्तु इस मार का किसी भी प्रकार प्रभाव अंग्रेजी सेना पर नहीं पड़ा। 24 दिसम्बर 1825 को अंग्रेजी सेना ने किले पर गोला-बारी आरम्भ करदी, परन्तु मिट्टी की बनी पचास गज चौड़ी किले की

दीवार पर गोलों का कोई असर नहीं हुआ। गोलों का कोई प्रभाव न देखकर अंग्रेजी सेना ने बारूद की सुरंग बिछाने की योजना बनाई और 7 जनवरी सन् 1826 तक सुरंग पूर्णरूप से बारूद से भरदी गई।

इसके बाद तो केवल उसमें पलीता लगाने की देरी थी और यह भी कर दिया गया। परिणामस्वरूप किले की दीवार में दरार आगई और मथुरा दरवाजा तथा कुम्भेर दरवाजा कम्पनी की सेना के कब्जे में आगया। अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर और भरतपुर का पतन निश्चित समझते हुए दुर्जनसाल किले से निकलकर बयाना की ओर भाग गया। जब ब्रिटिश कमाण्डर को इस बात की सूचना मिली तो उसने दुर्जनसाल का पीछा करने का आदेश दिया। इस प्रकार दुर्जनसाल पत्नी और पुत्रों सहित पकड़ लिया गया और भरतपुर का बिना किसी शर्त के पतन होगया। इस प्रकार भारत की कीर्ति का स्तंम्भ भरतपुर राज्य कम्पनी के हाथ में आगया। इसके बाद अंग्रेजों ने बलवन्तसिंह को 5 फरवरी सन् 1826 को गद्दी पर बैठा दिया, परन्तु बलवन्तसिंह अवयस्क था, अतः महारानी अमृतकौर को उसका नायब बनाया गया। चूड़ामन को फौजदार और जवाहरलाल को दीवान बनाया गया। कम्पनी ने अपनी तरफ से मेजर लोकेट को कम्पनी का राजनैतिक प्रतिनिधि नियुक्त किया। भरतपुर पर पच्चीस लाख उनतालीस हजार रु० युद्ध का हर्जाना थोपा गया और दुर्जनसाल तथा माधोसिंह को भरतपुर राज्य से बाहर इलाहबाद और बाद में बनारस भेजा गया। इस प्रकार भरतपुर अंग्रेजों के अधीन होगया।

❀ ❀

दशम अध्याय

पंजाब में जाट राज्य

जाटों में जहां हिन्दू, मुसलमान विभाग हैं, वहां सिख भी वस्तुतः इस जाति का एक अंग हैं। यह अंग गुरु नानक के काल के उपरान्त सिख नाम से पुकारा जाने लगा। गुरु नानक के पंथ को स्वीकार करने के उपरान्त जाट सिखों में भक्ति का उदय हुआ, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। लेकिन इसके साथ यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है कि पंजाब का जाट बहुमत से गुरु नानक का अनुयायी होते हुए भी, कभी भी गुरु पद को प्राप्त नहीं कर सका जबकि उसमें भक्ति और शक्ति दोनों का ही अद्भुत मिश्रण था। गुरु गोविन्दसिंह ने देवी के बलिदान के बहाने सिखों की जो परीक्षा लेनी चाही थी—उन पांच प्यारों में धर्मसिंह जाट भी एक था। ऐतिहासिक दृष्टि से सुकरचकिया मिसल के राजा रणजीतसिंह के काल में जाटों और सिखों के राजनैतिक सम्बन्धों में अधिक सहयोग हुआ। महाराजा सूरजमल जाटों और सिखों का एक संगठन बनाना चाहता था।

इसके अतिरिक्त जाट सिखों और हिन्दू जाटों के गोत्र भी परस्पर मिलते हैं और चादर प्रथा भी एक समान है। पंजाब का जाट चाहे वह हिन्दू हो, चाहे सिख और चाहे मुसलमान उसने सदा इतिहास को एक नया मोड़ दिया है। अतः इस इतिहास में सिख जाटों की मिसलों का वर्णन करना जाट इतिहास को आगे बढ़ाना है। पंजाब जाटों की मुख्य आवास भूमि है। भाई परमानन्द के शब्दों में पंजाब में खालसा राज्य स्थापित करके सीमा प्रान्त की सम्पूर्ण पठान जातियों को वश में करना और अफगानिस्तान में पठानों को कई बार हराना, जो हिन्दू जाति में एक आश्चर्य समझा जाता है—जाट जाति के वीरों का ही काम था। जाट जाति के इतिहास में जाट सिखों का एक विशिष्ट योगदान है। यह योगदान आरम्भ में 'मिसलों' के रूप में दिखाई पड़ता है। मिसल का अर्थ दल होता है। आरम्भ में सिखों में दो ही मिसलें (दल) 'तरुण दल' और 'बूढ़ा दल' के नाम से प्रचलित थीं। बाद में इन दो से पांच मिसलें बनीं और अन्त में इनकी संख्या बारह

हो गई। ऐतिहासिक मान्यताओं के अनुसार सिखों की बारह मिसलें थीं, इनमें से प्रत्येक मिसल का एक मुखिया होता था। आरम्भ में मुखिया का चयन नहीं होता था तथा जिसकी भुजाओं में शक्ति होती, उसी के पीछे कुछ उत्साही व्यक्ति लग जाते थे। उसी की आज्ञा पालने में उनका हित था। ऐतिहासिक दृष्टि से हमें यह याद रखना चाहिये कि सिखों ने शक्ति अर्जन के लिये उस समय कदम उठाये जब मुगल साम्राज्य अपने ओज और बल से हाथ धो बैठा था। आन्तरिक उथल-पुथल तथा असंयत दरबार के विभिन्न षड्यन्त्र प्रतिदिन की घटनायें बन गये थे। इस प्रकार इन बाहरी सुविधाओं और अपनी शक्ति के बल से सिखों को अपनी मनोकामना पूर्ण करने का अवसर मिला। अटल विश्वास, उच्च आशायें तथा प्रतिरोध की शक्ति की प्रबलता जाटों के विशेष गुण हैं। समय ने इन गुणों को हवा प्रदान की और जाट मचल उठा। उसने अपने भुजबल से लूट-पाट करके शक्ति संचय करना आरम्भ किया। परन्तु इतना भी ऐतिहासिक दृष्टि से निश्चित है कि आरम्भ में जाट किसी अग्रणी नेता रहित थे और जहां जिसके सींग समाये उसी क्षेत्र का स्वामी बन बैठा। इसी का परिणाम मिसलों की उत्पत्ति है।

ये सरदार अपनी सरदारी भुजाओं के पराक्रम से प्राप्त करते थे। उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता थी कि वे चाहे कितने ही प्रदेश पर अपना अधिकार जमायें। यह अधिकार की कहानी मिसलों की कहानी है।

सिखों की बारह मिसलों में से नौ मिसल जाटों द्वारा स्थापित हैं, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। अतः हमें यहां केवल उन्हीं मिसलों का संक्षिप्त वर्णन करना है जो कि जाटों से सम्बन्धित हैं।

1. भंगी मिसल

इस मिसल का संस्थापक ढिल्लो गोत्री जाट छज्जासिंह था और व अमृतसर के पास पंजवार गांव का रहनेवाला था। बन्दा वैरागी की वीरता से प्रभावित होकर यह सिख बन गया। छज्जासिंह में साहस और शक्ति थी तथा अपनी योजना को सफल बनाने के लिये एक साथी की भी इसे आवश्यकता थी। अतः इसने भीमसिंह नामक जाट को सिख बनाकर अपना सहयोगी बनाया। सामयिक परिस्थितियों का लाभ उठाकर इन दोनों ने एक छोटासा दल बना लिया और लूट-मार आरम्भ कर दी। थोड़े दिनों में लूट-पाट के कारण इनके पास

बहुत धन होगया और इनकी शक्ति बढ़ने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के बाद इनकी मिसल में बारह सौ घुड़सवार होगये।

छज्जासिंह की मृत्यु के उपरान्त इस मिसल का नेतृत्व भीमसिंह ने सम्भाला और इस मिसल को नियमानुसार संगठित किया। भीमसिंह के उपरान्त इसका भतीजा मिसल का सरदार बना। यह बड़ा दूरदर्शी और शक्तिशाली था। इसने अपनी मिसल के प्रभावक्षेत्र को बढ़ाने के लिए उत्तम जाति के घोड़े खरीदे और सौ-सौ मील तक छापा मारकर धन का संग्रह किया। इस प्रकार हरिसिंह के समय में घुड़सवारों की संख्या दो हजार तक होगई। हरिसिंह के काल में स्यालकोट, कृपालु और भीसूमाल इनके अधिकार में आगये। ऐतिहासिक वर्णनों से पता चलता है कि इनकी लूट का क्षेत्र पिंडी, डेराजाट, झंग और चिनोट तक विस्तृत हो गया। इस मिसल ने लाहौर से कुछ मील की दूरी पर स्थित कोट खोजा सैयद पर भी आक्रमण किया। इस आक्रमण में बहुतसा गोला-बारूद तथा अन्य सामग्री इनके हाथ लगी। स्मरण रहे कि हरिसिंह ने पटियाला के संस्थापक सुकरचकिया मिसल के राजा आलासिंह पर भी आक्रमण किया था। क्योंकि राजा पटियाला ने अहमदशाह अब्दाली से सन्धि कर ली थी। इसी आक्रमण में हरिसिंह काम आये और यह लड़ाई उसी समय समाप्त हुई जबकि आलासिंह ने इस सन्धि के लिए खेद प्रकट किया।

हरिसिंह के पांच लड़के थे, परन्तु मिसल ने सरदारी महासिंह नामक व्यक्ति को दी। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि मिसल ने हरिसिंह के पुत्रों में सरदारी की योग्यता को नहीं पाया। थोड़े दिनों के उपरान्त महासिंह की मृत्यु हो गई और सरदारी का भार हरिसिंह के लड़के झण्डासिंह को मिला। क्योंकि इस समय तक झण्डासिंह ने मिसल के सरदारों को यह समझने के लिए बाध्य कर दिया कि अब उस में सरदारी के गुण विकसित हो चुके हैं। ऐसा माना जाता है कि इस मिसल के आक्रमण सहारनपुर, चन्दौसी और खुर्जा तक भी हुए थे। सन् 1765 ई॰ में जब भरतपुर के जाट राजा जवाहरसिंह ने दिल्ली पर आक्रमण किया तो इस मिसल की पन्द्रह हजार सेना ने इस आक्रमण में जवाहरसिंह का साथ दिया था। झण्डासिंह की कुदृष्टि

पहले ही मुलतान पर थी। मुलतान को जीतने के लिए तीन आक्रमण किये परन्तु सफलता सन् 1772 ई० के तीसरे आक्रमण में मिली। मुलतान की विजय से लौटते समय झण्डासिंह ने भंग, भानखेड़ा और काला विजित किये। झण्डासिंह के नेतृत्व में इस मिसल की अन्य उपलब्धि यह है कि रामनगर के मुसलमान शासक से इन्होंने दमदमा नामक तोप छीन ली जो बाद में भंगी तोप के नाम से प्रसिद्ध हुई।

जम्बू के राजा रणजीतदेव और उसके बेटे वृजराजदेव के पारिवारिक झगड़े में झण्डासिंह ने रणजीतदेव का पक्ष लिया। इसी झगड़े में लड़ाई करते हुते झण्डासिंह मारे गये। इसके बाद इसका भाई गण्डासिंह भंगी मिसल का सरदार बना। सरदार बनते ही इसने सबसे पहले अपने भाई की मौत का बदला लेना चाहा। कन्हैया मिसल का सरदार जयसिंह जम्बू की लड़ाई में वृजराजदेव का पक्षधर था और उसी की गोली से झण्डासिंह की मृत्यु हुई थी, अतः गण्डासिंह कन्हैया मिसल से बदला लेना चाहता था। इसके अतिरिक्त भंगी मिसल का एक सरदार जो पठानकोट का अधिकारी था मर गया था। उसकी स्त्री ने अपनी लड़की कन्हैया मिसलवालों के साथ विवाहित कर दी और दहेज में पठानकोट भी दे दिया। अतः गण्डासिंह को युद्ध करने का बहाना मिल गया और उसने कन्हैया मिसल से पठानकोट वापिस करने को कहा, परन्तु कन्हैया मिसल वालों ने गण्डासिंह की बात को नहीं माना। अन्ततः भंगी मिसल वालों ने कन्हैया मिसल वालों पर आक्रमण कर दिया। दीनानगर में कई दिन तक युद्ध हुआ। गण्डासिंह इसी लड़ाई के अवसर पर बिमार होकर मर गया। परन्तु लेखकों का यह कथन है कि गण्डासिंह बिमार न होकर युद्ध करते हुए मारा गया। इसके बाद इस मिसल के चड़तसिंह सरदार बने वे भी सुकरचकिया सरदार महासिंह के हाथों मारे गये। इसके बाद इस मिसल ने गण्डासिंह के भतीजे देसासिंह (देसुसिंह) को सरदारी के लिये चुना। इसके काल में तैमूरशाह ने मुलतान पर दो आक्रमण किये। प्रथम आक्रमण में यह स्वयं उपस्थित नहीं था और उसकी सेना को मुंह की खानी पड़ी। दूसरा आक्रमण सन् 1778 ई० में हुआ जिसमें तैमूर स्वयं सम्मिलित हुआ और मुलतान विजय किया। सन् 1782 में देसासिंह रणजीतसिंह के पिता महांसिंह के हाथों मारा गया।

देसासिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका बेटा गुलाबसिंह इस मिसल का सरदार हो गया। इसी की सरदारी में महाराजा रणजीतसिंह ने इसके अधिकार से लाहौर छीन लिया। गुलाबसिंह ने महाराजा रणजीतसिंह से लाहौर पुनः प्राप्त करने के लिये युद्ध छेड़ दिया। भसीन के मैदान में लड़ाई हुई और बाजी रणजीतसिंह के पक्ष में रही तथा गुलाबसिंह मारा गया। गुलाबसिंह के बाद उसका बेटा गुरुदत्तसिंह भंगी मिसल का सरदार बना। सरदारी ग्रहण करने के समय इसकी आयु दस वर्ष की थी। महाराजा रणजीतसिंह ने इस समय को उपयुक्त जानकर इस मिसल के केन्द्र (राजधानी) अमृतसर पर धावा बोल दिया और इसको अपने अधिकार में ले लिया। अमृतसर छिन जाने के बाद गुरुदत्तसिंह और उसकी मां भागकर रामगढ़ आगये। सुना जाता है कि रणजीतसिंह ने मां-बेटे के निर्वाह के लिये साहीवाल का इलाका इनको दे दिया परन्तु कुछ समय के बाद इसको छीन लिया। यही नहीं, अपितु रणजीतसिंह ने भंगी मिसल के अधिकार में जो-जो क्षेत्र थे उनको भी अपने कब्जे में ले लिया। इस प्रकार भंगी मिसल का अस्तित्व समाप्त हो गया।

2. कन्हैया मिसल

लाहौर से पन्द्रह मील दूर कान्हा नामक गांव में सिन्धु गोत्री खुशहालसिंह नामक एक जाट चौधरी निवास करता था। इसके पुत्र का नाम जयसिंह था। इसी वीर युवक से इस मिसल का आरम्भ हुआ। इसने सिख धर्म की दीक्षा कपूरसिंह फैजलपुरियां से ली और अमरसिंह नाम के डाकू के साथ मिलकर छापे मारने लगा। इस प्रकार इसके पास बहुतसा धन होगया और लोग आ-आकर इसकी मिसल में मिलने लगे।

एक समय में कांगड़े के राजा संसारचन्द्र और नवाब शेफअलीखां किलेदार में झगड़ा होगया। संसारचन्द्र ने किले पर अधिकार करने के लिये कन्हैया मिसल के सरदार जयसिंह से सहायता मांगी। जयसिंह की सहायता से राजा संसारचन्द्र ने किले पर अपना अधिकार कर लिया। जयसिंह ने इस सहायता के बदले संसारचन्द्र से बहुतसा धन एवं कुछ क्षेत्र मांगा। इसकी सारी मांग को संसारचन्द्र पूरा नहीं कर सका। अतः दोनों की आपस में अनबन होगई। छापामार युद्ध में जयसिंह बड़ा निपुण था। इसने रामगढ़िया मिसल के सरदार

जस्सासिंह को सतलुज पार खदेड़ दिया। जब रणजीतसिंह के पिता महासिंह ने जम्बू पर आक्रमण किया तो जयसिंह ने उसकी सहायता की थी। जम्बू की जीत के पश्चात् लूट के माल के बटवारे पर रणजीतसिंह तथा इसके पिता महासिंह के साथ इसकी अनबन होगई। इसके बाद जब महाराजा रणजीतसिंह ने अमृतसर पर चढ़ाई की तो जयसिंह इसके विरुद्ध लड़ने के लिए मैदान में उतरा। रणजीतसिंह के पिता ने इस आक्रमण में अपनी सहायता के लिए संसारचन्द्र और रामगढ़िया मिसल के सरदार जस्सासिंह को बुला लिया। इस प्रकार जयसिंह के मुकाबले में तीनों शक्तियां मिल गईं और जयसिंह को समूल नष्ट करना चाहा। यह युद्ध पटियाला के निकट हुआ। इस लड़ाई में जयसिंह का पुत्र गुरबक्ससिंह मारा गया। परिस्थितियां अपने विरुद्ध जानकर जयसिंह ने कूटनीति से काम लिया और अपनी पोती का विवाह रणजीतसिंह से करके महासिंह को अपना सम्बन्धी बना लिया। इस प्रकार तीन शत्रुओं द्वारा जो उसका राज्य नष्ट होनेवाला था, उसे बचा लिया। जयसिंह ने कूटनीति का सहारा लेकर अपने राज्य की रक्षा तो करली, किन्तु वह अपने पुत्र की मृत्यु के कारण अन्दर-ही-अन्दर घुलता रहा और शीघ्र ही इसकी मृत्यु होगई।

इसकी मृत्यु के बाद इसके मृतपुत्र गुरबक्ससिंह की पत्नी सदाकौर इस मिसल की सरदारनी बनी। रानी सदाकौर योग्य शासिका निकली। इसने रणजीतसिंह के पिता महासिंह की मृत्यु के बाद दोनों ही मिसलों के राज्य का भार सम्भाला। कहा जाता है कि रणजीतसिंह को 'पंजाब केसरी' बनाने में इसकी सास रानी सदाकौर का बड़ा भारी योगदान रहा है। यह रानी अनेक युद्धों में स्वयं उपस्थित रहकर रणजीतसिंह को प्रोत्साहित करती रहती थी। इस रानी की शारीरिक शक्ति का अनुमान इसी बात से लगता है कि जिस समय इसका पति युद्ध में मारा गया था और सेना के पांव उखड़ गये थे तो यह नंगे पांव भागकर बटाला पहुंच गई थी।

महाराजा रणजीतसिंह को अपनी सास का संरक्षण अखरने लगा और वह अपनी सास के प्रभाव से निकलने के लिये छटपटाने लगा। रणजीतसिंह ने सर्वप्रथम रानी सदाकौर के राज्य को शान्तिपूर्वक ढंग से अपने राज्य में मिलाने का प्रयास किया परन्तु जब समझाने-बुझाने से भी रानी इस बात के लिये सहमत नहीं हुई तो

रणजीतसिंह ने बलपूर्वक इसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार कन्हैया मिसल के कांगड़ा, कलानौर, पठानकोट, कोरहा, सुजानपुर, दीनानगर, गढ़शंकर, नूरपुर, हाजीपुर, यकरियान, अरलगढ़ आदि नगरों और किलों पर भी पंजाबकेसरी रणजीतसिंह का अधिकार होगया। यह सम्पूर्ण क्षेत्र अमृतसर से उत्तर की ओर पहाड़ी प्रदेश में था। सन् 1800 ई० में रानी सदाकौर की मृत्यु होगई और यह मिसल समाप्त होगई।

3. रामगढ़िया मिसल

इस मिसल का संस्थापक खुशहालसिंह नामक जाट था। खुशहालसिंह वीर बन्दा वैरागी के सम्पर्क में आया और मुसलमानों से मातृभूमि को मुक्त कराने के संकल्प में लग गया। धीरे-धीरे इसके पास इतनी शक्ति आगई कि इसने एक अलग मिसल स्थापित की जिसका नाम रामगढ़िया मिसल पड़ा। इस मिसल का क्षेत्र अहलूवालिया और उलेवालिया मिसलों के बीच का था। अहलूवालिया मिसल का अधिकार क्षेत्र माझा में था। उलेवालिया का कब्जा रावी के आस-पास था। इसकी मृत्यु के बाद जस्सासिंह इस मिसल का सरदार बना। यह तरखान (बढ़ई) जाति का था। इस प्रकार यह मिसल जाटों के हाथों से निकलकर बढ़ई लोगों के नेतृत्व में चली गई। इन लोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि लकड़ी चीरनेवाले समय आने पर शत्रु को भी चीर सकते हैं। जो हाथ हल बना सकता है, वह तलवार भी पकड़ सकता है। जस्सासिंह ने अपनी शक्ति से अमृतसर और गुरदासपुर के जिलों पर अधिकार कर लिया। आरम्भ में कन्हैया मिसल के साथ मिलकर मुसलमानों के साथ लड़ाई लड़ता रहा, किन्तु कुछ समय के बाद इसका झगड़ा कन्हैया मिसल के सरदार जयसिंह से होगया। इनकी आपसी लड़ाई में जस्सासिंह के हाथ से कुछ इलाके निकल गये और इसकी ऐसी हार हुई कि इसे सतलुज पार भागना पड़ा। इस समय यह हिसार क्षेत्र को अपना केन्द्र बनाकर दिल्ली तक लूट-पाट करता रहा।

कुछ दिनों के उपरान्त जब कन्हैया मिसल और सुकरचकिया मिसल में परस्पर विवाद खड़ा होगया तो सुकरचकिया मिसल ने परि-स्थितियों का लाभ उठाकर कन्हैया मिसल के विरोधी रामगढ़िया मिसल के जस्सासिंह को अपनी सहायता के लिये आमन्त्रित किया।

यह बुलावा जस्सासिंह के लिये भी लाभकारी था, क्योंकि इस अवसर पर वह जहां कन्हैया मिसल से बदला ले पाता वहां उसके खोये प्रदेश भी पाने का सुअवसर उसे आशापूर्ण दिखाई दे रहा था। हुआ भी ऐसा हो और जस्सासिंह ने अपने खोये हुये प्रदेशों पर पुनः अधिकार प्राप्त कर लिया। परन्तु सन् 1808 ई० में रणजीतसिंह ने इस मिसल के सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने राज्य में मिला लिया और जस्सासिंह को पेन्सन दे दी और इस मिसल की समाप्ति होगई।

4. निशानवालिया मिसल

मन्सूरवाला, जिला फिरोजपुर के गिलगोत्री जाट साहबराय के पुत्र दसौधासिंह इस मिसल के मूल संस्थापक थे। सरदार दसौदासिंह मेरठ में जाब्ताखां से लड़ते हुये शहीद हुये। इसके बाद इसके भाई संगतसिंह तथा इसके पुत्र मोहरसिंह इस मिसल में प्रसिद्ध सरदार हुये। इस मिसल के सैनिकों ने सरहिन्द, कसूर, साहनेवाल, सराय लश्करी खां, दोराहा, जीरा, अम्बाला और शाहबाद पर अधिकार करके अम्बाला को राजधानी बनाया। कुछ समय के पश्चात् महाराजा रणजीतसिंह ने दीवान मोहकमचन्द को इस मिसल के सरदार के पास इसलिये भेजा कि यह मिसल महाराजा रणजीतसिंह को अपना सरदार मानकर उनके राज्य में विलय हो जाये। निशानवालिया मिसल ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और मोहकमचन्द का डटकर मुकाबला किया। किन्तु वीरता के साथ लड़ने पर भी वे हार गये और किला अम्बाला मोहकमचन्द के हाथ में आगया। खजाना और गोला बारूद छीनने के बाद रणजीतसिंह ने इस मिसल के प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लिया। इस प्रकार निशानवालिया मिसल का भी अन्त होगया।

5. नकिया मिसल

इस मिसल की स्थापना सिन्धुगोत्री जाट चौ० हेमराज के पुत्र हरिसिंह ने की थी। यह सन् 1726 ई० में भड़वाल जिला लाहौर में उत्पन्न हुआ था। रावी नदी के किनारे लाहौर से पश्चिम की ओर नकई नामक प्रदेश पर इसने अपने साथियों के साथ मिलकर अधिकार कर लिया। इसी के बाद इस मिसल को 'नकिया' मिसल के नाम से पुकारा जाने लगा। आठ हजार सैनिकों का दल लेकर हरिसिंह ने भड़वाल, चूनियां, दयालपुर, जेठपुर खण्डिया, मुस्तफाबाद, शेरगढ़,

देवसाल, फिरोजाबाद, मन्द्रा आदि पैंतालीस लाख आय के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया।

पाकपट्टन में उस समय शेख सुजान कुरेशी का अधिकार था। वहां गोवध होता था। यह बात जब हरिसिंह के पास पहुँची तो उसका जाट खून उबल उठा और उसने कुरेशी पर चढ़ाई कर दी। लड़ते हुए हरिसिंह के सिर में गोली लगी वह युद्ध-क्षेत्र में अमर गति को प्राप्त होगया। इसके बाद इस मिसल की सरदारी नाहरसिंह और वजीरसिंह के पास से होती हुई सन् 1772 ई० में भगवान्‌सिंह के पास आई। भगवान्‌सिंह ने सरदारी सम्भालते ही पाकपट्टन के हाकिम के विरुद्ध गो-वध बन्द कराने के लिए चढ़ाई की। यह भी पाकपट्टन के युद्ध में मारा गया। इसकी बहन दातार कुंवरी का विवाह महाराजा रणजीतसिंह से हुआ। जिससे युवराज खड्गसिंह का जन्म हुआ। भगवान्‌सिंह के मरने के बाद उसका भाई ज्ञानसिंह मिसल का सरदार बना। सन् 1804 ई० में ज्ञानसिंह के मरने के बाद रणजीतसिंह ने इस राज्य को जब्त कर लिया तथा ज्ञानसिंह के बेटों खजानसिंह और काहनसिंह को पन्द्रह हजार की जागीर देकर रियासत से अलग कर दिया।

6. करोड़िया मिसल

इस मिसल का संस्थापक पंजगढ़ गाव का रहनेवाला जाट करोड़ीसिंह था। पंजगढ़ के नाम पर इस मिसल को पंजगढ़िया नाम से भी पुकारा जाता है। जगाधरी के समीप चतौंदी को मुख्य कार्यालय बनाकर करोड़सिंह ने लूट-मार आरम्भ कर दी। थोड़े दिनों के बाद इसके पास बारह हजार सेना इकट्ठी हो गई। इस सेना के बल से इसने नादिरशाह को लूटा और दस लाख आय के प्रदेश को मुसलमानों से छीन लिया। एक समय ऐसा भी आया जबकि जालन्धर के चारों ओर का क्षेत्र इस मिसल के अधिकार में आगया था। 1760 ई० में इस मिसल ने सामचौरासी और होशियारपुर पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। दुर्रानी के सरदार बुलन्द खां के साथ जब सिखों का युद्ध पटियाला में हुआ था, तो दुर्रानियों का कोष इस मिसल के सैनिकों ने ही लूटा था। इस मिसल के सैनिकों ने भरतपुर के महाराजा सूरजमल को भी कई युद्धों में सहयोग दिया था।

करोड़सिंह की मृत्यु के पश्चात् बघेलसिंह इस मिसल का सरदार

बना। इसने लगभग तीस हजार की संख्या में सैनिक लेकर सन् 1768 में सीमा प्रान्त पर अधिकार कर लिया। इस घटना की सूचना जब दिल्ली पहुंची तो बादशाह आलम ने इनका दमन करने के लिए एक सेना भेजी। बघेलसिंह के नेतृत्व में इस मिसल ने मेरठ, खुर्जा, अलीगढ़, बिजनौर, बुलन्दशहर, मुरादाबाद, चन्दौसी हाथरस, इटावा, और फरूखाबाद आदि गंगापार के नगरों पर भी आक्रमण किया। सन् 1770 ई० में इस मिसल ने महाराजा अमरसिंह पटियाला पर आक्रमण किया। सन्धि होने पर पंजाब पर मराठों और मुगलों को रोकने में लग गया। सन् 1781 ई० में इस मिसल ने बघेलसिंह के नेतृत्व में बहुत बड़ी सेना लेकर दिल्ली पर आक्रमण किया और अजमेरी दरवाजा पहुंचकर नील कटरे को खूब लूटा। सिख अधिक लूट न करें इसके लिए गोहर अली ने बघेलसिंह को विश्वास में लिया। क्योंकि किसी समय बेगम समरू की प्राणरक्षा के कारण बघेलसिंह पर वह विश्वास कर सकता था। एक सामयिक समझौता हुआ जिसके अनुसार सिखों को तीन लाख रुपया और दिल्ली में गुरु तेगबहादुर का गुरुद्वारा बनाने की आज्ञा देकर सिक्खों को लौटा दिया गया। बघेलसिंह ने ही कोतवाली चांदनी चौक की मस्जिद को रात ही रात में तुड़वाकर गुरुद्वारा शीशगंज के चबूतरे का निर्माण करवा दिया। सन् 1801 ई० में यह वीर मर गया। अन्त में यह मिसल भी रणजीतसिंह के राज्य में ही मिल गई।

7. फुलकियां मिसल

मालवा के सिखों ने मांझा के सिखों की अपेक्षा कूटनीति से काम लिया। जैसे-जैसे मुगल सरकार की केन्द्रीय सत्ता कमजोर होती गई वैसे-वैसे मालवा के जाटों की शक्ति बढ़ती गई। शनैः शनैः अपनी शक्ति बढ़ाकर वे उन खेतों के मालिक बन गये, जिन्हें वे जोतते थे। इस प्रकार सतलुज पार के महान् सरदारों का उदय हुआ। इनमें सर्वमान्य घराना फुलकियां का था। फुलकियां मिसल के संस्थापक सिन्धुगोत्री फूलसिंह जाट थे। इस जाट की शक्ति इतनी बढ़ गई कि उसने जगरावां के नवाब को कैद कर लिया। पटियाला, जीन्द तथा नाभा रियासतें इसी के वंशजों की देन है। अन्तिम दिनों में फूलसिंह को सीमाप्रान्त के नाजिम ने कैद कर लिया था। सन् 1656 ई० में इनकी मृत्यु बिमारी के कारण होगई। इसके बाद रामचन्द्र को

सरदारी मिली, परन्तु इसे दुर्भाग्य ही कहिये कि इसके अपने ही सरदार ने इसकी हत्या करदी। अब मिसल की सरदारी आलासिंह पर पड़ी। इस सरदार ने लूट मार करके अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। ऐसा सुना जाता है कि महमूद शाह ने इसको एक पत्र इस आशय का लिखा था कि वह नवाब सरहिंद की सहायता करे। सन् 1762 में अहमदशाह अब्दाली ने बरनाला पर चढ़ाई की, किन्तु आलासिंह ने चार लाख रुपया लेकर अब्दाली से सन्धि कर ली। इस सन्धि के कारण सिखों की मिसलें इसके विरोध में होगईं और इस पर चढाई कर दी। आलासिंह के खेद प्रकट करने पर इनमें परस्पर सन्धि सम्भव हुई। पटियाला राज्य के संस्थापक आलासिंह ही हैं। इसी फूलवंश ने नाभा और जींद रियासतों की स्थापना की। इस मिसल का विस्तृत वर्णन पटियाला, जींद और नाभा रियासतों के वर्णन के प्रसंग में किया जायेगा।

(8) फैजलपुरिया मिसल

अमृतसर के पास दोआवा जालन्धर में फैजलपुर नामक एक गांव है। यहीं के जाट सरदार कपूरसिंह ने इस मिसल को स्थापित किया था। परन्तु बाद में यह सिख धर्म में दीक्षित होगया। पटियाला के संस्थापक आलासिंह ने इसी से सिख धर्म की दीक्षा ली थी। इसके राज्य में जालन्धर, नूरपुर, पट्टी आदि प्रसिद्ध क्षेत्र थे। इसकी मृत्यु के बाद इसका बेटा खुशहालसिंह मिसल का सरदार बना। इसके बाद बुधसिंह मिसल का सरदार बना, इससे महाराजा रणजीतसिंह ने सारा क्षेत्र छीन लिया।

(9) सुकरचकिया

सुकरचकिया मिसल का सर्वप्रथम ज्ञात व्यक्ति बुधसिंह जाट था। इसके विषय में कहा जाता है कि गुरु गोविन्दसिंह ने इसे स्वयं अपने हाथों से 'खालसा' बनाया था। बुधसिंह पंजाब प्रान्त में लूट-पाट करने के कारण लोक-कथाओं का प्रमुख नायक रहा है। लूट-पाट में इसका अन्यतम साथी 'देसां' था। अतः बुधसिंह को देसां बुधसिंह के नाम से भी याद किया जाता है। सन् 1718 ई० में बुधसिंह की मृत्यु के बाद इसके लड़के नौधसिंह ने सुकरचक गांव को किलेबन्दी के रूप में तैयार किया और इसके बाद मिसल को 'सुकरचकिया' नाम से जाना जाने लगा। सुकरचकिया मिसल ने अन्य मिसलों के साथ मिलकर

अहमदशाह अब्दाली से टक्करें लीं। अहमदशाह अब्दाली के भारत से हटने पर इस मिसल ने रावी और झेलम के मध्यवर्ती भाग पर अधिकार कर लिया। सन् 1752 ई० में नौधसिंह की मृत्यु हो गई और इसके चार बेटों में से सबसे बड़ा बेटा चरहतसिंह इस मिसल का सरदार बना। इसने अपना मुख्यालय सुकरचक गांव से हटाकर गुजरानवाला में स्थापित किया।

चरहतसिंह ने थोड़े दिनों में इतनी शक्ति प्राप्त करली कि युद्ध के लिए उसके पास हर समय ढाई हजार सैनिक तैयार रहते थे। देशराज के अनुसार यह कुल सिन्ध के जाटों का प्रतीत होता है। चरहतसिंह जहां बड़ा भारी वीर था वहां वह राजनीतिज्ञ और दूरदर्शी भी था। इसकी दूरदर्शिता का पता इस बात से चलता है कि जब अहमदशाह अब्दाली पानीपत से लौटकर आरहा था, तो उससे टक्कर लेने की तैयारी से पहले ही इसने अपने स्त्री-बच्चों को जम्बू भेज दिया था। पानीपत के युद्ध में महाराजा सूरजमल ने भी सदाशिवराव भाऊ को इसी प्रकार का परामर्श दिया था कि आप स्त्री तथा बच्चों को सुरक्षित स्थान पर भेज दें। किन्तु भाऊ ने इस बात को नहीं माना और इसका परिणाम भुगतना पड़ा। यह एक आश्चर्य की बात है कि जो बात भरतपुर का जाट सोचता है वही बात पंजाब का जाट भी सोचता है। विजय के मद में चूर अब्दाली की सेना को चरहतसिंह ने छापा मार कर तंग कर दिया और अब्दाली की सेना जब नदी पार कर रही थी तो जाटों ने ऐसा आक्रमण किया कि उनके होश उड़ गए। अन्त में पठान भाग निकले। अब्दाली की अनुपस्थिति में चरहतसिंह ने वजीराबाद और अहमदाबाद को लूटकर अपने अधिकार में कर लिया।

अहमदाबाद में चरहतसिंह को सूचना मिली कि नूरुद्दीन हिन्दुओं को तंग कर रहा है तो वह तुरन्त उससे मुकाबिला करने के लिये चल पड़ा। इस लड़ाई में नूरुद्दीन हार कर भाग निकला। इसके बाद चरहतसिंह ने चकवाल और पिण्ड दादनखां को जीता। नूरुद्दीन की पराजय का समाचार जब लाहौर के सूबेदार ख्वाजा हमैयदखां ने सुना तो वह अपनी फौज लेकर जाटों को पाठ पढ़ाने के लिए चल पड़ा। गुजरानवाला के पास दोनों में भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में हमैयद खां को मुंह की खानी पड़ी। इस विजय ने चरहतसिंह का प्रभाव और भी बढ़ा दिया। जम्बू राज्य के बाप-बेटे (रणजीतदेव और

ब्रजराजदेव) की आपसी लड़ाई में चरहतसिंह ने रणजीतदेव के बेटे ब्रजराजदेव का साथ दिया और इसमें इसके सहायक कन्हैया मिसल के सरदार भी थे। उधर रणजीतदेव के पक्ष में भंगी मिसल के सरदार डरे हुये थे। इस लड़ाई में चरहतसिंह की मृत्यु होगई।

इसके बाद इसका चौदह वर्षीय लड़का महासिंह गद्दी पर बैठा परन्तु इसके अवयस्क होने के कारण राज्य का कार्य इसकी मां देशां ने सम्भाला। उसके कुछ सरदार बागी भी हुये, परन्तु वे सफलता प्राप्त नहीं कर सके। इसने जीन्द के राजा गजपतसिंह की लड़की से विवाह करके अपनी शक्ति बढ़ाई। देशां ने कन्हैया मिसल के साथ मिलकर रसूलनगर के शासक पीर मुहम्मद पर आक्रमण किया। इस लड़ाई का कारण यह था कि भंगी सरदार झण्डासिंह ने मुसलमानों से जो दमदमा नामक तोप छीनली थी, उसे पीर मुहम्मद के पास अमानत के रूप में रख दिया था, वह उस तोप को देने से आनाकानी करने लगा। अन्त में पीर मुहम्मद की हार हुई और उसे मार दिया गया। तैमूर लंग के आक्रमण के समय मुलतान और वहाबलपुर भंगी मिसल के सरदार के अधीन थे। भंगी सरदार तैमूर के आक्रमण को रोकने में विफल रहा और उसने मुलतान वहावलपुर के स्थान छोड़ दिये। भंगी सरदारों की इस निर्बलता का लाभ उठाकर महासिंह ने उनके ईशाखेत और मूसाखेत नामक स्थानों पर अधिकार कर लिया। भंगी सरदारों ने महासिंह की अनदेखी करदी। परिणाम यह हुआ कि महासिंह का उत्साह बढ़ गया और उसने भंगी मिसल के कोटली नामक स्थान पर कब्जा कर लिया। यह स्थान बन्दूक बनाने में बड़ाप्रसिद्ध था।

जम्मू को लेकर सुकरचकिया मिसल और कन्हैया मिसल में परस्पर लड़ाई आरम्भ होगई और जीत महासिंह की हुई। इस लड़ाई का कारण यह था जम्बू के राजा ब्रजराजदेव की अव्यवस्था के कारण इसका कुछ क्षेत्र अन्य मिसलवालों ने छीन लिया था। अतः कन्हैया मिसल और सुकरचकिया मिसल के मध्य एक समझौता हुआ कि दोनों मिलकर जम्मू पर आक्रमण करदें और जीत के बाद उसे आधा-आधा बांटलें। वायदे के अनुसार महासिंह कन्हैया मिसल से पहिले जम्मू पहुँच गया और वहां लूट-पाट करके चलता बना। कन्हैया मिसल ने जब यह देखा कि महासिंह का प्रभुत्व दिन प्रतिदिन बढ़त जारहा है और उससे पार पाना कठिन है, तो उन्होंने अपने सरदार की लड़की

महताबकौर का विवाह महासिंह के लड़के रणजीतसिंह से कर दिया और इस प्रकार दोनों मिसलों में मेल होगया। महासिंह की महत्त्वाकांक्षा दिन प्रतिदिन बढ़ती गई और इसने भंगी मिसल के सरदार साहबसिंह से खिराज मांगा। इससे नाराज होकर साहबसिंह ने सुकरचकिया मिसल के क्षेत्र गुजरात पर आक्रमण कर दिया। साहबसिंह ने सहोदरा के किले में बैठकर युद्ध किया। तीन महीने तक महासिंह ने सहोदरा पर घेरा डाले रखा, परन्तु बीमार हो जाने पर इसे गुजरान वाला में आना पड़ा और यहां इसकी सन् 1792 ई० में मृत्यु होगई। इसके बाद इस मिसल का नेतृत्व रणजीतसिंह ने सम्भाला।

रणजीतसिंह

सन् 1780 ई० में उत्पन्न हुये रणजीतसिंह के बाल्यकाल के विषय में हमें इतना ही पता चलता है कि इन्हें बचपन में घुड़सवारी और शिकार का अत्यधिक शौक था। रणजीतसिंह जब मात्र दस वर्ष का ही था तो इसे भंगी मिसल के सरदार साहिबसिंह के विरुद्ध युद्ध में भाग लेने का अवसर मिला। इसने जब सुकरचकिया मिसल की सरदारी सम्भाली तो यह प्रायः बारह वर्ष का था। इस आयु में कपटपूर्ण राजनीति इसकी पकड़ से बाहर थी, अतः राज्य का प्रबन्ध इसकी मां राजकौर के (जो कि जींद के राजा गजपतसिंह की बेटी थी तथा जिसे ससुराल में माई मालवां नाम से जाना जाता था) विश्वासपात्र दीवान लखपतराय के हाथों में ही रहा। रणजीतसिंह की राज्य में अरुचि को देखकर इसकी मां को भविष्य की चिन्ता हुई और इसने कन्हैया मिसल के सरदार जयसिंह की विधवा रानी सदाकौर से बातचीत करके इसकी लड़की महताबकौर से रणजीतसिंह का विवाह कर दिया। इस प्रकार सुकरचकिया और कन्हैया मिसल का परस्पर सम्बन्ध पंजाब के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी बना। यद्यपि यह विवाह रणजीतसिंह के जीवन में मधुर सम्बन्धों को स्थापित नहीं कर सका तथापि रानी सदाकौर ने अपने निजी स्वार्थों के कारण रणजीतसिंह से अच्छे सम्बन्ध रखे और कन्हैया मिसल को अन्य मिसलों के आक्रमण से बचाये रखने के लिए रणजीतसिंह का सहारा लेती रही।

अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए रणजीतसिंह ने प्राचीन भारतीय राजनीति का आश्रय लेते हुए अपना दूसरा विवाह नकई

मिसल के सरदार की बहन से किया। इधर अब रणजीतसिंह अपने विवाह सम्बन्धों के बढ़ाने में लगा हुआ था तो उधर सुकरचकिया राज्य में घरेलू षड्यन्त्र अपने पंख पसार रहा था। माई मालवा का भाई दलसिंह लखपतराय को हटाकर स्वयं राज्य का प्रबन्धक बनने का इच्छुक था। अतः इसने रानी सदाकौर को अपनी ओर मिलाकर लखपतराय को उस समय मरवा दिया जबकि वह राजस्व की प्राप्ति के लिए बाहर गया हुआ था। सुकरचकिया मिसल के पारस्परिक मनमुटावों से तंग आकर रणजीतसिंह ने यह निश्चय कर लिया कि अब उसे परामर्शदाताओं की कृपा पर नहीं रहना है और राज्य की बागडोर अपने हाथों में लेनी है। राज्यसत्ता का वास्तविक स्वामी बनते समय इसकी आयु सत्तरह वर्ष की थी।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में पंजाब शासन की दृष्टि से चौदह भागों में बंटा हुआ था। सिखों की बारह मिसलें, कसूर पर पठान और हांसी के क्षेत्र में जार्ज थामस कब्जा बनाये बैठा था। सिखों के लिए थामस की अपेक्षा पठान ज्यादा खतरनाक थे। अहमद-शाह अब्दाली के आक्रमणों से इन्हें यह अनुभव हो चुका था कि पठान सिखों के शत्रु हैं। अब्दाली के पोते शाह जमाँ ने यह चाहा कि वह पंजाब के उन क्षेत्रों पर अपना आधिपत्य बनाये जिन्हें उसके दादा ने जीता था। सन् 1796 ई० में शाह जमां ने पंजाब को जीतने के लिए प्रस्थान किया। इस आक्रमण की सूचना मिलते ही मिसलदार और साधारण लोग भय के कारण सुरक्षा के लिए पहाड़ों पर जाने लगे। शाह जमां का लाहौर पर अधिकार होने पर सबसे बड़ा खतरा साहिबसिंह भंगी और रणजीतसिंह सुकरचकिया के राज्यों को था। भंगी मिसल के सरदार साहिबसिंह ने शाह जमां को रोकने का असफल प्रयास किया और इसे पूर्व की ओर भागना पड़ा। अब रणजीतसिंह की बारी थी। इसने पांच हजार घुड़सवारों के साथ उस अफगान सेना का मुकाबला करने की सोची जो कि तोपों आदि से सुसज्जित थी। रणजीतसिंह ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अमृतसर में 'सरबत खालसा' बुलाया। इसमें बहु-संख्यक प्रतिनिधियों ने रणजीतसिंह को प्रतिरोध करने की योजना को छोड़ने के लिए कहा, परन्तु रानी सदाकौर ने रणजीतसिंह को मुकाबला करने के लिए प्रोत्साहित किया। रणजीतसिंह सिखों की सेना लेकर लाहौर की ओर चल दिया। इसने

अपनी शक्ति और उत्साह से लाहौर से अफगानों को मार भगाया। इसी समय सन् 1797 के आरम्भ में शाह जमां को सूचना मिली कि इसका भाई महमूद अफगानिस्तान में विद्रोह पर उतारू हो रहा है, अतः शाह जमां को काबुल वापिस जाना पड़ा। इस घटना ने रणजीत-सिंह को सिखों का ही नहीं अपितु पंजाब का नायक बना दिया।

रणजीतसिंह के हाथों मार खाने की घटना को शाह जमां भूला नहीं था। अतः अपने भाई द्वारा किए जानेवाले विद्रोह को दबाकर वह पुनः सन् 1798 में पंजाब जीतने की इच्छा से तथा सिखों को उचित दण्ड देने की भावना से प्रेरित होकर लाहौर के लिए चल पड़ा। पुनः एक बार पंजाब में भय का वातावरण छागया और लोग जहां जिसके सींग समाये वहीं शरण पाने के लिए चल पड़े। रणजीतसिंह ने पुनः अमृतसर में 'सरवत खालसा' बुलाया। बहु-संख्यकों ने मुका-बला न करके पहाड़ों में जाकर शरण लेने की बात कही। परन्तु रणजीतसिह की सास रानी सदाकौर ने मिसलों के सरदारों से कहा कि तुम 'राखी कर' लेते हो, अतः तुम्हारा यह दायित्व बनता है कि जनता के जान और माल की रक्षा करो। रणजीतसिंह ने अपनी सास का पक्ष लिया और अफगानों से लोहा लेने के लिए तैयार हो गया।

शाह जमां ने अपने पक्षधर कांगड़ा के संसारचन्द्र और जम्मू के राजा को लिखा कि वे अपने-अपने राज्यों में सिखों को शरण न दें। नवम्बर 1798 में शाह जमां लाहौर पहुंच गया। इसके बाद शाह जांम ने अपनी एक सैनिक टुकड़ी अमृतसर की ओर भेजी। रणजीतसिंह नें अमृतसर से निकलकर इस टुकड़ी पर आक्रमण किया और इसे भगा दिया और लाहौर तक उसका पीछा किया। युद्ध से सिखों को न जीत-कर अब शाह जमां ने साम और भेद नीति का आश्रय लिया। इसमें इसे कुछ सफलता मिलने ही वाली थी कि गुरु नानक की परम्परा के साहिब बेदी ने सिखों को उद्बोधित किया और वे साम और भेद नीति के शिकार होने से बच गये। अन्त में पुनः अफगानिस्तान से सूचना मिली कि शाह का भाई बगावत पर उतारू है। अतः शाह को निराश होकर लौटना पड़ा। रणजीतसिंह ने शाह की लौटती सेना का झेलम तक पीछा किया और उसको माल और जान की हानि पहुंचाई।

अफगान सेना के लाहौर से हटने के बाद तीन सिख सरदारों ने लाहौर पर पुनः अधिकार कर लिया। इनके नाम चेतसिंह, साहिबसिंह

महाराजा रणजीतसिंह
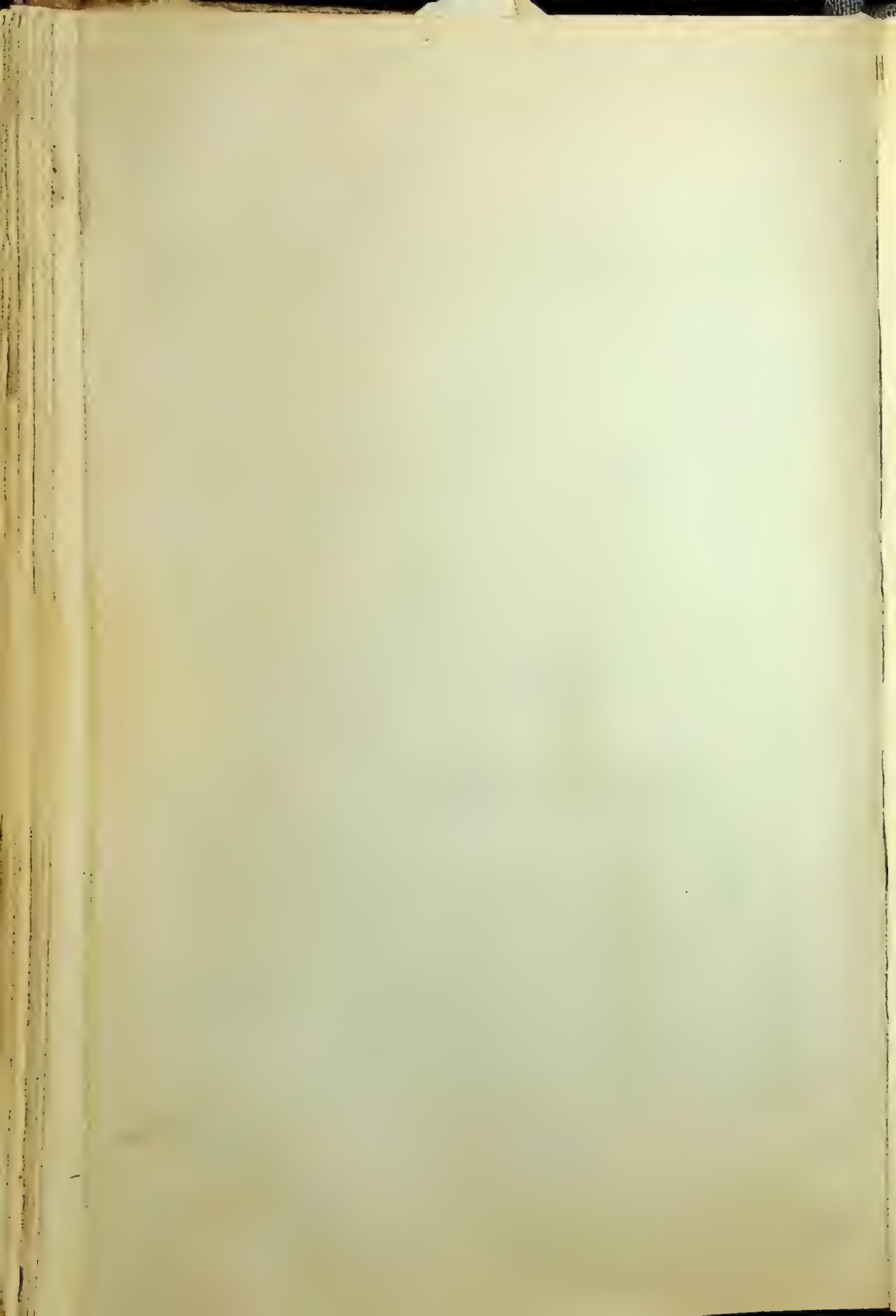
और मोहरसिंह थे। परन्तु इन तीनों के प्रबन्ध से लाहौर के नागरिक बड़े दु:खी थे, अतः उन्होंने रणजीतसिंह को लाहौर का प्रबन्ध सम्भालने का निमन्त्रण दिया। रणजीतसिंह से अपने एजेण्ट काजी अब्दुल रहमान को लाहौर भेजकर सब समाचार मालुम किये और विश्वास हो जाने पर सेना लेकर बटाला आये और अमृतसर से पांच हजार सैनिक लेकर लाहौर के लिये चल दिये। देखते ही देखते नगर पर अधिकार कर लिया। रणजीतसिंह की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई जागीर, विजय और प्रतिष्ठा से सिख, हिन्दू और मुसलमान पहले से ही चौकन्ने होते जा रहे थे, परन्तु लाहौर के आधिपत्य ने रही-सही कमी को पूरा कर दिया। अब वे सरदार रणजीतसिंह की अपेक्षा महाराजा रणजीतसिंह कहलाने लगे।

रणजीतसिंह के यश और प्रसिद्धि के विस्तार के साथ सिख मिसलदारों के हृदय में इसके प्रति छिपी शत्रुता अब स्पष्ट रूप से घृणा में परिवर्तित होती दिखाई देने लगी। रणजीतसिंह को लाहौर से भगाने के लिये इसके भारतीय विरोधी भंगी मिसल के सरदार जम्मू का राजा, कसूर का पठान नवाब निजामुद्दीन खां अमृतसर में इकट्ठे हुये और लाहौर पर आक्रमण के लिये चल पड़े। रणजीतसिंह ने इन्हें लाहौर से दस मील की दूरी पर भसीन के मैदान में आगे बढ़ने से रोक दिया। रणजीतसिंह का विरोधी संघ शिथिल सम्बन्धों पर आधारित था। इसका मुखिया गुलाबसिंह भंगी सरदार भसीन नामक गांव में बसन्त ऋतु की मादकता के कारण स्त्री और शराब के नशे में चूर रहा। उसे युद्ध की कोई विशेष चिन्ता नहीं थी। एक दिन अत्यधिक शराब पीने के कारण इसकी मृत्यु होगई और विरोधी संघ की सेनाएं तितर- बितर होगईं। भसीन को घटना ने रणजीतसिंह को अधिक सावधान कर दिया और वह इस बात के लिए सतत चेष्टा करने लगा कि उसके विरोधियों का संघ न बनने पाये। अतः इसने सर्वप्रथम जम्मू के राजा के विरुद्ध चढ़ाई की। जम्मू के राजा ने हथियार डाल दिये और रणजीतसिंह को एक हाथी तथा बीस हजार रुपया दण्ड के रूप में दिया। इस आक्रमण में रणजीतसिंह ने बीरोवाल, नरोवाल तथा सरसोवाल कस्बे अपने राज्य में मिला लिये।

इसके उपरान्त भंगी सरदार का नम्बर आया। भंगी मिसल तथा रणजीतसिंह में परस्पर युद्ध का अर्थ था कि बाह्यशक्तियां बीच

में कूदकर सिखों के संगठन को कमजोर करदें। शाह जमां ने रणजीत सिंह के विरोधी पक्षों के पास दूत भेजने आरम्भ कर दिये। पंजाब के दक्षिण में हांसी के जार्ज थामस ने सतलुज तक बढ़ जाने की योजना बनाई और इधर फ्रेंच जनरल पेरोन ने सहायता के प्रतिफल में पंजाब का बड़ा भारी भाग चाहा। सिखों के संगठन को टूटने से बचाने के लिए फिर एक बार साहिबसिंह बेदी उपस्थित हुए और उन्होंने सभी मिसलों के सरदारों से पारस्परिक झगड़े भूलकर जार्ज थामस के विरुद्ध लड़ने का वचन ले लिया। इस प्रकार सिखों का परस्पर साक्षात् टकराव न होने पाया। परन्तु रणजीतसिंह ने अकालगढ़ के मुखिया को अवश्य दण्ड दिया। जिसने भंगी सरदार का पक्ष लिया था और इसके क्षेत्र को अपने राज्य में मिला लिया।

इधर रणजीतसिंह जब लाहौर वापिस आया तो उसे सूचित किया गया कि शाह जमां का दूत भेंट के साथ उनसे मिलना चाहता है। रणजीतसिंह ने इस अवसर को अपने हाथ से नहीं जाने दिया और शाह के दूत को अधिक मूल्यवान् भेंट देकर विदा किया। इस प्रकार इसने शाह के अन्य सिख सरदारों के साथ सम्बन्ध के न होने में कूट-नीति अपनाई। इसके बाद रणजीतसिंह ने अपना ध्यान कसूर के पठान राजा की ओर केन्द्रित किया। निजामुद्दीन खां रणजीतसिंह की सेना का मुकाबला न कर सका और रणजीतसिंह की आग में पंतगे की तरह झुलस कर रह गया और पठान नवाब ने रणजीतसिंह को अपना स्वामी मान लिया। इसके उपरान्त कांगड़ा के संसारचन्द्र की बारी आई। कांगड़ा के राजपूतों ने पहाड़ों से उतरकर रानी सदाकौर के कुछ ग्रामों पर अधिकार कर लिया था। रणजीतसिंह की सेना ने रानी सदाकौर के उन ग्रामों को वापिस ले लिया और इसके साथ साथ संसारचन्द्र के राज्य के समृद्धिशाली नगरों नूरपुर और नौशेरा को अपने राज्य में मिला लिया। लाहौर वापिस आते हुये रणजीतसिंह तरनतारन रुके। यहां इन्होंने फतहसिंह आलुवालिया को जो स्नानार्थ आया हुआ था, पगड़ी बदलकर अपना 'धर्मभाई' बनाया। इस अव-सर पर दोनों ने वचन लिया कि भविष्य में एक का शत्रु दूसरे का भी शत्रु और एक का मित्र दूसरे का भी मित्र होगा। इन दोनों ने मिलकर झेलम नदी को पार किया और ढ़ाणी पोठोहार को अपने राज्य में मिला लिया। इसके उपरान्त इन्होंने भंगी सरदारों के समर्थक चिनौट

जस्सासिंह ढ़ीलो पर आक्रमण किया और इसे विजित करके अपने राज्य की सेवा में ले लिया।

जबकि रणजीतसिंह फतेहसिंह आलुवालिया के साथ मिलकर पंजाब के उत्तर में व्यस्त थे तो कसूर के नवाब निजामुद्दीन ने इनकी अनुपस्थिति में लाहौर के समीप कुछ गांवों को लूट लिया था। अतः निजामुद्दीन को भी पाठ पढ़ाना उचित था और रणजीतसिंह ने निजामुद्दीन पर आक्रमण किया। निजामुद्दीन ने बड़ी कठिनाई से आत्मसमर्पण किया और अपने कार्य के लिए क्षमा मांगी। पंजाब पर अफगान आक्रमण के समय से मुलतान जिला पंजाब की अपेक्षा काबुल से प्रशासनिक दृष्टि से सम्बन्ध रखता था। यहां के प्रशासक सिखों एवं हिन्दुओं को हीनता की दृष्टि से देखते थे। रणजीतसिंह ने निश्चय किया कि मुलतान को लाहौर के साथ जोड़ा जाये। जब मुलतान पर आक्रमण की योजना सिख सरदारों के सम्मुख रखी गई तो उनमें से एक ने कहा कि मुलतान के नवाब से टकराव उचित नहीं है। परन्तु रणजीतसिंह रणजीतसिंह था। एक बार मन में बैठी बात को टालना जानता नहीं था। और मुलतान पर आक्रमण कर ही दिया गया। अन्ततः रणजीतसिंह की विजय हुई और मुलतान के नवाब मुजफ्फरखां ने काबुल को राजस्व देने की अपेक्षा लाहौर को राजस्व देना स्वीकार कर लिया। मुलतान की विजय रणजीतसिंह के जीवन में बड़ी महत्त्वपूर्ण रही। इस विजय के उपलक्ष्य में इसने अपने तीनवर्षीय युवराज खड़गसिंह की सगाई कन्हैया मिसल के जयमलसिंह की लड़की चान्दकौर से की। इसके अरिरिक्त मुलतान की विजय रणजीतसिंह के व्यक्तिगत जीवन से भी इतने समीप से जुड़ गई कि उसे भुलाया नहीं जा सकता। मुलतान में की विजय के उपलक्ष में होनेवाले एक नृत्य समारोह में रणजीतसिंह की दृष्टि एक नृत्यांगना पर इतनी ठहर गई कि महाराजा ने उससे विवाह कर लिया। इस नृत्यांगना का नाम मोहरां था। यह प्रायः महाराजा के साथ बिना पर्दे के देखी जाती थी।

पंजाब में दूसरे क्रम का सबसे बड़ा नगर अमृतसर व्यापारिक एवं धार्मिक दृष्टि से लाहौर से अधिक महत्त्वपूर्ण था। यह उत्तर भारत का प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था जहां विभिन्न दिशाओं से व्यापारी आकर अपना माल बेचते थे। व्यापारिक केन्द्र के अतिरिक्त सिखों की दृष्टि

में इस नगर का अपना एक विशेष महत्त्व था। क्योंकि इसकी स्थापना चौथे गुरु रामदास द्वारा की गई थी। इसी नगर में पांचवें गुरु अर्जुनदेव ने 'आदि ग्रन्थ' का सम्पादन किया था। अत: किसी भी राजा के लिए जो सिखों का नेता बनने की इच्छा रखता हो अमृतसर पर अधिकार रखना आवश्यक था। अमृतसर के व्यापारिक घराने अपना पैसा उगाहने के लिए हथियारबन्द व्यक्ति रखते थे। इन घरानों के हथियारबन्द व्यक्तियों में कभी-कभी बाजार में झड़पें होती रहती थीं। अत: नागरिक इस प्रकार के झगड़ों से परेशान थे और उन्होंने गुप्त रूप से रणजीतसिंह के पास सन्देशा भेजा कि वह अमृतसर को अपने अधिकार में लेले। रणजीतसिंह के एजेण्ट ने भी इन्हें सूचित किया कि अमृतसर में भंगी सरदार को विधवा माई सुखां के अधिकार में गोविन्दगढ़ का किला है और उसे रामगढ़िया मिसल की सहायता का भरोसा रहता है। सन् 1802 ई० में रणजीतसिंह रानी सदाकौर तथा फतहसिंह आलुवालिया की संयुक्त सेना ने अमृतसर को घेर लिया। रानी माई सुखां ने सेना का प्रतिरोध किया, परन्तु रामगढ़िया मिसल के सरदार की सहायता न मिलने से हथियार डालने पड़े। इस प्रकार अमृतसर भी रणजीतसिंह के राज्य का अंग बन गया और रणजीतसिंह को जमजमा (दमदमा) नामक तोप भी प्राप्त होगई, जिसने पानीपत के युद्ध में मराठों में आतंक फैला दिया था। अमृतसर की विजय से रणजीतसिंह को अकाली फूलासिंह की सेवायें भी प्राप्त होगई। यह व्यक्ति निहंगों का सरदार था। अमृतसर की विजय से रणजीतसिंह का यश और भी फैल गया और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भगौड़े सैनिक इसकी शरण में आने लगे। महाराजा रणजीतसिंह अंग्रेजी सेना की कवायद से बहुत ही अधिक प्रभावित था। वह चाहता था कि इसकी सेना भी इसी प्रकार प्रशिक्षित हो। परन्तु सिख सैनिक तो घुड़सवारी की सेना में ही विश्वास करते थे। वे पैदल चलकर भूमि पर लड़ना अपनी शान के विरुद्ध समझते थे। रणजीतसिंह ने जैसे-तैसे सिख सिपाहियों को समझाया और अपनी सेना को आधुनिक प्रशिक्षण दिलवाया।

इसके बाद रणजीतसिंह ने पंजाब के स्वतन्त्र रजवाड़ों के पास राजदूत भेजकर पंजाब की अधीनता (रणजीतसिंह की अधीनता) स्वीकार करने के प्रस्ताव भेजे। परन्तु इन रजवाड़ों में से झंग के आस-पास शासन करनेवाले अहमदखां स्याल ने राजदूतों की बात नहीं

मानी। रणजीतसिंह ने इसे बुरा माना और झंग पर आक्रमण कर दिया। अन्ततः अहमदखां स्याल को हथियार डालने पड़े और रणजीतसिंह का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

अंग्रेजों और मराठों के संघर्ष में रणजीतसिंह की स्थिति बड़ी विचित्र होगई। लार्ड लेक द्वारा पीछा की जाती हुई होल्कर की सेना रणजीतसिंह के राज्य की सीमा में आगई और रणजीतसिंह की सहायता के लिए इच्छा प्रकट की। रणजीतसिंह ने इस अवसर पर 'सरबत खालसा' बुलाया परन्तु वे किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुंच सके। रणजीतसिंह को तत्कालीन परिस्थितियों में यह प्रतीत हो रहा था कि इसकी और मराठों की संयुक्त शक्ति अंग्रेजों से लोहा लेने में पूर्णतः समर्थ नहीं है। अतः रणजीतसिंह ने अंग्रेजों और मराठों के मध्य समझौता कराने का प्रयास किया। इसे रणजीतसिंह का सौभाग्य ही समझिये कि लार्ड वैलजली के स्थान पर लार्ड कार्नवालिस गवर्नर जनरल बनकर भारत आये। लार्ड कार्नवालिस को विशेष रूप से कहा गया था कि वह भारतीय प्रदेशों को जीतने की योजना को शिथिल करे और होल्कर को उसके प्रदेशों पर बना रहने दे। होल्कर को यह स्पष्ट पता चल गया था कि रणजीतसिंह अंग्रेजों की तरफ झुकता जा रहा है। अतः उसने इसे अच्छा नहीं समझा। इस सम्पूर्ण घटना का यह परिणाम हुआ कि सन् 1805 ई० लाहौर में रणजीतसिंह के साथ अंग्रेजों का एक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार रणजीतसिंह को कहा गया कि अमृतसर से 30 कोस की दूरी तक मराठों की सेना को न रहने दे और वह भविष्य में मराठों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न रखे। इसके प्रतिफल में अंग्रेज महाराजा रणजीतसिंह की सीमाओं में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे और न ही वे महाराजा के भू-भाग पर अधिकार करने की सोचेंगे। ऐसा आश्वासन दिया।

महाराजा रणजीतसिंह बड़े कूटनीतिज्ञ थे। वे यह नहीं चाहते थे कि कोई भी मिसल का सरदार बाह्यशक्तियों से तालमेल बैठाये। इसीलिए उन्होंने पहले भी शाह जमां से सन्धि की थी और इस बार भी अंग्रेजों से सन्धि करने में नहीं चूके। वे अपने दरबार को स्थिर बनाने के लिए पंजाब में कोई ऐसा सरदार, राजा या नवाब नहीं देखना चाहते थे, जो उनकी बराबरी का दावा कर सके। मिसलों के जितने

सरदार थे वे या तो उनके झण्डे के नीचे आगए थे या उनका क्षेत्र महाराजा ने अपने राज्य में मिला लिया था अथवा ये लोग सतलुज पार चले गये थे।

मराठा तथा अंग्रेजों का संघर्ष टलने के उपरान्त एक छोटे-से गांव को लेकर पटियाला एवं नाभा के राजाओं में लड़ाई झगड़ा आरम्भ होगया। इस विवाद में जीन्द ने नाभा का पक्ष लिया तो थानेसर तथा कैथल के मुखियाओं ने पटियाला का साथ दिया। इस स्थिति में दोनों पक्षों ने महाराजा रणजीतसिंह को मध्यस्थता के लिए आमन्त्रित किया। रणजीतसिंह ने इस मौके को मालवा में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के लिए उपयुक्त समझा और दोनों राज्यों में समझौता करवा दिया।

रणजीतसिंह ने सतलुज के उत्तरवर्ती पंजाब पर प्रायः अपनी सत्ता स्थापित करली थी। इसने कसूर से पठानों को समाप्त कर दिया था, मुलतान को अपना करद वना लिया था और सिखों की छः मिसलों को जो इस क्षेत्र में पड़ती थीं लाहौर में मिला लिया था। अव इसकी दृष्टि सतलुज और यमुना के मध्यवर्ती सिखों की शेष मिसलों पर थी। यद्यपि रणजीतसिंह ने दो वार सतलुज को पार करके अपने आपको पंजाव का स्वामी मान लिया था। परन्तु इस स्थिति को अभी अंग्रेजों ने स्वीकार नहीं किया था। इस सम्वन्ध में रणजीतसिंह के विपक्ष में एक वात जाती थी कि 1805 की सन्धि में अंग्रेजों और रणजीतसिंह के मध्य सतलुज नदी सीमा मानी गई थी। पटियाला और नाभा के समझौते के वाद लाहौर वापिस आते हुए रणजीतसिंह ने राजा सिरमौर के नगर नारायणगढ़ पर आक्रमण करके अपने अधिकार में ले लिया। क्योंकि इस राजा ने लाहौर के प्रभुत्व को नहीं माना था। इसी वीच रणजीतसिंह ने सुना कि ढ़ल्लेवालिया मिसल के सरदार तारासिंह घेबा की मृत्यु हो गई है। महाराजा ने तारासिंह की विधवा को पेंशन देकर इसके राज्य को अपने अधिकार में ले लिया। इस घटना से सतलुज पार के रजवाड़ों को यह आशंका होने लगी कि एक-न-एक दिन रणजीतसिंह उनकी सत्ता को भी समाप्त कर देगा। इसी समय नेपोलियन वोनापार्ट एक महान् शक्ति वनकर उभर आया और एक के वाद एक यूरोप की शक्तियों ने उसके आगे घुटने टेकने आरम्भ कर दिये। फ्रांस के नेपोलियन और रूस के मध्य एक समझौता होगया कि

यदि इंगलैंड इसी प्रकार फ्रांस से शत्रुता रखेगा तो रूस फ्रांस की सहायता करेगा और भारत पर आक्रमण करेगा। इंगलैंड तथा भारत के अंग्रेजों को बड़ी चिन्ता होगई। परिणामस्वरूप भारत के गवर्नर जरनल लार्ड मिन्टों ने काबुल के अमीर के पास रोलफिस्टन, ईरान के शाह के पास मेलकम, सिन्ध के राजा के पास पोटिन्जर और मेटकाफ को रणजीतसिंह से बातचीत करने के लिए भेजा।

इसी बीच मालवा के रजवाड़ों (सतलुज पार) ने समाना में अपने भविष्य के लिये एक बैठक की। इस बैठक में विचार प्रकट किया गया कि रणजीतसिंह और अंग्रेज दोनों ही हमें हड़पने के लिए तैयार बैठे हैं। इनमें से रणजीतसिंह तो पक्षाघात के समान हमें एक दम अपंग बना देगा लेकिन ऐसी सम्भावना है कि अंग्रेज हमारे अधिकारों को सुरक्षित रख सकेंगे। अतः इस सम्बन्ध में अंग्रेजी सरकार से मिलना चाहिये। यह सोचकर जीन्द, कैथल, जगाधरी, पटियाला तथा नाभा के सरदारों का एक प्रतिनिधि मण्डल दिल्ली गया परन्तु दिल्ली से उन्हें निराश ही लौटना पड़ा। क्योंकि अंग्रेज अभी तक रणजीतसिंह के विषय में कोई स्थिर नीति नहीं बना पाये थे। इस का पता जब रणजीतसिंह को लगा तो इसने मालवा के सरदारों को अमृतसर बुलाया और उनको विश्वास दिलाया कि वह उनके राज्यों को नहीं हड़पेगा और उनके साथ समानता का व्यवहार करेगा। इस प्रकार रणजीतसिंह ने मालवा के सरदारों को अपने पक्ष में कर लिया। रणजीतसिंह इस बात पर विश्वास नहीं करता था कि इनके अंग्रेजों की मित्रता का हाथ फांसकर भारत पर आक्रमण करने के विचार हैं। रणजीतसिंह का मन यह मानता था कि अंग्रेजों का यह मित्रता का ढकोसला उसके पर काटने के लिये है। क्योंकि अंग्रेज एक तरफ काबुल के अफगानों से मित्रता का हाथ बढ़ा रहे हैं जो कि सिखों के शत्रु हैं तथा दूसरी ओर सिन्ध को मित्रता में बांधना चाहते हैं, जिधर महाराजा रणजीतसिंह अपने राज्य का विस्तार करना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त रणजीतसिंह के पास यह सूचना भी थी कि अंग्रेज सतलुज पार (मालवा) की रियासतों के सरदारों को इस बात के लिये उभार रहे थे कि वे अंग्रेजों को एक प्रार्थना पत्र दें जिसमें रणजीतसिंह के आक्रमण से बचाने की बात लिखी हो।

रणजीतसिंह अंग्रेजों से किसी भी प्रकार समझौता नहीं चाहते थे। परन्तु परिस्थियां इनके विरुद्ध होती गईं। मालवा के सरदार

दोहरी नीति अपनाये हुये थे। वे अंग्रेजों से कहते थे कि रणजीतसिंह अंग्रेजों से युद्ध करने के लिये सेना इकट्ठी कर रहा है और रणजीतसिंह से कहते थे कि अंग्रेज तुम्हारे राज्य पर आक्रमण करना चाहता है। मैटकाफ जब महाराजा रणजीतसिंह से बात-चीत करने के लिए लाहौर पहुंचा तो महाराजा कसूर नामक स्थान पर चले गये। इससे मैटकाफ ने अनुमान लगाया कि रणजीतसिंह अंग्रेजों से मित्रता नहीं चाहते। किन्तु बात यह थी कि महाराजा रणजीतसिंह सन्धि में देरी इसलिये कर रहे थे कि दोस्ती की शर्तों में यह वचन लेना चाहते थे कि जिसका राज जहां तक है वह वहीं तक सीमित रहे। मैटकाफ ने सन्धि की शर्तों में यह बात दोहराई कि सतलुज के पार महाराजा रणजीतसिंह अपना राज्य नहीं बढ़ायेंगे। रणजीतसिंह को यह शर्त मंजूर न थी और वह मैटकाफ की परवाह न करते हुए सतलुज पार हो गये। इसके सरदार कर्मचन्द ने फरीदकोट पर अधिकार कर लिया। महाराजा रणजीतसिंह ने गुरुबक्ससिंह की विधवा दयाकौर का क्षेत्र छीनकर नाभा और कैथल के हवाले किया और गैंडासिंह को अम्बाला का अधिकारी बना दिया। शाहबाद के सरदार कर्मसिंह और थानेसर के सरदार से कर वसूल किया। अंग्रेजी सरकार महाराजा की इन गतिविधियों को मूकदर्शक बनकर न देख सकी और आक्टरलोनी के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना पंजाब के लिये रवाना करदी। इधर मालवा के सरदार भी अंग्रेजों का साथ देते दिखाई पड़े। यहां तक कि रानी सदाकौर (रणजीतसिंह की सास) और भागसिंह जीन्द (रणजीतसिंह का मामा) भी अंग्रेजों के पक्षधर बन गये, जबकि इनके प्रतिनिधि लाहौर दरबार में अपनी निष्ठा प्रकट करते थे।

सम्पूर्ण परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाकर मैटकाफ ने रणजीतसिंह को कहला भेजा कि सतलुज पार की सम्पूर्ण रियासतें अंग्रेजों की शरण में समझनी चाहियें। अन्त में विवश होकर सन् 1809 ई० में रणजीतसिंह ने एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये जिसके अनुसार सतलुज पार की सब रियासतों से उन्होंने अपना दावा हटा लिया।

इस सन्धि के बाद महाराजा रणजीतसिंह ने अपना ध्यान गुजरात और वजीराबाद की ओर केन्द्रित किया और इनको जीतकर अपने अधिकारी नियुक्त किये। सन् 1811 ई० में दीनानगर में पहुँच

कर पहाड़ी राजाओं से कर वसूल किये। इसी समय नकिया तथा फैजलपुरिया मिसल के सरदारों को किसी न किसी बहाने जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। महाराजा रणजीतसिंह कब्जा करने की कूटनीति में विश्वास करते थे। इनकी बहुत दिनों से इच्छा थी कि अपनी सास सदाकौर के क्षेत्र पर भी अधिकार कर लिया जाये। वटाला पहुंचकर महाराजा ने अपनी सास के सामने प्रस्ताव रखा कि राजकुमार शेरसिंह को कोई जागीर दे दे। परन्तु इसके लिये रानी तैयार नहीं हुई तो महाराजा ने अपनी सास को कैद कर लिया। क्योंकि वह अंग्रेजों से मिल जाना चाहती थी। यद्यपि मुलतान से महाराजा रणजीतसिंह को कर और भेंट मिलते रहते थे तथापि महाराजा की यह इच्छा थी कि मुलतान किसी न किसी प्रकार इनके राज्य का अंग बन जाये। अतः महाराजा ने मुलतान पर आक्रमण का आदेश दिया और इसे अपने राज्य में मिला लिया। मुलतान को विजय करने के बाद सुजाबाद को लूटा गया। मुलतान की विजय ने रजणीत के हौंसले बढ़ा दिये और मुसलमानों पर सिखों का आतंक छा गया।

सन् 1818 ई० में रणजीतसिंह को उत्तर-पश्चिम में अपने राज्य विस्तार का अवसर मिला, जिसकी उसे चिर प्रतीक्षा थी। वजीर फतहखां को शाहजादा कामरान ने कत्ल कर दिया, इससे वजीर के कबीले के लोग नाराज होगये और पेशावर गृह-युद्ध में फंस गया। महाराजा रणजीतसिंह ने पेशावर के गृह-युद्ध से लाभ उठाने की इच्छा से अकाली फूलासिंह को बुलाया और परामर्श करना आरम्भ कर दिया। फूलासिंह ने महाराजा को कहा कि यदि आपको अपनी उत्तर पश्चिमी सीमा पठानों और अफगानों से सुरक्षित रखनी हो तो पेशावर तक बढ़ना होगा। महाराजा रणजीतसिंह ने समय खोये बिना पेशावर पर आक्रमण करने की सोच ली। क्योंकि गृह-युद्ध के कारण इस प्रदेश की ओर किसी का ध्यान नहीं था। सन् 1818 ई० में महाराजा रणजीतसिंह लाहौर से अकाली फूलासिंह और हरिसिंह नलवा के साथ पेशावर पर आक्रमण करने के लिए चल पड़े। महाराजा की सेना ने मार्ग में खटक पठानों को परास्त करते हुये खैराबाद, नौशेरा और पेशावर पर अधिकार कर लिया। पेशावर का सूबेदार मोहम्मद खां चौदह तोप और अन्य सैनिक सामान छोड़कर भाग गया। रणजीत सिंह ने पेशावर में जहांदाद खां को सूबेदार नियुक्त किया और लाहौर

लौट आया। लाहौर आकर महाराजा ने अपनी तलवार म्यान में ही डाली थी कि इन्हें सूचना मिली कि जहांदाद खां को फतहखां वजीर के भाई दोस्त मोहम्मद ने निकाल दिया है। महाराजा इस सम्बन्ध में कुछ कार्यवाही करते, इससे पहले दोस्त मोहम्मद ने महाराजा को एक लाख वार्षिक राजस्व देने का प्रस्ताव रखा और कहा कि पेशावर का सूबेदार इसे ही रहने दिया जाये। महाराजा रणजीतसिंह ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

पेशावर की विजय के बाद रणजीतसिंह ने स्पष्ट रूप से कहना आरम्भ कर दिया था कि वह शीघ्र ही कश्मीर पर आक्रमण करेगा। इसकी सूचना कश्मीर के अफगान सूबेदार अजीम खां को जब मिली तो वह सहायता के लिए दिल्ली में अंग्रेजी सरकार के पास गया। आक्टरलोनी ने उत्तर में कहा कि रणजीतसिंह के साथ हुई सन्धि के अनुसार हम सतलुज के उत्तर क्षेत्र में कोई कार्यवाही नहीं कर सकते। अजीम खां अपना-सा मुंह लेकर आगया। अजीम खां ने अपने छोटे भाई जबर खां को कश्मीर घाटी की सुरक्षा का भार सौंपकर और स्वयं अफगानिस्तान की राह पकड़ी। जबर खां ने निर्णय लिया कि लाहौर से सहानुभूति रखनेवालों के साथ कठोरता से व्यवहार किया जाए। उसका हिन्दू कश्मीरियों के प्रति व्यवहार जब असह्य होगया तो वे लोग कश्मीर छोड़ने लगे। कश्मीर छोड़नेवालों में जबर खां का राजस्व मन्त्री पंडित वीरबलधर भी था। पंडित बीरबलधर लाहौर आया और महाराजा से कहा कि कश्मीर पर आक्रमण करने का यह उपयुक्त समय है। इसकी पुष्टि राजौरी के मुखिया अगर खां ने भी की, जो कि उस समय लाहौर में था। इन्होंने लाहौर दरबार को प्रत्येक प्रकार की सहायता देने का भी वचन दिया।

लाहौर दरबार की सेना ने वजीराबाद में डेरा डाला और सेना को तीन भागों में बांटा। एक भाग महाराजा के संरक्षण में तथा अन्य दो भाग मिश्र दिवानचन्द और राजकुमार खड्गसिंह के नेतृत्व में सौंप दिए गए। जब सेना के दो भाग राजौरी के लिए प्रस्थान करने लगे तो महाराजा को सूचना मिली कि अगर खां धोखा देनेवाला है। अतः महाराजा ने मिम्बर के मुखिया सुलतान खां को इस शर्त पर कारागार से मुक्त कर दिया कि वह दरबार-सेना का मार्गदर्शन करेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि दरबार सेना ने जबर खां की सेना को

परास्त कर दिया और महाराजा की विजयी सेना श्रीनगर में प्रविष्ट होगई। कश्मीर का प्रबन्ध मोतीराम को सौंपकर महाराजा रणजीतसिंह मुलतान की ओर चल पड़े। कश्मीर की विजय ने लाहौर दरबार की सीमायें चीन और तिब्बत तक बढ़ा दीं। मुलतान के दौरे को रणजीतसिंह को बीच में छोड़ना पड़ा, क्योंकि इसे सूचना मिली कि जब से कश्मीर सिखों के हाथ में आया है तब से उत्तर-पश्चिम में हजारा के पठान अधैर्यशील होकर उत्पात मचाने पर उतारू हैं। रणजीतसिंह ने हजारा के पठानों को कुचलने के लिए राजकुमार खड्गसिंह तथा मोतीराम के लड़के रामदयाल को भेजा। इस लड़ाई में विजय तो दरबार सेना की ही हुई, परन्तु रामदयाल मारा गया। अपने बेटे की मृत्यु से दुःखी होकर मोतीराम बनारस चला गया और महाराजा रणजीतसिंह ने इसके स्थान पर हरिसिंह नलवा को कश्मीर का सूबेदार नियुक्त किया और हजारा का प्रशासक फतहसिंह आलुवालिया तथा कृपाराम को बनाया।

नौशेरा की लड़ाई सिख जाटों के इतिहास में बड़ा भारी महत्त्व रखती है। इस युद्ध में जाटों ने विरोधियों की सम्मिलित सेना को करारी हार दी थी। वस्तुतः इस लड़ाई का कारण रणजीतसिंह के सरदार फकीर अजीजुद्दीन का राजस्व वसूली के लिए पेशावर जाना था। पेशावर के अधिकारी यार मोहम्मद और दोस्त मोहम्मद दोनों ही रणजीतसिंह के प्रति निष्ठा रखते थे। इन्होंने राजस्व की रकम फकीर अजीजुद्दीन को दे दी और इसके स्वागत में पेशावर को सजाया-धजाया। ऐसा करने से दोनों भाइयों के कबीले के लोग रुष्ट होगये। अजीजुद्दीन अभी लाहौर लौटा ही था कि पठानों ने यार मोहम्मद के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह का नेता यार मोहम्मद का बड़ा भाई अजीम खां था जो कि कश्मीर से भागकर आया था। इसने जिहाद का नारा देकर सिखों के विरुद्ध पठानों को खड़ा कर दिया। इस विद्रोह को दबाने के लिए मिश्र दिवानचन्द, हरिसिंह नलवा, अकाली फूलासिंह तथा अलार्ड और वेनटुरा फ्रांसीसी सरदार और गोरखा सरदार बलभद्र आदि राजकुमार शेरसिंह के नेतृत्व में चल पड़े। राजकुमार शेरसिंह ने कटक नदी को पुल द्वारा पार करके जहांगीरीया पर अधिकार कर दिया। पीछे से आये महाराजा ने देखा कि अफगानों ने पुल को तोड़ दिया है और लाहौर दरबार की सेना पर शत्रु टूटने वाला है।

महाराजा रणजीतसिंह ने पन्द्रह हजार सिखों की सेना को साथ लेकर नदी पार करके जहांगीरीया में फंसी सिख सेना को बचाने की सोची। कटक नदी अपने उफान में थी। किसी की भी हिम्मत नहीं हुई कि वह नदी को पार करे। महाराजा ने ही सर्वप्रथम अपने घोड़े को नदी में उतारा। कहते हैं कि कटक की तेज धारा में हजार के करीब घोड़े बह गये। तोपें हाथियों पर रखकर पार की गईं। इस प्रकार पठानों के पहुंचने से पहले ही महाराजा के नेतृत्व में सेना नदी के पश्चिमी तट पर जा टिकी और शेरसिंह के साथ सारे के सारे सैनिक सुरक्षित होगये। पठान सैनिकों ने अपना दाव चलता न देखकर नौशेरा के मैदान में डेरा डाल दिया। दरबार सेना के तोपखाने ने नौशेरा को घेर लिया। युद्ध आरम्भ हो गया। पठानों ने सिख सेनापति सतगुर सहाय और महासिंह को गोली का निशाना दिया। सिख, पठानों की मार से पहाड़ी से नीचे की ओर उतरने लगे। इतने में फूलासिंह अकाली ने अपने साथियों को ललकारा और भेड़िये की भांति पठानों पर टूट पड़े। फूलासिंह तथा बलमेन्द्र इस लड़ाई में खेत रहे। अब महाराजा ने स्वयं युद्ध की बागडोर सम्भाली। मिश्र दीवानचन्द ने भी अपना तोपखाना लगा दिया। शाम तक रक्तपात होता रहा। अन्त में जाकर बड़ी कठिनता से महाराजा को विजय मिली। मोरक्रोफ्ट लेखक के अनुसार इस युद्ध में लगभग चार हजार अफगान सैनिक मारे गये और पेशावर पर लाहौर दरबार का अधिकार हो गया।

लाहौर दरबार की विजय की सीमायें भौगोलिक दृष्टि से अब उत्तर तथा उत्तर पश्चिम तक फैल चुकी थीं। इससे आगे दुर्गम्य पर्वतीय प्रदेश था। यदि लाहौर दरबार अपने राज्य को और भी विस्तृत करने की इच्छा रखता तो सिन्ध की मरुभूमि का पार करके समुद्र तक फैलता या सतलुज को पार करके आगे बढ़ना महाराजा के लिये कठिन था, क्योंकि अंग्रेजों के साथ सम्पूर्ण हिन्दुस्तानी विरोध के लिये तैयार थे। अत: दरबार ने अपने राज्य को सिन्ध की ओर बढ़ाने की सोची। लेकिन इससे पूर्व कि लाहौर दरबार इस दिशा में कुछ कदम उठाये अंग्रेजों ने अपना प्रतिनिधि बातचीत के लिये सिन्ध के अमीर के पास भेज दिया। इससे महाराजा को बड़ा दु:ख हुआ। अंग्रेजों की सिन्ध में व्यापारिक एवं राजनैतिक दोनों ही प्रकार की रुचियां थीं। क्योंकि उत्तरी भारत में अपना माल पहुंचाने के लिये

हुगली की अपेक्षा सिन्धु नदी इनके लिये अधिक समीप और सुविधाजनक थी। सन् 1829 ई० में अलेक्जेंडर बर्न नामक व्यक्ति को सिन्धु नदी का इस दृष्टि से सर्वेक्षण करने के लिये भेजा गया कि क्या यह नदी नावों द्वारा व्यापारिक मार्ग के लिये सुविधाजनक है ? बर्न ने सर्वेक्षण के उपरान्त अपनी रिपोर्ट लार्ड विलियम बेन्टिग को भेजते हुए लिखा कि इस नदी में व्यापारिक मार्ग की सम्भावनायें हैं। परन्तु सिन्ध के अमीर महाराजा रणजीतसिंह से डरे हुये हैं। यदि अंग्रेज इन्हें महाराजा रणजीतसिंह के आक्रमण के बचाव का वचन दें तो ये लोग मार्ग प्रदान कर सकते हैं। लार्ड विलियम बेन्टिग और रणजीतसिंह की मुलाकात का शीघ्र प्रबन्ध किया गया। बेन्टिग ने महाराजा को समझाया कि यदि सिन्ध द्वारा आपके राज्य की नदियों के माध्यम से व्यापार किया जाये तो वह आपके लिए लाभकारी होगा। रणजीतसिंह ने यह स्वीकार किया कि सिन्ध द्वारा व्यापार लाभकारी हो सकता है, परन्तु उसके राज्य में से होकर सदा व्यापार करते रहने से अंग्रेजों के साथ टकराव की सम्भावना हो सकती है। परन्तु अन्त में महाराजा रणजीतसिंह को अनिच्छा से सन्धि करनी पड़ी।

महाराजा रणजीतसिंह का अधिकांश जीवन युद्ध की रंग-रलियों में बीता। जिस दिन से इनके पिता का देहान्त हुआ था उसी दिन से वह युद्धों में भाग लेते रहे। वे बारह वर्ष की कच्ची आयु में पक्के सैनिक बनकर उतरे थे और साठ साल तक युद्ध करने में व्यस्त रहे। रणजीतसिंह घर के लोगों से लगाकर काबुल तक के लोगों से लड़ते रहे। गोरखा, पठान, मुगल और राजपूत सभी से इन्होंने अपना बल तोला था। इनका लोहा सभी ने स्वीकार किया। यदि अंग्रेज भारत में न आये होते तो अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान तो महाराजा रणजीतसिंह के हाथ में होते ही इसके साथ तिब्बत, मालवा सिन्ध और राजपूताना भी इनके हाथ में होता। यदि धौलपुर और भरतपुर के पैर फैलते जैसे कि सम्भावना थी तो पंजाब से लगाकर विन्ध्याचल तक एक ऐसा साम्राज्य बनता जो जाट साम्राज्य के नाम से जाना जाता। परन्तु ईश्वर को यह स्वीकार नहीं था। रणजीतसिंह को इतना बड़ा राज्य स्थापित करने में अत्यधिक परिश्रम करना पड़ा। इस परिश्रम से इनका शरीर चूर-चूर हो गया था। लाहौर के दरबार को इतने राजाओं, नवाबों और खानों तथा अमीरों को हराना पड़ा कि

सम्भवतः किसी एक शासक ने न हराये हों। इस प्रकार इस असीम शक्ति के धनी और अदम्य उत्साही जाट राजा की बीस जून सन् 1839 ई० में मृत्यु होगई। इसकी वीरता को देखते हुए अंग्रेजों ने भी इन्हें 'पंजाब केसरी' माना। जैक्मों नामक फ्रांसीसी यात्री के लेखानुसार "रणजीतसिंह असीम साहसी शूरवीर था और उसकी बातचीत से सदा भय-सा लगा रहता था।" प्रिन्सेप ने महाराजा की अनुपम योग्यता को देखते हुए लिखा है कि "एक अकेले आदमी द्वारा इतना बड़ा विशाल राज्य इतने कम अत्याचारों से कभी स्थापित नहीं हुआ था।"

रणजीतसिंह के बाद

महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के उपरान्त इनका उत्तराधिकारी खड्गसिंह बना। वस्तुतः उत्तराधिकार का मामला तो सन् 1826 ई० से ही विवाद का विषय बन गया था। क्योंकि महाराजा रणजीतसिंह के सोलह रानियां थीं। इनमें से नौ से तो विधिवत् विवाह किया गया था तथा शेष सात को 'चादर प्रथा' के अनुसार पत्नी बनाया गया था। इन रानियों में से सात सिख जाटों को, पांच हिन्दू जाटों को, दो राजपूतों को, दो मुसलमानों को, एक हिन्दू जमीदार परिवार से सम्बन्धित थी। शेरसिंह कन्हैया मिसल की रानी महताबकौर का पुत्र था और खड्गसिंह नकई मिसल की रानी का बेटा था। प्रायः महाराजा अपनी अनुपस्थिति में राज्य का भार इन्हीं दोनों पुत्रों को सौंपते थे। इनमें से भी अधिक भार शेरसिंह को सौंपा जाता था, क्योंकि वह अपने कार्यों से लोकप्रिय हो चुका था। अतः स्वाभाविक था कि शेरसिंह की लोकप्रियता खड्गसिंह की आंखों को न भायेगी। सन् 1826 ई० में जब महाराजा रणजीतसिंह लाहौर से बाहर गये तो वे शेरसिंह को स्थानापन्न रूप में कार्यभार सम्भलवा गये। इससे खड्गसिंह को कड़ी जलन हुई। इसी वर्ष के अन्त में जब महाराजा रणजीतसिंह बीमार पड़े तो खड्गसिंह ने अंग्रेजों के सहयोग से अपने आपको उत्तराधिकारी घोषित करवाने का प्रयास किया। इसने यह भी प्रचार किया कि शेरसिंह महाराजा रणजीसिंह का वास्तविक पुत्र नहीं है। यह तो रानी सदाकौर द्वारा थौंपा गया महाराजा का बेटा है।

महाराजा रणजीतसिंह ने अपनी मृत्यु से पूर्व फकीर अजीजुद्दीन के परामर्श पर खड्गसिंह को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया और उसी समय ध्यानसिंह को इनका मुख्यमन्त्री भी बना दिया गया। महाराजा रणजीतसिंह ने खड्गसिंह को उत्तराधिकारी तो बना दिया था किन्तु महाराजा की मृत्यु के उपरान्त यह राज्य संचालन में सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुआ। थोड़े ही दिनों के इसका मनमुटाव मुख्यमन्त्री ध्यानसिंह से होगया और वे शनैः-शनैः एक दूसरे के प्राण लेने तक तैयार होगये। खड्गसिंह ने ध्यानसिंह को हटाकर चेतसिंह को मन्त्री बना दिया और स्वयं शराब के नशे में धुत होकर भोग विलास में डूब गया। चेतसिंह के मन्त्री बनाये जाने पर ध्यानसिंह और भी नाराज होगया और खड्गसिंह के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगा। इसने यह प्रचारित किया कि खड्गसिंह ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली है और पंजाबी सेना में सिखों के स्थान पर अंग्रेजी सरदार और सैनिक रखे जायेंगे। ध्यानसिंह ने अपनी धूर्तता से यही विचार खड्गसिंह की रानी और इसके पुत्र के मन में बैठा दिये। एक दिन कई सरदारों की सहायता से ध्यानसिंह ने गुलाबसिंह आदि सरदारों के सहयोग से चेतसिंह को मरवा दिया और महाराजा खड्गसिंह को किले में नजरबन्द करके इनके स्थान पर इनके बेटे नौनिहालसिंह को राजा बना दिया गया।

नौनिहालसिंह ने राजा बनते ही सर्वप्रथम अंग्रेज कर्नल वेड को अपने राज्य से हटाने के लिये गवर्नर जनरल के पास प्रार्थना-पत्र दिया, क्योंकि नये महाराज की दृष्टि में कर्नल वेड सिख राज्य को हड़पने की गिद्ध दृष्टि लगाये हुये था। लार्ड आकलेण्ड ने सिखों को प्रसन्न करने की इच्छा से कर्नल वेड के स्थान पर मिस्टर क्लार्क को लाहौर भेज दिया। लेकिन सभी अंग्रेज एक समान होते हैं और लाहौर आते ही मिस्टर क्लार्क भी कर्नल वेड की नीतियों पर चलने लगे। इससे नौनिहालसिंह को बड़ी निराशा हुई। नौनिहालसिंह के बारे में महाराजा रणजीतसिंह ने कहा था कि "मेरी मृत्यु के बाद इस लड़के को पंजाबवासी सच्चा राजा पायेंगे।" नौनिहालसिंह के मन में पक्का विश्वास होगया था कि वह अफगानिस्तान से लेकर बनारस तक राज करेगा। इसी आशा में इसने अपने सरदारों को मौखिक सनदें भी दे दी थीं। इसके पिता खड्गसिंह नजरबन्दी की अवस्था में

ही सन् 1840 ई० में स्वर्ग सिधार गये। जब नौनिहालसिंह अपने पिता का अन्तिम संस्कार करके आरहा था कि एक षड्यन्त्र द्वारा इसके ऊपर दरवाजा गिरवाकर इसको मरवा दिया गया। दरवाजा गिरवा कर राजाओं की हत्या करवाना भारतीय इतिहास में परम्परा रही है। चाणक्य ने तोरण द्वार गिरवाकर पर्वतराज की मृत्यु करवाई थी। इसी प्रकार गयासुद्दीन तुगलक की मृत्यु भी इसके पुत्र जूनाखां ने लकड़ी का मण्डप गिरवाकर करवाई थी।

ध्यानसिंह ने अपने स्वार्थसाधन के लिए रानी चांदकौर (नौनिहाल की मां) को बुलाकर कहा कि कुमार तो मर गया है और अब तुम शासन सम्भालो। इधर ध्यानसिंह ने शेरसिंह को लाहौर बुला लिया जो पहले ही लाहौर दरबार का दावेदार बनकर अंग्रेजों से राज प्राप्त करवाने के लिये प्रार्थना कर रहा था। अंग्रेजों ने इसे राजा मानने की स्वीकृति प्रदान करदी। इधर रानी भी चुप बैठनेवाली नहीं थी। इसने भी हरिद्वार से सिन्धानवाले सरदार अत्तरसिंह को अपने पक्ष को दृढ़ करने के लिये बुला लिया। महारानी स्वयं राज्यसत्ता प्राप्त करना चाहती थी। इसने कहा कि नौनिहालसिंह की पत्नी गर्भवती है अतः इसकी सन्तान ही गद्दी की अधिकारी होगी और शेरसिंह राजा नहीं बनाया जा सकता। अधिकतर सिख महारानी के पक्ष में थे। अब अन्य कोई उपाय न देखकर ध्यानसिंह ने एक चाल चली कि महारानी को पंजाब की स्वामिनी और शेरसिंह को शासनसभा का प्रधानमन्त्री बनवाया और स्वयं मन्त्री बन गया। शनैः-शनैः ध्यानसिंह ने रानी के प्रति लोगों के मन में दुर्भावना फैलाकर सन् 1841 ई० में शेरसिंह को राजा बना दिया।

शेरसिंह बड़ा व्यसनी था और नाच तमाशों पर खूब व्यय करता था। इसे रानी चांदकौर से सदा भय बना रहता था। इसने रानी को अपने पक्ष में करने के लिये 'चादरप्रथा' का लालच दिया। जब रानी इस बात के लिये सहमत नहीं हुई तो इसने बान्दियों को धन देकर ईंटों से सिर फुड़वाकर उसकी हत्या करवा दी। शेरसिंह भी पंजाब पर कोई अधिक देर तक शासन नहीं कर सका। इसकी हत्या भी गोली मारकर करदी गई और इसके सहयोगी ध्यान सिंह का भी यही हाल हुआ। इसके बाद रणजीतसिंह का लड़का

दलीपसिंह राजगद्दी पर बैठा। इस समय इसकी आयु पांच साल की ही थी। महाराजा का बालक होने के कारण इसकी माता जिन्दा को इसका संरक्षक नियुक्त किया तथा ध्यानसिंह के बेटे हीरासिंह को मंत्री बनाया गया। जिन्दा रानी के संरक्षकत्व में लाहौर दरबार के दिन सुधरने लगे। किन्तु लाहौर दरबार तो षड्यन्त्रों का केन्द्र बन चुका था। उस समय सिख साम्राज्य के प्रत्येक सरदार को राजशक्ति प्राप्त करने की इतनी लालसा बढ़ गई थी कि उनके हृदय में अच्छे बुरे का संकल्प ही मिट चुका था। प्रत्येक सरदार निज स्वार्थ के लिये कुछ न कुछ ऐसी कुचाल चलता था कि पुराने झगड़े तो शांत होने दूर रहे नये-नये विवाद उत्पन्न हो जाते थे। इसी समय जल्ला नामक पण्डित के सहयोग से हीरासिंह ने षड्यन्त्र रचा कि दलीपसिंह को राज्य गद्दी से उतारकर शेरसिंह के पुत्र को महाराजा बनाया जाये, ये दोनों अपनी चाल चल ही रहे थे कि सिखों में यह अफवाह फैल गई कि पण्डित जल्ला और हीरासिंह दीवान महारानी जिन्दा को व्यभिचार के लिये अपने चंगुल में फंसाने के लिये तंग कर रहे हैं। फिर क्या था? खालसा सेना भड़क उठी और सन् 1844 ई० में पण्डित जल्ला और दीवान हीरासिंह दोनों को खालसा सेना ने मार दिया।

हीरासिंह की मृत्यु के उपरान्त खालसा ने रानी के भाई जवाहर-सिंह को मन्त्री बनाया। जवाहरसिंह ने जम्मू के राजा गुलाबसिंह से बकाया राजस्व मांगा। इससे वह जवाहरसिंह से नाराज होगया। रानी ने गुलाबसिंह पर छः लाख अस्सी हजार रुपया जुर्माना करके जम्मू जाने की आज्ञा दे दी और इसकी रियासत की बहुत-सी जागीर अपने राज्य में मिला ली। जवाहरसिंह जम्मू आकर शान्त नहीं बैठा। इसने महाराजा रणजीतसिंह के पुत्र पिशौरासिंह (दयाकौर का दत्तक पुत्र) को दीवान जवाहरसिंह के विरुद्ध भड़काना आरम्भ कर दिया। इधर खालसा भी जवाहरसिंह के कार्यों से नाराज होरहा था। क्योंकि एक समय जवाहरसिंह ने महाराजा दलीपसिंह को अंग्रेजों के साथ ले जाने की धमकी दी थी। पिशौरासिंह ने दरबार की परिस्थितियों का लाभ उठाकर पठानों की सहायता से अटक पर अधिकार कर लिया और साथ ही अपने आपको पंजाब का शासक घोषित कर दिया। इसके अतिरिक्त सारे पंजाब पर अधिकार के लिये काबुल के अमीर दोस्त मोहम्मद से लिखा पढ़ी आरम्भ करदी। पिशौरासिंह की

राजद्रोही गतिविधियों को दबाने के लिए जवाहरसिंह ने पहले खालसा सेना भेजनी चाही परन्तु खालसा ने रणजीतसिंह के बेटे के विरुद्ध लड़ने से इन्कार कर दिया। तब चरतसिंह अटारीवाले को भेजा। इसने मुकाबले में अपना पक्ष कमजोर देखकर कूटनीति से काम लिया और विश्वासघात करके इसको कैद कर लिया और गला घोट कर इसकी मृत्यु करदी गई। पिशौरासिंह की मृत्यु पर जब जवाहर सिंह ने खुशियां मनाई तो खालसा सेना क्रोध से उत्तेजित हो उठी। विवश होकर अपनी बहन रानी की सलाह से दलीपसिंह को साथ लेकर खालसा सरदारों की सेवा में उपस्थित हुआ। खालसा सैनिक इतने क्रुद्ध थे कि उन्होंने जवाहरसिंह की गोद से महाराजा दलीपसिंह को छीन लिया और उसे संगीनों में छेद डाला। जवाहरसिंह को मार दिया गया। रानी सारी स्थिति को विवश होकर देखती रही। जवाहरसिंह के मारे जाने के बाद पंजाब में पूरी तरह से अशांति छाई रही। कोई भी व्यक्ति खालसा के डर से मन्त्री नहीं बनना चाहता था। शासन के कर्णधारों की परस्पर ईर्ष्या, राजपरिवार के मुखियों की परस्पर आपा-धापी और खालसा की मनमानी को देखते हुये अंग्रेजों का चुप बैठना कठिना था। अतः इन्होंने अवसर का लाभ उठाकर अपने हितों को पंजाब में बढ़ाने की चेष्टायें आरम्भ करदीं।

अंग्रेज लाहौर दरबार के विद्रोहियों को शरण देने में लग गये और यह प्रचारित किया कि लाहौर दरबार के साथ हुई हमारी सन्धि भंग होगई है और हम पेशावर को सिखों से छीनकर अफगानों को दे देंगे। इसके अतिरिक्त 1809 की सन्धि के विरुद्ध भी आचरण करने लगे। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने वचन दिया था कि वे सिख साम्राज्य के निकट अपनी छावनी नहीं बनायेंगे परन्तु अंग्रेजों ने लाहौर के निकट लुधियाने में अपनी छावनी बनाली। ये सब बातें यह प्रमाणित करने के लिए स्पष्ट थीं कि अंग्रेजी सरकार सिख राज्य को निगलने के प्रयास में है। इसी समय अंग्रेजों ने ब्राडफुट को पुनः पंजाब का एजेण्ट बनाकर भेजा। इसने कार्यभार सम्भालते ही पटि-याला, नाभा आदि सतलुज पार की रियासतों को अंग्रेजों द्वारा रक्षित बताया। इन्हीं दिनों ब्राडफुट ने लुधियाना के पास के दो सिख क्षेत्रों को अंग्रेजी राज्य में यह कहकर मिला लिया कि इस क्षेत्र में अंग्रेजी सरकार के अपराधी आकर छिप जाते हैं।

इन सब घटनाओं को देखकर सिख अंग्रेजों के प्रति अपने व्यवहार को सोचने के लिये बाध्य होगये। वे महाराजा रणजीतसिंह द्वारा अर्जित जाट राज्य को सहज में ही नष्ट नहीं होने देना चाहते थे। इस प्रकार के सिखों में खालसा सबसे अधिक उत्तेजित थे और वे अंग्रेजों को पाठ पढ़ाना चाहते थे। जब सिख सेना में इस प्रकार की प्रबल प्रतिशोध की भावना उभर रही थी, उसी समय गवर्नर जनरल ने सिख राज्य की सीमा के निकट अपनी सेना को भेजना आरम्भ कर दिया। दोनों ओर से युद्ध की तैयारियां होने लगीं। सिख सरदार महाराजा रणजीतसिंह की समाधि पर इकट्ठे हुए। खालसा के समस्त सरदारों और अन्य सिखों ने धार्मिक ग्रन्थ को स्पर्श करते हुए रणजीतसिंह के राज्य की रक्षा के लिए दलीपसिंह के प्रति राजभक्त रहने की प्रतिज्ञा की।

सन् 1845 ई० में नवम्बर महीने की 17 तारीख को युद्ध की घोषणा हुई। नैपोलियन को जीतनेवाले ड्यूक वेलिंगटन भारत आ चुके थे और इन्होंने अंग्रेजी सेना की कमान सम्भाली। दोनों ओर से युद्ध होने लगा। कहा जाता है कि अंग्रेजों की सेना में सत्तर हजार सैनिक और 69 तोपें थी। किन्तु खालसा सैनिक तो इस युद्ध को अपनी व्यक्तिगत स्वाधीनता का युद्ध समझता था। इन्होंने अंग्रेजों की सारी शेखी को धूल में मिला दिया। ड्यूक वेलिंगटन को प्रत्येक सिख सिपाही नैपोलियन की प्रतिमूर्ति दिखाई देने लगा। परन्तु यह भारत का दुर्भाग्य रहा है कि इसमें विश्वासघातियों की कमी नहीं है। सिख सेना के सतलुज पार करते ही सेनापति लालसिंह ने अंग्रेज एजेण्ट निकलसन को एक गुप्त पत्र में सारी योजनाओं का रहस्य लिखकर भेज दिया। मुदकी के मैदान में जब युद्ध होने लगा तो लालसिंह सेना-पति ने सिख सैनिकों को उचित दिशा निर्देशन नहीं किया और सिख सेना हार गई। इस युद्ध में अंग्रेजों को विजय प्राप्त हुई, किन्तु यह विजय इन्हें महंगी पड़ी। अंग्रेजी सेना का सातवां भाग इस युद्ध में समाप्त हो गया।

मुदकी के बाद फिरोजपुर में अंग्रेजी सेना और खालसा सैनिकों के मध्य युद्ध हुआ। अंग्रेजी सैनिकों को इस युद्ध में बड़ा सख्त मुका-बला करना पड़ा। सिखों ने अंग्रेजी सेना में हाहाकार मचवा दिया और मिस्टर हिटलर को अपनी सेना सहित मैदान छोड़ना पड़ा। लार्ड

हार्डिंग को अंग्रेजी सेना की दुर्दशा देखकर बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने अपने हाथ की घड़ी और तमगे अपने पुत्र को देकर कहा कि वह या तो प्राण देंगे या अंग्रेजों की प्रतिष्ठा रखेंगे। परन्तु इस युद्ध में भी लालसिंह ने विश्वासघात किया। युद्धभूमि के निकट लालसिंह की देखरेख में एक सैनिकदल खड़ा था। यदि यह दल युद्ध में डटी हुई सेना में मिल जाता तो इसमें कोई सन्देह नहीं था कि अंग्रेजी सेना का एक भी सिपाही जीवित नहीं रहने पाता। परन्तु लालसिंह ने अपनी फौज को लड़ने की आज्ञा नहीं दी। इस प्रकार विश्वासघाती सेनापति के कारण सिखों को विजय से हाथ धोने पड़े।

इसके बाद अंग्रेजी सेना और सिख सेना का मुकाबला बादवाल में हुआ, परन्तु यहां भी सिखों को सफलता नहीं मिली। इसके पश्चात् सोवरांव में अंग्रेजों और सिखों की भिड़न्त हुई। श्यामसिंह अटारी वाले सेना के प्रत्येक भाग पर आक्रमण करके अपने वीरों का उत्साह बढ़ाने लगे। अंग्रेज सैनिकों ने उन पर गोलियों की बौछार करदी। श्यामसिंह के शरीर में सात गोलियां लगीं किन्तु प्राण रहते तक वे लड़ते रहे। सिख सेना पीछे हटी और उसने पीठ नहीं फेरी। सतलुज का पुल खालसा सेना के विश्वासघातियों ने तोड़ दिया इससे सिख सैनिक अपने इलाके में वापिस नहीं आसके। उन दिनों सतलुज में बाढ आई हुई थी। या तो खालसा सैनिक नदी में कूदकर प्राण दें या शत्रु के सामने छाती तानकर प्राण त्याग करें। खालसा सैनिक तलवार के सहारे शत्रुओं का सामना करते हुये मरने लगे। अन्ततः अंग्रेजीसेना की विजय हुई।

सोवरांव-युद्ध के बाद अंग्रेज निष्क्रिय होकर नहीं बैठे। थोड़े दिनों बाद सतलुज पार करके सिख राज्य में आगये और सन् 1846 ई० की 20 फरवरी को एक घोषणा में कहा कि सिखों ने जो सन्धि तोड़ी है, उसकी सजा देने के लिए पंजाब अंग्रेजों के निरीक्षण में रहेगा। इस घोषणा में सारे पंजाब में चिन्ता व्याप्त होगई। जिन विश्वास-घातियों के कारण अंग्रेज पंजाब में प्रविष्ट हुए थे, वे ही अब पछताने लगे। राजा गुलाबसिंह (जो अंग्रेजों के पक्ष में थे) बालक महाराजा दलीपसिंह को लेकर लार्ड हार्डिंग के पास दिल्ली गये और कहा कि आप अपनी नीति पर पुर्नविचार करें। लार्ड हार्डिंग ने कहा–पंजाब को हम अंग्रेजी राज्य में नहीं मिलाना चाहते हैं। दलीपसिंह अपने

पिता के राज्य के स्वामी बने रहें। परन्तु लाहौर दरबार को ब्यास और सतलुज के मध्य के सारे प्रदेश अंग्रेजों को सौंपने होंगे। इसके अतिरिक्त डेढ़ करोड़ रुपये युद्ध के हर्जाने के रूप में देने होंगे। दलीपसिंह ने यह शर्त मानली और अंग्रेज प्रतिनिधिमण्डल लाहौर पहुंच गया और अंग्रेजों ने दलीपसिंह को गद्दी पर बैठाने की रस्म अदा की। जिससे लोगों को यह विश्वास होजाये कि अंग्रेज ही महाराज को उदारतापूर्वक पंजाब का राज्य दे रहे हैं। रानी जिन्दा ने भी इसी समय खालसा सैनिकों से भयभीत होकर गवर्नर जनरल से प्रार्थना की कि मुझे तथा मेरे पुत्र महाराजा दलीपसिंह को अंग्रेजी राज्य की सीमा में रखना हितकर होगा और लाहौर के इस नवीन प्रबन्ध में अंग्रेजों का कुछ हाथ अवश्य रहना चाहिये, जिससे कोई गड़बड़ न हो। महाराजा दलीपसिंह के साथ हुए समझौते के अनुसार अंग्रेजों ने पुरानी सिख सेना (खालसा) को तोड़ दिया और इसके स्थान पर नई सेना भर्ती की गई। लाहौर की नई शासनव्यवस्था में अंग्रेजों ने अपने विश्वासात्र लालसिंह को प्रधानमन्त्री, गुलाबसिंह को कश्मीर का स्वतन्त्र राजा और तेजसिंह को स्यालकोट का राजा घोषित किया, क्योंकि इन तीनों ने सिखों के साथ गद्दारी करके अंग्रेजों का साथ दिया था।

अंग्रेजों ने पंजाब की नई व्यवस्था में हेनरी लारेन्स को रेजीडेण्ट बनाकर भेजा। रेजीडेण्ट को यह अधिकार भी दिया गया कि वह राज्य के सम्पूर्ण विषयों में अपनी इच्छानुसार कार्य करने का पूर्ण अधिकार रखते हैं। सन् 1847 ईस्वी में 23 अक्टूबर को पंजाब के विषय में एक परिपत्र निकालते हुये लिखा कि "सन् 1846 ई० की सन्धि के अनुसार सिख-राज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र राज्य नहीं है। अंग्रेजी सरकार की अनुमति बिना कोई भी सरदार चाहे वह महाराजा हो किसी से युद्ध अथवा सन्धि करने अथवा अपने क्षेत्र को बेचने या बदलने का अधिकारी नहीं होगा।" इसके अतिरिक्त हेनरी लारेन्स ने महारानी जिन्दा के नाम एक पत्र लिखा कि "पंजाब राज्य-कार्य में हस्तक्षेप करने का महारानी का कोई अधिकार नहीं है। स्वतन्त्रता पूर्वक वे अपना जीवन निर्वाह कर सकें, इसके लिए उनको डेढ़ लाख रुपये की वार्षिक पेंशन करदी गई है।"

अंग्रेजों ने महाराजा दलीपसिंह और रानी जिन्दा को भी एक

दूसरे से पृथक् रखने का षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर दिया। लार्ड हार्डिंग ने हेनरी लारेन्स को लिखा कि रानी जिन्दा को लाहौर से निर्वासित करने के सम्बन्ध में दरबार में स्पष्टरूप से सम्मति ली जाये। अंग्रेजों द्वारा मनोनीत दरबार (प्रतिनिधि) लार्ड हार्डिंग के प्रस्ताव के विरुद्ध कैसे बोल सकते थे। अतः दरबार में यह पास हो गया कि रानी जिन्दा को शेखूपुरा में नजरबन्द कर दिया जाये। अंग्रेजी राज्य व्यवस्था के अनुसार हेनरी लारेन्स विलायत चला गया और उसके स्थान पर फ्रेड्रिक कैरी को पंजाब का नया रेजीडेण्ट नियुक्त किया गया। नया रेजीडेण्ट रानी जिन्दा को सन्देह की दृष्टि से देखता था। इसका कारण यह बताया गया कि रानी जिन्दा के वकील गंगाराम का हाथ मुलतान विद्रोह में था। अतः निर्णय लिया गया कि रानी जिन्दा को पंजाब से निर्वासित कर दिया जाए और इस आदेश को पुष्ट करने के लिए जिन लोगों के हस्ताक्षर करवाये गए उनमें से एक गुलाबसिंह भी था। रानी जिन्दा को पंजाब निकाला देकर बनारस भेज दिया गया।

महारानी जिन्दा के निर्वासन से सिखों में अंग्रेजों के प्रति और भी अधिक विद्रोह की आग भड़कने लगी। इस आग को सशक्त पलीता देने का काम चरतसिंह की घटना ने किया। चरतसिंह हजारा के सरदार थे और इनकी लड़की का विवाह महाराजा दलीपसिंह के साथ होना निश्चित होचुका था। इसके लिये चरतसिंह ने अंग्रेजी सरकार से आज्ञा मांगी, परन्तु इन्हें उत्तर दिया गया कि महाराजा के सम्बन्ध में कोई भी बात रेजीडेण्ट की स्वीकृति के बिना नहीं होगी और इस कार्य को ब्रिटिश शासन करेगा। इसके अतिरिक्त रेजीडेण्ट का सहायक एबट जो हजारा में नियुक्त था, सरदार चरतसिंह पर अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने में सम्मिलित है, ऐसी शंका करता था। हजारा के विद्रोह में तोपखाने के अध्यक्ष कनोरा नामक अंग्रेज की हत्या करदी गई थी। इस हत्या का आरोप भी चरतसिंह पर लगाया गया और कहा कि कनोरा के हत्यारे को अंग्रेज सरकार के हवाले किया जाये, अन्यथा सरदार की सेना भंग करके जागीर समाप्त करदी जाएगी। बूढ़ा चरतसिंह इन सब बातों से तंग आचुका था। अपनी मानरक्षा के लिये चरतसिंह ने बगावत की तैयारी आरम्भ करदी। दल के दल सिख इनके झण्डे के नीचे एकत्र होने लगे। महारानी जिन्दा के निर्वा-

सन से सिख पहले ही जले-भुने बैठे थे और वे अब मर मिटने के लिए तैयार होगए। चरतसिंह के बेटे शेरसिंह के नेतृत्व में सिख सेना अंग्रेजों के खून की प्यासी होगई। सिखों और अंग्रेजों के मध्य रामनगर के समीप युद्ध आरम्भ होगया। इस युद्ध में अंग्रेजों को बड़ी भारी हानि उठाकर पीछे हटना पड़ रहा था। इसी बीच अंग्रेजों ने अपनी चतुराई से चरतसिंह के बेटे शेरसिंह को सन्धि की बात-चीत करने के चक्कर में फंसा लिया और अपनी खोई शक्ति को पुनः जोड़ लिया। सन्धि की बात सुनकर सिख सेना में शिथिलता आने लगी और वे सन्धि प्रस्ताव का उत्तर आने की प्रतीक्षा में रहने लगे। 25 दिन के बाद सन्धि प्रस्ताव का उत्तर आया कि अंग्रेजों को सन्धि करना स्वीकार नहीं है। सन् 1849 ई० का 21 फरवरी का दिन सिखों का दुर्भाग्य का दिन था और सिखों की पराजय होगई।

यह एक वास्तविक सत्य है कि हजारा के विद्रोह से लाहौर दरबार का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। महारानी जिन्दा निर्वासित होकर बनारस में एक प्रकार से नजरबन्द थी। अंग्रेजी रेजीडेण्ट द्वारा रणजीतसिंह के राज्य का शासन होरहा था और रणजीतसिंह का पुत्र दलीपसिंह अंग्रेजी सरकार की देख-रेख में था, परन्तु अंग्रेज सरकार को इसकी क्या परवाह। वे तो मात्र एक बात के लिए दृढ़-संकल्प थे कि उन्हें तो रणजीतसिंह का राज्य हड़पना है।

सन् 1849 ई० के मार्च महीने की 29 तारीख को पंजाब के अंग्रेजी राज्य में विलय के सम्बन्ध में सिख सरदार तथा अंग्रेज अधिकारी लाहौर में एकत्र हुये। रणजीतसिंह के पंजाब का यह अन्तिम सूर्योदय था। दरबार रणजीतसिंह के समय में भी लगता था और आज भी लग रहा था, परन्तु रौनक भिन्न थी। आज सभी सिख सरदारों के चेहरे उदास थे और सब दरबारियों के चेहरे निस्तेज थे। शीघ्र ही दलीपसिंह के सर्वनाश का समय आनेवाला था। दरबार खचाखच भरा हुआ था। इलियट ने नियत समय पर पहुंचकर घोषणा की कि पंजाब का राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया है। इस प्रकार रणजीतसिंह के सपनों का सिख राज्य समाप्त होगया और शेष रह गई कुछ सिख रियासतें जिन्होंने अंग्रेजों का साथ दिया था। इन्हीं जाट रियासतों के विषय में आगे लिखा जा रहा है।

पटियाला रियासत

पटियाला की रियासत पंजाब की ही नहीं अपितु उत्तर भारत की एक प्रसिद्ध रियासत रही है। इस रियासत की स्थापना फूल जाट के वंशज आलासिंह द्वारा 18 वीं शताब्दी में की गई थी। इसके पिता रामू की शत्रुओं द्वारा जिस समय हत्या की गई तो आलासिंह तेईस वर्ष के थे। आलासिंह ने कार्यभार सम्भालते ही सर्वप्रथम अपने पिता की मृत्यु का बदला दिया। इसके पश्चात् आलासिंह ने बरनाला में अनहदगढ़ नामक किला बनवाया। कुछ दिनों बाद कोट के कुल्ला रईस, हलवारा के दिलेरखां, मलसीहान के कुतुबुद्दीनखां और मलेर-कोटला के सोदेखां तथा जमालखां आदि ने संयुक्तरूप से मिलकर अनहदगढ़ पर आक्रमण कर दिया। इस लड़ाई का कारण यह था कि आलासिंह के पुत्र शार्दूलसिंह ने सोदेखां के नीमा नामक गांव को बलात् अपने अधिकार में ले लिया था। इसके अतिरिक्त कुल्ला के सिंहगढ़ नामक स्थान को आलासिंह ने अपने राज्य में मिला लिया था। इस लड़ाई में आलासिंह ने विरोधियों की संयुक्त शक्ति को बुरी तरह पछाड़ दिया और एक प्रकार से इसकी स्थिति स्वतन्त्र शासक जैसी होगई।

दिल्ली के तत्कालीन बादशाह मुहम्मदशाह सरहिन्द के परगने के प्रबन्ध के विषय में सदा चिन्तित रहते थे। अतः बादशाह ने उचित समझा कि आलासिंह से मधुर सम्बन्ध बनाकर विद्रोहियों को दबाने का काम क्यों न लिया जाए और इन्हें सरहिन्द का प्रबन्धक नियुक्त कर दिया गया। सरहिन्द के प्रबन्धक के नाते आलासिंह को अलादाद खां बूहेवाला, वलायतखां बूलाड़ावाला तथा भरनेट के अमीनखां आदि से दो-दो हाथ करने पड़े। इसी बीच दिल्ली दरबार की तरफ से अली मुहम्मदखां को सरहिन्द का प्रबन्धक बनाकर भेज दिया गया। आरम्भ में आलासिंह और अली मुहम्मदखां में निभती रही, परन्तु कुछ समय बाद बात बिगड़ गई। क्योंकि आलासिंह स्वतन्त्र प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और वे सरहिन्द से लाभ उठाना चाहते थे। बादशाह को जब इस बात का पता चला तो आलासिंह को धोखे से पकड़ लिया गया, परन्तु कर्मा नामक अपने सेवक की गुप्त योजना से वे कैद से निकल भागे। ढ़हुडान के समीप काकड़े नामक स्थान पर फरीदखां कब्जा किये बैठा था। उसने सोचा कि आलासिंह को ढ़हुडान के क्षेत्र से मारकर भगा

दिया जाये। अतः इसने समाना के हाकिम से सहायता मांगी। लेकिन सहायता पहुंचने से पहले ही आलासिंह के सरदार अमरसिंह ने फरीद खां को मार भगाया और इसके प्रदेश पर अधिकार कर लिया। आलासिंह के बढ़ते हुए प्रताप को देखकर सनौर के जमीदार जिनके अड़तालीस गांव थे, इनकी शरण में आगये। इसके बाद आलासिंह ने अपनी रियासत के विस्तार के लिये भटिण्डा तथा भोलाड़ा और बूहा नामक क्षेत्रों की ओर मुंह फेरा और थोड़ीसी लड़ाई के बाद इन पर अधिकार कर लिया। सन् 1707 ई० तक इन्होंने मूनक, टोहाना, जमालपुर, धारसूल, सिकरपुरा, मलेरकोटला के क्षेत्र, शेरपुर और पहोड़ को जीतकर अपने अधिकार में कर लिया।

यह वह समय था जबकि भारत पर अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण होरहे थे और वह स्थान-स्थान पर अपने सूबेदार नियुक्त कर रहा था। पानीपत की लड़ाई से लौटते हुये उसने आलासिंह के अधिकार में होनेवाले बरनाला नामक स्थान पर भी आक्रमण किया था। इसका कारण यह बताया जाता है कि मलेरकोटला के पठानों द्वारा अब्दाली को सूचित किया गया था कि आलासिंह का सम्बन्ध पठानों से है, परन्तु वास्तविक बात यह थी कि मलेरकोटला के पठान आलासिंह से इसलिए नाराज थे कि उसने इनके क्षेत्र के कुछ गांवों पर अधिकार कर लिया था। आलासिंह ने अहमदशाह दुर्रानी से समझौता करके अपने आपको सुरक्षित कर लिया। आलासिंह के अहमदशाह दुर्रानी के समझौते से सिख सरदार बहुत नाराज हुये। अन्ततः सिखों की भरी पंचायत में माफी मांगने पर सरदारों की नाराजगी दूर हुई, परन्तु इस सन्धि से आलासिंह को एक लाभ यह हुआ कि दुर्रानी आलासिंह के क्षेत्र, जिसमें लगभग 726 छोटे-बड़े गांव थे, अपनी हकूमत से अलग रखे और इन पर आलासिंह के अधिकार की मोहर लगादी।

सन् 1762 ई० में सरदार आलासिंह ने अन्य सिख सरदारों के साथ मिलकर सरहिन्द पर चढ़ाई करदी। सरहिन्द में जीनखां नामक व्यक्ति अहमदशाह का सूबेदार था, इससे आस-पास का क्षेत्र बहुत परेशान था। इसके अतिरिक्त सरहिन्द से सिखों का बड़ा लगाव था, क्योंकि यहीं पर गुरु गोविन्दसिंह के बच्चे दीवार में चिनवाये गए थे। सिखों ने सरहिन्द की ईंट से ईंट बजादी और इस क्षेत्र को विजय के उपरान्त आपस में बांट लिया। सरहिन्द के समीप का प्रदेश और

शाही तोपखाना आलासिंह के हिस्से में आया। इस क्षेत्र की आय से आलासिंह ने पटियाला के किले को पक्का कराया और शहर को आबाद कराया। सरहिन्द की सिखों की लूट और जीनखां के मारे जाने का समाचार जब अहमदशाह के पास पहुंचा तो वह सेना लेकर भारत की ओर चल पड़ा। अहमदशाह के आगमन की वात सुनकर सिखों में आतंक छागया, परन्तु आलासिंह ने धैर्य नहीं छोड़ा और पूर्व की गई सन्धि के विश्वास से अहमदशाह दुर्रानी के पास उपस्थित हो गया। इस अवसर पर इसने बड़ी कूटनीति का सहारा लेकर अहमद शाह को इस वात के लिये तैयार कर लिया कि यहां पर मुसलमान सूबेदार सफल नहीं हो सकता। अतः यह समयोचित्त है कि इसका प्रबन्ध इसे सौंप दिया जाये। अन्ततो गत्वा अहमदशाह ने साढे तीन लाख सालाना के पट्टे पर सरहिन्द का सारा क्षेत्र आलासिंह के नाम लिख दिया। इस प्रकार पटियाला रियासत को उन्नत करता हुआ आलासिंह सन् 1765 ई० में मर गया।

आलासिंह के तीन पुत्र थे, जिनके नाम शार्दूलसिंह, भूमियान सिंह और लालसिंह थे। दैवयोग से इन तीनों की मृत्यु अपने पिता से पूर्व ही होगई थी। हां शार्दूलसिंह अपने पीछे अमरसिंह और हिम्मत सिंह नामक दो लड़के अवश्य छोड़ गया था। अतः बड़ा होने के नाते आलासिंह की मृत्यु के वाद पटियाला की राजगद्दी पर अमरसिंह ही बैठा।

अमरसिंह ने गद्दी सम्भालते ही सबसे पहले यह काम किया कि अपने प्रदेश की सीमाओं पर सरदारों को नियुक्त किया जिससे सिखों एवं लुटेरों से वह निश्चिन्त हो सके। इसके बाद मलेरकोटला के पठानों से पायल नामक स्थान को छीन लिया। जस्सासिंह आलू-वालिया के दल से मिलकर मलेरकोटला के ही ईसरड्ड नामक स्थान को अपने अधिकार में ले लिया और इसकी आमदनी का चौथा हिस्सा सिखों को प्रसन्न रखने के सिए बांट दिया। सन् 1767 में जब पुनः अहमदशाह ने भारत की ओर आने की सोची तो महाराजा अमरसिंह ने कड़ा व बाना नामक स्थानों पर इसका स्वागत किया और इसके उपलक्ष्य में 'राजा राजगान' की उपाधि प्राप्त की। इस प्रकार इसने भी अपने दादा आलासिंह की नीति का अनुसरण करके अहमद शाह के आक्रमण से बचकर अपने राज्य को सुरक्षित रखा।

पटियाला के राजघरानों के दोनों भाइयों अमरसिंह और हिम्मत सिंह में आपस में सदा तनाव रहता था। इस तनाव का कारण सम्भवतः यह प्रतीत होता है कि सर लेपिन ग्रेफिन की मान्यता के अनुसार गद्दी पाने का वास्तविक अधिकारी बड़ा होने के नाते हिम्मतसिंह था। (दूसरी ओर तवारीख पटियाला का लेखक अमरसिंह को बड़ा मानता है) अतः उसका अमरसिंह के प्रति विद्रोही होना स्वाभाविक ही था। अमरसिंह से यह सहन नहीं हुआ और इसने हिम्मतसिंह (जो किला ढूँढ़ान में रहते थे) के क्षेत्र पर चढ़ाई करके इसे छीन लिया, परन्तु रानी फत्तो (आलासिंह की पत्नी एवं अमरसिंह की दादी) ने दोनों भाइयों का परस्पर समझौता करा दिया। अमरसिंह ने अपने चिर शत्रु कोटकपूरा के राजा जोधसिंह को पुत्र सहित मरवा दिया। इसके पीछे "आयना बराड़ वंश" के अनुसार यह घटना बताई जाती है कि कोटकपूरा के राजा जोधसिंह ने पटियाला घराने को नीचा दिखाने के लिए अपने घोड़ा और घोड़ी ना नाम क्रमशः आला और फत्तो रख दिया था।

इसके बाद महाराजा अमरसिंह ने भट्टी मुसलमान राजपूतों पर चढ़ाई की और कड़े संघर्ष के बाद अहरवां और सिंहा नामक गांवों पर कब्जा कर सके। यहां से जब महाराजा पटियाला लौट रहे थे तो सरदार गूजरसिंह और जैतसिंह ने निवेदन किया कि भटिण्डा के राजा सुखचैनसिंह ने हमारी स्त्री का सिर कटवा दिया है। अतः आप हमारी मदद कीजिये। इनकी मदद के लिए महाराजा ने निरन्तर एक साल तक लड़ाई जारी रखी। अन्त में कहीं जाकर इन्हें सफलता मिली।

भटिण्डा की विजय के बाद महाराज अमरसिंह ने अपनी दादी रानी फत्तो का निजी खजाना अपने से अलग करके भटिण्डा के किले में भेज दिया। महाराजा के अनुसार वहां खजाना अधिक सुरक्षित था, परन्तु रानी फत्तो इस काम से अमरसिंह से नाराज हो गई। इन्हीं दिनों महाराजा से सुखदास नामक सेनापति भी किसी कारण से असन्तुष्ट होगया था। अतः इन दोनों कारणों ने अपना परिणाम दिखाया और जब महाराजा अमरसिंह किला-प्रवेश के मुहूर्त की प्रतीक्षा में भटिण्डा गये हुए थे, तो सुखदाससिंह ने रानी फत्तो को अपनी ओर मिलाकर हिम्मतसिंह को ढूढ़ान से बुला लिया और पटियाला का राजा बना दिया। भटिण्डा में जब महाराजा के पास इसकी सूचना

पहुंची तो उन्होंने पटियाला का घेरा डाल दिया। नाभा, जीन्द और सिरमौर के राजाओं से सहायता मांगी। इधर महाराजा हिम्मतसिंह की मदद के लिये मांझा के सिख आगये थे। चार महीने तक लड़ाई चलती रही और अन्त में महाराजा अमरसिंह की विजय हुई। इस लड़ाई के दो वर्ष पश्चात् हिम्मतसिंह का देहान्त होगया और महाराजा अमरसिंह ने इनका सारा प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया तथा इनकी पत्नी को चादर डालकर अपने पास रख लिया।

सन् 1776 ई० में महाराजा ने भटियाने की विजय के लिये प्रस्थान किया। भगीड़ान नामक स्थान पर इनकी भटियाने मुसलमान राजपूतों से टक्कर हुई और विजयश्री महाराजा को मिली। इसके बाद महाराजा ने सिरसा फतेहाबाद और रानिया को जीता। इसी बीच जीन्द के राजा गजपतसिंह ने सहायता के लिए प्रार्थना की। क्योंकि हांसी के हाकिम रहीमदादखां ने सन् 1778 ई० में जीन्द पर चढ़ाई कर दी थी। दीवान नानूमल की अध्यक्षता में पटियाला की सेना जीन्द के लिये भेज दी गई। जीन्द और पटियाला की संयुक्त सेना के सामने रहीमदाद खां की कुछ नहीं चली और युद्ध में मारा गया। दीवान नानूमल ने महाराजा जीन्द की सहमति से रहीमदादखां के अधिकृत प्रदेश हांसी, हिसार, रोहतक, तोशाम और महम पर अधिकार कर लिया और इस क्षेत्र को पटियाला रियासत में मिलाने की सोचने लगे। जब यह समाचार दिल्ली दरबार में पहुंचा तो वजीर नजफखां ने कली खां के नेतृत्व में एक बड़ी सेना जीते हुए प्रदेशों को वापिस प्राप्त करने के लिए भेजी, परन्तु लड़ाई न होकर सन्धि होगई। इस सन्धि के अनुसार भट्टियों का सम्पूर्ण प्रदेश, कसूहन (कसूण) परगना, बरवाला और परगना बालसमद पटियाले के कब्जे में रहे। गुहाना आदि सात गांवों पर जीन्द का अधिकार माना गया और हांसी, हिसार, रोहतक और महम दिल्ली दरबार को लौटा दिये गए।

कुछ समय शान्त रहने के बाद महाराजा अमरसिंह को हरिसिंह से, जिसने कि पटियाला का तंजोर का क्षेत्र अपने अधिकार में ले लिया था, लड़ना पड़ा। इस लड़ाई में महाराजा गजपतसिंह जीन्द, महाराजा हमीरसिंह नाभा, भाई धन्नासिंह कैथल, सरदार चोरहट भदौड़, किशनसिंह नाहन आदि ने महाराजा अमरसिंह का साथ दिया। लड़ाई

में नानूमल घायल हुआ। बड़े कड़े संघर्ष के उपरान्त हरिसिंह को जीता गया। अन्त में अत्यधिक शराब पीने के कारण स्वास्थ्य खराब होगया और चौतीस वर्ष की आयु में ही इनका देहान्त होगया।

अमरसिंह की मृत्यु के उपरान्त इनके पुत्र साहिबसिंह पटियाला की गद्दी पर बैठे। राज्यारोहण के समय इनकी आयु सात वर्ष की थी, अत: दीवान नानूमल की देखरेख में राज्यकार्य चलाने लगा। महाराजा की अल्पवयस्कता का लाभ उठाकर सरदार महासिंह ने ढूढ़ान पर और भटिण्डा के बक्सूसिंह की रानी के कोट समेर पर अपना अधिकार कर लिया। दीवान नानूमल ने बड़ी बुद्धिमानी से इन दोनों स्थानों को पुन: प्राप्त करने में सफलता पाई। यदि हम साहिबसिंह के काल को दीवान नानूमल और नारी प्रभुसत्ता का युग कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। क्योंकि इनका राज्यकाल इन दोनों शक्तियों का ही केन्द्रबिन्दु रहा है और महाराजा तो मात्र कठपुतली से दिखाई पड़ते हैं। इस बात की पुष्टि अगली घटनाओं से होती है। रानी खेमकौर के भाइयों ने महाराजा के विरुद्ध बगावत खड़ी करदी। इस विद्रोह में रानी खेमकौर का हाथ बताया जाता है। क्योंकि उसे यह भय होगया था कि नानूमल उसके निजी रुपयों को भी राज्य के लिये व्यय कर सकता है। अत: उसने अपनी सारी नगदी और जेवर अपने भाई शार्दूलसिंह के पास भेज दिये। लेकिन जब इस बात का पता नानूमल को लगा तो उसने शार्दूलसिंह से झगड़ा कर दिया और इसमें वह जख्मी होगया। घायल अवस्था में जब नानूमल को पटि-याला लाया गया तो रानी खेमकौर ने उपचार कराने की अपेक्षा इसको कारागार में डाल दिया और इसके स्थान पर कूमा नामक व्यक्ति को दीवान नियुक्त कर दिया। किन्तु राजेन्द्रकौर (महाराजा के पिता की बहन) ने फगवाड़ा से आकर नानूमल को पुन: दीवान के पद पर प्रतिष्ठित करवा दिया, क्योंकि वह यह समझती थी कि पटियाला के विद्रोह को नानूमल ही दबाने में सक्षम है। नानूमल अमरसिंह के समय से ही पटियाला दरबार की सेवा में था। अतः बहुत लम्बे समय तक अधिकारी रहने के कारण जहां उनके विरोधी उत्पन्न हो गए थे, वहां उसे अभिमान होगया था। कहते हैं कि वह दरबार में हुक्का पीता रहता था और सिख सरदारों को प्रणाम का उत्तर हुक्के की नय से देता था। नानूमल के विरुद्ध सरदारों ने महाराजा के कान

भरने आरम्भ कर दिये। इन्हीं दिनों मराठों का एक दल पंजाब में आ निकला। नानूमल ने राजेन्द्रकौर से (जो कि इन दिनों पटियाला में ठहरी हुई थी) कहा कि मराठों को नजराना देने के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हो सकता है अतः आप भटिण्डा चली जाएं। नानूमल की इस बात पर राजेन्द्रकौर को सन्देह होगया। मराठों के पटियाला की सीमा में आने पर नानूमल ज्योंही इनके पास गया तो पीछे से राजेन्द्र कौर ने नानूमल के बेटे दत्तामल को गिरफ्तार कर लिया। अन्त में मराठों के बीच में आने के कारण दत्तामल को छोड़ दिया गया। मराठों के पटियाला से बाहर होते ही नानूमल की सम्पत्ति जब्त करली गई और इसके बेटे नन्दराय को जो कि बरनाला में तहसीलदार था, कैद कर लिया गया।

जब मराठों के पास से नानूमल वापिस आरहा था, तो उसे ये कुसमाचार प्राप्त हुये। अतः वह भी चुप नहीं बैठा और जागीरदारों तथा सिख सरदारों को महाराजा के विरुद्ध तैयार करने में लग गया। इसके साथ-साथ नानूमल ने अपनी चाटुकारिता से राजेन्द्रकौर को भी अपने पक्ष में कर लिया। इधर चापलूस सरदार भी महाराजा के कान भरने लगे और इनके मन में यह बैठा दिया कि राजेन्द्रकौर पटि-याला दरबार में अपना दखल बनाये रखना चाहती है, इसीलिए वह फिर से नानूमल को दीवान बनाने के लिए तैयार होगई है, परन्तु इसी बीच अस्वस्थता के कारण राजेन्द्रकौर का स्वर्गवास होगया और गृहयुद्ध का संकट टल गया। नानूमल ने राजेन्द्रकौर के मर जाने पर मालेरकोटाला के नवाब अताउल्ला खां को पटियाला के विरुद्ध लड़ाई के लिए तैयार किया। कई छोटी-मोटी झड़पों में अताउल्ला खां हार गया। नानूमल को इन घटनाओं से इतना मानसिक आघात पहुंचा कि वह इस दुनियां से चल बसा।

नानूमल की मृत्यु के उपरान्त महाराजा पटियाला के दरबार में ऐसी अफरा-तफरी फैली कि महाराजा को इससे सुलटना कठिन हो गया। महाराजा के सारे दरबारियों में सैयद इलाहीबक्स इनका सबसे विश्वासपात्र और प्रेमपात्र था। सिख सरदारों को यह बात अखरती थी। इसलिये जब महाराजा पटियाला से बाहर गये थे तो सिख सरदारों ने सैयद इलाहीबक्स को कत्ल कर दिया। महाराजा इस घटना से इतने विचलित हुये कि उन्होंने अपनी बहन साहबकौर

को ससुराल से पटियाला बुला लिया और इन्हें रियासत का मुख्तारे आम बना दिया गया।

सन् 1794 ई० में मराठों की एक बड़ी भारी सेना पंजाब की सीमाओं में लूट-पाट करने के लिए आ पहुंची। जीन्द तथा कैथल के राजाओं ने यथा-तथा बड़ी-बड़ी भेंटें देकर मराठों का प्रभाव स्वीकार कर लिया, परन्तु साहिबकौर को ऐसा करना अपनी मर्यादा के विपरीत लगा और इसने मराठों के विरुद्ध मोर्चा लेने की सोची।। राजगढ़ के मैदान में दोनों सेनाएं एक दूसरे से टकराईं। पटियाला की सेना के पांव उखड़ते देखकर फौजी सरदारों को सम्बोधित करते हुए साहिब कौर ने कहा यदि आप लोग युद्ध से डर गए हैं और अपनी मान-मर्यादा को भूल गये हैं, तो आप लोग जा सकते हैं, परन्तु मैं प्राण रहने तक युद्ध के मैदान से मुख नहीं मोडूंगी। अपमान के हजारों वर्षों तक जीवित रहने की अपेक्षा मान का एक दिन का जीवन कहीं श्रेयस्कर है। एक स्त्री जो कि आपकी अपनी जाति की है, को मैदान में अकेली छोड़कर संसार में मुंह दिखाने का साहस कर सकते हो, तो आप लोग तुरन्त युद्ध का मैदान छोड़कर भाग जायें। साहिबकौर के व्यंग्य और लांछनभरे शब्दों ने सरदारों के मन में लज्जा और उत्साह भर दिया और वे मराठों की सेना पर टूट पड़े। देखते ही देखते साहिबकौर के नेतृत्व में पटियाला सेना की जीत होगई।

इसके कुछ दिनों बाद पटियाला दरबार में पुनः षड्यन्त्र रचे जाने लगे। साहिबकौर के बढ़ते हुए प्रभुत्व को देखकर चापलूस दरबारियों ने महाराजा के कान भरने आरम्भ कर दिये। परिणाम यह हुआ कि साहिबकौर को जब यह पता चला कि इसका भाई महाराजा दरबारियों के भड़काने के कारण इसकी सेवाओं की कोई परवाह नहीं करता, तो वह वापिस अपनी जागीर में चली गई। पटियाला दरबार का पारस्परिक अविश्वास यहां तक बढ़ गया कि साहिबसिंह और रानी आसकौर में भी कलह होगई और इस घरेलू कलह को मिटाने के लिये महाराजा रणजीतसिंह को पटियाला आना पड़ा। रणजीतसिंह के पटियाला आने से साहिबसिंह को भारी घाटा रहा, क्योंकि महाराजा रणजीतसिंह के आगमन पर जहां उन्हें बहुमूल्य भेंट प्रदान की गई वहां साथ ही रामपुर गुजरवाल के क्षेत्र भी रणजीतसिंह को भेंट में दिये गये। इससे पंजाब के अन्य जागीरदारों और राजाओं को

बड़ी चिन्ता हुई कि कहीं एक दिन उनके राज्य के प्रदेश भी भेंट में न मांगले।

महाराजा साहिबसिंह में उन गुणों की कमी थी जो किसी योग्य शासक में होने चाहियें। चाटुकारिता के कारण वे वस्तुस्थिति को समझने में असमर्थ रहते थे। राज्य की भलाई के लिये महाराजा नाभा और जीन्द ने एजेण्ट अक्टर लोनी को परामर्श दिया कि राज्य का प्रबन्ध आसकौर को सौंप दिया जाये। अक्टर लोनी ने महाराजा को बुलाकर आसकौर को राज्य प्रबन्ध सौंपने को कहा। विवश होकर महाराजा को ऐसा करना पड़ा। महाराजा समय-समय पर आसकौर के काम में बाधा पहुंचवाते रहते थे। लगभग एक वर्ष तक ऐसा होता रहा और अन्त में अंग्रेजी सरकार ने रानी आसकौर को वैधानिक रूप से राज्य का मालिक बना दिया। अब महाराजा को चाटुकार दरबारियों ने यह कहकर उत्तेजित किया कि महारानी आपको शीघ्र ही नजरबन्द करनेवाली है। महाराजा ने इन लोगों की बात में आकर महारानी और युवराज को नजरबन्द कर लिया, किन्तु अन्त में इन्हें छोड़ना पड़ा। अंग्रेजों ने गृहकलह को देखकर महाराजा को एक लाख रुपये की जागीर देकर राज्य से पृथक् कर दिया। महाराजा को शराब पीने की लत थी। इस कारण से बीमार पड़ गये और सन् 1813 में इस संसार को छोड़कर चले गये।

इनकी मृत्यु के उपरान्त पन्द्रह वर्ष की आयु में सन् 1813 ई० में कर्मसिंह पटियाला की गद्दी पर बैठे। वयस्क होने की अवस्था में महाराजा ने अपनी मां रानी आसकौर और दीवान नोदराय मिश्र से अधिकार लेने का प्रयत्न किया। दीवान नोदराय को एक षड्यन्त्र द्वारा ज्वालामुखी का दर्शन करके लौटते समय मरवा दिया गया। अपनी मां के अधिकार कम करने की इच्छा से महाराजा ने जार्ज ब्रज असिस्टेंट एजेण्ट को पटियाला बुलाकर एक घोषणा कर दी कि रानी आसकौर अपनी जागीर सकोर में ही रहे। रानी आसकौर और दीवान नोदराय मिश्र को ठिकाने लगाकर कर्मसिंह ने अपने भाई अजीतसिंह की ओर ध्यान दिया, जिसने लोगों के बहकाये में आकर आधा राज्य प्राप्त करने के लिये दावा कर दिया था। अन्त में अजीतसिंह को कर्मसिंह के सामने झुकना पड़ा।

इन झगड़ों से निबटकर महाराजा कर्मसिंह ने शासन-व्यवस्था

की ओर ध्यान दिया। क्योंकि इनसे पहले तहीलदारों को फौजदारी और दीवानी झगड़ों के निर्णय का पूरा अधिकार था। कोई विरला ही विवाद दीवान तक पहुँचता था। नौकरों को वेतन के स्थान पर जागीरें देने का अधिक प्रचलन था। नए प्रबन्ध के अनुसार महाराजा ने आदेश दिया कि सम्पूर्ण बड़े-बड़े विवाद महाराज के परामर्श से निर्णीत किये जायें। नौकरों को जागीर के स्थान पर वेतन दिया जावे। इसी प्रकार मौखिक जमा खर्ची को बन्द करके रुपया सीधा खजाने में आने और खर्च की रसीदें काटने का प्रबन्ध किया। प्रजा की सुख सुविधा का ध्यान रखते हुए अच्छी बुरी जमीन के अनुसार लगान निश्चित किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण भूमि पर खेती की जाने लगी।

तत्कालीन परिस्थियों में कैथल, जीन्द, नाभा और पटियाला के रजवाड़ों में आपसी विवाद चलते रहते थे और कभी-कभी इन विवादों के कारण युद्ध होने की स्थिति भी हो जाती थी। महाराजा कर्मसिंह के समय में इन चारों रजवाड़ों में ढ़ूढ़ान नामक स्थान पर सन् 1833 ई० में एक सन्धि हुई। इसके अनुसार सन् 1808 ई० में जिस रियासत की जहां तक सीमा थी, वह वहीं तक रहेगी, ऐसा निर्णय लिया गया। इसके साथ अपराधी प्रत्यर्पण का भी निर्णय लिया गया। महाराजा कर्मसिंह पटियाला के ऐसे प्रथम महाराजा हुए जिन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में राजघराने की परम्परा को समयोपयोगी न जानकर तोड़ा और अपने पुत्र नरेन्द्रसिंह के लिए फारसी पढ़ाने का प्रबन्ध किया, क्योंकि उस समय सभी राजकार्य फारसी में ही होता था।

पटियाला राजघराना सदा से ही अंग्रेजों का पक्षधर रहा है। अतः महाराजा भी समय-समय मांग होने पर अंग्रेजी सरकार की सहायता करने में अपनी शक्ति और भक्ति दोनों ही दिखाते थे। अंग्रेजों का अफगानिस्तान से युद्ध छिड़ने पर महाराजा ने पच्चीस लाख रुपया ऋण के रूप में दिया। पंजाब की अंग्रेजी सरकार से हुई प्रथम सिखों की लड़ाई में महाराजा ने दो हजार सवार, दो हजार पैदल और तोपें देने के अतिरिक्त खाद्य-सामग्री का भी अंग्रेजों के पक्ष में प्रबन्ध किया। इस प्रकार महाराजा कर्मसिंह का शासनकाल रियासत की जनता के लिए बिना संघर्षों का काल रहा और सन् 1845 ई० को बीमार होकर महाराजा स्वर्ग सिधार गये।

कर्मसिंह की मृत्यु के बाद उनका पुत्र नरेन्द्रसिंह सन् 1846 ई० के जनवरी महीने में गद्दी पर बैठा। उस समय पंजाब में अंग्रेजों के प्रति असन्तोष फैला हुआ था और सरदारों को अपनी पल्टनों पर विश्वास नहीं होता था। महाराजा नरेन्द्रसिंह के शासनकाल के आरम्भिक वर्षों में कुछ सैनिकों ने अंग्रेजों के प्रति विद्रोह करनेवालों का साथ दिया, परन्तु इसको बड़ी कुशलता से कुचल दिया गया। अंग्रेज सरकार को यह सन्देह होगया कि अवश्य ही इस विद्रोह में सरदारों का हाथ है। अतः नाभा, पटियाला, जीन्द, फरीदकोट, कलसिया, रायकोट, दयालगढ़ और ममदूट रजवाड़ों को छोड़ सब सरदारों के फौजदारी और पुलिस आदि के अधिकार छीन लिये।

जब पंजाब के छोटे-छोटे सरदारों (सामन्तों) को अधिकाररहित कर दिया तब रियासत के 'चहारमी' लोगों ने रियासत के विरुद्ध एक आन्दोलन किया। इस आन्दोलन को अंग्रेजों की हवा भी मिली हुई थी। इस आन्दोलन का कारण यह था कि रियासत से मिली हुई भूमि अथवा जायदाद की आय का एक चौथाई भाग तो इन्हें मिलता था तथा शेष तीन चौथाई भाग रियासत के हिस्से में चला जाता था। अतः इन लोगों ने रियासत के अधीन रहने से अस्वीकार कर दिया। अंग्रेज तो ऐसे अवसरों की प्रतीक्षा में रहता था। अतः कमिश्नर अम्बाला की रिपोर्ट के आधार पर इन लोगों को रियासत से सम्बन्ध विच्छेद करने की आज्ञा मिल गई और इनको अंग्रेजी सरकार ने अपने अधीन कर लिया।

सन् 1857 ई० में पल्टनों में विद्रोही होने का एक क्रम बड़ी तेजी के साथ चला। कमिश्नर अम्बाला ने रियासत पटियाला से इस सम्बन्ध में सहायता का सन्देश भेजा। इस सन्देश को प्राप्त करते ही महाराजा नरेन्द्रसिंह स्वयं अपनी सेना लेकर अंग्रेजों की मदद के लिए अम्बाला चले गये और यहां से हरयाणा में उठनेवाले विद्रोह को दबाने के लिए सैनिक भेजने लगे। सन् 1857 ई० के विद्रोह में पटियाला रियासत ने सैनिक सहायता के अतिरिक्त आर्थिक सहायता भी दी। इसके परिणामस्वरूप अंग्रेजी सरकार ने पटियाला रियासत पर यह कृपा-दृष्टि की कि इस रियासत में राज-परिवार में सन्तान न होने पर गोद लिया हुआ व्यक्ति भी उत्तराधिकारी समझा जायेगा जबकि ऐसा नियम अन्य रजवाड़ों में नहीं था और इसके अभाव में कई रजवाड़े

अंग्रेजी प्रदेश में मिलाये जा चुके थे। इसके अतिरिक्त इन्हें महाराजाधिराज की उपाधि तथा नारनौल और भदौड़ का प्रदेश भी दिया गया।

अंग्रेज-भक्ति के कारण झज्जर की जागीर से जो परगने पटियाला दरबार को मिले थे, उनमें मुआफीदार भी थे और नवाबी शासनकाल में सरकार को यह अधिकार नहीं था कि मुआफियां छीन सके, या इन मुआफीदारों के मामले में हस्तक्षेप कर सके। किन्तु पटियाला को यह क्षेत्र दिए जाने पर किसी भी प्रकार की कोई पाबन्दी नहीं हुई। पटियाला दरबार ने मुआफीदारों की जागीरों में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया जबकि मुआफीदार अपनी स्थिति स्वतन्त्र शासक के समान समझते थे। इस बात को लेकर आन्दोलन हुआ, परन्तु महाराजा नरेन्द्रसिंह ऐसा शासक होना कैसे स्वीकार कर सकते थे कि रियासत के कुछ लोगों पर उनका वैधानिक अधिकार होते हुए भी हस्तक्षेप न हो सके, परन्तु अंग्रेजों ने मुआफीदारों की परवाह न करते हुए महाराजा को हस्तक्षेप का अधिकार दे ही दिया।

इनके समय अंग्रेजों से हुए (सन् 1859) एक समझौते के अधीन पटियाला रियासत के प्रबन्ध को चलाने के लिये सतलुज प्रदेश के लेफ्टीनेंट, महाराजा जीन्द और महाराजा पटियाला इन तीनों के परामर्श से तीन अधिकारी नियुक्त होते थे। प्रायः इस व्यवस्था से महाराजा प्रसन्न नहीं थे। अतः वे प्रयास करते रहे कि कोई ऐसा उपाय सोचा जाये कि अंग्रेजी सरकार के हस्तक्षेप से मुक्ति मिले। अतः महाराजा ने वायसराय को प्रसन्न करके सन् 1860 ई० में एक प्रमाण-पत्र (सनद) प्राप्त कर लिया कि महाराजा पटियाला ने स्वयं अथवा इनके पूर्वजों ने जो प्रदेश प्राप्त किये हैं, उनपर इनका पैतृक अधिकार रहेगा और ये अपने राज्य के स्वयं मालिक होंगे। महाराजा और सरकार आवश्यकता के समय एक दूसरे की सहायता करेंगे और रियासत के भीतरी मामलों में अंग्रेजी सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी। इस प्रकार महाराजा अपनी रियासत के कार्यों के सम्पादन में स्वतन्त्र निर्णय लेने के कारण अपने आपको दबावरहित समझने लगे।

इनकी राजभक्ति को देखकर महाराजा को 'सितारे हिन्द' उपाधि देने के अतिरिक्त वायसराय की कौंसिल का सदस्य बना दिया गया। महाराज ने अपने शासनकाल में भूमिकर में सुधार करने का प्रयास

किया। इनसे पहले भूमिकर अनाज के रूप में लिया जाता था, परन्तु इन्होंने यह प्रयास किया भूमिकर अनाज की अपेक्षा रुपयों में लिया जाये। इनके शासनकाल में प्राय: समझौतावादी नीति का अनुसरण करके नाभा, जीन्द और अंग्रेज सरकार से कई सन्धियां या सनद प्राप्त की गईं। सन् 1862 के अन्तिम महीने में इनकी मृत्यु हो गई।

इसके बाद इनका लड़का महेन्द्रसिंह सन् 1863 ई० में दस वर्ष की आयु में पटियाला की गद्दी पर बैठा। महाराजा ने गद्दी पर बैठने के उपरान्त 1860 की सनद का हवाला देते हुए अंग्रेजी सरकार को लिखा कि पटियाला दरबार की यह इच्छा है कि सरकार अंग्रेजी पटियाला के आन्तरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप न करे तथा इस समय जैसा प्रबन्ध चल रहा है, वैसा ही रहने दे। परन्तु अंग्रेजी सरकार ने इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया और तीन नये अधिकारी सन् 1859 की सनद के अनुसार बनाकर भेज दिये। महाराजा महेन्द्रसिंह ने शिक्षा की ओर ध्यान दिया और जब सन् 1870 में राजकुमार अल्फ्रेड अल्बर्ट भारत पधारे तो राजकुमार की भारत यात्रा की स्मृति में लाहौर कालेज को बीस हजार रुपये दिये। इसके अतिरिक्त छात्रवृत्ति हेतु छप्पन हजार रुपये भी दिए तथा पन्द्रह हजार रुपये की छात्रवृत्ति पंजाब विश्वविद्यालय के लिये प्रदान की। महाराजा ने इसके अतिरिक्त महेन्द्र कालेज के लिए सत्ताईस हजार रुपए भी दिये। महाराजा की उदारता का अन्य परिचय इस बात से भी मिलता है कि सन् 1880 ई० में ये नारनौल तथा कानौड के दौरे पर गये, क्योंकि इस समय वहां अकाल पड़ा हुआ था। महाराजा महेन्द्रसिंह ने सारी स्थिति को देखकर छह हजार रुपया ऋण के रूप में किसानों को देना स्वीकार किया और लगभग साठ हजार के बकाया को वसूल करने से स्थगित कर दिया। जीवन के अन्तिम वर्षों में महाराजा महेन्द्रसिंह का स्वास्थ्य खराब रहने लगा और पच्चीस वर्ष की कम आयु में आपका देहान्त होगया। इसके उपरान्त पटियाला की गद्दी पर राजेन्द्रसिंह, भूपेन्द्रसिंह और यादवेन्द्रसिंह आदि बैठे। परन्तु इन सब का युग पंजाब की राजनैतिक उथल-पुथल के लिये संघर्षमय नहीं रहा।

नाभा रियासत

नाभा रियासत को भी फुलकिया राज्य के नाम से सिख इतिहास में जाना जाता है। चौधरी फूल के बड़े पुत्र तिलोका के दो पुत्र

उत्पन्न हुए। जिनमें बड़े लड़के का नाम गुरुदत्ता था। इसी की सन्तान नाभा रियासत की राजवंश-परम्परा में है। नाभा रियासत का आरम्भ गुरुदत्ता से हुआ। इनका विवाह मामूड़ानवाले शार्दूलसिंह की लड़की से हुआ। इस पत्नी से एक लड़का उत्पन्न हुआ, जिसका नाम सूरतसिंह रखा गया। सूरतसिंह के काल से इस रियासत की जड़ें जमने लगीं। इसने सर्वप्रथम घनौला और संगरूर नामक गांव बसाये। परन्तु इनमें से संगरूर नामक गांव चालाकी से जीन्द के राजा ने ले लिया जो कि आगे चलकर जीन्द रियासत का केन्द्र बना। सूरतसिंह की मृत्यु इसके पिता के जीवनकाल सन् 1742 ई० में ही हो गई और इसकी मृत्यु के दो वर्ष पश्चात् गुरुदत्ता भी स्वर्ग सिधार गये।

सूरतसिंह के हमीरसिंह और कपूरसिंह नामक दो पुत्र थे। गुरुदत्ता की मृत्यु के उपरान्त हमीरसिंह राज्य का अधिकारी बना। इसके राज्यप्राप्ति के थोड़े समय बाद कपूरसिंह की मृत्यु हो गई। जाटों की प्रथा के अनुसार कपूरसिंह की विधवा को चादर डालकर इसने पत्नी बनाया और इसके क्षेत्र कपूरगढ़, पक्खू और बुड़पाला पर अधिकार कर लिया। हमीरसिंह बड़ा शक्तिशाली था। सन् 1755 ई० में इसने नाभा शहर की नींव डाली। सरहिंद की लड़ाई में, जो कि मुसलमान सूबेदार जीनखां से हुई थी, अन्य सिख सरदारों के साथ हमीरसिंह भी सम्मिलित हुआ था। विजयी होने पर परगना अमलोहा इनके अधिकार में आगया। इसी के साथ सन् 1776 ई० में इसने रहीमदाद खां से रोड़ी नामक ग्राम को जीत लिया और अपनी स्वतन्त्र टकसाल स्थापित की जोकि एक स्वतन्त्र शासक होने का प्रमाण बनी। जीन्द तथा नाभा दोनों रियासतें फुलकिया रियासत होते हुए परस्पर टकराती रहती थीं। जीन्द के राजा गजपतसिंह की लड़की राजकौर की शादी महासिंह से (रणजीतसिंह के पिता) सुकरचकिया सन् 1774 ई० में हुई थी। इस विवाह के अवसर पर एक बड़ा भारी झगड़ा हो गया था। बात यह थी कि जीन्द की राजधानी बड़रूखां के समीप ही नाभा रियासत की सीमा का जंगल था। इस जंगल से बारातियों के घोड़ों के लिए घास काटने की आज्ञा दे दी गई थी। लेकिन जब घास काटनी आरम्भ हुई तो नाभा के अधिकारी याकूबखां ने जंगल में घास काटनेवालों पर गोली चला दी। समझा बूझी के उपरान्त यह मामला शान्त होगया, पर गजपत-

सिंह इस घटना को भूल न सका। एक दिन इसने अपना स्वास्थ्य खराब होने का छल करके हमीर को मिलने के लिये बुलावा भेज दिया। हमीरसिंह को क्या पता था कि तेरे साथ छल किया जायेगा और वह सादे ढंग से याकूबखां को साथ लेकर गजपतसिंह से मिलने के लिए चला गया। गजपतसिंह ने मौका पाकर याकूबखां को मार दिया और हमीर को कैद कर लिया। अमलोह और भादसो जो नाभा के क्षेत्र थे, इन पर आक्रमण किया। जब इस बात का पता रानी देसो को लगा तो इसने चार महीने तक जीन्द के राजा का मुकाबला किया और छीना हुआ बहुतसा क्षेत्र वापिस छुड़ाकर अपने पति को मुक्त करा लिया।

1783 ई० में हमीरसिंह की मृत्यु होगई। इसके उपरान्त इसका बेटा जसवन्तसिंह गद्दी पर बैठा। उत्तराधिकार पाते समय जसवन्तसिंह की आयु आठ वर्ष की थी। अतः अवयस्कता की स्थिति में रानी देसो को राज्यप्रबन्ध का भार सौंपा गया। सन् 1790 ई० तक रानी ने रियासत का प्रबन्ध बड़ी योग्यता के साथ किया परन्तु इसी वर्ष रानी की मृत्यु होगई। रानी की मृत्यु के उपरान्त जसवन्तसिंह ने राज्य का कार्यभार सम्भाला। जसवन्तसिंह ने राज्य का भार सम्भालने के बाद यह निश्चय किया कि वह अपनी स्वतन्त्रसत्ता बनाकर रहने लगे। परन्तु तत्कालीन राजनैतिक स्थितियों को देखते हुए इसे यह भय होगया कि कहीं नाभा रियासत लाहौर दरबार की शिकार न होजाये। अतः इसने अंग्रेज सरकार से 'टमकटोला' स्थान पर अन्य रियासती सरदारों के साथ मिलकर लार्ड लेक से यह सन्धि करली कि मराठों को किसी प्रकार की सहायता प्रदान न की जाये। इसलिये जब होल्कर लाहौर जाते समय नाभा ठहरा तो जसवन्तसिंह ने स्पष्ट कह दिया कि हम अंग्रेजों से समझौता कर चुके हैं अतः तुम्हारी कोई सहायता नहीं कर सकते। इधर रणजीतसिंह भी नाभा रियासत को अपने से दूर नहीं होने देना चाहते थे और अपने द्वारा जीते हुए तीस हजार वार्षिक आय के तैंतीस गांव नाभा को दे दिये। इस प्रकार कूटनीतिक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप नाभा रियासत आर्थिक दृष्टि से पंजाब में पटियाला और कैथल के बाद तीसरे नम्बर पर गिनी जाने लगी।

जसवन्तसिंह के सामने जहां पटियाला रियासत के साथ सीमा

सम्बन्धी विवाद उठ रहे थे, वहां फूल चौधरी के बड़े बेटे की सन्तान होने के कारण वे अपने आपको पटियाला से बड़ा मानते थे। इधर पटियाला का राजा आप तथा जागीर अधिक होने से अपने आप को बड़ा समझता था। अतः वे पटियाला की उन्नति को देखकर प्रसन्न नहीं थे। जसवन्तसिंह को इसी समय गृह-युद्ध का संकट भी झेलना पड़ा, क्योंकि इनका बड़ा बेटा रणजीतसिंह किन्हीं कारणों से विद्रोही होगया था। अपने लड़के रणजीतसिंह की गतिविधियां देखकर महाराजा जसवन्तसिंह ने इसे उत्तराधिकार से वंचित करके नजरबन्द कर दिया। परन्तु रणजीतसिंह की प्रार्थना पर गवर्नर जनरल ने छानबीन की और जसवन्तसिंह के कार्य को अनुचित बताया। नजर-बन्दी से छूटने के कुछ दिनों उपरान्त रणजीतसिंह का देहान्त होगया। जसवन्तअिह भी बिमारी के कारण सन् 1840 ई० में चल बसा।

इसके बाद इसका बेटा देवेन्द्रसिंह गद्दी पर बैठा। इसके संस्कारों में प्राचीन संस्कृति के अंकुर थे। अतः इसने अपने दरबार में 'आदाब' के स्थान पर 'प्रणाम' शब्द को प्रचलित किया। अपनी पैतृक स्थिति बड़ी होने के कारण इसने पटियाला और जीन्द रियासत को अपने से बड़ा नहीं समझा। जीन्द के राजा गजपतसिंह के निःसंतान मरने पर इसने जीन्द रियासत पर अपना अधिकार प्रस्तुत किया। इसके पीछे इनकी भावना यह थी कि संगरूर का जो क्षेत्र गजपतसिंह ने सन् 1774 ई० में छल से ले लिया था, वापिस मिल जाये। सुना जाता है कि जीन्द के उत्तराधिकार के दावेदार सरूपसिंह ने इसके लिए वचन भी दे दिया था, लेकिन जब सरूपसिंह ने देखा कि अंग्रेजी सरकार उसके पक्ष में है, तो वह अपने वचन से पीछे हट गया।

लाहौर दरबार से भी देवेन्द्रसिंह का विवाद खड़ा होगया। इसका कारण यह था कि महाराजा रणजीतसिंह ने नाभा रियासत का मोड़ान नामक गांव दबाव डालकर धन्नासिंह को दिलवा दिया था। पर जब सन् 1883 ई० में धन्नासिंह की मृत्यु होगई तो देवेन्द्रसिंह ने इसके बेटे हुकमसिंह को कहला भेजा कि मोड़ान गांव से कब्जा उठाले। हुकमसिंह के मना करने पर देवेन्द्रसिंह ने लाहौर दरबार से पूछे बिना ही इस गांव पर बलात् अधिकार कर लिया। इस घटना की सूचना जब लाहौर दरबार के शासक शेरसिंह के पास पहुंची तो इसने देवेन्द्र के इस व्यवहार के लिए अंग्रेजी सरकार को लिखा। अंग्रेजी सरकार

ने उस समय कोई ध्यान नहीं दिया और शेरसिंह की मृत्यु होगई। इसके बाद राजा दलीपसिंह ने पुन: लिखा-पढ़ी की। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों ने यह गांव दोनों में से किसी को न देकर अपने राज्य में मिला लिये। अंग्रेजों के इस व्यवहार से देवेन्द्रसिंह बड़े नाराज हुए।

अंग्रेजों और लाहौर दरबार के मध्य जो लड़ाई आरम्भ हुई इसमें किसी का पक्ष लेने के सम्बन्ध में महाराजा देवेन्द्रसिंह सोच ही रहे थे कि कुछ घटनायें ऐसी घटीं कि अंग्रेज इनसे नाराज होगये। इस सम्बन्ध में पहली घटना यह थी कि लाहौर का एक सेनापति रामसिंह नाभा में आकर ठहरा और शिष्टाचार के नाते महाराजा से भी मिला। इसको अंग्रेजों ने एक षड्यन्त्र समझा। दूसरी घटना इससे भी अधिक अंग्रेजों को उत्तेजित करनेवाली सिद्ध हुई। बात यह थी कि लाहौर दरबार तथा अंग्रेजों की लड़ाई छिड़ने पर महाराजा देवेन्द्र को आदेश दिया गया कि वह अंग्रेजी सेना को रसद पहुंचाने का प्रबन्ध करे, किन्तु किन्हीं कारणों से यह रसद समय पर न पहुंच सकी। अत: अंग्रेजी सरकार ने महाराजा देवेन्द्र को गद्दी से उतार दिया और रियासत का चौथा भाग जब्त करके इनके बेटे भरपूरसिंह को जिसकी आयु आठ वर्ष की थी, सन् 1847 ई० में गद्दी पर बैठा दिया और राज्य का कार्य-भार चलाने के लिए तीन सदस्यों की एक परिषद् बनादी गई। भरपूरसिंह के राज्यकाल में 1857 का विद्रोह हुआ। यह विद्रोह जब लुधियाना तक फैलनेवाला था तो राजा भरपूरसिंह को अंग्रेजों ने लुधियाना की रक्षा का भार सौंपा। वे वहां साढ़े तीनसौ सवार, चारसौ पैदल और दो तोप लेकर डटे रहे। महाराजा की सेवाओं को देखते हुए गदर के उपरान्त इन्हें बावल (रेवाड़ी के पास) और कांटी के प्रदेश दिए गए तथा इनके अधिकारों में भी वृद्धि की। सन् 1860 ई० में एक प्रमाण-पत्र भी दिया, जिसमें रियासत में इनके पैतृक अधि-कारों को सुरक्षित रखने का आश्वासन दिया गया था।

राजा भरपूरसिंह के कोई सन्तान नहीं थी। परन्तु इनके जीवन काल में इनका भाई भगवान्सिंह प्रत्येक राजकार्य में सहायता करता था। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो जनता तथा राजा दोनों की दृष्टि में वह उत्तराधिकारी के समान समझा जाता था। अत: भरपूरसिंह की मृत्यु के उपरान्त भगवान्सिंह को नाभा की गद्दी मिली। भगवान्

सिंह के सिंहासन पर बैठते ही उन्हें कई विपत्तियों का सामना करना पड़ा। इनके विरुद्ध यह बात फैलाई कि इन्होंने अपने भाई महाराजा भरपूरसिंह को विष देकर मरवा दिया है, परन्तु छानबीन करने पर अंग्रेजों को यह बात निर्मूल लगी। इनके समय सोन्ती और लधरान के सरदारों का झगड़ा पुनः उठ खड़ा हुआ। घटना इस प्रकार थी कि सन् 1827 ई० में लधरान और सोन्ती गांव के सरदारों ने अंग्रेजी सरकार से यह निवेदन किया था कि राजा नाभा का व्यवहार हमसे जैलदारों जैसा है। वे जब चाहें तब ही हमारी सेवायें मांगते रहते हैं और हमसे कठोर व्यवहार करते हैं। लधरान तथा सोन्ती के सरदार यह भी कहते थे कि हम नाभा राजा के अधीन नहीं हैं तथा अधीनतासम्बन्धी जो कागजात राजा नाभा की तरफ से प्रस्तुत किये जाते हैं, वे जाली हैं। सरदारों का निवेदन सुनने के उपरान्त अंग्रेजी सरकार ने निर्णय दिया कि लधरान और सोन्ती के सरदार नाभा को सिपाही देते रहे हैं, अतः यह नाभा के अधीन ही माने जायेंगे, किन्तु राजा नाभा इनसे पुत्र उत्पन्न होने, शादी होने, मृत्यु होने तथा लड़ाई होने के अवसरों को छोड़कर अन्य किसी अवसर पर सेवायें नहीं लेगा। बहुत समय तक सोन्ती तथा लधरान के सरदार चुप रहे और भगवान्सिंह के शासनकाल में इन्होंने पुनः इस विषय को उठाया। सरकार ने निर्णय लिया कि नाभा रियासत सेवाओं के बदले सरदारों को पचास हजार रुपया सालाना दिया करे। परन्तु सरदारों को यह मान्य नहीं हुआ और विलायत तक इसकी अपील की। अन्त में इसका निर्णय भगवान्सिंह के पक्ष में हुआ।

दुर्भाग्य से भगवान्सिंह के भी कोई वारिस नहीं था। अतः सन् 1881 ई० में इनकी मृत्यु के पश्चात् हीरासिंह को गद्दी पर बैठाया गया। इनके काल में नाभा में किसी भी प्रकार की कोई गड़बड़ी नहीं हुई। या यह कहा जाय कि इनके बाद का काल, (जिसमें रिपुदमनसिंह और प्रतापसिंह दोनों राजाओं का शासनकाल आता है) रियासत के लिये सुख चैन का काल था तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

फरीदकोट रियासत

फरीदकोट रियासत अकबर के समय बराड़वंशी जाटों ने स्थापित की थी। इस रियासत के संस्थापक आदिपुरुष राव सिद्धु नामक व्यक्ति माने जाते हैं। सिद्धु के नाम पर पंजाब में एक बड़ा भारी

गोत्र है। सिद्धु तथा इसकी सन्तान के विषय में इतना ही पता चलता है कि ये वीर पुरुषों के समान लूट-पाट का काम शौर्य-प्रदर्शन के लिए किया करते थे। सिद्धु के परिवारवालों को प्रायः भट्टी मुसलमानों एवं राजपूतों से टक्कर लेनी पड़ती थी। इस परिवार के सतराज नामक व्यक्ति ने जंगली जातियों को इकट्ठा करके भट्टी राजपूतों पर चढ़ाई की। इसकी मृत्यु के बाद सिद्धुओं को भट्टियों ने बहुत तंग किया। कुछ काल के उपरान्त इस वंश में बराड़ नामक वीर पुरुष हुआ। इसने भट्टियों के साथ फक्करसर धहड़ी और कोट लद्धू की लड़ाइयां लड़ीं, जिससे इसकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका बेटा दुल अपने पिता की सम्पत्ति का अधिकारी बना।

इसने भी भट्टी राजपूतों से युद्ध करने में मुंह न मोड़ा और कई लड़ाइयां जीतीं। इसके बाद इस रियासत पर विनयपाल का अधिकार होगया। इसने भटिण्डा पर भी आक्रमण किया, लेकिन यह कब्जा स्थायी नहीं रह सका। इनके बाद इनके लड़के अजीतसिंह का काल रियासत में उठनेवाले विद्रोहों को ही दबाने में व्यतीत होगया, लेकिन इसके लड़के मानिकसिंह के समय में इस रियासत का विस्तार घघर से सतलुज के मध्यवर्ती क्षेत्र तक होगया था।

इसके बाद संगरसिंह के राज्याधिकारी होने से पूर्व और अजीतसिंह के मध्य के समय में रियासत की स्थिति सामान्य रूप में संतोषजनक रही, किन्तु संगरसिंह के काल में रियासत का यश और दबदबा बढ़ा। यह समय बाबर का था। संगरसिंह ने बाबर से मिलकर लाभ उठाया। जब हुमायूं और सूरियों में युद्ध छिड़ा, तो संगरसिंह ने हुमायूं की सहायता की। संगरसिंह की मृत्यु के पश्चात् इसका लड़का भुल्लनसिंह राज्य का मालिक बना। यह समय अकबर का था। भट्टी लोग धीरे-धीरे इस रियासत को दबाने लगे, क्योंकि अकबर ने भट्टी राजपूत लड़की से शादी करली थी। भट्टियों और जाटों की लड़ाई का कारण यह था कि दिल्ली से चलकर घघर नदी तक के बीच का क्षेत्र भट्टियों ने दबा रखा था और बराड़ जाट इसे अपनी पैतृक सम्पत्ति समझते थे। राजपूत भट्टियों का एक बड़ा भाग मुसलमान हो चुका था और इनका सरदार मंसूर खां था। मंसूर खां के साथ बराड़ जाटों की बलूआना तथा द्यून नामक स्थानों पर लड़ाइयां हुईं और विजय बराड़ों के हाथ लगी।

भुल्लनसिंह की सरदारी के समय इसके अधिकार में इतना भू-भाग आगया जो कोटकपूरा, फरीदकोट, माड़ी, मुदकी और मुक्तेश्वर क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। भुल्लन सरदार ने अकबर के समय से लगातार शाहजहां के शासनकाल तक के समय को देखा था। वे शाही सहायता के लिए अपने सैनिकों के साथ जाते थे। अन्त में शाहजहां की सहायता में बुन्देलखण्ड के युद्ध में भाग लेने पर इनकी मृत्यु होगई। भुल्लन के कोई सन्तान नहीं थी। अतः इनके भाई का अवयस्क लड़का जिसका नाम कपूरसिंह था, रियासत का स्वामी बना। कपूरसिंह की बाल्यावस्था का लाभ उठाकर इसकी रियासत के अपने सरदार स्वतन्त्र रूप से मनमानी करने लगे और शाही कर देने से आनाकानी करने लगे। जब शाही कर की प्राप्ति नही हुई, तो सूबेदारों ने उन सरदारों से कर प्राप्त करने का प्रयास किया जो स्वतन्त्र होने के लिए मनमानी कर रहे थे। लेकिन इन सरदारों ने अपना पीछा छुड़ाने के लिए तथा कपूरसिंह को संकट में डालने के लिए सूबेदारों से कहा कि हमारा सरदार तो कपूरसिंह है, वही शाही कर की भरपाई करेगा। पहली बार जब कपूरसिंह के पास शाही कर का तकाज़ा आया तो उन्होंने इसे जैसे-तैसे टाल दिया, परन्तु बाद में इसका भुगतान कर दिया गया। कपूरसिंह ने आन्तरिक झंझटों से उभारा लेकर शीघ्र ही अपनी स्थिति को सम्भाल लिया। कपूरसिंह तथा ईसाखां के पारस्परिक सम्बन्ध पहले ही बिगड़े हुए थे। ईसाखां कपूरसिंह की उन्नति को देखकर जलता रहता था और किसी न किसी प्रकार इसकी हत्या करने की भी सोचता था। ईसाखां ने इन्द्रिया नामक स्थान पर भेंट करने के बहाने से कपूरसिंह को बुलाकर इसकी हत्या करदी। यह समाचार जब कोटकपूरा में पहुंचा तो इसके तीनों लड़के शेखासिंह, मेखासिंह और सेनासिंह बदला लेने के लिए उतारू होगये। इनकी ईसाखां से दस वर्ष तक लड़ाइयां होती रहीं। इस लम्बी अवधि में शेखासिंह ने हिसार के सूबेदार से मित्रता करली और उसे ईसाखां के विरुद्ध भड़काकर अपने पक्ष में कर लिया।

हिसार के सूबेदार सहदादखां ने दिल्ली के बादशाह से इस प्रकार का आश्वासन प्राप्त कर लिया कि ईसाखां को दण्डित किया जाये। लाहौर के सूबेदार ने भी सहदादखां का साथ दिया। सहदादखां तथा तीनों भाइयों की संयुक्त सेना ने खडियाल नामक स्थान को जीतकर

कोट ईसाखां नामक स्थान पर आक्रमण कर दिया। दोनों ओर से घमासान युद्ध हुआ। हजारों सैनिकों के शवों से भूमि पट गई। अन्त में विजय संयुक्तसेना की हुई और सेनासिंह ने तलवार के एक बार में ही ईसाखां का सिर काट दिया। ईसाखां की सेना भाग खड़ी हुई और किले (कोट) पर बराड़ जाटों का अधिकार होगया। इन लड़ाई झगड़ों के बाद शेखासिंह को राजगद्दी प्राप्त हुई।

शेखासिंह की दो पत्नियां थीं। इनमें से बड़ी के जोधासिंह और छोटी के हमीरसिंह और वीरसिंह नामक पुत्र उत्पन्न हुये। नियमानुसार जोधासिंह राजगद्दी का अधिकारी बना। परन्तु इन बराड़ जाटों का दुर्भाग्य ही समझिये कि इन तीनों भाइयों की परस्पर नहीं बनी और आपसी लड़ाइयां होती रहीं। जोधासिंह ने अपने भाइयों को बन्दी बना लिया और इनके पक्षधरों को तंग करने लगा। प्रजा तंज आकर कोटकपूरा को छोड़कर भागने लगी। एक दिन करमां नामक जाट की सलाह से जोधासिंह को समाप्त करने की योजना बनाई गई। निर्णय हुआ कि हमीरसिंह को भी इस योजना में भागीदार बनाया जाए और सफलता मिलने पर उन्हीं को राज्य का मालिक बना दिया जाये। हमीरसिंह भी इनकी योजना में सम्मिलित होगये और निश्चय हुआ कि फरीदकोट नामक किले पर अधिकार कर लिया जाये। फरीदकोट में उस समय एक थानेदार और कुछ सिपाही रहते थे तथा वहां प्रत्येक बृहस्पतिवार को मेला लगता था। थानेदार मेले में आकर चौसर खेला करता था, बस इसी अवसर को किले पर कब्जा करने के लिए चुना गया और किले पर अधिकार कर लिया गया। साथ ही फरीदकोट नामक अलग रियासत बनाने का प्रमाण पत्र सूबा सरकार सरहिन्द से प्राप्त कर लिया।

इस समाचार को जानकर अमीरसिंह तथा उसके सहायक साथी बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने फरीदकोट पर चढ़ाई करदी। कई महिने तक लड़ाई होती रही। परिणाम कुछ भी निकलने को नहीं आ रहा था। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर पटियालावाले रियासत कोटकपूरा में लूट-पाट करने लगे। अत: जोधासिंह को विवश होकर वापस लौटना पड़ा। किन्तु लौटते ही उन लोगों के स्त्री-बच्चों को कैद कर लिया जो हमीर के साथी बनकर फरीदकोट चले गए थे। हमीरसिंह ने परिस्थति की गम्भीरता को देखकर अपनी समीपवर्ती

निशानवालिया मिसल से पेंठ-गोंठ बैठाली और सहायता के लिये तैयार कर लिया। निशानवालिया मिसल के मुहरसिंह नामक व्यक्ति के माध्यम से एक लाख रुपया देने का वचन देकर कन्हैया, भंगी और फैजलपुरिया मिसलों को भी अपनी ओर कर लिया तथा सिख धर्म स्वीकार करने का वचन भी दिया। इस प्रकार सभी की सहायता पाकर हमीरसिंह ने जोधासिंह पर आक्रमण कर दिया। दोनों ओर की सेनायें सिन्धुवां नामक स्थान पर आमने-सामने भिड़ गईं। दिनभर दोनों ओर से हथियार खटकते रहे और हजारों लोग मारे गए। सांय-काल के समय जोधासिंह की सेना भाग खड़ी हुई। कुछ समय पश्चात् जोधासिंह की शक्ति बहुत कम होगई और उसके पास कोटकपूरा के साथ केवल पांच गांव ही रह गये। इतना होने पर भी गृहयुद्ध मिटा नहीं। कोटसेखा नामक स्थान पर पुनः दोनों भाइयों की लड़ाई हुई और जोधासिंह को हार का मुंह देखना पड़ा। कुछ दिनों बाद पटियाला रियासत के राजा अमरसिंह ने हमीरसिंह तथा वीरसिंह दोनों भाइयों को अपने साथ मिलाकर कोटकपूरा पर चढ़ाई करदी। इस समय जोधासिंह अपने पुत्र रणजीतसिंह के साथ भ्रमण के लिये बाहर गया हुआ था और वह वहीं घेरकर पुत्रसहित मार दिया गया, परन्तु इसके दो पुत्र टेकसिंह और अमरीकसिंह बचे रहे।

सरदार जोधासिंह की मृत्यु के उपरान्त टेकसिंह कोटकपूरा का स्वामी बना। टेकसिंह ने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए दोहरी नीति अपनाई। एक तरफ तो इसने पिता के हत्यारे अपने चाचा हमीरसिंह से मेल-मिलाप रखा तथा दूसरी ओर उन मुस्लिम राजपूतों को दण्ड देने की योजना बनाई जिन्होंने इनके पिता की मृत्यु में चाचा का सहयोग दिया था, परन्तु इसकी यह योजना सफल नहीं हो सकी, क्योंकि हमीरसिंह के दरबारियों ने उनको सचेत कर दिया था कि टेकचन्द पर विश्वास नहीं करना चाहिए। यह एक न एक दिन आपको छल कपट से मार भी सकता है। बेचारे टेकसिंह के भाग्य में कोई यश नहीं लिखा था और उसी के लड़के जगतसिंह ने मकान में आग लगवाकर इसे जीवित जलवा दिया।

इसके उपरान्त पितृहन्ता जगतसिंह कोटकपूरा की रियासत का मालिक बना। जगतसिंह के अन्य भी तीन भाई थे। इनमें से कर्णसिंह पिता के मारने के कारण जगतसिंह से बड़ा नाराज हुआ। उसने प्रति-

शोध लेने के लिए महाराजा रणजीतसिंह से सहायता की प्रार्थना की। महाराजा रणजीतसिंह ने अपने दीवान मुहकचन्द को कर्मसिंह के साथ कोटकपूरा जाने को कहा। रणजीतसिंह के सैनिकों और जगतसिंह के सैनिकों में मुठ-भेड़ हुई तथा अन्त में विजय महाराजा रणजीतसिंह के सैनिकों की हुई। महाराजा रणजीतसिंह ने कोटकपूरा खास अपने राज्य में मिला लिया और जलालकियों का क्षेत्र नाभा रियासत को दे दिया। जगतसिंह ने पुनः एक बार प्रयत्न करके रणजीतसिंह के अधिकारियों को कोटकपूरा से निकाल दिया, किन्तु इस स्थिति को सम्भालना उसके लिए कठिन होगया और उसे रणजीतसिंह से समझौता करना पड़ा और जगतसिंह ने अपनी लड़की की शादी महाराजा रणजीतसिंह के लड़के शेरसिंह से करदी। इस विवाह के थोड़े दिनों उपरान्त सन् 1825 ई० में इसकी मृत्यु होगई। जगतसिंह के निःसन्तान मरने के कारण जोधासिंह परिवार के शासन का अन्त होगया।

इसके बाद हमीरसिंह का बेटा मुहरसिंह फरीदकोट की रियासत के सिंहासन पर बैठा। इसकी पत्नी चड़हतसिंह नामक पुत्र उत्पन्न करके स्वर्ग सिधार गई। इसके बाद मुहरसिंह ने जानी गोत के जाट घराने में दूसरी शादी की। किन्तु इससे कोई सन्तान नहीं हुई। मुहरसिंह के विषय में कहा जाता है कि इसने रावल राजपूतों की पंजी नामक स्त्री को उसके पति से अलग करके अपने महल में रख लिया था। इस स्त्री से महाराजा मुहरसिंह का भूपसिंह नामक लड़का उत्पन्न हुआ। पंजी की यह इच्छा थी कि चड़हतसिंह का किसी न किसी प्रकार पत्ता साफ करके भूपसिंह को गद्दी का स्वामी बना दिया जाये। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पंजी राज-कार्यों को अपने हाथ में लेने लगी और अपने सम्बन्धियों की राज्य के ऊंचे पदों पर नियुक्ति करवाने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य के कुछ अधिकारी अपने-अपने अधिकारों को सीमित होता देकखर पंजी तथा महाराजा के विरोधी होगये। वे उस समय की प्रतीक्षा करने लगे कि कब महाराजा मुहरसिंह राज्य से बाहर जायें और वे कब पंजी का पत्ता साफ करें। संयोग से एक दिन महाराजा माहिला और मलोर गांव के झगड़े निपटाने के लिए वहां चले गए। दरबारियों ने ननिहाल से चड़हतसिंह को बुलाकर अपना उद्देश्य पूरा करने की

ठानी। चड़हतसिंह ने दरवारियों के साथ मिलकर पंजी को मार डाला और स्वयं राज्यगद्दी पर अधिकार कर लिया।

उधर जब मुहरसिंह के पास यह समाचार पहुँचा तो उसने सेना एकत्र करके किले पर चढ़ाई कर दी। पिता-पुत्र में युद्ध छिड़ गया। जब पिता पुत्र पर विजयी होने में असमर्थ दीखने लगा तो छल का सहारा लेकर कुछ व्यक्तियों को लोभ देकर किले के मोरी दरवाजे से अन्दर प्रवेश कर लिया। परन्तु फिर भी मुहरसिंह को सफलता नहीं मिली। पिता से घरेलू युद्ध में सफलता पाने के बाद चड़हतसिंह ने उन व्यक्तियों को दण्ड दिया जो कि उसके विरुद्ध षड्यन्त्र में सम्मिलित थे। कहा जाता है कि पंजाब में सिख धर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर चड़हतसिंह भी दीक्षा लेकर सिख धर्म के अनुयायी हो गए। मुहरसिंह की मृत्यु (सन् 1798 ई०) के बाद भी चड़हतसिंह को युद्ध करने पड़े। पंजी का लड़का भूपसिंह मुदकी के सरदार महासिंह से मिल गया और जो व्यक्ति चड़हतसिंह द्वारा फरीदकोट से निकाले गए थे वे भी महासिंह के साथी बन गए। इन सब से चड़हतसिंह की चक्रवाज नामक स्थान पर मुठभेड़ हुई और इस युद्ध में भूपसिंह मारा गया। इस प्रकार चड़हतसिंह का घरेलू शत्रु से पीछा छूटा। किन्तु कुछ महाजन अब भी चड़हतसिंह का विरोध करने पर तुले हुए थे। उन्होंने जनता में जाटों की निन्दा करके लोगों को भड़काना चाहा। किन्तु जब यह चाल सफल नहीं हुई तो चड़हतसिंह के चाचा दिलसिंह को जो कि बड़ी शान्ति से अपना समय काट रहा था, भड़काया। अन्त में दिलसिंह ने अपने भतीजे को एक षड्यन्त्र द्वारा महल में प्रविष्ट करके बर्छे से मार डाला। इस प्रकार दिलसिंह फरीदकोट के स्वामी बन गये।

दिलसिंह फरीदकोट के मालिक तो बन गये, किन्तु वे दरबारियों के मन को नहीं जीत सके। दरबारी दिलसिंह को दण्ड देने के लिये उधेड़ बुन में लगे रहे। दिलसिंह ने प्रतिज्ञा की थी कि यदि वह फरीदकोट पर विजय प्राप्त कर लेगा तो डोरली के गुरुद्वारे में जाकर चढ़ावा चढ़ाएगा। सफलता के बाद प्रतिज्ञा के अनुसार वह डोरली जाने की तैयारी में लग गया। इसके विरोधियों को जब इस बात का पता चला, तो उन्होंने चड़हतसिंह की बड़ी रानी के पास जो अपने पिता के घर शेरसिंहवाला में रहती थी, सन्देश भेजा कि आप

युवराज गुलाबसिंह के साथ शीघ्र ही फरीदकोट पहुँचे। हम दिलसिंह से राज्य छीनकर गुलाबसिंह को दे देंगे। दिलसिंह महल में पगड़ी बांध रहा था कि विपक्षियों ने आक्रमण करके उसे मार दिया और गुलाबसिंह के नाम का नक्कारा बजा दिया। दिलसिंह का शासनकाल केवल उनतीस दिन रहा।

गुलाबसिंह सन् 1804 ई० में जब शासक बना तो उसकी आयु सात वर्ष की थी। अतः राज्य के प्रबन्ध का सम्पूर्ण कार्यभार उसके मामा फैजूसिंह के हाथ में रहा। यह समय पंजाब की राजनीति में उथल-पुथल का था। एक ओर पंजाब में अंग्रेज अपना प्रभुत्व फैलाना चाहते थे तो दूसरी तरफ महाराजा रणजीतसिंह अपने साम्राज्य के विस्तार में लगे हुए थे। पंजाब इस समय छोटे-छोटे सरदारों, नवाबों और राजाओं में विभाजित था। ये लोग अपनी-अपनी सीमायें बढ़ाने के लिये परस्पर लगातार खून-खच्चर करते रहते थे। फरीदकोट की भी यही स्थिति थी। उसके राज्य की कोई सीमा निश्चित नहीं थी। अतः फैजूसिंह ने रियासत की सीमा निश्चित करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। परन्तु इस समय सुकरचकिया मिसल उन्नति पर थी। सारी मिसलें उसकी छाया से दब सी गई थीं। महाराजा रणजीतसिंह के दीवान मुहकचन्द ने फरीदकोट के जीरा, बूड़ा, मुदकी, कोटकपूरा और माड़ी आदि स्थानों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था। अब फरीदकोट की बारी थी, और सन् 1807 ई० में मुहकचन्द ने फरीदकोट को घेर लिया। किन्तु इस अभियान में उसे सफलता नहीं मिली और कुछ भेंट लेकर आगया। महारजा रणजीतसिंह की इससे तसल्ली नहीं हुई। वह तो सतलुज पार के प्रदेशों को अपने राज्य में मिला लेना चाहता था। इन्हीं दिनों अंग्रेजी राजदूत चार्लस मेटकाफ महाराजा रणजीतसिंह के पास मित्रता का सन्देश लेकर पहुंचा। महाराजा अंग्रेजों से मित्रता करने से पूर्व अपने राज्य को अधिक से अधिक बढ़ा लेना चाहते थे। अतः उन्होंने अंग्रेजी राजदूत को अमृतसर में ठहराया और फरीदकोट को जीतने के लिये कर्मसिंह को भेज दिया। कर्मसिंह ने फरीदकोट को मामूली झड़प के बाद अधिकार में कर लिया।

ऐसी स्थिति में फरीदकोट रियासत के अधिकारियों ने अंग्रेजी

सरकार के पास पहुंच की। अंग्रेजों ने महाराजा रणजीतसिंह से कहा कि वह सन्धि के अनुसार सतलुज पार के प्रदेशों को खाली कर दे। महाराजा रणजीतसिंह उन दिनों अंग्रेजों से छेड़छाड़ नहीं करना चाहते थे, क्योंकि वे काबुल में उलझे हुए थे। अतः उन्होंने सन् 1809 ई० में फरीदकोट वापिस कर दिया। महाराजा रणजीतसिंह से रियासत फरीदकोट के वापिस आने पर प्रबन्ध पूर्ववत् फैजूसिंह के हाथ में ही रहा। बहुत समय तक रियासत का प्रबन्धकर्ता होने के कारण फैजूसिंह किसी अन्य व्यक्ति की रियासत के सम्बन्ध में नुकताचीनी को अथवा हस्तक्षेप को सहने में असमर्थ था। जब गुलाबसिंह जवान हुए तो उन्होंने फैजूसिंह के कार्यों में कमियां निकालना आरम्भ कर दिया। फैजूसिंह ने अपने प्रभुत्व और वर्चस्व को बनाये रखने के लिये गुलाबसिंह तथा उसके भाई साहिबसिंह में भेंट दी गई एक भैंस को लेकर मनमुटाव उत्पन्न कर दिया। इसका परिणाम यह मुआ कि सन् 1826 ई० में गुलाबसिंह की हत्या कर दी गई।

गुलाबसिंह की हत्या के उपरान्त रियासत फरीदकोट के राज्य सिंहासन का प्रश्न उठा। साहिबसिंह तथा उसका अन्य भाई पहाड़-सिंह यह चाहते थे कि वे रियासत के मालिक बनें। इधर फैजूसिंह यह चाहता था कि उसका अधिकार एवं वर्चस्व पूर्ववत् बना रहे। इसी रोब-दाब के लिये ही तो उसने साहिबसिंह से मिलकर गुलाबसिंह की हत्या करवाई थी। वह साहिबसिंह एवं पहाड़सिंह दोनों को अलग अलग आश्वासन देता रहा कि मैं तुम्हारे पक्ष में अंग्रेजी सरकार से राज्य का परवाना प्राप्त करवाने के प्रयास में हूं। परन्तु वस्तुतः वह गुलाबसिंह के नाबालिग लड़के अत्तरसिंह के लिए ही राजगद्दी प्राप्त करवाने की नीचे-नीचे कोशिश कर रहा था। क्योंकि ऐसा होने पर उसकी चौधराहट पूर्ववत् बनी रह सकती थी। अन्ततः वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ और अंग्रेजो सरकार ने अत्तरसिंह को रियासत का मालिक मान लिया और फैजूसिंह को मुखत्यारे आम बना दिया गया। इस निर्णय से दोनों भाई कुढ़ते रहे, लेकिन अंग्रेजी सरकार के निर्णय के विरुद्ध वे क्या कर सकते थे? फैजूसिंह की यह सफलता बहुत देर तक न ठहर सकी और सन् 1827 ई० में अत्तरसिंह का देहान्त होगया।

अत्तरसिंह की मृत्यु में फैजूसिंह का हाथ जानकर जब इसके विरुद्ध कोई कार्यवाही करने की सोची ही जारही थी तो वह फरीद-कोट से भाग गया। ऐसी स्थिति में फरीदकोट रियासत के चार हकदार बनकर सामने आये। एक अत्तरसिंह की मां, दूसरा साहिब-सिंह, तीसरा पहाड़सिंह और चौथा इसका सौतेला भाई महताबसिंह। अन्त में अंग्रेजों ने सभी पक्ष सुनने के उपरान्त पहाड़सिंह के पक्ष में अपना निर्णय दे दिया। अतः सन् 1827 ई० में पहाड़सिंह फरीदकोट की गद्दी पर बैठे। फैजूसिंह फरीदकोट में आकर पुनः रहने लगा, लेकिन उसकी पुरानी आदतें नहीं छूटीं और उसने साहिबसिंह को भड़काकर अंग्रेजों के पास इसलिये भेजा कि रियासत का बंटवारा होना चाहिये। इसी बीच अचानक बीमार होने से साहिबसिंह की मृत्यु होगई।

पहाड़सिंह ने रियासत का स्वामी बनने के बाद अंग्रेजी सरकार से अपने सम्बन्ध दृढ़ बनाए। जब सन् 1838 ई० में आकलैण्ड ने अफ-गानिस्तान पर चढ़ाई की, तो फरीदकोट की तरफ से भरपूर सहायता की गई। यही क्यों, जब आजादी के मतवाले खालसा वीरों ने सन् 1845 ई० में अंग्रेज अधिकारी हिटलर को फिरोजपुर के किले में घेर लिया तो पहाड़सिंह ने अपना समर्थन अंग्रेजों को दिया। इन सेवाओं से प्रसन्न होकर अंग्रेजी सरकार ने मुदकी के स्थान पर इनको राजा की पदवी देने के साथ-साथ घोषणा की, कि जो क्षेत्र कोटकपूरा आदि पहले फरीदकोट के हाथ से निकलकर अंग्रेजी राज्य के अधिकार में आगये थे, उन्हें लड़ाई के बाद रियासत फरीदकोट को वापिस करने पर विचार किया जायेगा। राजा पहाड़सिंह ने रियासत को हरा भरा बनाने, सतीप्रथा और कन्यावध की बुरी प्रथाओं को दूर करने का प्रयत्न किया।

पहाड़सिंह की मृत्यु (1849 ई०) के बाद उनका पुत्र वजीरसिंह फरीदकोट रियासत की गद्दी पर बैठा। ये अपने पिता की भांति अंग्रेजों की मित्रता निभाते रहे और द्वितीय सिख-युद्ध में अंग्रेजों का पक्ष लिया। इनके शासनकाल में सन् 1857 ई० का गदर आरम्भ हुआ जो कि भारत में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध था। इस गदर में महाराजा ने रुपये-पैसे और सैनिकों के माध्यम से अंग्रेजों की उसी प्रकार सहायता की, जिस प्रकार सतलुज पार के रियासती राजाओं ने

की थी। इन सेवाओं के प्रतिफल में वजीरसिंह ने अंग्रेजों से प्रमाण-पत्र प्राप्त किया। जिसके अनुसार अंग्रेजों ने अपने आपको रियासत फरीदकोट के राजा का शुभचिन्तक माना। राजा वजीरसिंह के मान-सम्मान में तोप की सलामी बढ़ादी गई। फरीदकोट रियासत पर इनका पैतृक अधिकार स्वीकार कर लिया गया। इसके बाद रियासत का सम्पूर्ण इतिहास एकपक्षीय है। अर्थात् केवल अंग्रेजों की कृपा पर निर्भर रहना।

इस प्रकार इस सम्पूर्ण विवरण से हम एक परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि राजनैतिक दृष्टि से उस समय पंजाब सतलुज पार की रियासतों और महाराजा रणजीतसिंह के राज्यविस्तार के दृष्टिकोण दो भिन्न-भिन्न ध्रुवों पर स्थित थे। एक तरफ अंग्रेजों की सहायता से अपने रियासती अस्तित्व को रणजीतसिंह से बचाना था तो दूसरी तरफ रणजीतसिंह द्वारा साम्राज्यवाद का उद्घोष बड़ी जोर से गुंजाया जारहा था। जाट सिखों के इस पारस्परिक द्वेष से अंग्रेजों को सदा लाभ ही रहा।

❀❀❀

एकादश अध्याय

हरयाणा में जाट राज्य

जीन्द रियासत

वर्तमान हरयाणा प्रान्त में जिला मुख्यालय के नाम से प्रसिद्ध जीन्द रियासत फुलकिया रियासत है। अतः इसका इतिहास पटियाला रियासत से जुड़ा हुआ है। परन्तु इतिहास की दृष्टि से कहा जा सकता है कि सुख-चैन के समय तक जीन्द रियासत के मालिकों की हैसियत एक बड़े जमींदार के समान ही थी। चौधरी फूल के बड़े लड़के तिलोका में वह प्रतिभा नहीं थी जिससे जीन्द रियासत का विस्तार कर सके। इसकी मृत्यु के उपरान्त इसका बेटा सुखचैन रियासत का स्वामी बना। परन्तु इसके विषय में भी कोई ऐतिहासिक जानकारी नहीं मिलती। परन्तु इतना अवश्य पता चलता है कि इसका विवाह मांडी गांव के जाट परिवार में हुआ था।

सुखचैन के बाद का जीन्द रियासत का इतिहास प्रायः क्रमबद्ध रूप से प्राप्त होता है। सुखचैन के तीन पुत्रों– आलमसिंह, गजपतसिंह और बुलाकीसिंह का नाम जीन्द रियासत के सम्बन्ध में मिलता है। सखचैन का पुत्र आलमसिंह एक साहसी युवक था। इसने सन् 1763 ई० में शाही सेनाओं को पराजित करके एक बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया था, परन्तु अगले ही वर्ष इसकी मृत्यु होगई। इसके तीन रानियां थीं, परन्तु इसकी मृत्यु निस्सन्तान ही हुई। इसकी मृत्यु के उपरान्त रियासत का कार्यभार गजपतसिंह को मिला। गजपतसिंह बचपन से ही संघर्षों में पला था। वस्तुतः उस समय पंजाब की ऐसी स्थिति थी कि देशी रियासतें भी परस्पर लड़ती रहती थीं। गजपतसिंह की बाल्यावस्था में ही नाभा रियासत तथा जीन्द रियासत के आपसी विवाद उभरकर आचुके थे। नाभा और जीन्द के विवाद में दिल्ली के बादशाह ने नाभा का साथ दिया और वे गजपतसिंह को जो कि अभी पांच साल का ही था, इसकी माता के साथ पकड़कर दिल्ली ले गये, परन्तु इन्हें अधिक समय तक कैद में नहीं रहना पड़ा। गजपत-

सिंह पैनी सूझ-बूझवाला व्यक्ति था। अतः इसने अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए वैवाहिक सम्बन्धों का सहारा लिया और आलमसिंह की विधवा से नाता (चादर प्रथा) किया। इससे इसको यह लाभ हुआ कि रियासत बालानवाली का मालिक बन गया। इसके अतिरिक्त इसने किशनसिंह मानसिंह की लड़की से भी शादी की, जिससे तीन पुत्रों के अतिरिक्त एक लड़की हुई। जिसकी शादी सुकरचकिया के जाट महासिंह से हुई और इसी की कोख से महाराजा रणजीतसिंह उत्पन्न हुए। सन् 1773 ई० तक इसने अपनी रियासत की सीमा पानीपत तथा करनाल तक विस्तृत करली थी। इसी अवधि में सन् 1767 के लगभग इस पर माल-गुजारी का डेढ़ लाख रुपया बकाया होगया था। अतः देहली में गिरफ्तार कर लिया गया। वहां वह लगभग तीन वर्ष रहा। फिर अपने लड़के मेहरसिंह को जमानत के रूप में दिल्ली छोड़कर जीन्द लौट आया और शीघ्र ही रुपयों का प्रबन्ध करके पुत्रसहित पुनः जीन्द लौट आया।

गजपतसिंह की गतिविधियां दिल्ली दरबार की आंखों में खटक रही थीं। अतः 1775 ई० के आस-पास सूबेदार दिल्ली ने हांसी के हाकिम रहीमदाद खां को जीन्द के मुकाबले के लिए भेजा। गजपतसिंह ने फुलकिया सरदारों से सहायता मांगी। राजा अमरसिंह पटियाला ने एक सेना दीवान नानूमल के सेनापतित्व में भेजी। नाभा से हमीर-सिंह स्वयं कैथल के भाई-बन्दों के साथ जीन्द की सहायता के लिए चढ़ आये। रहीमदाद खां ने बुरी तरह हार खाई और वह मारा गया। इसके बाद गजपतसिंह ने पटियाला की सेना के साथ मिलकर लालपुर जिला रोहतक पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में गोहाना इनके हाथ में आगया। गजपतसिंह ने जीन्द शहर में एक बड़ा भारी किला बनवाया। ये जाटों में महाराजा रणजीतसिंह के नाना के रूप में बड़े सम्मानित समझे जाते थे।

इनकी मृत्यु के उपरान्त भागसिंह जीन्द रियासत का राजा बना। इसने गद्दी पर बैठते ही कूटनीति का सहारा लेकर बादशाह शाह आलम से सन् 1786 ई० में गोहाना और खरखोदा के क्षेत्र प्राप्त कर लिए। सन् 1794 ई० में पटियाला से जो सेना रानी साहब कुंवरि की अधीनता में अम्बाराव व लछमनराव मराठों के एक स्थान राजगढ़ पर आक्रमण करने गई थी, उसमें भागसिंह भी सम्मिलित था। इस हमले

में अच्छी सफलता भी मिली थी। मराठे अपनी हार को भूले नहीं थे और वे भागसिंह को पाठ पढ़ाना चाहते थे। अतः 1795 में मराठों ने भागसिंह से करनाल का क्षेत्र छीन लिया और इसे टामसन (थोमसन) को दे दिया। थोमसन अभी करनाल को व्यवस्थित नहीं करने पाया था कि उस पर पंजाब की तरफ से आक्रमण हुआ। इस आक्रमण में भागसिंह स्वयं सम्मिलित हुआ था। थोमसन की हार हुई और उसने हांसी के अंग्रेजी इलाके नारनौंद में आकर पीछे देखा। नारनौंद गांव में जहां थोमसन की सेना ने डेरा डाला था, उस स्थान को अब भी यहां के लोग 'पड़ाव' नाम से याद करते हैं।

सन् 1803 ई० में होनेवाली अंग्रेजों की सफलता से प्रभावित होकर जब सतलुज तीरवासी पंजाबी राजाओं ने अंग्रेजों से सन्धि की बातें चलाईं तो राजा भागसिंह ने अंग्रेजी जनरल से पत्र-व्यवहार आरम्भ कर दिया और जनरल लेक को अपना सबसे घनिष्ठ बना लिया।

पानीपत युद्ध (1805 ई०) से जब जसवन्तराय होल्कर लार्ड लेक द्वारा पीछा किए जाने पर पंजाब की ओर भागा तो अंग्रेजों के आग्रह पर भागसिंह ने अपने प्रभाव से इसे रणजीतसिंह के यहां भी ठहरने नहीं दिया। अंग्रेजों का भागसिंह को भेजना वैसे भी उचित था, क्योंकि रणजीतसिंह नाते में इसका भानजा लगता था। अंग्रेजों ने इस सहायता के बदले भागसिंह को परगना बुवाना जो पानीपत के पास है, दे दिया। भागसिंह का भाग्य समझिये कि सन् 1806 ई० में इसे महाराजा रणजीतसिंह की तरफ से लुधियाना क्षेत्र के चौबीस गांव, परगना जंडियाला के चौतीस गांव, जगरानू के दो गांव, दो गांव कोट के मिल गये। अगले वर्ष महाराजा रणजीतसिंह ने तीन गांव जो गूजरसिंह रायपुरवाला से लिये थे और सत्ताईस गांव जो धर्मसिंह के बेटे से लिए थे, वे भी भागसिंह को दे दिये। इस प्रकार भागसिंह के समय में जीन्द रियासत का भू-भाग बहुत ही विस्तृत होगया।

सन् 1808 में महाराजा रणजीतसिंह ने मालेरकोटला के राजा से एक लाख रुपया भेंट का मांगा। इस राशि में से केवल सत्ताईस हजार रुपया एक किश्त में दिया गया था और शेष राशि के लिए नाभा, पटियाला और जीन्द के राजा प्रतिभू (जामिन) थे, परन्तु

कुछ दिनों बाद इन राजाओं ने महाराजा रणजीतसिंह से बातचीत करके जमानती होने की शर्त समाप्त करवा ली। मलेरकोटला के साथ किये गये व्यवहार को देखकर भागसिंह चिन्ता में पड़ गया और सोचने लगा कि रणजीतसिंह की नाराजगी में अपने क्षेत्र को सम्भालना किसी के बलबूते की बात नहीं। अतः ऐसा कोई उपाय निकाला जाये कि रणजीतसिंह पर दबाव बना रहे। इस दबाव के लिये भागसिंह को अंग्रेज ही उपयुक्त लगे। इसके लिए भागसिंह ने दोहरी नीति अपनाई। एक तरफ तो उसने गवर्नर जनरल को पत्र लिखा कि रणजीतसिंह को काबु में रखा जाए तथा दूसरी ओर वह रणजीतसिंह से भी भेंट करता रहा। भागसिंह के पत्र के उत्तर में रेजीडेण्ट दिल्ली ने लिखा कि सरकार अंग्रेजी रियासतों के विषय में स्पष्टतः हस्तक्षेप करने के लिए तैयार नहीं है तथापि एक पत्र द्वारा उन्होंने महाराजा रणजीतसिंह से आशा की है कि वह सतलुज पार के सरदारों के साथ कठोरता का व्यवहार नहीं करेगा।

कुछ दिन बाद भागसिंह ने रेजीडेण्ट दिल्ली से मुलाकात करने के लिए दिल्ली की ओर प्रस्थान किया, परन्तु मार्ग में ही भागसिंह को अक्टर लोनी की उस सेना के साथ मिलना पड़ा जो पंजाब की ओर जारही थी। जब सेना लुधियाना पहुंची तो अक्टर लोनी ने कहा कि यह क्षेत्र तो अंग्रेजी राज्य को चाहिए। भागसिंह अंग्रेजों की मित्रता के नाते इस स्थान को इस शर्त पर देने के लिए तैयार होगया कि इसके बदले परगना करनाल और परगना पानीपत उसे दे दिया जाये, परन्तु अंग्रेज-अंग्रेज थे, उन्होंने वचन देकर भी करनाल और पानीपत का क्षेत्र भागसिंह को नहीं दिया और लुधियाना का क्षेत्र उससे ले लिया।

राजा भागसिंह में शराब पीने की बुरी आदत थी। दुर्व्यसन के कारण इनका स्वास्थ्य अत्यधिक खराब रहने लगा। अतः इन्होंने अपने छोटे लड़के प्रतापसिंह के नाम एक वसीयत भी लिखदी, जिसमें इसे जीन्द की गद्दी का स्वामी बना दिया गया। परन्तु गवर्नर जनरल ने यह वसीयत यह कहकर अस्वीकार करदी कि बड़े लड़के फतहसिंह के होते हुए छोटे लड़के को गद्दी नहीं मिल सकता। इस प्रकार जीन्द की राज्यव्यवस्था में निरन्तर कमी आने लगी, क्योंकि बड़े लड़के फतहसिंह को राजा भागसिंह उत्तराधिकारी नहीं बनाना चाहता था और छोटे लड़के के उत्तराधिकार को अंग्रेजों ने मानना अस्वीकार कर

दिया और तीसरे पुत्र महताबसिंह नाबालिग थे। ऐसी स्थिति में राज्य प्रबन्ध के लिए राजा साहेब जीन्द और अंग्रेजी सरकार महताबसिंह की मां के नाम पर सहमत होगए। इस प्रकार रानी शुभराय सन् 1814 में रियासत की मालिक हुई, परन्तु रानी को प्रतापसिंह के षड्यन्त्रों ने चैन से नहीं रहने दिया और उसने रानी तथा उसके विशेष मुंशी जैशिवराम आदि को मारकर जीन्द पर अधिकार कर लिया।

अंग्रेजी सरकार को जब इस घटना की सूचना मिली तो उसने तुरन्त फतहसिंह को रियासत का राजा घोषित किया और प्रतापसिंह को पकड़ने के आदेश दे दिये। जब प्रतापसिंह को इस समाचार का पता चला कि अंग्रेजी सेना उसे पकड़ने के लिये आरही है तो वह जीन्द छोड़कर भटिण्डे के जंगलों में भाग गया और वहां से चलकर फूलासिंह अकाली के दल में जा मिला। फूलासिंह वह व्यक्ति था जिसने रणजीतसिंह से विरोध करके नन्दपुर माखूवाल पर अधिकार कर लिया था और लूटमार करके अपना जीवन चलाता था। इसके पास सात सौ सवार और दो तोपें थीं। यहां भी इसकी पार नहीं बसाई और वह भागकर लाहौर पहुंच गया। महाराजा रणजीतसिंह ने भी उसे शरण नहीं दी और उसे अंग्रेजी सरकार को सौंप दिया गया। अंग्रेजों ने इसे दिल्ली में नजरबन्द रखा। यहां सन् 1816 ई० में इसकी मृत्यु होगई। सन् 1818 में राजा भागसिंह भी स्वर्गवासी हो गये। इनके उत्तराधिकारी फतहसिंह के जीवन की कोई विशेष घटना नहीं। तीन फरवरी उन्नीस सौ बाईस में इसका देहान्त हो गया।

इसके बाद संगतसिंह जीन्द के राजा बने। सन् उन्नीस सौ बाईस के जुलाई महीने में इनका राज्याभिषेक हुआ। इन्होंने गद्दी पर बैठते ही महाराजा रणजीतसिंह से तालमेल बढ़ाना आरम्भ कर दिया। सन् 1826 में महाराजा रणजीतसिंह से इन्होंने पहली मुलाकात की। यह मुलाकात होली के त्यौहार के आस-पास हुई। महाराजा रणजीतसिंह ने इसका बड़ा सम्मान किया। जब महाराजा रणजीतसिंह ज्वालामुखी की तीर्थयात्रा के लिये गये तो संगतसिंह दीनानगर तक उनके साथ गया। सम्बन्धों में घनिष्ठता आने पर महाराजा रणजीतसिंह ने इन्हें एक जागीर भी दी। राजा संगतसिंह पुनः

रणजीतसिंह से मिलने के लिये सन् 1827 में लाहौर गये। महाराजा रणजीतसिंह से बार-बार भेंट करने के कारण इनका प्रभाव यहां तक बढ़ा कि इन्होंने मौजा अनियाना, जो सरदार रामसिंह के अधिकार में था, छीन लिया। इसके अतिरिक्त दो गांव यह कहकर झपट लिये कि ये महाराजा रणजीतसिंह के हैं। इसकी इन हरकतों को देखकर अंग्रेजों को रणजीतसिंह और संगतसिंह की मुलाकातों पर सन्देह होने लगा और उन्होंने एक घोषणा द्वारा यह प्रसारित किया कि केवल शिष्टाचार के वास्ते ही रियासतों के मुखिया परस्पर मिल सकते हैं, परन्तु उन्हें एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अंग्रेजी सरकार से स्वीकृति लेनी आवश्यक होगी।

इधर संगतसिंह पर यह आरोप भी लगा कि वे रणजीतसिंह के साथ गुप्त पत्र-व्यवहार करके किसी षड्यन्त्र की रचना कर रहे हैं। इसकी पुष्टि इस बात से भी हो गई कि महाराजा रणजीतसिंह ने दशहरे के उत्सव में सम्मिलित होने के लिए राजा संगतसिंह को आमन्त्रित किया था। राजा संगतसिंह राजधानी जीन्द के स्थान को छोड़कर साठ-सत्तर मील की दूरी पर एक गांव में रहते थे। इससे राज्य की व्यवस्था ठीक न रहती थी और लूटमार की घटनायें निरन्तर होती रहती थीं। इन घटनाओं की प्रबलता यहां तक हो गई थी कि लेफ्टिनेन्ट राबर्ट की आठवीं पैदल पलटन को भी आक्रमण करके जाटों ने लूट लिया था। रणजीतसिंह के बुलावे पर लाहौर जाते हुए मार्ग में अत्यधिक शराब पीने के कारण इनकी मृत्यु हो गई। 'पंजाब राजाज' नामक पुस्तक में राजनैतिक उद्देश्य से की गई इनकी यात्राओं को राजकोष का अपव्यय कहकर सम्बोधित किया गया है। परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि इन यात्राओं के परिणाम-स्वरूप जीन्द रियासत के अतिरिक्त जागीरें भी मिलीं और सामान भी मिला।

संगतसिंह के कोई सन्तान न थी। हां उनके दादा के भाई के तीन पोते स्वरूपसिंह, सुखासिंह और भगवान्सिंह अवश्य थे, जो जीन्द रियासत के उत्तराधिकार के लिये झगड़ते रहे। इसके साथ ही महाराजा रणजीतसिंह ने भी अपने आप को जीन्द रियासत का उत्तराधिकारी मानने पर बल दिया। अन्त में इस विवाद का समाधान इस प्रकार किया गया कि सन् 1809 के अहदनामे के बाद जीन्द

रियासत को दी गई जागीरें महाराजा रणजीतसिंह को वापिस मिलनी चाहियें। नये राजा स्वरूपसिंह को केवल गजपतसिंह के अधिकार वाले स्थान ही मिलें और लुधियाना का क्षेत्र अंग्रेजी सरकार के पास आना चाहिये। इस प्रकार सन् 1837 में स्वरूपसिंह जीन्द के राज्य सिंहासन पर बैठा। मार्च सन् 1843 में कैथल रियासत के लावारिश होने पर इसका कुछ क्षेत्र (परगना माहलान धाबदान (धामतान) जीन्द के राजा को दे दिया गया। अंग्रेज जब किसी राजा पर प्रसन्न होकर कोई क्षेत्र देते थे तो इसके पीछे उनका निहित स्वार्थ होता था। इसी प्रकार के एक स्वार्थ की पूर्ति के लिये सन् 1845 में स्वरूपसिंह से अंग्रेजी सरकार ने अम्बाला छावनी के लिए डेढ़ सौ ऊंट मांगे। राजा साहिब इनको समय पर न दे सके। परिणाम यह हुआ कि मेजर ब्राडफुट रेजिडेण्ट ने राजा पर दस हजार रुपया जुर्माना कर दिया। जुर्माना के दबाव में आकर राजा जीन्द को अनचाहे अंग्रेजों की मदद करनी पड़ी। कुछ समय बाद इनकी एक सैनिक टुकड़ी भी अंग्रेजों के आदेश से कश्मीर भी गई जहां राजा गुलाबसिंह के विरुद्ध वहीं के अधिकारी इमामुद्दीन ने विद्रोह कर दिया था। इससे प्रसन्न होकर गवर्नर जनरल ने जीन्द का दस हजार रुपए का जुर्माना माफ कर दिया।

राजा स्वरूपसिंह ने अपनी रियासत का प्रबन्ध नये तरीकों से अंग्रेजी ढंग से करना चाहा। इस नये ढंग के प्रबन्ध में भूमि की पैमाइश का भी कार्य था। इससे बहुत-से लोग असन्तुष्ट होकर विद्रोही बन गये। ऐसे विद्रोहियों में लजवाना गांव के जाटों के साथ अन्य गांवों के जाट भी थे और इन्होंने गांव की पैमाइश करने आये एक तहसीलदार का कत्ल कर दिया। राजा को जब यह समाचार मिला तो वह सेना को लेकर विद्रोहियों की ओर चल पड़ा। 'पंजाब राजाज' के उर्दू अनुवादक सैयद मुहम्मद हुसैन लिखते हैं कि इस विद्रोह को दबाने में पटियाला की सेना भी सम्मिलित थी। जाटों के इस विद्रोह को दबाने में अस्सी सिपाही के आस-पास घायल हुए और सत्रह मारे गये। हमारा अनुमान है कि जब सेना की इतनी हानि हुई थी तो जाट विद्रोहियों की इससे भी अधिक प्राण-हानि हुई होगी, परन्तु विद्रोहियों की हानि का लेखा-जोखा नहीं मिलता। कुछ इतिहासकारों के अनुसार राजा से सलाह करके एक इश्तिहार निकाला गया, जिसमें कहा गया

था कि उन लोगों को कुछ दण्ड न दिया जायेगा जो विद्रोह में सम्मिलित हुए हैं, यदि वे अपने-अपने घरों को वापिस चले जायें। सेना की शक्ति और इश्तिहार का यह प्रभाव हुआ कि विद्रोही अपने-अपने स्थानों को लौट गये, परन्तु तत्कालीन रियासती प्रवृत्तियों को देखते हुए यह मानना नितान्त कठिन है कि विद्रोह को दबाने के लिए बल का प्रयोग नहीं किया गया होगा।

सन् 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में राजा स्वरूपसिंह ने पंजाब की अन्य देशी रियासतों के समान अंग्रेजों का साथ दिया। जब इन्हें संगरूर में दिल्ली के विद्रोह की सूचना मिली तो वे अंग्रेजों के शुभचिन्तक बनकर 18 मई 1857 को अपनी सेना सहित करनाल जा पहुंचे और वहां किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होने दी। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों का पक्ष लेते हुए इन्होंने एक सैनिक टुकड़ी बागपत के नावों के पुल की सुरक्षा के लिए भेजी। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों की सेना जमुना पार कर सकी और पानीपत में जहां विद्रोह की आग भड़क चुकी थी, उसे काबू करने में समर्थ हुई। जीन्द की सेना ने अंग्रेजी सेना के आगे-आगे चलकर विद्रोहियों के कब्जे से सम्भालका और राड़ नामक स्थानों को भी छीन लिया और सेना के लिए खाद्य सामग्री भी जुटाई।

19 जून 1857 में जीन्द की सेना ने नसीराबाद की विद्रोही सेना को दबाने में अंग्रेजों की मदद की, परन्तु इसी बीच राजा को सूचना मिली कि उसकी रियासत के जाट हांसी, हिसार और रोहतक के विद्रोहियों की सहायता कर रहे हैं, तो वे शीघ्र ही अपनी रियासत में लौट आये। प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम (1857 का गदर) में अंग्रेजों ने जिला रोहतक का प्रबन्ध जीन्द के राजा सरूपसिंह को सौंप दिया था। देहात के नम्बरदारों एवं जमींदारों को सूचित कर दिया गया था कि वे भूमि लगान सम्बन्धी रसीदें उन्हीं से लें। स्वरूपसिंह ने इस क्षेत्र के प्रबन्ध के लिए तथा विद्रोह को दबाने के लिए पांच सौ सैनिकों को कमाण्डैण्ट वान कोर्टलैण्ड की सहायता के लिए हांसी भेजा और एक सौ दस सैनिक कान्हासिंह की अध्यक्षता में झज्जर रवाना किये गये। इसके अतिरिक्त ढ़ाई सौ सैनिक रोहतक और पचास सैनिक गोहाना में नियुक्त किये। उपर्युक्त विवरण से एक बात स्पष्ट मालूम होती है कि सन् 1857 के गदर में रोहतक तथा हांसी का जाट अंग्रेजों का जुवा

उतारने के लिए जुझारू दिखाई पड़ता था। इसीलिए अंग्रेजों की तरफ से राजा जीन्द को विशेष रूप से इस कार्य के लिए नियुक्त किया गया था।

अंग्रेजी सरकार ने राजा स्वरूपसिंह की सहायता को स्वीकारते हुए 5 नवम्बर सन् 1857 के विज्ञापन (गजट) में लिखा कि "राजा साहब जीन्द की सेवाओं के लिए हम कृतज्ञ हैं।" इसी सहायता के कारण राजा जीन्द को दादरी का क्षेत्र दे दिया गया जो कि अंग्रेजों ने नवाब दादरी से छीना था। इसके अतिरिक्त इन्हें दिल्ली में भी एक मकान दिया गया। पटियाला, नाभा और जीन्द में किसका स्थान बड़ा है. यह झगड़ा भी राजा स्वरूपसिंह के समय में उठा। यह विवाद इस सीमा तक पहुंचा कि मिस्टर एडमिन्स्टन कमिश्नर रियासत को घोषणा करनी पड़ी कि रियासतों के क्रम में पहला स्थान पटियाला का, दूसरा स्थान नाभा का और तीसरा स्थान जीन्द का है। इस निर्णय से स्वाभिमानी राजा स्वरूपसिंह को ठेस लगी। वे किसी रूप में नाभा रियासत को अपनी रियासत से बड़ा मानने को तैयार न थे। राजा स्वरूपसिंह इसके लिए निरन्तर पत्र-व्यवहार करते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि 1860 के दरबार में राजा जीन्द को नाभा की तुलना में प्रमुखता दी गई और पटियाला के बाद जीन्द का स्थान ही माना गया। अपनी रियासत के लिए इलाका और सम्मान जुटानेवाले इस राजा की मृत्यु 26 जनवरी 1864 में होगई।

इसके बाद रघुवीरसिंह जीन्द की राजगद्दी पर बैठे। रघुवीरसिंह को गद्दी पर बैठे अधिक समय नहीं हुआ था कि दादरी क्षेत्र के जाटों ने विद्रोह कर दिया। इसकी सूचना मिलते ही राजा रघुवीरसिंह अपनी सेना को लेकर आठ मई 1864 को दादरी पहुंच गये और वहां लगभग दो हजार जाट जो कि विद्रोह के लिए इकट्ठे हो रहे थे उन पर आक्रमण कर दिया। इधर विद्रोही जाटों ने झोझू और मानिकवास नामक गांवों पर कब्जा कर लिया था और अपनी हकूमत स्थापित करली थी। इन दोनों गांवों को विद्रोहियों के अधिकार से छुड़ाने के लिए भयंकर लड़ाई हुई। इस लड़ाई में दोनों ओर से आदमी मारे गये, परन्तु अधिक हानि विद्रोही जाटों की ही हुई।

इससे आगे का जीन्द रियासत का इतिहास ऐतिहासिक एवं राजनैतिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। राजा रघुवीर

सिंह के जीवनकाल में ही इनके पुत्र कुंवर बलवीरसिंह की मृत्यु होगई थी। इसकी मृत्यु के चार वर्ष के उपरान्त सन् 1887 में राजा रघुवीरसिंह की मृत्यु होगई। इनके बाद इस रियासत की गद्दी पर रघुवीरसिंह का पोता रणवीरसिंह बैठा। राज्यगद्दी पर बैठते समय इसकी आयु आठ वर्ष की थी। अत: राज्य का प्रबन्ध एजेण्ट की देखरेख में कौंसिल द्वारा होता रहा। इनके दो लड़के जिनके नाम राजवीरसिंह और जगतवीरसिंह हुये। स्वाधीन भारत होने पर प्रथम यह रियासत पेप्सू में, इसके बाद पूर्वी पंजाब में और सन् 1966 के पंजाब विभाजन में यह हरियाणा प्रान्त में समा गई। आजकल यह जिला जीन्द के नाम से जानी जाती है। इसकी भौगोलिक सीमायें सिकुड़ कर रह गई हैं। इस रियासत का कुछ भाग जि० संगरूर (पंजाब) कुछ जिला भिवानी हरयाणा में सम्मिलित होगया है। जाटों की दृष्टि से इस रियासत का महत्त्व दो दृष्टियों से आंका जा सकता है—एक तो इस रियासत का सम्पूर्ण ग्रामीण क्षेत्र प्राय: हिन्दू कृषिपरक जाटों का था। दूसरा इस रियासत के वैवाहिक सम्बन्ध भी हिन्दू जाटों से हुये। राजा रघुवीरसिंह का प्रथम विवाह दादरी के जाट चौधरी जवाहरसिंह के यहां हुआ। इसके अतिरिक्त आर्यपेशवा राजा महेन्द्र प्रताप (वृन्दावन) का विवाह जीन्द राजा के यहां हुआ। राजा महेन्द्रप्रताप जाटों में ऐसे क्रान्तिकारी हुए हैं कि जिन्होंने अपने जीवन के तीस वर्ष विदेशों में निर्वासित होकर काटे हैं।

कैथल रियासत—

इस रियासत का इतिहास भी फुलकिया इतिहास से सम्बन्धित है। धर नामक व्यक्ति ने कैथल, सिद्धूवाल और अरनौली आदि गांवों पर चौदहवीं शताब्दी के मध्य में अधिकार करके अपनी चौधराहट स्थापित करली थी। इस व्यक्ति ने अपनी शक्ति से भटिण्डा पर भी अधिकार कर लिया था। इसके पुत्र मानकचन्द के घर ओमू नाम का लड़का उत्पन्न हुआ। ओमू जाट को जातीय इतिहासकार सिखों के गुरु रामदास का समकालीन मानते हैं। गुरु रामदास को गद्दी देते समय एक कार्य करने के लिए कहा था। वह कार्य यह था कि तुंग, सुलतानपिंड और गुमहला नामक गांवों के बीच में कई कोस का जंगल था। उस जंगल में एक बहुत पुराना तालाब था, किन्तु वह मिट्टी से भर गया था। गुरुजी उसका पुनरुद्धार चाहते थे। परन्तु तालाब की

भूमि जाटों की सम्मिलित भूमि थी। अतः गुरुजी ने आसपास के मुख्य-मुख्य जाटों को बुलाकर उस भूमि को मांगा। जाटों ने गुरुजी की इच्छानुसार भूमि उन्हें प्रदान करदी।

रामदास जी इस चिन्ता में थे कि तालाब किस भांति खुदे। उनके पास कोई साधन नहीं थे। वे तो उपदेशों द्वारा अपने सम्प्रदाय को बढ़ाया करते थे। रामदास जी के आसपास के गांवों के अनेक जाट शिष्य होगये और ओमू भी उनमें से एक था। ओमू स्वयं तालाब खोदने के कार्य में लग गया और देखते-देखते तालाब का पुनरुद्धार होगया। ओमू के कार्य से प्रसन्न होकर गुरुजी ने आशीर्वाद दिया कि तेरी संतान पंजाब भर में प्रसिद्ध होगी। कुछ दिनों के उपरान्त ओमू के घर में एक लड़का उत्पन्न हुआ जो कि आगे चलकर भाई मगतू के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गुरु अर्जुनदेव के समकालीन ओमू के पुत्र भाई मगतू ने भारी प्रतिष्ठा प्राप्त की। गुरु जी ने भक्ति एवं सेवा से प्रसन्न होकर इन्हें 'भाई' की उपाधि प्रदान की। इसके बाद कैथल का खानदान भाई खानदान के नाम से प्रसिद्ध होगया। भाई मगतू के सन्तदास और गोरा नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। सन्तदास (जिनका वास्तविक नाम जीवनसिंह था) की सन्तान भटिण्डा की ओर चली गई और वहां राज्य स्थापित किया। गोरा की सन्तान ने कैथल और दूनोली के परगने को अपने अधिकार में लेकर राज्य स्थापित किया। गोरासिंह के शासनकाल के सम्बन्ध में हमें अधिक जानकारी नहीं मिलती, लेकिन इतना अवश्य पता चलता है कि महासिंह, किशनसिंह, माईदास और दयालसिंह नाम के इसके चार बेटे थे जिनमें से किशनसिंह तथा महासिंह की सन्तान के लोग भटिण्डा की ओर चले गये। वे भटिण्डा क्यों गये इसके कारणों में से एक कारण भाइयों का परस्पर विवाद भी बताया जाता है। माईदास निस्सन्तान मर गया। इस प्रकार दयाल सिंह ही एकमात्र रियासत कैथल का मालिक बनकर राज्य करने लगा।

भाई दयालसिंह के छह पुत्र उत्पन्न हुए। उनके सुक्खासिंह, धनसिंह, गुरदाससिंह, देसूसिंह, बुद्धसिंह और बख्तसिंह नाम रखे गये। इनमें से गुरदास (गुरबख्शसिंह) बड़ा शूरवीर और महत्त्वाकांक्षी था। पटियाला राज्य के संस्थापक आलासिंह के साथ मिलकर इसने अनेक

लड़ाइयां लड़ीं। आलासिंह तथा इसका आपसी समझौता था कि जीते हुए प्रदेशों को आधा-आधा बांट लिया करेंगे। अतः इनके समय में कैथल रियासत के क्षेत्रफल में काफी वृद्धि हुई। इनके छह पुत्रों में से सुक्खासिंह के भाई गुलाबसिंह ने अरनौली पर, भाई देसूसिंह के पुत्र लालसिंह ने कैथल पर और तीसरे भाई बुद्धसिंह ने थानेसर और पेहवा हर अधिकार करके कहोद में एक किला बनवाया। शेष तीनों भाई निस्सन्तान मर गये। कैथल रियासत इनके समय में आय की दृष्टि से पटियाला के बाद दूसरे क्रम पर थी जबकि नाभा का तीसरा स्थान था। अतः लालसिंह पटियाला के बाद सतलुज पार की रियासतों के सरदारों में प्रतिष्ठित माना जाता था। पहले तो अंग्रेजों को अपने से बहुत दूर रक्खा, किंतु अन्य रियासती सरदारों की नीतियों को देखते हुए तथा अंग्रेजों की उभरती शक्ति का अनुमान लगाते हुए उनसे मैत्री करली। इस मैत्री के परिणामस्वरूप चौसाया और गोहाना के प्रदेश अंग्रेजी सरकार को देने पड़े। भाई लालसिंह ने जसवन्तराय होल्कर और अंग्रेजों की लड़ाई में अंग्रेजों का साथ दिया। इसके अतिरिक्त महाराजा रणजीतसिंह की अंग्रेजों के साथ सन्धि कराने में भी इनका हाथ बताया जाता है। जब जार्ज टाम्स ने जींद रियासत पर चढ़ाई की थी, तो जींद महाराजा की सहायता के लिये भाई लाल-सिंह ने अपनी सेना भेजी थी। इस प्रकार रियासत कैथल का भाई लालसिंह एक युगपुरुष माना जा सकता है।

सन् 1846 ई० में इनकी मृत्यु के उपरान्त इनका बेटा उदयसिंह उत्तराधिकारी बना। इसने यह बड़ी भारी भूल की, कि अरनौली में ही रहकर कैथल का शासन चलाना आरम्भ किया। यह अत्यन्त अयोग्य था। इसकी रानी महताबकौर ने शासनकार्य में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। उदयसिंह निस्सन्तान मर गये और अब रानी राज्य की स्वतन्त्र शासक बनने की सोचने लगी। जब अंग्रेजों ने इसके शासन में बाधा डाली तो वह इसे सहन नहीं कर सकी। वह वीरप्रकृति की नारी थी। अतः अंग्रेजों से उलझ बैठी और लड़ाई आरम्भ करदी। अंग्रेजों की शक्ति के मुकाबले में वह क्या कर सकती थी और प्रायः हार निश्चित थी। सेना तितर-बितर होगई, किन्तु रानी महताबकौर ने हिम्मत नहीं हारी और पुनः सेना इकट्ठी करने लगी। किन्तु इसी बीच अंग्रेजी सेना ने आपको पकड़ लिया और

रियासत कैथल को विद्रोह का मुकद्दमा चलाकर जब्त करलिया गया। प्योदा नामक गांव में रानी को रखा गया और वहीं इनकी मृत्यु होगई और इसके बाद यह गांव भी अंग्रेजीराज्य में मिला लिया गया।

कैथल की भांति हरयाणा प्रदेश में जाटों की अन्य कई छोटी-छोटी रियासतें भी थीं, जिनको किसी न किसी बहाने अंग्रेजों ने अपने राज्य में मिला लिया। सन् 1845-46 ई० तक जब्त की गई कुछ रियासतों का संक्षिप्त वर्णन यहां किया जाता है। ये सारी रियासतें उन जाट सरदारों की थीं जो निस्सन्तान मर गये थे।

जिला अम्बाला में बिलासपुर में जाटराज्य था। रानी दयाकौर के निस्सन्तान मरने पर इस रियासत को अंग्रेजों ने अपने क्षेत्र में मिला लिया था। इसी प्रकार अम्बाला खास में भी दयाकौर का राज्य था। रानी दयाकौर के पति का नाम गुरुबख्शसिंह था। सरदार गुरुबख्शसिंह बड़े वीर पुरुष थे। उन्होंने अपनी शक्ति से इन प्रदेशों से मुसलमान अधिकारी निकालकर अपनी रियासत स्थापित की थी। रानी के मरने पर सन् 1823 ई० में अंग्रेज सरकार ने अम्बाले को भी अपने राज्य में मिला लिया।

जगाधरी में जाट सरदार भगवान्सिंह का राज्य था। भगवान् सिंह के कोई सन्तान न थी। अतः इनकी मृत्यु के बाद इनकी पत्नी रानी दयाकौर राज्य का शासन चलाती रही। किंतु सन् 1832 ई० में रानी की मृत्यु के बाद यह रियासत भी जब्त करली और अपने राज्य में मिला ली।

यदि हम यहां थोड़ासा प्रकाश इस बात पर डालें कि हिंदू जाट क्यों सिखधर्म की ओर प्रेरित हुआ तो अनुचित नहीं होगा। इस पर प्रकाश डालना इसलिए भी ठीक है कि अविभाजित पंजाब (जिसमें हरयाणा भी सम्मिलित था) केवल बल्लभगढ़ रियासत को छोड़कर जोकि हिंदू जाट थे और हिन्दू जाट ही रहे। शेष रियासतों के संस्थापक जाट पहले हिंदू थे और थोड़े दिनों के बाद अथवा एक पीढ़ी के बाद सिख जाट बन गये। हमारे मन में सदा यह प्रश्न उठता रहा कि हिंदू सन्तों के विचार जोकि प्रायः गुरु नानक के विचारों के समान ही थे और जिनमें से कुछ की वाणियों का संकलन गुरुग्रंथ साहिब में भी हुआ है, किस कारण से अपने-अपने प्रदेशों के किसानों (जाटों) को

अपनी ओर इतना आकर्षित नहीं कर सके जितना कि गुरु नानकदेव ने किया है। यह बात स्पष्ट है कि गुरु नानक की वाणी किसी भी प्रकार संकुचित विचारों की नहीं है फिर क्या कारण रहा कि इनकी वाणियों ने विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न जातियों में पृथक्-पृथक् प्रभाव डाला। तो क्या यह कहा जा सकता है कि पंजाब के जाट ने उस समय सिख धर्म को स्वीकार किया जबकि उसे इसकी आवश्यकता थी। वस्तुतः पंजाब का हिंदू जाट कृषि करने के कारण हिन्दू धर्म की मर्यादाओं के कारण समाज में सम्माननीय स्थान प्राप्त करने में असमर्थ हो रहा था। अतः वह एक ऐसे अवसर की खोज में था जिसमें कृषि करना उसकी सामाजिक स्थिति को ऊंचा स्थान दिला सके। सिख मत ने इस अवसर को प्रदान किया। क्योंकि इस मत की मान्यताओं में सिख सिख है। चाहे वह कोई व्यवसाय करता हो और उसमें सामाजिक भेदभाव नहीं है। इस प्रकार पंजाब के जाटों को एक सम्मानपूर्ण स्थान पाने का अवसर मिला। गुरुग्रंथ में आये धन्ना जाट के नाम से भी उन्हें यह निश्चय होगया कि यहां सभी के लिए समान आदर है। परन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि जाट बहुसंख्यक सिख मतानुयायी होने पर भी गुरुपद को प्राप्त करने में असमर्थ रहे हैं।

बल्लभगढ़ रियासत

तेवतिया या तेवथिया गोत्री जाटों द्वारा स्थापिक 'बल्लभगढ़' रियासत का इतिहास भरतपुर रियासत (सिनसिनीवार गोत्री) से अत्यधिक जुड़ा हुआ है। इस रियासत का 'बल्लभगढ़' नाम तो बाद के राजा बलराम चौधरी के कारण पड़ा। इससे पूर्व यह रियासत सीही (बल्लभगढ़ के समीप) की जागीर के नाम से जानी जाती थी।

सन् 1705 ई० से एक दशक पूर्व दिल्ली-आगरा मार्ग के आस-पास स्थित 'तिब्रत' अथवा 'तेवथी' नामक ग्राम के कुछ परिवार मुगलों की कमजोर स्थिति का लाभ उठाकर 'अलावलपुर' (बल्लभगढ़) में अपना भाग्य आजमाने के लिए आकर रहने लगे। यहां रहते हुए गोपालसिंह तेवतिया नामक युवक ने देखा कि सीही ग्राम के तगे (त्यागी) जाटों पर बड़ा अत्याचार कर रहे हैं। अतः उसने सीही के नैन गोत्री जाटों से ताल-मेल बैठाया और वहां से तगों को मारकर भगा दिया तथा सीही गांव की जागीर पर अपना अधिकार जमा लिया। यह घटना 1705 ई० के आस-पास की कही जाती है। इसी

समय गोपालसिंह का परिवार सीही में आकर बस गया। बलात् अधिकार की घटनायें उस समय सामान्य थीं।

इस घटना ने गोपालसिंह के भाग्य को चमका दिया और वह अपने भुजबल से शनैः शनैः अपनी जागीर को बढ़ाने की सोचने लगा। इसके लिए उसने दिल्ली से होडल तक राजमार्ग पर शाही यात्रियों एवं अन्य व्यापारियों को लूटना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि गोपालसिंह को जहां इन लूटों से अपार धन मिला वहां उसका आतंक भी फैलने लगा। लूट के माल के सहारे उसने दो सौ जवानों की एक धार (टोली) तैयार कर ली। तत्कालीन परिस्थितियों में शाही मनसबदार आवश्यकता पड़ने पर अपनी जागीरों से राजस्व वसूली के लिए जाटों द्वारा स्थापित अनधिकृत (धारों) की सेवाएं लेते रहते थे। तत्कालीन अखबारों से हमें यह भी पता चलता है कि जाटों की 'धारों' के मुखियों को आश्रय देने में धनलोलुप और स्वार्थी शाही अधिकारियों का भी हाथ था। वे एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए भी जाट धारों को हथियारा उपलब्ध कराने में नहीं चूकते थे। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वार्थपरता तथा शाही दरबार के दलगत संघर्ष की आड़ में सिनसिनवार जाटों की तरह गोपालसिंह तेवतिया की धार भी 'लूट तथा हिस्सेदारी' के अनुबन्ध पर राजसत्ता प्राप्त करने की ओर बढ़ने लगी।

अपनी जागीर को बढ़ाने की बलवती इच्छा के कारण गोपालसिंह ने सीही से 7 कि०मि० की दूरी पर स्थित 'तिगांवा' के मुस्लिम राजपूत चौधरी अजमदखान को गूजरों की सहायता से मार डाला और इसकी जागीर पर भी अधिकार कर लिया। 1709 ईस्वी के आस-पास अन्य जाट सरदारों की भांति गोपालसिंह ने अपने क्षेत्र में प्रजा को इस बात के लिए भड़काया कि वह मुस्लिम जमीदारों व मनसबदारों के गुमास्तों को निर्धारित जमा या अधिशुल्क और नजराना न दें और दाना-घास एकत्रित करने में रोड़ा अटकाएं। गोपालसिंह की इन गतिविधाओं से फरीदाबाद परगने का फौजदार मुरतिजाखान बड़ा परेशान हुआ और उसे विवश होकर गोपालसिंह को 'चौधरी' का पद देना पड़ा। इस प्रकार 1710 ई० में गोपालसिंह को माल-ओ-सायर-ओ-जकात (राजस्व और अधिशुल्क वसूल करने का अधिकार) पर एक आना प्रति रुपया 'चौधरात' प्राप्त करने का शाही अनुज्ञापत्र मिल गया। इसके बाद

चूड़ामन के सहयोग से उसने सीही के समीप अनेक गांवों की 'इजारेदारी' प्राप्त कर ली। सन् 1714 में गोपालसिंह की मृत्यु हो गई। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि गोपालसिंह की स्वाभाविक मृत्यु हुई अथवा वह लड़ता हुआ मारा गया। तत्कालीन परिस्थितियों और गोपालसिंह के जुझारू स्वभाव को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी मृत्यु लड़ाइयों में लगे घावों के कारण ही हुई होगी।

गोपालसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके बेटे चरणदास को 'चौधरात' का अधिकार नवीनीकरण के अनुसार मिल गया। चरणदास भी अपने पिता की भांति शूरवीर, महत्त्वाकांक्षी और धर्मज्ञ युवक था। उसके विषय में जगदीशप्रसाद की डायरी में लिखा हुआ है कि—

धनि तेवतिया गोत धन्य श्री सीही नगरी।
करि कालिका कृपा, भक्त भुज गहिके पकरी॥
चरणदास तिय पुत्र, मनहुँ तिय देव अवतरे।
धर्मधुरन्धर, शूरवीर रणबांके अति जबरे॥

चरणदास ने चौधरी का पद प्राप्त करते ही अकर्मण्य शाही मनसबदारों की वेतन जागीरों में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया। इसके साथ ही शाही राजस्व तथा अधिशुल्क लोगों से प्राप्त करके शाही खजाने में जमा करवाने की अपेक्षा अपने पास ही रखना आरम्भ करके मुरतिजाखान के आदेशों की अवहेलना भी आरम्भ कर दी। मुरतिजाखान को जब इस बात का पता चला तो उसने चरणदास को आदेश दिया कि वह भू-राजस्व शीघ्र ही शाही खजाने में जमा करवा दे। परन्तु चरणदास इस आदेश को जानबूझकर टालता रहा। वस्तुत: वह प्राप्त किये गए भू-राजस्व में से एक कौड़ी भी मुरतिजा खान को नहीं देना चाहता था। इस परिस्थिति में चरणदास को बन्दी बनाने का निर्णय मुरतिजाखान को लेना पड़ा। जैसे-तैसे सन् 1716 ई० में चरणदास को बन्दी बनाकर फरीदाबाद के बन्दीखाना में डाल दिया। चरणदास के पुत्र बलराम ने अपने पिता को बन्दीखाने से छुड़वाने के लिए एक गुप्त योजना बनाई। इस योजना के अनुसार मुगल हाकिम को छलावा देकर अपने पिता को बन्दीखाने से मुक्त कराना था।

ऐसा कहा जाता है कि बलराम (बल्लू) ने अपने पिता को बन्दी-

खाने से मुक्त कराने के लिए स्वयं उपस्थित होकर एक ही साथ भू-राजस्व की रकम देने का वचन दिया। बलराम यह रकम फरीदाबाद में न देकर अन्यत्र कहीं देना चाहता था, क्योंकि उसे यह आशंका थी कि फरीदाबाद में उसकी कपटयोजना का रहस्य खुल जाने पर पिता सहित वह मारा भी जा सकता है। अतः उसने मध्यस्थों द्वारा फरीदाबाद से दूर किशनदास तालाब पर रकम देने का निर्णय करवा लिया। बलराम ने तालाब के आस-पास झाड़ियों में अपने सिपाही छिपा दिए और वह रुपयों के थैलों को गाड़ियों में लादकर तालाब पर पहुंच गया। इन गाड़ियों को हांकनेवाले अन्य व्यक्ति न होकर गाड़ीवान के रूप में बलराम के ही सिपाही थे। मुरतिजाखान के सिपाही भी चरणदास को लेकर तालाब पर पहुंच गए। रुपयों की थैलियां गाड़ियों से उतारी गईं। जब परखैया थैलों में भरे रुपयों को गिनने में व्यस्त थे तो बलराम (बल्लू) ने मुरतिजाखान के सिपाहियों से कहा कि आपने थैलों को गिनती करली है और रुपये गिनने का काम आरम्भ होचुका है। अतः आप लोग मेरे पिता को छोड़ दें। सिपाही बलराम की चाल में आगए। मुक्त होते ही चरणदास अपने पुत्र के साथ घोड़े पर सवार होकर भाग गया, और उन दोनों की सुरक्षा के लिए तालाब की झाड़ियों में छुपे सैनिक उनके पीछे-पीछे चल पड़े। परखैयों ने देखा कि दाद की थैलियों में रुपयों के स्थान पर तांबे के दाम ही दाम हैं। अब वे हाथ मसलते रह गए। बलराम को यह पक्का विश्वास था कि जब इस घटना की सूचना मुरतिजा खान को मिलेगी तो वह निश्चितरूप से पिता-पुत्र को पकड़ने का प्रबन्ध करेगा। अतः बलराम अपने पितासहित भरतपुर चला गया। भरतपुर में रहते हुए भी चरणदास का स्वास्थ्य खराब रहने लगा और सन् 1921 ई० के आस-पास उसका देहान्त होगया, परन्तु इतना निश्चित है कि बलराम को 'चौधरात' मिलने से पूर्व सिही का तेवतिया घराना जाट सरदारों में एक उच्चकोटि का घराना समझा जाने लगा था और भरतपुर घराने से इनकी नातेदारी होगई थी। ऐसा माना जाता है कि चरणदास की लड़की का विवाह सूरजमल से हुआ था। इस नातेदारी के कारण बल्लभगढ़ और भरतपुर घराने बहुत समीप आगए थे।

एक लाख जमा का परगना फरीदाबाद तथा इसका दक्षिणी

भू-भाग दिल्ली सरकार की परम्परा के अनुसार वजीर की जागीर माना जाता था। इस समय यह परगना वजीर कमरुद्दीन की सशर्त जागीर में सम्मिलित था। नादिरशाह के आक्रमण के बाद बादशाह (अहमदशाह) ने मुरतिजाखान को 'मीर तुजुक' के पद पर नियुक्त कर दिया था। सवाई जयसिंह की भेंटवार्ता के बाद सूरजमल का नैतिक समर्थन प्राप्त करके बलराम ने मुरतिजाखान को धोखा देकर मार डाला और धीरे-धीरे पास के गांवों पर अधिकार कर लिया। फिर अपने राजनैतिक जीवन की सुरक्षा तथा मान्यता के लिए सीही के समीप एक गढ़ी का निर्माण किया और यही गढ़ी आगे चलकर बलरामगढ़ से बिगड़ती-बिगड़ती 'बल्लभगढ़' बन गई। इसके बाद बलराम ने मीर-बक्शी आसफजहां की जागीर के कुछ गांवों पर कब्जा करके फरीदाबाद पर आक्रमण कर दिया और वजीर कमरुद्दीन के आमिल (अधिकारी) को एक मुठभेड में मारकर फरीदाबाद पर भी अधिकार कर लिया। बलराम ने अपनी बुद्धिमत्ता से शीघ्र ही वजीर से 'हासिल वसूली' के अधिकार प्राप्त करके फरीदाबाद परगने में अपने कारिन्दे नियुक्त कर दिये। इस साहसिक कार्य ने उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया। कुछ समय के उपरान्त उसने पलवल पर अधिकार कर लिया और 'राव' की उपाधि धारण करके नायबबख्शी के रूप में शाही परगनों का प्रबन्ध करने लगा। इस प्रकार बलराम का राज्य बदरपुर से लेकर पलवल तक विस्तृत होगया।

सफदरजंग की विधिवत् वजीर के रूप में नियुक्ति के बाद वजीर की सशर्त जागीर फरीदाबाद कमरुद्दीन के स्थान पर उसे मिल गई। अपना पद सम्भालते ही सफदरजंग ने सूरजमल और बलराम के नाम फरीदाबाद तथा आस पास की वजीर की अन्य सशर्त जागीरों को समर्पित करने के लिये कई पत्र लिखे। परन्तु इन पत्रों का कोई प्रभाव न देखते हुए उत्तेजित होकर वजीर ने शक्तिप्रयोग की सुनिश्चित योजना बनाई। इसी समय सफदर जंग और मीर बख्शी सलावतखान के मध्य जाटों के विरुद्ध दो भिन्न-भिन्न दशाओं से एक ही समय आक्रमण करने का गोपनीय समझौता होगया। सफदरजंग ने बलराम से नवम्बर 1749 ई० में फरीदाबाद छीन लिया और वहां अपने आमिलों की नियुक्तियां कर दीं। इसके बाद वजीर ने अन्य जागीरों की प्राप्ति के लिए धमकी दी। इस धमकी की प्रतिक्रिया

में सूरजमल ने शीघ्र ही डीग और कुम्भेर के किलों में सुरक्षात्मक प्रबन्ध किये और बलराम की सहायता के लिए जाट रिसाले पलवल भेजे। परन्तु वजीर को कायमखान बंगश की मृत्यु के कारण जाट अभियान को छोड़ना पड़ा।

वजीर सफदरजंग ने जिस समय फरीदाबाद की ओर अपनी सैनिक टुकड़ियां भेजी थीं, ठीक उसी समय मीर बख्शी सलावतखान ने भी जाटों के विरुद्ध अपना अभियान प्रारम्भ कर दिया और लगभग तीस हजार सवार और असंख्य पैदलों के साथ जाटों के प्रदेश पर आक्रमण किया। मीर बख्शी की सेना ने जब नारनौल से 21 कि. मी. दूर शोभाचन्द सराय से जाटप्रदेश की ओर कूच किया तो जाट बन्दूकचियों ने उन्हें घेर लिया। शाही सेनानायक हाथियों पर सवार थे और उनके पास गजनाल और शुतरनाल तोपें भी थीं। शाही सेना ने सायंकाल होने पर तोपों को अग्रपंक्ति में व्यवस्थित कर दिया जिससे जाट सैनिक उन पर सीधा आक्रमण न कर सकें। सूरजमल समझ गया कि यह कार्य घबराहट के कारण किया गया है। अतः उसने दो हजार सैनिकों के साथ शाही सेना पर पीछे से आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण में बलराम तथा उसका बेटा किसनसिंह भी सम्मिलित थे। यह युद्ध 11 जनवरी 1750 ई० में हुआ और जाटों ने इसमें विजय पाई। इस युद्ध में गोहद (ग्वालियर) के जाट राणा भीमसिंह भी उपस्थित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सूरजमल के नेतृत्व में 'जाट संघ' का अनौपचारिक निर्माण हो चुका था। जब एक दूसरे पर कोई संकट आता था तो ये एक दूसरे की सहायता करते थे।

फरूखाबाद के नवाब कायमखान की मृत्यु (1749) के कारण वजीर सफदरजंग केवल फरीदाबाद पर अधिकार करके वापिस लौट गया था। फरूखनगर की व्यवस्था करके वह 5 जून 1750 ई० में दिल्ली लौट आया और जाटों से अपने परगने खाली करवाने की सोचने लगा। जुलाई 1750 ई० में सफदरजंग ने सूरजमल तथा बलराम पर बलात् हथियाये शाही परगनों को खाली करके अधिकार सौंपने का दबाव डाला। सूरजमल ने वजीर सफदरजंग की मांग को ठुकरा दिया और बलराम की सहायता के लिए वल्लभगढ़ सैनिक सहायता भेज दी। इसको सुनकर वजीर ने सोचा कि बलराम को

दबाने में शीघ्रता करनी चाहिए। इससे पूर्व ही बलराम की प्रेरणा से आस-पास के जाटों ने दिल्ली के दक्षिण में कुछ मील दूर शम्सपुर के शाही थाने पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया था। इस आक्रमण में वजीर का थानेदार और सिपाही मारे गए थे। इस थाने पर पुनः अधिकार करने के लिए वजीर ने एक सैनिक टुकड़ी भेजी, जिसका बलराम के सैनिकों ने वीरता से मुकाबिला किया। इस मुकाबिले से भन्नाकर वर्षा होते हुए भी जुलाई में स्वयं वजीर एक विशाल सेना लेकर बलराम की शक्ति का दमन करने के लिए चल पड़ा। वजीर सफदरजंग ने शम्सपुर थाने से दूर रात बिताई। यहां पर उसे नवाब नवलराम, जिसको वजीर ने फरूखाबाद की व्यवस्था के लिए नियुक्त किया था, से पता चला कि वहां पुनः विद्रोह भड़क उठा है। यह स्थिति बलराम के अनुकूल रही और विवश होकर वजीर सफदरजंग को सूरजमल से समझौता करना पड़ा, क्योंकि वजीर की दृष्टि में पठानों का विद्रोह दबाना बड़ा महत्त्वपूर्ण था।

वजीर जुलाई 10, को प्रातःकाल दिल्ली के दक्षिण में 8 कि.मी. की दूरी पर स्थित खिज्राबाद नामक स्थान पर पहुंचा। वहां से उसने मराठा वकील को सूरजमल और बलराम से समझौता करने के लिए भेजा। सूरजमल-बलराम और मराठा वकील के बीच लम्बी चौड़ी बातचीत हुई। अन्त में सामनीति का सहारा लेते हुए सूरजमल ने समझौता कर लिया। इस समझौते की शर्तों के अनुसार बलराम स्वयं अपने दोनों हाथों को कपड़े से बांधकर वजीर के सामने पेश हुआ। इसके उपलक्ष्य में वजीर ने बलात् हथियाये शाही परगनों पर बलराम का वैध अधिकार स्वीकार कर लिया और पलवल का सरदार मानकर 'पेशकश' के अनुबन्ध पर बलराम को पलवल सौंप दिया। बलराम मराठा वकील के साथ कुछ दिन जयसिंहपुरा (दिल्ली) में ठहरा। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समझौते से वजीर के अहं की तुष्टि होगई कि सूरजमल का सहायक बलराम उससे क्षमा मांग रहा है। परन्तु इससे बलराम को बड़ा भारी लाभ हुआ। अवैध रूप से बलात् कब्जा किये गये शाही परगनों का वह वैध मालिक बन गया। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि वजीर ने जाटों की लूट को वैधता प्रदान करके उनके महत्त्व, प्रभुत्व और शक्ति को स्वीकार कर लिया।

सितम्बर 1751 ई० में तीसरी बार अहमदशाह दुर्रानी ने भारत की ओर प्रस्थान किया और 29 नवम्बर को उसने लाहौर के समीप अपनी छावनी डाली। इस समय वजीर सफदरजंग बंगश-रुहेला विरोधी अभियान के कारण दिल्ली से बाहर था। दुर्रानी के आक्रमण से छुटकारा पाने के लिए शाही दरबार के तुर्रानी घटक ने जाटों से सहायता प्राप्त करने का निश्चय किया। जाविदखान ने शीघ्र ही सूरजमल तथा अन्य पड़ौसी सामन्तों एवं सरदारों को राजधानी में उपस्थित होने के लिए पत्र लिखे। फरवरी 5, 1752 ई० को मीर बख्शी जाविदखान शाह मरदान की दरगाह पर पहुँचा। जहां सूरजमल और बलराम ने उससे मुलाकात करके अशर्फी भेंट की। जाविदखान के साथ मित्रतापूर्ण वातावरण में बातचीत हुई। अहमदशाह दुर्रानी के आक्रमण के बचावउपायों के लिए सूरजमल मथुरा चला गया और बलराम बल्लभगढ़ आगया तथा अपने क्षेत्र की सुरक्षा की व्यवस्था करने लगा।

दुर्रानी आक्रमण के कारण बादशाह अहमदशाह ने वजीर सफदरजंग को शीघ्र ही दिल्ली आने के लिए लिखा। वह जब दिल्ली आया तो उसने अनुभव किया कि उसकी अनुपस्थिति में जाविदखान ने व्यावहारिक रूप में राजनैतिक और प्रशासनिक सत्ता हथिया ली है। दिल्ली नगर प्रवेश के समय जब सफदरजंग अपनी हवेली की तरफ जा रहा था तो उससे कुछ समय पूर्व जाविदखान अंगूरी बाग में आकर बैठ गया था, जिससे वजीर उससे मिलने और सलाम करने आये। परन्तु सफदरजंग ने उसकी उपेक्षा की। जाविद की यह योजना सफदरजंग को अपमानित करने के लिए थी।

इसी अवधि में बलराम दिल्ली में उपस्थित था। वह दिल्ली में किस काम के लिए आया था, इस बात का पता किसी प्रमाण से नहीं मिलता। किन्तु आगे होनेवाली घटना से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह जाविदखान के निमन्त्रण पर ही दिल्ली आया था। वजीर की अनुपस्थिति में जाविदखान ने बलराम के माध्यम से जाट शक्ति को वजीर सफदरगंज से मोड़कर अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया था। इसमें उसे थोड़ी बहुत सफलता भी मिली। जाविद खान ने वजीर के जाने के बाद बलराम को अंगूरी बाग में बुला लिया और उसके साथ बैठकर दरबार किया और वजीर की मित्रता से विमुख

करने के लिए 'खिलयत' प्रदान की। इस प्रकार कहा जा सकता है कि छोटीसी जाट रियासत के राजा का यह सबसे बड़ा सम्मान था।

दिल्ली से दक्षिण पूर्व में 53 कि.मी. की दूरी पर स्थित सिकन्दराबाद का परगना बादशाह के निजी जेबखर्च की जागीर का भाग था। जाविदखां ने बलराम को इस परगने का फौजदार नियुक्त करके उस पर शीघ्र ही अधिकार करने की सलाह दी। इसके साथ ही इस सम्बन्ध में आनेवाले संकटों में यथासाध्य सहायता देने का भी आश्वासन दिया। इसके बाद बलराम शीघ्र ही बल्लभगढ़ आगया। बल्लभगढ़ में रहकर बलराम ने सिकन्दराबाद परगने से अधिक से अधिक धनप्राप्ति के लिए योजना बनाई। क्योंकि वह यह जानता था कि यह परगना उसकी जागीर नहीं बन सकता। इसके साथ-साथ बलराम यह भी स्पष्ट समझता था कि जाविदखान उसका प्रयोग करके जाटशक्ति में मतभेद उत्पन्न कराना चाहता था। अतः उसने समय और परिस्थिति का लाभ उठाकर 'बहती गंगा में हाथ धोना' उचित समझा और अपनी जाट सैनिक टुकड़ियों के साथ सिकन्दराबाद पहुँच गया।

वहां पहुँचकर उसने परगने के फौजदार करमअली पर आक्रमण कर दिया और उसे हराकर उसके पुत्र को मार डाला तथा सैनिक बल से सिकन्दराबाद परगने पर अधिकार कर लिया। अधिकार करने के उपरान्त उसने अपना प्रभाव डालने के लिए तथा लोगों के मन में भय उत्पन्न करने के लिये सिकन्दराबाद नगर को बुरी तरह लूटा। अनेक साहूकारों के घरों के फर्श खोद डाले। क्योंकि उस समय की प्रथा के अनुसार लोग रुपये-पैसे, सोना-चांदी के आभूषण आदि बहुमूल्य वस्तुएं भूमि में गाढ़कर सुरक्षित रखते थे। अनेक साहूकारों को पकड़ लिया और उनसे बलपूर्वक धनप्राप्ति के लिए उल्टा लटका कर कौड़े लगवाये। बलराम की इस लूट-खसोट की बात शीघ्र ही शाही दरबार में पहुंच गई।

इस समय वजीर सफदरजंग भी दरबार में उपस्थित था। उसने जाविदखान से पूछा क्या आपने बल्लू (बलराम) को वहां का (सिकन्दराबाद) फौजदार नियुक्त किया है ? यह क्यों वहां के नागरिकों की सम्पत्ति लूटकर हत्या कर रहा है ? यदि वह आपकी सहमति अथवा अनुमति से कार्य कर रहा है, तो मैं स्वयं वहां जाकर उसका

दमन करूंगा। वजीर के इन प्रश्नों को टालते हुए जाविदखान ने कहा कि मैं स्वयं उसको दण्ड दूंगा। दूसरे दिन जाविद ने बल्लू (बलराम) को सिकन्दराबाद के परगने से बाहर निकालने के लिए अपने जमादार राव नरसिंहराय को एक सैनिक टुकड़ी के साथ उधर भेजा। उसने बलराम से मुठभेड़ न करके समझा बुझाकर वहां से चले जाने के लिए मना लिया और बलराम लूट के सामान के साथ जाविदखान के निजी जागिरी दुर्ग दनकौर (बल्लभगढ़ से पूर्व में 26 कि० मी० दूर) में चला गया।

इसी मध्य में वजीर सफदरजंग ने भी बल्लू (बलराम) का दमन करने के लिए अपने सेनानायक राजेन्द्रगिरी के नेतृत्व में एक सैनिक टुकड़ी भेजदी। इस सैनिक टुकड़ी ने दनकौर तक उसका पीछा किया। चतुर बलराम वजीर सफदरजंग से संघर्ष नहीं करना चाहता था। अत: शीघ्र ही उसने किले से कुछ नौकाएं एकत्र करलीं और यमुना नदी पार करके सकुशल बल्लभगढ़ लौट आया। इस प्रकार राजधानी के समीप बादशाह की जेबखर्च की जागीर को लूटने तथा नष्ट-भ्रष्ट करनेवाले बलराम जाट को किसी भी प्रकार का दण्ड नहीं मिल सका। इतिहासकार सैयद गुलामअली खान तथा अब्दुल करीम काश्मीरी ने सिकन्दराबाद की लूटवाली घटना के सम्बन्ध में लिखा कि बल्लू (बलराम) जाट की लूट की घटना से बादशाह अहमदशाह का दिल-दिमाक हिल उठा और उसने सफदरजंग से जाविदखान से छुटकारा दिलाने के लिए कहा।

सिकन्दराबाद की घटना से वजीर की क्रोधाग्नि भड़क उठी। इसलिए उसने बादशाह की सहमति से साम्राज्य की उचित व्यवस्था किस प्रकार सम्भव हो सकती है तथा जाट और राजपूतों से पेशकश किस प्रकार निश्चित की जाए आदि विषयों पर विचार करने के लिए सूरजमल तथा माधोसिंह को दिल्ली में उपस्थित होने के लिए पत्र लिखे। 'जयपुर एण्ड लेटर मुगल्स' नामक पुस्तक के लेखक डा० हरिश्चन्द्र टिक्कीवाल की मान्यता के अनुसार वजीर सफदरजंग ने माधोसिंह से आग्रह किया कि वह बलराम को प्रभावित करने तथा जाविदखान के निर्देश न मानने के लिए सूरजमल पर अपना प्रभाव डाले। सूरजमल ने माधोसिंह के कहने-सुनने से ही बलराम को अस्थायी सन्धि मानने के लिए बाध्य किया था।

जाविदखान को जब यह पता चला कि भरतपुर के सूरजमल और जयपुर के माधोसिंह दिल्ली आकर बादशाह से मिलनेवाले हैं, तो उसने दरबार में प्रस्ताव रखा कि ये सरदार वजीर की अनुपस्थिति में उसकी कृपा के पात्र रहे हैं। अतः ये सरदार वजीर से पूर्व उससे मुलाकात करें। इस प्रस्ताव पर सफदरजंग ने कहा कि बादशाह से इन लोगों की मुलाकात दरबारी परम्परा के अनुसार वजीर (सफदर जंग) के माध्यम से होनी चाहिए। इस विवाद को समाप्त करने के लिए बादशाह ने सुझाव दिया कि जाविदखान और वजीर दोनों वजीर की हवेली में बैठकर एक साथ इन सरदारों से बातचीत करें। फिर ये दोनों एक साथ इन सरदारों को बादशाह से मुलाकात करवायें। अब्दुल करीम कश्मीरी का कथन है कि वजीर ने जाविदखान की हत्या के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए ही सूरजमल को आमन्त्रित किया था, परन्तु समकालीन अन्य लेखकों का मत है कि वजीर ने सूरजमल को नगर में होनेवाले हंगामे की स्थिति में अपनी सहायता के लिए बुलाया था। "मीराते आफतावनुमा" नामक पुस्तक के अनुसार जाविद खान ने भी सूरजमल के पास सूचना भेजी कि बिना उसकी सलाह के भविष्य में साम्राज्य का प्रबन्ध सम्भव नहीं होगा। उपर्युक्त दोनों कथनों से यह सिद्ध होता है कि जाविद और वजीर दोनों ही की दृष्टि में जाटशक्ति का सहयोग अनिवार्य था और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

दोपहर बाद सूरजमल बल्लू (बलराम) को अपने साथ लेकर वजीर की हवेली पर समझौते की शर्तों पर बातचीत करने के लिए पहुंचा। सूरजमल से बातचीत करने के उपरान्त वजीर जाविदखान सूरजमल द्वारा प्रस्तुत शर्तों पर मन्त्रणा करने के बहाने अपने मकान की बुर्ज के नीचे बने कमरे में लेगया और वहां उसकी हत्या करदी गई। इसी समय यह खबर भी फैल गई कि वजीर ने जाट राजा सूरजमल और बलराम की हत्या भी करवा दी है। इससे दिल्ली में उपस्थित जाट सैनिकों ने वजीर के मकान को घेर लिया और वहां कोलाहल और उपद्रव आरम्भ होगया। सूरजमल तथा बलराम दोनों ही हवेली से बाहर निकले, तब जाकर कहीं शान्ति हुई।

ऐतिहासिक साक्ष्यों एवं घटनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरजमल और बलराम को जाविदखान की हत्या के

षड्यन्त्र का पता नहीं था। इस प्रकार जाटों में फूट डालनें का प्रयास करनेवाले जाविदखान की मृत्यु से जाटशक्ति परस्पर विभाजित होने से बच गई।

सफदर जंग तथा जाविदखान के सत्ताप्राप्ति संघर्ष में जाविद खान का अन्त हो जाने पर बादशाह को विवश होकर वजीर सफदर-जंग से समझौता करना पड़ा। अक्टूबर 1750 ई० के आरम्भ में सर्वत्र यह चर्चा जोर पकड़ने लगी कि मराठा सरदार निजाम-उत्-मुल्क के नायब के रूप में आगरा तथा मथुरा के जिलों के जाटों के थानें उठाकर स्वयं निजामत कायम करने का प्रबन्ध करने की सोच रहे हैं। सूरजमल तथा बलराम इस समय दिल्ली में थे। इस चर्चा को सुनकर उन्हें बड़ी घबराहट हुई। दोनों ने परस्पर मन्त्रणा की और सूरजमल की सलाह से कालिका पहाड़ी शिविर से बल्लू (बलराम) अपनी सैनिक टुकड़ियों के साथ मराठों की गतिविधियों को अंकुशित करने के लिए चल पड़ा।

जाविदखान की मृत्यु के उपरान्त वजीर सफदरजंग का आचरण तानाशाह जैसा होगया था। उसने बादशाह अहमदशाह को बन्दी जैसा बनाकर अपने नियन्त्रण में रखने का प्रयास किया। राजसत्ता पा अपनी पकड़ दृढ़ करने के लिए उसने दरबार में तुर्रानी (मध्य एशिया) सरदारों को ऊंचे पदों से हटाकर अपने समर्थक व्यक्ति साथ लगा दिए। इस प्रकार सफदरजंग ने बादशाह और तुर्रानी सरदार दोनों ही को अपना विरोधी बना लिया। बादशाह की मां उधमबाई ने इस परिस्थिति का लाभ उठाकर बादशाह को उकसाया और सफदरजंग को बलात् वजीर के पद से हटाकर दिल्ली छोड़ने के लिए विवश कर दिया।

दिल्ली छोड़ने के बाद अति संकटकाल में सफदरजंग ने सूरजमल को याद किया। सूरजमल ने वजीर का साथ दिया और दिल्ली पर आक्रमण करने की सलाह दी। 8 मई 1753 ई० को सफदरजंग ने सूरजमल तथा सेनानायक राजेन्द्र गिरि गोसाईं को पुरानी दिल्ली और लाल दरवाजा लूटने का आदेश दिया। सूरजमल के पुत्र जवाहरसिंह के नेतृत्व में जाट सैनिकों ने दिल्ली को जी भरकर लूटा। जाटों की इस लूट तथा अग्निपात का लोमहर्षक किन्तु अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन 'सुजान चरित' में मिलता है। इसमें लिखा है

कि सोना, चांदी, आभूषण हथियार, मेवा, रंग, मसाले, कपड़े, घोड़ा, ऊंट, रथ और पालकी आदि सभी वस्तुएं बुरी तरह लुट ली गईं। जाटों की इस लूट की लोककथाएं अब भी दिल्लीनिवासियों के दिल को दहला देती हैं। बल्लभगढ़ के समीप दिल्ली की लूट में इतिहासकारों ने जवाहरसिंह का नाम विशेषरूप से लिखा है। परन्तु बलराम का नाम कहीं भी नहीं लिखा है। यह कैसे माना जा सकता है कि अपनी जागीर के समीप होनेवाली दिल्ली की लूट में बलराम मौनदर्शक के रूप में बैठा रहा हो। वस्तुतः बलराम को दिल्ली पर आक्रमण करने की योजना की सूचना सूरजमल के सन्देशवाहक से मिल चुकी थी। अतः वह अपनी सैनिक टुकड़ियों के साथ इस लूट के समय दिल्ली में उपस्थित था। उसने तथा उसके सिपाहियों ने इस लूट में खूब हाथ रंगे। क्योंकि बल्लू का राज तो धींगामस्ती और लूटमार के आतंक पर ही अधिक टिका हुआ था।

'दिल्ली की लूट' के विषय में चाहे इतिहासकारों का कोई भी मत हो, परन्तु इतना ऐतिहासिक सत्य है कि विगत सौ वर्षों तक जाटों ने मुस्लिम शासकों के अत्याचार और आर्थिक शोषण को लगातार सहन किया था। समय-समय पर जाटों में प्रतिशोध की भावना का उदय होता रहता था। इसी प्रतिशोध की भावना की एक जलक 'दिल्ली की लूट' थी। जिसमें सूरजमल का निर्देश मिलते ही हाथों में लाठी, तलवार, भाले, जेली और गंडासी लेकर जाटों की सैंकड़ों धारों ने राजधानी में आतंक और भय उत्पन्न कर दिया और बादशाह तथा वजीर के गृह-संघर्ष में जाटों के घर भरे गए।

इतिहासकारों के कथनानुसार इस गृह-संघर्ष में शाही पक्ष को इच्छानुकूल सफलता नहीं मिल सकी। दैनिक खर्चा चलाने के लिए सैनिक खाइयों से निकलकर लूट-पाट करते रहते थे। 'तारीखे अहमद-शाही' के अनुसार इसी समय इमाद (मीरबख्शी) ने अपनी सेना के व्यय के लिए बादशाह से बल्लभगढ़ का परगना भी प्राप्त करने का आश्वासन ले लिया था। इस परगने पर बलराम का अधिकार था।

बल्लभगढ़ परगने पर अधिकार करने की इच्छा से इमाद ने 26 अगस्त को खिज्राबाद से प्रस्थान किया और किशनदास तालाब (दिल्ली से 26 कि० मी०) पर डेरा डाला। 27 अगस्त को वह बदरपुर और फरीदाबाद के उत्तर में पहुंच गया। जब वह अपनी सेना से तीन

मील की दूरी पर था तब उसकी सेना के अग्रिम दल ने फरीदाबाद नगर में लूट-पाट आरम्भ करदी और नागरिक प्राणरक्षा के लिए भाग निकले। इमाद के इस आक्रमण की सूचना बलराम ने सूरजमल को भिजवा दी तथा सैनिक मदद भेजने का अनुरोध किया। सूचना मिलते ही 6 सितम्बर 1753 ई० को सूरजमल ने पांच-छः हजार जाट सैनिकों को इमाद पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। नई कुमुक की सहायता से जाट सैनिकों ने 9 मील तक फैलकर शत्रु पर साहसिक आक्रमण किया। किन्तु इसी समय इमाद अपने बीस हजार सैनिकों के साथ शीघ्र ही आगे बढ़ा। बैरीसाल के पुत्र मोहकमसिंह ने शत्रु के गोल में प्रवेश करके भयंकर युद्ध किया। किन्तु वह गोली लगने से मर गया। उसके सैनिक पीछे हटने लगे तब बल्लू (बलराम) ने वहां पहुंचकर स्थिति को सम्भाला। अन्धेरा होते ही बलराम मोहकमसिंह के मृत शरीर को उठाकर डेरों पर लाया और उसका दाह-संस्कार किया गया।

अगले दिन सूरजमल ने बलराम को आदेश दिया कि शाही सैनिकों के लिए जानेवाले राशन-पानी को काटने का प्रयास करो। बलराम ने आदेश पाते ही जाट सैनिकों की मदद से व्यापारियों और खाद्यान्न लेजानेवाले काफिलों को लूट लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि शाही सेना के सिपाहियों को खन्दकों में खाना नहीं मिल सका। अतः इमाद को निराश होकर दिल्ली लौटना पड़ा।

बादशाह के विरुद्ध लगातार चार महीने तक संघर्ष करने के कारण आर्थिक संकट एवं सैनिक दबाव को सूरजमल और सफदरजंग दोनों ही अनुभव करने लगे थे। इसके साथ ही इस संघर्ष का परिणाम भी संदिग्ध था। अतः सूरजमल ने इन्तिजाम-उद्-दौला से समझौते की बातचीत आरम्भ करदी, किन्तु मीरबख्शी इमाद ने बातचीत सिरे नहीं चढ़ने दी। अब सूरजमल के सामने एक ही मार्ग बचा था। वह मार्ग था पूर्ण तैयारी के साथ शाही सेना पर आक्रमण करना। 29 सितम्बर 1753 ई० को सूरजमल और सफदरजंग ने बड़ी शीघ्रता से पूर्ण तैयारी और शक्ति के साथ शाही सेना पर आक्रमण किया। इमाद और नजीब खान ने स्वयं युद्धक्षेत्र में उतरकर इस आक्रमण का मुकाबिला किया और जाट सेना तितर-बितर होगई। अगले दिन इमाद ने खाइयां खोदकर बल्लभगढ़ के उत्तर में 3 कि० मी० की दूरी पर स्थित मंजेसर गांव तक बढ़कर बलराम के किले पर गोले बरसाए और मंजेसर से

2 मील दूर बलराम के पूर्वजों के गांव सीही पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में ले लिया। बलराम, छतरसाल, रामबल, जोधसिंह और पाखरमल ने मिलकर इमाद का सामना किया और भयंकर संघर्ष के बाद शाही सेनापति को पीछे हटने के लिए बाध्य किया और सीही पर पुनः जाटों ने अधिकार कर लिया।

पूर्वकाल से परगना फरीदाबाद और पलवल मीरबक्सी की सशर्त जागीर में शामिल थे। 'तारीखे अहमदशाही' के अनुसार जुलाई 1750 ई० में सफदरजंग सूरजमल के बीच हुए समझौते के अन्तर्गत ये दोनों परगने 'पेशकश' भुगतान के अनुबन्ध पर बलराम को सौंप दिए गए थे। दिल्ली में खाण्डेराव के आजाने के बाद इमाद ने अपने प्रधान सलाहकार सेनापति अकीबत महमूद को 24 नवम्बर 1753 ई० के दिन बलराम से फरीदाबाद तथा पलवल परगने का शाही लगान तथा बकाया 'पेशकश' भुगतान की मांग पर विचार करने के लिए पांचसौ बदरूशी सैनिक तथा दो हजार मराठा सवारों के साथ भेजा। वस्तुतः बातचीत के लिए इतने भारी लश्कर की कोई आवश्यता नहीं थी। इस योजना के पीछे अकीबत की प्रतिशोध की भावना काम कर रही थी। अकीबत महमूद अपने पिता मुरतिजाखान की हत्या का बदला लेना चाहता था जिसे बलराम ने मार दिया था।

जब बलराम को इस बात की सूचना मिली तो उसने अपने किले बल्लभगढ़ में युद्ध की तैयारियां करलीं। अकीबत ने अपने सन्देश-वाहक द्वारा बलराम को कहला भेजा कि वह तुरन्त राजस्व का भुगतान करे। इसके उत्तर में बलराम ने कहा कि वह राजस्व उसी समय दे सकता है जबकि वह लोगों से उसकी प्राप्ति करले, परन्तु अकीबत के मन में तो अन्य ही बात थी। अतः उसने बलराम से बलात् लगान प्राप्ति के लिए शक्ति का प्रयोग करना चाहा। अकीबत की तैयारी को देखकर बलराम ने अपने किले की दीवारों से गोलाबारी आरम्भ करदी। इस स्थिति का मुकाबिला करने के लिए अकीबत ने इमाद से अतिरिक्त सैनिक सहायता भेजने के लिए कहा। समाचार मिलते ही इमाद ने शीघ्र ही दिल्ली से तीस रहकला, दो छकड़े गाड़ी गोला-बारूद, एक ऊंट-गाड़ी बाण और सात हजार बदख्शी सैनिक अकीबत की सहायता के लिए भेज दिए। दोनों ओर से कुछ समय तक गोलाबारी होती रही। थोड़ी देर के संघर्ष के उपरान्त बलराम

ने विशाल शाही सेना को अकीवत की सहायता के लिए आया देखकर समझौता वार्ता का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और दोनों ओर से गोलाबारी बन्द होगई। वलराम अपने किले से अकीबत के डेरे पर मिलने गया और इमाद के लिए क्षतिपूर्ति तथा बादशाह को शेष शाही लगान और पेशकश की भुगतान करना स्वीकार कर लिया।

इसके बाद अकीबत महमूदखान ने बल्लभगढ़ के दक्षिण में 23 कि० मी० दूर पलवल के जाट जमीदारों से लगान प्राप्त करने के लिए कूच किया, परन्तु यहां जमीदार चौधरियों और रैयत ने बलराम चौधरी के भय से लगान के भुगतान करने में आनाकानी की। इससे अकीबत महमूदखान को भारी निराशा हुई। अकीबत को अब स्पष्ट पता चल गया कि बलराम का भय तथा आतंक लोगों के मनों में कितना बैठा हुआ है। अतः उसने दृढ़ निश्चय किया कि बलराम अवश्यमेव दण्डित किया जाना चाहिए। उस समय पलवल में सन्तोषराय नामक कानूनगो रहता था। वह कभी बलराम की सेवा में था। किसी कारणवश नाराज होकर बलराम ने उसे हटा दिया था। वह बड़ा कपटी था और समय की प्रतीक्षा करता रहा कि कब उचित समय आए और वह कब बलराम से बदला ले। अकीबत महमूदखान को पलवल में आया सुनकर उसे अपनी योजना की पूर्ति का सुअवसर मिल गया। वह सीधा अकीबत के पास गया और औपचारिक शिष्टाचार प्रदर्शन करने के साथ शनैः-शनैः बलराम के विरुद्ध अकीबत के कान भरने लगा। उसने यहां तक सलाह दी कि जब तक वह बल्लभगढ़ पर अधिकार करके बलराम को नहीं मारेगा, तब तक फरीदाबाद तथा पलवल पर शाही शासन नहीं हो सकेगा।

इसी समय अकीबत ने फतहपुर गांव पर अधिकार करने के लिए एक थानेदार को भेजा। किन्तु बलराम के निर्देश पर वहां की जनता ने इस गांव पर अधिकार नहीं करने दिया। थानेदार की सूचना मिलते ही अकीबत 29 नवम्बर को पीछे लौट आया और उसने बल्लभगढ़ के समीप एक गांव में डेरा डाला। वहां से उसने समझौता वार्ता करने के लिए अपने विश्वासपात्र दूत को बलराम के पास भेजा। दूत ने बलराम के पास जाकर कहा कि अकीबत आपसे मिलकर मालगुजारी की मांग पर निश्चित फैसला करना चाहता है। दूत ने खुदा की कसम खाकर दगा न करने का भरोसा भी दिलाया। बलराम

अपने दीवान, एक पुत्र तथा ढाई सौ सवारों के साथ 29 नवम्बर को बल्लभगढ़ के किले से निकलकर अकीबत से मिलने पहुंचा। सामान्य शिष्टाचार के उपरान्त अकीवत ने बलराम से कहा कि उसके साथ इमाद के माध्यम से समझौते की शर्तें निश्चित हुई हैं और बादशाह उस (अकीवत) पर मालगुजारी तथा पेशकश भुगतान के लिए दबाव डाल रहा है। बलराम ने मांगसम्बन्धी दबाव की बात का विरोध करते हुए कहा कि "मैं अपनी जेब में रुपया लेकर नहीं आया हूं। पूर्व दिये गए वचन के अनुसार लगान वसूल करके पेशकश जमा करवा दूंगा। यदि आप जाट अधीनस्थ भू-भाग को मुझ से छीनकर 'खालसा' कराना चाहते हो तो पूर्व दिये गये वचनों का कोई महत्त्व नहीं रहेगा और हमारे सम्बन्ध और भी कटु हो जाएंगे।" बातचीत में इतनी कटुता आगई कि बलराम को अपनी तलवार की मूठ पर हाथ धरना पड़ा। उसी समय अकीबत महमूद ने अपनी पालकी के चारों ओर खड़े बदख्शी तथा मेवाती सैनिकों को इशारा किया और उन्होंने शीघ्र ही बलराम पर आक्रमण कर दिया। एक सैनिक ने घात लगाकर बलराम पर 'पेशकब्ज' फेंककर मारी और बदख्शियों के जमादार ख्वाजा आफताबखान ने उसकी गर्दन पर तलवार से वार किया और वह उसका सिर काटने में सफल होगया। उसके पुत्र तथा अन्य नौ अंगरक्षों को भी मार दिया गया। इस प्रकार 29 नवम्बर 1753 ई० में बल्लभगढ़ के बलशाली बलराम जाट का दुःखद अन्त होगया।

बल्लू की मृत्यु का समाचार सुनकर बल्लभगढ़ के तोपची आधी रात तक निरन्तर गोलाबारी करते रहे। अन्त में रात्रि के अन्धकार में बल्लू के अन्य पुत्र किशनसिंह, बिशनसिंह तथा अन्त परिवार वालों ने कीमती सामान के साथ दुर्ग खाली कर दिया और वे सीधे बरसाना नामक स्थान पर पहुंच गये जहां जवाहरसिंह ठहरा हुआ था। अकीबत महमूद के सैनिकों ने अगले दिन बल्लभगढ़ के खाली दुर्ग में प्रवेश करके तोप, रहकला, उज्जैल आदि आयुधों सहित शस्त्रागार और खाद्यान्न भण्डारों पर अधिकार कर लिया। अकीबत के सैनिकों ने बल्लभगढ़ कस्बे को मनचाहा लूटा।

बलराम के कानों में दो मोती के कुण्डल थे। वे बलराम का सिर उतारने के पुरस्कार में बदख्शी जमादार ख्वाजा आफताबखान को दे दिये गए। इस क्षेत्र में आतंक फैलाने के लिए बलराम के कटे सिर को

फरीदाबाद के समीप सड़क के किनारे एक खम्भे पर लटकवाया गया। बादशाह अहमदशाह ने बलराम की मृत्यु का समाचार सुनकर अकीवत तथा इमाद को भारी इनाम भेजे और बल्लभगढ़ परगने का प्रबन्ध इमाद को सौंप दिया।

अब इमाद ने अपनी उपाधि 'निजाम-उल-मुल्क आसफ जहां' के नाम पर बल्लभगढ़ का नाम बदलकर 'निजामगढ़' रखा। बलराम की मृत्यु से शाही सेना का उत्साह बढ़ गया। अब दिल्ली से चलकर जाट-राज्य में प्रवेश करनेवाली शाही शक्ति को रोकनेवाला उस समय जाट सीमान्त प्रदेश में कोई दिखाई नहीं दे रहा था। अतः अकीवत ने बलराम जाट की अन्य गढ़ियों पर आक्रमण करने के लिए कूच किया और पलवल के आस-पास की बलराम की गढ़ियों को जीत लिया। इसके बाद वह पलवल के आप-पास लगान वसूल करता हुआ दिल्ली चला गया।

सूरजमल को जब बलराम की मृत्यु का समाचार मिला, तो वह हक्का-बक्का रह गया। उसने यह निश्चय कर लिया कि बलराम के राज्य को शाही कब्जे से मुक्त कराना है। परन्तु इसी अवधि में यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा था कि इमाद के परामर्श पर मराठा लोग जाट राज्य पर आक्रमण करेंगे। इस प्रकार की सम्भावना को देखते हुए सूरजमल ने अपने सब दुर्गों को सब प्रकार से सुदृढ़ कर लिया। डीग के किले की सुरक्षा का भार जवाहरसिंह पर छोड़ दिया गया। जवाहर-सिंह ने डीग दुर्ग के कामा दरवाजे' की सुरक्षा का भार बलराम के पुत्रों बिशनसिंह, किशनसिंह और रामसेवक पर छोड़ किया। परन्तु जाट-मराठों के अस्थायी शान्ति समझौते के कारण जाट-मराठा संघर्ष टल गया।

बलराम की हत्या के बाद परगना फरीदाबाद और पलवल पर अकीवत महमूद खान ने अधिकार कर लिया था और वे परगने वजीर इमाद-उल-मुल्क की जागीर में सम्मिलित कर लिए गये थे। इन परगनों को खो देने से जाटों में बड़ा रोष था और वे इसे अपना अपमान समझते थे। सूरजमल से सलाह करके पूर्ण तैयारी के साथ 27 सितम्बर 1754 ई० में जाट सेनाओं ने बलराम के पुत्रों के नेतृत्व में अचानक कूच करके कस्बा पलवल को घेर लिया। पलवल के कानूनगो सन्तोषराय ने बलराम की हत्या करने के लिये अकीबत को

उकसाया था। इस कारण जाट उससे समय मिलने पर बदला लेना चाहते थे। पलवल को घेरने के बाद जाट सैनिकों ने सबसे पहले सन्तोषराय को खोजकर मार डाला। जाटों ने शहर काजी को भी पकड़कर बाजारों में घसीटकर तड़फा-तड़फाकर मार डाला। शहर काजी हिन्दुओं की लड़कियों को बलात् उठवाकर मुस्लिम अधिकारियों को देता था। बलराम के पुत्रों के नेतृत्व में जाटों ने कस्बा पलवल तथा सारे परगने से वजीर के थानों को उठवाकर पुनः अपना अधिकार कर लिया। 'बख्शी रिसाला' का रिसालदार जाहिदबेग जाट सैनिकों के भय से भागकर दिल्ली पहुंच गया। जाहिदबेग से जाटों के अचानक आक्रमण और पलवल परगने के हाथ से निकल जाने का समाचार सुन कर वजीर इमाद-उल-मुल्क जाटों के दमन हेतु सहायता प्राप्त करने की इच्छा से मल्हारराव के डेरों पर गया। परन्तु जाटों के साथ पूर्व की गई अस्थायी सन्धि के कारण उसने सहायता प्रदान करने में असमर्थता प्रकट की। किशनसिंह और बिशनसिंह को जब इस बात का पता चला कि मराठों ने शाही दरबार को सहायता देने से इन्कार कर दिया है, तो उन्होंने शीघ्र ही बल्लभगढ़ की ओर प्रस्थान किया और वहां से वजीर के प्रबन्धकों तथा थानों को हटाकर किले सहित सम्पूर्ण परगने पर अधिकार लिया। सूरजमल ने बलराम के पुत्रों किशनसिंह और बिशनसिंह को क्रमशः बल्लभगढ़ जिले (परगने) का 'किलेदार' तथा 'नाजिम' बना दिया और दोनों 1774 ई० तक इस अधिकार का प्रयोग करते रहे।

अफगानिस्तान का बादशाह अहमदशाह दुर्रानी 10 जनवरी 1757 ई० को सतलुज नदी पार करके बड़ी तेजी से दिल्ली की ओर बढ़ा। इन समाचारों से दिल्ली में हलचल होने लगी। सूरजमल ने फरीदाबाद कस्बे की सुरक्षा के लिए कुछ सैनिक टुकड़ियां बिशनसिंह और किशनसिंह के नेतृत्व में तैनात कर रखी थीं। इन टुकड़ियों में हरकारे (सन्देशवाहक) भी सम्मिलित थे, जो कि दिल्ली और दुर्रानी की गतिविधियों के समाचार सूरजमल तक पहुंचाते थे। इन हरकारों के माध्यम से सूरजमल को पता चला कि अहमदशाह दुर्रानी ने दिल्ली को अपनी सैनिक कार्यवाही का केन्द्र बना लिया है और फरीदाबाद परगने में दुर्रानी के सैनिक आतंक मचा रहे हैं। दुर्रानी के सैनिकों की क्रूर नर-हत्या एवं लूट-मार का संक्षिप्त वर्णन देहली क्रानिकल में एक

यात्री का हवाला देते हुए इस प्रकार किया गया है "दिल्ली से फरीदाबाद तक कहीं भी मकान व झौंपड़ी में एक भी दीपक टिमटिमाता दिखाई नहीं दिया। फरीदाबाद के पास मुर्दे भूमि पर नंगे पड़े थे।" इस आतंक उत्पन्न करनेवाले वातावरण में ही दुर्रानी ने 26 जनवरी 1757 ई० में बल्लभगढ़ के उत्तर में 10 कि० मी० पर अपना पड़ाव डाला। दुर्रानी का लक्ष्य जाटप्रदेश के दुर्ग कुम्भेर और डीग पर आक्रमण करने का था। अतः उसने अपने अभियान में बल्लभगढ़ के किले को नगण्य समझकर उसकी उपेक्षा की।

दिल्ली से चलने से पूर्व ही दुर्रानी ने अपने काही (कोतल) दलों को जाटों के सीमान्त प्रदेश में दाना-घास की व्यवस्था करने तथा मार्ग निरीक्षण के लिए भेज दिया था। कुंवर जवाहरसिंह सीमान्त दुर्ग तथा समीपस्थ क्षेत्र की सुरक्षा के लिए अपनी सैनिक टुकड़ियों सहित काही दलों के आने से पहले ही मथुरा को छोड़कर बल्लभगढ़ पहुंच चुका था। जवाहरसिंह के नेतृत्व में बिशनसिंह और किशनसिंह ने अफगानों के काही दल पर अचानक आक्रमण कर दिया। उन्हें अपनी सीमा से खदेड़ दिया और एक सौ पचास घोड़े लूटकर बल्लभगढ़ के किले में आगए।

काही दल की पराजय का समाचार सुनकर अहमदशाह दुर्रानी अत्यधिक कुपित हुआ। उसने तुरन्त अब्दुस्समद खान मोहम्मद जई नामक सेनानायक को निर्देश दिया कि झाड़ियों में घात लगाकर बैठ जाओ और एक टुकड़ी जाटों से लड़ाई करने के लिए भेज दो। इस प्रकार छल-कपट से जवाहर को मुंहतोड़ जवाब दो। जवाहरसिंह अगले दिन शत्रुसेना का अनुमान लगाए बिना ही बिशनसिंह और किशनसिंह के साथ शत्रु के गोल पर टूट पड़ा और मार करता-करता फरीदाबाद के निकट तक चला गया, जहां दुर्रानी के सैनिक घात लगाए झाड़ियों में छिपे बैठे थे। अब जवाहरसिंह के सामने विकट स्थिति थी और वह शत्रु से घिर गया था। परन्तु अपनी सूझ-बूझ और साहस के बल पर वह बिशनसिंह और किशनसिंह के साथ जैसे-तैसे बचकर बल्लभ-गढ़ के किले में पहुँच गया। दुर्रानी के सैनिकों के हाथों से जवाहर तो बच गया परन्तु खिसियानी बिल्ली खम्भा नोचे की कहावत के अनुसार दुर्रानी सैनिकों ने अनेक गांवों को लूटा और वे निरीह ग्रामीणों को तलवार के घाट उतारकर पांच सौ नर मुण्ड थैलों में भरकर दिल्ली की ओर वापिस चले गए।

जब दुर्रानी को यह समाचार मिला कि जवाहरसिंह उसकी सेना के पंजों से निकलकर सुरक्षित बल्लभगढ़ किले में चला गया है, तो उसने बौखलाकर अपने पूर्व निश्चय (कुम्भेर और डीग को जीतने) को छोड़ दिया और बल्लभगढ़ पर आक्रमण करने की योजना बनाई और इसका नेतृत्व सम्भाला। ऐसा कहा जाता है कि इमाम-उद्-दौला के प्रस्ताव पर ही अहमदशाह दुर्रानी ने बल्लभगढ़ की ओर प्रस्थान किया था जहां 'चौमुंहा' युद्ध के बाद बिशनसिंह, किशनसिंह, मराठा सरदार शमशेर बहादुर तथा अन्ताजी मानकेश्वर के साथ जवाहरसिंह बल्लभगढ़ किले की सुरक्षा में तत्पर था।

बल्लभगढ़ के किले को जीतने के लिए 27 फरवरी 1757 ई० को दिल्ली के शाही किले की सुरक्षा के लिए लगी बड़े मुंहवाली चार तोपों को लेने के लिए दुर्रानी तोपखाना का सरदार दिल्ली गया। तोपों को शाही छावनी तक खींचकर लाने के लिए लोगों के घरों से रस्से, लट्ठे तथा बैल छीनकर लाए गए। दो दिन तक बल्लभगढ़ किले पर भयंकर आक्रमण होता रहा और जाटों ने वीरता तथा साहस के साथ दुर्ग की रक्षा की। दुर्रानी की पांच प्रकार की तोपों ने गोलाबारी आरम्भ की। लोहे के दो आधे-आधे गोले परस्पर ढले हुए थे, जो भूमि पर गिरते ही खुल जाते थे। इन पांचों प्रकार की तोपों के कोण चूली पर बदले जाते थे। इससे किले पर इतनी विध्वंसक गोलाबारी हुई कि दो दिन बाद किले की सुरक्षा करना कठिन हो गया। दुर्ग की दिवार से जाटों की तरफ से बन्दूक तथा जम्बुरे चलाए जा रहे थे, तोपों ने उन्हें बुरी तरह दबा लिया। इस परिस्थिति में जवाहरसिंह, बिशनसिंह किशनसिंह तथा मराठा सरदारों के साथ 3 मार्च की रात को किजलबास (फारसी वेशभूषा) वर्दी में खाई के नीचे बने भूमिगत मार्ग से जमुना नदी की ओर निकल गया। प्रातःकाल दुर्रानीं सैनिकों ने किले के द्वार को तोड़कर दुर्ग रक्षकों को मार डाला। बल्लभगढ़ किले की लूट में दुर्रानी को बारह हजार रुपया नकद, सोने तथा चांदी के बर्तन, धातु की मूर्तियां, चौदह घोड़े, ग्यारह ऊंट तथा बहुतसा खाद्यान्न प्राप्त हुआ। दिल्ली में 4 मार्च को बल्लभगढ़ की विजय का समाचार पहुंचा और इस जीत के उपलक्ष्य में बादशाह ने खुशी के बाजे बजाने का आदेश दिया। इस प्रकार पुनः जाटों के हाथों से बल्लभगढ़ चला गया।

अहमदशाह दुर्रानी के भारत से चले जाने के बाद नजीब-उद्-दौला (नजीब खान) दुर्रानी का प्रमुख प्रतिनिधि था। इसने बादशाह की उपेक्षा करके खजाने का अधिकांश भाग व्यक्तिगत स्वार्थ में खर्च करना आरम्भ कर दिया। इसकी सन्तुष्टि इस बात से भी नहीं हुई अपितु वह शाहजादों की जागीरों से प्राप्त की गई राशियों को भी हड़प करने लगा। इसके इस व्यवहार से दिल्ली दरबार में उसके प्रति उपेक्षा असहयोग तथा असन्तोष की भावना उभरने लगी। इसका लाभ जाटों ने उठाया और सूरजमल ने अपने खोए प्रदेशों एवं शाही परगनों पर अधिकार करने की सोची। अब उसके लिए मैदान साफ था। सूरजमल की सेना ने पठानों को पराजित करके अपने पुराने थानों पर अधिकार कर लिया। आगरा नगर के अतिरिक्त बल्लभगढ़ तथा रेवाड़ी पर्यन्त समस्त मेवात के परगनों पर जाटों का पूर्ववत् दखल होगया। विशनसिंह और किशनसिंह पुनः उसी प्रकार बल्लभगढ़ के किलेदार और नाजिम बनकर कार्य करने लगे।

दुर्रानी ने जाटराज्य के जिलों और परगनों में भीषण लूट और सत्यानाश किया था। दिल्ली तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र में किसी के पास बन्दूक क्या एक तलवार भी नहीं छोड़ी थी। वह जाट दुर्गों को जीतने के लिए अपने साथ जो तोपें लाया था, परिवहन साधनों के अभाव में दिल्ली के आस-पास जाटसीमाओं में ही उन्हें छोड़कर चला गया। मई 1757 के प्रथम सप्ताह में जाटों ने उनको अपने अधिकार में ले लिया। उनको उठाकर अपने दुर्गों में ले गये। उनमें से दो तोपें बल्लभगढ़ किले में भी लाई गईं।

बिशनसिंह और किशनसिंह दोनों ही जवाहरसिंह (1768 तक) तथा उसके बाद उसके उत्तराधिकारी राजा रतनसिंह (1768-69) तक निर्बाध रूप से बल्लभगढ़ की जागीर का उपभोग करते रहे। परन्तु भरतपुर के नए राजा नवलसिंह (1769-75) के समय 1773 ई० के आस-पास इन दोनों भाइयों के सम्बन्ध भरतपुर घराने से किसी कारणवश बिगड़ गए और राजा नवलसिंह ने बल्लभगढ़ की जागीर इनसे छीनकर अपने अधिकार में ले ली। यद्यपि बल्लभगढ़ का तेवतिया घराना अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए सदा ही भरतपुर घराने का मुखापेक्षी रहा था तथापि ये भरतपुर घराने के जागीरदार सामन्त कभी नहीं रहे और इतिहास में सदा ही

बल्लभगढ़ की स्थिति सीमान्त जाटराज्य जैसी रही। बल्लभगढ़ के छिन जाने पर बड़ी निराशाजनक स्थिति में सन् 1774 ई० में बिशनसिंह और किशनसिंह की मृत्यु हो गई।

सन् 1771-72 ई० में शाह आलम द्वितीय के दिल्ली में पुनः प्रतिष्ठित होने से हरयाणा, दोआब तथा मेवात के मुस्लिम जागीरदारों को आशा बंधी कि वे जाटों द्वारा छीनी गई अपनी जागीरों को पुन: प्राप्त कर सकेंगे। उनकी आशा की पूर्ति के लिए नजफखान जाटों को कुचलने के लिए वड़ी भारी सेना तैयार करने में लगा हुआ था। नजफखान ने जाटों को गढ़ी मैदान तथा धनकौर नामक स्थानों की लड़ाई में हरा दिया था और उसके बाद वल्लभगढ़ की बारी थी। किशनसिंह और बिशनसिंह के पुत्र अजीतसिंह और हीरासिंह नवलसिंह से खार खाये बैठे थे, क्योंकि उसने बल्लभगढ़ की जागीर इनके पिताओं से छीन ली थी और इन दोनों की हैसियत भरतपुर के नौकरी पेशा लोगों की तरह होगई थी। ये दोनों चाहते थे कि बल्लभगढ़ की जागीर पुनः प्राप्त कर ली जाए। जब नजफखान जाटों की सेना का पीछा करते हुए 'बनचारी' ग्राम तक आगया, जोकि होडल से साढ़े तीन मील की दूरी पर था, तो अजीतसिंह और हीरासिंह ने राजा नवलसिंह से बदला लेने की भावना से गद्दारी करके अपनी सेवाएं मिर्जा नजफखान को सौंप दीं। इस गद्दारी के कारण जाटों की कमर टूट गई और बल्लभगढ़ भी जाटों के हाथ से जाता रहा। अजीतसिंह और हीरासिंह ने मिर्जा नजफखान से इस शर्त के साथ ताल-मेल किया था कि बल्लभगढ़ की जागीर जीतने के बाद उनको ही मिलनी चाहिये। जीत के उपरान्त बादशाह से सलाह करके नजफखान ने पहले स्वयं बल्लभगढ़ पर अधिकार किया और फिर सहायता के बदले बल्लभगढ़ अजीतसिंह और हीरासिंह को सौंप दिया।

नजफखान बड़ा चतुर था और राजनीति के दाव-पेचों को भलीभांति जानता था। अतः उसने किशनसिंह के बेटे अजीतसिंह को अस्थायी रूप से बल्लभगढ़ परगने का किलेदार तथा निजाम नियुक्त कर दिया तथा बिशनसिंह के बेटे हीरासिंह को अपने साथ आगरा ले गया। यह एक प्रकार से धरोहर के रूप में जाटों से पुनः ये दोनों भाई मिलने न पायें की योजना थी। एक वर्ष (1776) बाद हीरासिंह

को बल्लभगढ़ भेजा गया और उसे राजा का खिताब देने के साथ-साथ सालारजंग की उपाधि भी दी गई।

बल्लभगढ़ के पतन के उपरान्त राजा नवलसिंह को भवानी खेड़ा और पलवल भी खाली करना पड़ा। नजफखान की सेना ने जाटों को लूटा और सेना में भगदड़ मच गई। नवलसिंह कोटमन की ओर भाग गया। नवलसिंह के भागने के उपरान्त मिर्जा नजफखान ने निर्णय लिया कि भागती हुई जाट सेना का पीछा किया जाए। परन्तु हीरासिंह (बल्लभगढ़) ने मिर्जा को कहा कि भागती हुई जाट सेना का पीछा करने की अपेक्षा हमें डीग पर आक्रमण करने की सोचनी चाहिए। यह योजना मिर्जा नजफखान को पसन्द आई और मिर्जा की सेना कोसी और छट को लूटती हुई साहार पहुँच गई। जब इस बात का पता नवलसिंह को लगा तो वह कोटमन को छोड़कर नन्दगांव होता हुआ बरसाना पहुंच गया। बरसाना में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में हीरासिंह ने बढ़-चढ़कर भाग लिया और नवलसिंह की सेना घबराकर भाग खड़ी हुई और वह स्वयं बरसाना से डीग की ओर भाग गया।

इस प्रकार बल्लभगढ़ घराने से मनमुटाव के कारण नवलसिंह को पराजय का मुख देखना पड़ा। नवलसिंह की स्वयं की नीतियां भी उसकी असफलता का कारण रही हैं। उसने राजा रतनसिंह की मृत्यु के उपरान्त थोड़े समय के लिए भरतपुर की गद्दी पर बैठनेवाले केहरी के सहायक के रूप में अपने अनेक विरोधी बना लिए थे। स्वयं उसका भाई रणजीतसिंह उसका विरोधी बन गया था। इस परिस्थिति में कोई भी जाट सरदार बगावत करके मनमानी या गद्दारी कर सकता था। क्योंकि उसे किसी केन्द्रीय जाटसत्ता का कोई भय नहीं था।

बल्लभगढ़ की तत्कालीन राजस्व की आय एक लाख बीस हजार आकूती गई थी। इस परगने को इस्तमरारी अनुबन्ध पर साठ हजार रुपये पर अजीतसिंह को दे दिया गया। दिल्ली दरबार का प्रबन्ध जब सिन्धिया के हाथ में आया तो उसने अजीतसिंह से साठ हजार रुपया लेना बन्द कर दिया। सन् 1793 ई० में बल्लभगढ़ की सत्ता हथियाने के लोभ में अजीतसिंह को उसके भाई जालिमसिंह ने मार दिया।

परन्तु उसे भाई की हत्या करने पर भी राजगद्दी नहीं मिली और अजीतसिंह के स्थान पर उसका बेटा बहादुरसिंह राजगद्दी पर बैठा।

सन् 1803 ई० में भारतीय राजनीति ने नई करवट ली और ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने उत्तर भारत में अपने पंख फैलाने आरम्भ कर दिए। अंग्रेजों की इस विस्तारवादी नीति में बल्लभगढ़ के शासक बहादुरसिंह ने अपने बेटे पिरथीसिंह तथा हीरासिंह ने अपने बेटे गंगा प्रसाद को कम्पनी की सेना में भेज दिया। मराठा तथा अंग्रेजों के सत्ता संघर्ष में अंग्रेजों की विजय हुई और मराठों को 'सर्जिअंजन' नामक स्थान पर अंग्रेजों से सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि के अनुसार मराठों ने दिल्ली सहित सम्पूर्ण हरयाणा को अंग्रेजों को सौंपा। अंग्रेजों ने हरयाणा प्रदेश के भू-भाग को प्रशासनिक दृष्टि से दो भागों बांटा। एक भाग को 'एसाण्ड टेरीटरी' नाम दिया गया जोकि सीधी कम्पनी के अधीन रखी गई तथा दूसरा प्रशासनिक भू-भाग हरियाणा के उन्हीं नवाबों और राजाओं के पास रहने दिया जो कि मराठों के समय उसके स्वामी थे। इस प्रकार बहादुरगढ़, झज्जर, फरुखनगर और बल्लभगढ़ आदि जागीरें पूर्ववत् बनी रहीं। इस प्रकार 1804 ई० में कम्पनी शासन लागू होने पर भी बहादुरसिंह बल्लभगढ़ जागीर का स्वामी बना रहा।

अंग्रेजों (कम्पनी) ने बहादुरसिंह को दिल्ली से पलवल की राहदारी सौंप दी और इसके प्रतिफल में बहादुरसिंह से परगना 'पाली' और 'पाकल' ले लिए। बहादुरसिंह ने बल्लभगढ़ किले के पास 'रामगंज' नामक नई बस्ती बनाई। आजकल यह नई बस्ती बल्लभगढ़ शहर का ही एक अंग बन गई है। बहादुरसिंह की मृत्यु सन् 1806 ई० में हो गई और उसके बाद उसका बेटा नारायणसिंह जागीर का स्वामी बना। परन्तु इसकी मृत्यु भी 1806 के अन्त में होगई। इसके बाद उसका बेटा अनिरुद्धसिंह बल्लभगढ़ की गद्दी पर बैठा। इसने लगभग बारह वर्ष राज्य किया। किन्तु इसके काल की उपलब्धियों का विवरण हमें अभी तक नहीं मिला है। इतना निश्चित है कि उसने कम्पनी से अच्छे सम्बन्ध बनाए रखे। सन् 1818 ई० में उसकी मृत्यु होगई।

अनिरुद्धसिंह की मृत्यु के उपरान्त बल्लभगढ़ रियासत की

राजनीति में काफी उतार चढ़ाव आया। अनिरुद्ध का अवयस्क पुत्र सेनिओसिंह (शिवसिंह) राजगद्दी का अधिकारी घोषित किया गया। वह भी निस्सन्तान 1820 ई० में मर गया। इस प्रकार बल्लभगढ़ की राजवंश की सीधी परम्परा में एकदम कटाव आगया। इसका परिणाम यह हुआ कि शिवसिंह की मृत्यु के उपरान्त राजगद्दी उसके चाचा रामसिंह के पास चली गई। रामसिंह ने बड़ी होशियारी से बल्लभगढ़ की जागीर का प्रबन्ध सम्भाला। क्योंकि उसे भय था कि कहीं उत्तराधिकार का विवाद न खड़ा हो जाए और कम्पनी इस जागीर को अपने अधिकार में न करले। उसकी मृत्यु सन् 1829 ई० में होगई और उसके बाद नाहरसिंह राजा बना।

जब नाहरसिंह गद्दी पर बैठा तो उसकी आयु लगभग 8 आठ या नौ वर्ष की थी। अवयस्क होने के कारण राज्य का सारा प्रबन्ध उसके पिता के समय से चले आरहे मन्त्रियों अभयराम और पिरथीसिंह द्वारा किया जा रहा था। इन मन्त्रियों ने नाहरसिंह की अवयस्कता का लाभ उठाकर रियासत की आय को इस प्रकार लुटाया कि रियासत आर्थिक संकट के कारण ऋणगस्त होगई। मन्त्रियों की फिजूलखर्ची और मनमानी को नाहरसिंह मौनभाव से सहता रहा। ज्यों ही वह वयस्क हुआ तो उसने सर्वप्रथम अभयराम को अपनी सेवा से मुक्त करके उसके स्थान पर अपने मामा नवलसिंह को मन्त्री का कार्य सौंप दिया। यह घटना लगभग 1839 ई० के आस-पास की है। नवलसिंह ने अपनी कूटनीति से शनैः शनैः पिरथीसिंह का पत्ता भी साफ कर दिया। इस प्रकार रियासत के सभी कार्य नाहरसिंह के नाम पर नवलसिंह करने लगा। नवलसिंह में शक्ति का मद आगया और वह निरंकुश बनकर कार्य करने का आदी होगया। बल्लभगढ़ की रियासत का फरीदाबाद परगना राजा बहादुरसिंह के पोते कोहरसिंह (कंवर सिंह) के पास था। नवलसिंह ने उसे छीनने का प्रयास किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज अधिकारियों को हस्तक्षेप करना पड़ा। नाहरसिंह ने अपने मामा नवलसिंह को इस घटना के बाद नकेल डालकर रखा।

राजा नाहरसिंह के समय अंग्रेजों तथा बल्लभगढ़ घराने के सम्बन्ध इतने मधुर नहीं रहे थे, जितने कि उसके पूर्वजों के समय में थे। नाहरसिंह स्वतन्त्र व्यक्तित्व का स्वामी था और साथ में युवक

भी था। उसमें साम्प्रदायिकता का लेशमात्र भी नहीं था। इसीलिए उसने अपनी लड़की का विवाह फरीदकोट के सिख राजा के साथ किया था। वह अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति का मन से विरोधी था। वह अंग्रेजों की अपेक्षा मुसलमानों को भारत के हित में अधिक पसन्द करता था। 1857 ई० के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के लिए हिन्दू, मुस्लिम और सिख एकता की अत्यधिक आवश्यकता थी। इसलिए समय-समय पर बादशाह अपनी प्रजा के नाम फरमान निकालता रहता था कि हमें अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने के लिए हिन्दू-मुस्लिम के भेदभाव को भूल जाना चाहिये। ऐसा ही एक फरमान बल्लभगढ़ के राजा नाहरसिंह के पास भी भेजा गया। उसके उत्तर में नाहरसिंह ने लिखा कि मैं अपने मस्तिष्क से पूर्णरूप से हिन्दू हूं, फिर भी मैं मुस्लिम नेताओं के निर्देशों का पालन करता हूँ और मैं उनका अनुयायी हूं। मैं इस सम्बन्ध में यहां तक बढ़ चुका हूं कि मैंने अपने किले में एक भव्य मस्जिद का निर्माण करवाया है और अपने बगीचे के समीप ईदगाह भी बनवाई है। इसके अतिरिक्त राजा नाहरसिंह के शासन प्रबन्ध में अनेक मुस्लिम अधिकारी भी थे।

सन् 1857 ई० के स्वतन्त्रता आन्दोलन को हम सुविधा के लिए दो भागों में बांटना चाहेंगे। इसका प्रथम भाग 'सैनिक विद्रोह' नाम से पहचाना जाना चाहिये तथा दूसरा भाग 'नागरिक विद्रोह'। हरयाणा में दूसरे भाग 'नागरिक विद्रोह' की गतिविधियां सक्रिय रही हैं। इन्हीं गतिविधियों में झज्जर, बल्लभगढ़, फरुखनगर आदि के राजा तथा नवाबों की गतिविधियां आती हैं। 'सैनिक विद्रोह' जो कि 10 मई सन् 1857 ई० में अम्बाला तथा मेरठ में आरम्भ हुआ था वह दिल्ली में राजनैतिक आन्दोलन के रूप में उभरकर आया और 13 मई को गुड़गांवां में विद्रोह के रूप में फूट पड़ा। इस विद्रोह में राजा नाहरसिंह ने बादशाह बहादुरशाह का साथ दिया।

इस बात की पुष्टि कार्य और मालेसन के निम्न कथन से होती है "निस्सन्देह बल्लभगढ़ का राजा नाहरसिंह दिल्ली के बादशाह के अधिकार को स्वीकार करता है।" राजा नाहरसिंह का सर्वप्रथम पाला लेफ्टिनैन्ट डबल्यू. एस. आर. हडसन से पड़ा। हडसन ने अंग्रेज अधिकारियों को लिखा कि नाहरसिंह को समाप्त करने की आज्ञा मिलनी चाहिये। क्योंकि यह कभी भी अंग्रेजों के लिए घातक हो

सकता है। परन्तु ब्रिटिश अधिकारियों के आदेश इतने स्पष्ट थे कि बल्लभगढ़ को न छेड़ा जाये। अतः विवश होकर हडसन को झज्जर की ओर जाना पड़ा। हमें अंग्रेज अधिकारियों के विवरणों से स्पष्ट पता चलता है कि 1857 ई० के विद्रोह के समय राजा नाहरसिंह का राज्य पलवल तक विस्तृत हो चुका था। हडसन ने इसे स्वीकार करते हुए लिखा था कि राजा नाहरसिंह के राज्य से सारे युरोपियन भाग चुके हैं और मुहाकिवानी स्वयं बल्लभगढ़ पहुंच चुका है।

बीस सितम्बर, 1857 ई० में दिल्ली का पतन हो जाने पर भी नाहरसिंह का अंग्रेजों के विरुद्ध छेड़ा गया संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। फलतः दो अक्तूबर 1857 ई० को 1500 सैनिक 16 छोटी बड़ी तोपों के साथ ब्रिगेडियर शावर्स राजा नाहरसिंह को दबाने के लिए चल पड़ा। उसने 6 अक्तूबर 1857 ई० को बल्लभगढ़ के राजा नाहरसिंह को पकड़ लिया और उसके किले पर अधिकार कर लिया। इसके बाद मिस्टर फोर्ड ने बल्लभगढ़ को जिला गुड़गांवां के साथ जोड़ दिया। शावर्स ने राजा नाहरसिंह और बादशाह के मध्य हुए सम्पूर्ण पत्र-व्यवहार को भी अपने काबू में कर लिया। इस पत्रव्यवहार से स्पष्ट पता चलता था कि राजा नाहरसिंह ने रुपया-पैसा तथा अपने व्यक्तियों द्वारा हर प्रकार से बादशाह की सहायता की थी। इन पत्रों से यह भी पता चलता है कि हिण्डन तथा बादली सराय की लड़ाई में राजा नाहरसिंह ने बादशाह बहादुरशाह के पक्ष में सेना जुटाई थी।

अन्त सन् 1857 ई० की क्रान्ति असफल रही और अंग्रेजों ने विद्रोहियों को चुन-चुन कर मारा। राजा नाहरसिंह अंग्रेजों की आंखों में कांटे की तरह चुभ रहा था। फलतः उसे फांसी की सजा दी गई और 9 जनवरी 1858 ई० में उसे फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया। इस प्रकार बल्लभगढ़ का तेवतिया राजा देशभक्ति के लिए अपने जीवन का अन्तिम क्षण समर्पित कर दिया।

❀❀❀
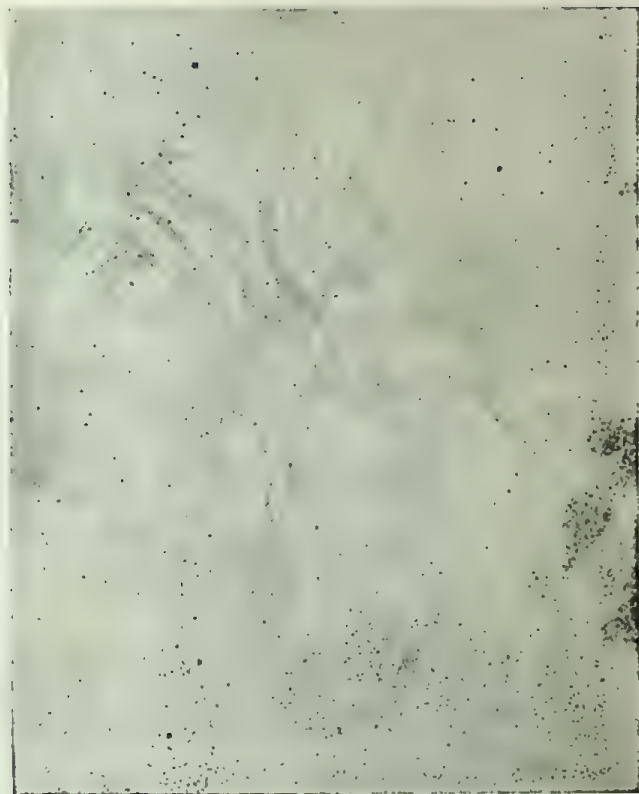
राजा नाहरसिंह

1857 के स्वातन्त्र्य संग्राम के वीर सेनानी राजा नाहरसिंह को 36 वर्ष की भरी जवानी में 9 जनवरी 1858 को उनके तीन विश्वस्त साथी गुलाबसिंह, ठा० भूरासिंह, कुंवर खुशहालसिंह सहित चांदनी चौक दिल्ली में अंग्रेजों ने फांसी पर लटकाया था। इनकी अन्तिम इच्छा थी—"जो चिंगारी मैं आप लोगों में छोड़ रहा हूं उसे बुझने मत देना।"

फांसी के बाद राजा का पार्थिव शरीर भी अंग्रेजों ने इनके परिवारजनों को नहीं दिया।

द्वादश अध्याय

उत्तरप्रदेश में जाटराज्य

कुचेसर रियासत

मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुखकाल में जाटों ने अपना भाग्य चमकाने के लिये परिस्थितियों का लाभ उठाकर अनेक रियासतों की स्थापना की। कुचेसर रियासत इस प्रकार के प्रयासों का ही एक परिणाम थी। जिला रोहतक (हरयाणा) के भुवालसिंह, जगमलसिंह, जगरामसिंह और गुरुवासिंह नामक दलालवंशी चार जाट अपनी शक्ति और साहस के भरोसे राज्यस्थापना का संकल्प लेकर दिल्ली को पार करके उत्तरप्रदेश की ओर बढ़े। इनमें से भुवालसिंह, जगमलसिंह और जगराम चित्सौना और अलीपुर गांव बसाकर रहने लगे। गुरुवासिंह ने मुरादाबाद के चन्दौसी-क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। इसी की सन्तान रियासत कुचेसर की संस्थापक बनी। भुवालसिंह के पुत्र मौजीराम हुये। इनके रामसिंह और छत्तरसिंह नामक दो लड़के हुये। इनमें से छत्तर बड़ा महत्त्वाकांक्षी उत्साही युवक था। इसने अपने बाहुबल से बहुत बड़ा भू-भाग अपने अधिकार में कर लिया था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की उक्ति के अनुसार इसके पुत्र रामधनसिंह और मगनीराम बड़े वीर निकले। इन दोनों भाइयों ने अपने चारों ओर जाटवीरों का एक समूह बना लिया था जोकि इनके नेतृत्व में इधर-उधर छापे मारा करता था।

क्षत्रिय इतिहास के लेखक योगेन्द्रपाल के कथनानुसार जब महाराजा जवाहरसिंह ने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिये दिल्ली के वजीर नजीबुद्दौला पर चढ़ाई की, तो ये दोनों भाई पच्चीस हजार जाट लेकर इस लड़ाई में सम्मिलित हुये थे। इस कथन में अत्युक्ति दिखाई पड़ती है। हां यह हो सकता है कि इन दोनों के साथ एक-दो हजार जाट अवश्य इकट्ठे होगये हों। क्योंकि इस समय तक ये दोनों भाई राजा की हैसियत में किसी रियासत के मालिक नहीं थे, अपितु ये तो प्रायः छापामारों के रूप में ही अपने प्रभुत्व को जमाने

में लगे हुये थे। जवाहरसिंह तथा नवाब नजीबुद्दौला की लड़ाई में ये दोनों भाई गये तो थे जवाहरसिंह की सहायता के लिये, किन्तु शाहदरा लूट के समय ये अपने साथियों सहित वजीर नजीबुद्दौला के साथ मिल गये और लूट को रोकने का प्रयत्न किया। इनके इस व्यवहार से प्रसन्न होकर नवाब ने इन्हें कुचेसर की जागीर दे दी।

किन्तु क्षेत्र के जाटों में इन दोनों भाइयों के प्रति मुसलमानों से मिलने के कारण रोष व्याप्त होगया। अलीगढ़ के हाकिम असराफिया खां ने जब यह देखा कि इन दोनों भाइयों के प्रति जाटों में उदासीनता और घृणा फैल रही है तो उसने इनको कमजोर जानकर चढ़ाई कर दी। ये दोनों हार गये और बन्दी बनाकर अलीगढ़ लाये गये। अवसर पाकर ये दोनों भाई अलीगढ़ से भागने में सफल हुये और सीधे महाराजा भरतपुर के पास गये और अपने किये हुये कार्य के लिये पश्चात्ताप करते हुये क्षमा मांगी। इस प्रकार जाटों को पुन: अपने अनुकूल करके इन दोनों भाइयों ने मुरादाबाद में सिरसी के मराठा सरदार को अपने पक्ष में कर लिया। सब प्रकार से परिस्थितियों को अपने अनुकूल करके सन् 1782 ई० में रियासत की पुन: प्राप्ति के लिये कुचेसर पर चढ़ाई कर दी। मुगल अधिकारी इस आक्रमण से घबरा गया और वह भागने की कोशिश ही कर रहा था कि पकड़ा गया और मार दिया गया। इस प्रकार ये दोनों पुन: कुचेसर रियासत के स्वामी बने।

इनमें से राय मगनीराम के दो रानियां थीं, जिनसे सात पुत्र हुये। किन्तु ऐसा कहा जाता है कि मगनीराम के स्वर्गवासी होने के पश्चात् इनमें से कुछ की स्वाभाविक मृत्यु होगई और कुछ को रामधन ने मरवा दिया। मगनीराम के पुत्रों को मरवाने के विषय में जनश्रुति यह है कि बहादुर नगर में एक खजाने के नक्शे के विषय में विवाद उठ खड़ा हुआ और रामधन के मन में पाप समा गया तथा इसने अपने भतीजों को मरवा दिया। चाहे इसमें सत्य का अंश हो अथवा नहीं, किन्तु यह स्पष्ट है कि मगनीराम के परिवार का कोई सदस्य जीवित न रहने पर रामधन रियासत कुचेसर का पूर्ण रूप से शासक बन गया। रामधन ने अपनी रियासत की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये सैदपुर, दतियाना, पूठ, स्याना और थाना फरीदा का क्षेत्र भी दिल्ली दरबार से चालीस हजार प्रतिवर्ष मालगुजारी पर ले लिया। बाद में

सन् 1794 ई० में अकबरशाह तथा अंग्रेजी सरकार (ईस्ट इण्डिया कम्पनी) ने भी इस क्षेत्र पर कुचेसर का अधिकार स्वीकार कर लिया।

रामधन चुप बैठनेवाला व्यक्ति नहीं था। रियासत को बढ़ाने के प्रसंग में इसका अंग्रेजों से विवाद होगया। अंग्रेजों से विवाद होने पर रामधन को पकड़कर मेरठ लाया गया जहां सन् 1816 ई० में इसकी मृत्यु हो गई। इसकी मृत्यु के उपरान्त इसका बेटा फतहसिंह रियासत का मालिक बना। सन् 1839 ई० में इनका देहान्त होने पर बहादुरसिंह राजगद्दी पर बैठा। राय बहादुर की मृत्यु के बाद इसके दो बेटों में राज्याधिकार प्राप्त करने के लिये विवाद चला। अन्त में निर्णय जाट पत्नी के बेटे गुलाबसिंह के पक्ष में न होकर राजपूत पत्नी के बेटे के पक्ष में हुआ और वह रियासत का शासक बन गया। इसने 1857 के विद्रोह में अंग्रेजों का साथ दिया।

सहानपुर रियासत

उत्तरप्रदेश के जिला बिजनौर के प्रदेश में स्थित इस रियासत का इतिहास बहुत प्राचीन है। इस रियासत की उत्पत्ति की कहानी इस प्रकार बताई जाती है कि मुगलसम्राट् अकबर के समय में कुछ जाट जीन्द रियासत के गोहाना के समीपवर्ती गांव रामरायपुर को छोड़कर दिल्ली की ओर चल पड़े। वर्तमान समय में गोहाना जीन्द का भाग न होकर जिला सोनीपत (हरयाणा) की एक तहसील है। सोनीपत जिला बनने से पूर्व गोहाना जिला रोहतक की एक तहसील थी। गोहाना के पास से दिल्ली की ओर बढ़नेवाले जाटों का नेतृत्व काकराणावंशी जाट बसरूसिंह कर रहे थे। ये लोग सर्वप्रथम बहादुरगढ़ (रोहतक) में आकर बस गये। यहां आकर अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी राजपूतों से बदला लेने के लिये शाही सेना में नौकरी करली और अपनी बहादुरी से शाही दरबार में ख्याति प्राप्त करली। बसरूसिंह के चार बेटे थे, जिनमें से पदार्थसिंह का नाम इस रियासत के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

पदार्थसिंह के मुह पर घनी मूछें इनकी आकृति को और भी अधिक रौबिला बनाती थीं। इन्हीं मूंछों की लम्बाई और गोलाई के कारण इन्हे मूंछ पदार्थसिंह के नाम भी जाना जाता था। इस वीर व्यक्ति ने अपनी भुजाओं के बल से कनखल और चण्डी से बलावाली

के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। ऐसा कहा जाता है कि इनकी गाय और भैंसें नांगल के पास गंगा पार करके आज के नजीबाबाद क्षेत्र में चरने जाया करती थीं। पदार्थसिंह ने शहजादा सलीम को (जो इतिहास में बादशाह जहांगीर के नाम से जाना जाता है) शेरों का शिकार करने के लिये अपने क्षेत्र में आमन्त्रित किया। शिकार के प्रसंग में पदार्थसिंह शाही दरबार के और भी अधिक निकट आया और इसने सलीम के माध्यम से तत्कालीन सूबेदार सम्भल से उस समय मुरादाबाद जिला में लगनेवाले परगना जलालाबाद, किरतपुर और मंडावर के तीन सौ के लगभग गांवों पर अपना आधिपत्य स्वीकार करा लिया। सन् 1603 ई० में इन्हें राय की उपाधि, खिलअत और "तासंग अजगंग" गंगा से शिवालिक पहाड़ तक के प्रदेश पर शासक होने की सनद प्रदान की गई। इस प्रकार अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के उपरान्त पदार्थसिंह ने सन् 1604 ई० में बाहादुरगढ़ से अपने परिवार को बुला लिया और गंगा पार करके नांगल में पड़ाव किया और कच्चा किला बनवाया। इसके बाद इन्होंने सहानपुर पर अधिकार कर लिया। और यह रियासत सहानपुर के नाम से पुकारी जाने लगी।

एक जनश्रुति के अनुसार शाहजहां के पुत्र दाराशिकोह एक बार बिना पूर्व सूचना दिये पदार्थसिंह के क्षेत्र में शिकार खेलने के लिये आगये। पदार्थसिंह अनजाने में दाराशिकोह के सैनिकों से जा टकराया और इस झड़प में दाराशिकोह भी साधारणरूप से सामान्य चोट खा बैठा। किन्तु जब इन्हें शाहीसैनिकों से पता चला कि दाराशिकोह जख्मी होगया है, तो पदार्थसिंह ने उसकी सेवा और उपचार में कोई कमी नहीं छोड़ी। स्वस्थ होने पर जब दाराशिकोह दिल्ली जाने लगे, तो पदार्थसिंह भी इनके साथ दिल्ली तक गया। परन्तु वहां जाने पर इसे पकड़ लिया गाया, क्योंकि वहां पहले ही समाचार पहुंच चुका था कि पदार्थसिंह ने दाराशिकोह को घायल कर दिया है।

पदार्थसिंह के बन्दी बनाये जाने का समाचार जब रियासत में पहुंचा, तो बड़ी भारी चिन्ता व्याप्त होगई। दरबारियों ने पदार्थसिंह को मुक्त कराने के लिए निसार खां नामक मिरासी (भाट) को रियासत की तरफ से प्रतिनिधि बनाकर भेजा। कहते हैं कि निसार खां ने दिल्ली दरबार में पहुंचकर अपनी बाण-विद्या से

शाहजहां को मुग्ध कर लिया और कहा कि मुझ से अच्छी बाणविद्या राजा पदार्थसिंह को आती है। ऐसा सुनकर शहंशाह ने बन्दीगृह से पादार्थसिंह को बुलाकर बाण-विद्या का प्रदर्शन करने को कहा। राजा पदर्थसिंह ने सात तवे मंगवाकर इतनी शक्ति से बाण छोड़ा कि वह सातों तवें छेदता हुआ पीछे के पेड़ में जा धंसा। इस विद्या से प्रसन्न होकर शाहजहां ने न केवल पदार्थसिंह को सम्मानसहित मुक्त कर दिया, अपितु पहले के तीन सौ गांवों के स्थान पर 660 गांव प्रदान कर दिये। इस प्रकार उन्होंने अपने अधिकारक्षेत्र को बढ़ाया।

उपर्युक्त जनश्रुति के सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि बाण-विद्या द्वारा मुक्ति प्राप्त करना अथवा प्रतिद्वन्द्वी को इसके प्रदर्शन द्वारा उसी के दरबार में मारना भारतीय साहित्य के मिथकों में से एक मिथक है। इस मिथक में प्रायः सात संख्या का बड़ा भारी महत्त्व है। इसकी पहली झलक हमें रामायण में मिलती है, जहां रामचन्द्र सात ताड़ के वृक्षों का एक ही बाण द्वारा छेदन करके वाली के मारने की क्षमता एवं शक्ति प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रकार की बाण–विद्या की घटना पृथ्वीराज के विषय में कही जाती है कि उसने सात तवों को छेदकर गौरी को मार दिया था। ठीक इसी मिथक की कल्पना पदार्थसिंह के विषय में जोड़ी गई प्रतीत होती है। परन्तु इसमें ऐतिहासिक सत्य की पुट दिखाई नहीं पड़ती। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः दाराशिकोह ने पदार्थसिंह को निर्दोष सिद्ध करके उसे मुक्त कराने का प्रयास किया हो। बात चाहे कोई भी हो पदार्थसिंह मुक्त होकर अपनी रियासत में आगया। इस घटना के दो वर्ष बाद सन् 1631 ई० में इसकी मृत्यु होगई।

राय मूछ पदार्थसिंह की मृत्यु के उपरान्त राय भीमचन्द राज्याधिकारी हुये। इन्हें राज्यसिंहासन प्राप्त करते ही युद्धों में फंसा रहना पड़ा। एक बार ये अपने भाइयों सहित गंगा स्नान के लिये हरद्वार गये हुये थे। वहां ज्वालापुर के मुसलमान पुंडीरों ने इन सबको घेर कर आक्रमण कर दिया। इस लड़ाई में ये अपने समस्त भाइयों और परिवारसहित मारे गये। राय भीमचन्द और उनके समस्त भाइयों के मारे जाने पर नत्थासिंह सहानपुर रियासत के हकदार बने। किन्तु राज्यप्राप्ति के कुछ दिनों बाद ही राजपूत मुसलमानों से युद्ध करते हुये निस्सन्तान ही मर गये। इनकी मृत्यु के उपरान्त सबलसिंह

सहाननपुर के शासक बने । इन्होंने अपनी रियासत की सुरक्षा हेतु सबलगढ़ नामक दुर्ग बनवाया। इनके जीवन की कोई विशेष घटना नहीं है। इनके उपरान्त राज्यगद्दी पर बैठनेवाले राय राजाराम का शासनकाल भी शान्त वातावरण में व्यतीत हुआ और सन् 169। ई० में इनकी मृत्यु होगई।

इनके उपरान्त रियासत के शासक वननेवाले सभाचन्द का समय संघर्षपूर्ण रहा। इन्हें जहां मुसलमानों से लड़ाई करनी पड़ी वहां गृह–युद्ध का भी सामना करना पड़ा । वस्तुत: इनके सौतेले भाई ताराचन्द ने चकला नगीने के फौजदार मोहम्मद अली की सहायता लेकर सहानपुर किले पर चढ़ाई कर दी। मोहम्मद अली ने ताराचन्द की इस शर्त पर सहायता की कि वह अपने पुत्र जसवन्तसिंह को मुसलमान धर्म में दीक्षित करेगा। किले पर आक्रमण होने पर सभाचन्द ने बड़ी वीरता से संयुक्तसेना का मुकाबला किया और शत्रुओं को मार भगाया और आस–पास के जंगल पर अधिकार करके रियासत में गांवों की संख्या 1787 तक बढ़ा ली। इनकी मृत्यु 1719 ई० में होगई। यहां यह वात ध्यान देने की है कि ताराचन्द के पुत्र जसवन्तसिंह ने मुसलमान होकर गुलाम मोहम्मद नाम धारण कर लिया था। किन्तु इसकी पत्नी और सन्तान ने मुसलमान होना स्वीकार नहीं किया। धन्य है ऐसी पत्नी और सन्तान को जिन्होंने लोभ अथवा दबाव में आकर हिन्दू ही रहना स्वीकार किया।

सभाचन्द की मृत्यु के पश्चात् रामदास राज्याधिकारी हुआ। इसके राज्याधिकारी होते ही गुलाम मोहम्मद (जसवन्तसिंह) ने इसके पिता के द्वारा दीगई हार का बदला लेने के लिये बसी कोटले के निवासी असगर खां और जलाल खां की सहायता से सहानपुर पर चढ़ाई कर दी। इस लड़ाई में दोनों ओर से आक्रमण और प्रत्याक्रमण होते रहे। अन्त में रामदास अपने भाइयों नाहरसिंह और मानसिंह सहित मारे गए। अपने भाइयों के वीरगति पाने के बाद पांचवर्षीय वसुचन्द सहानपुर रियासत का मालिक बना। इसने सन् 1777 ई० तक शासन किया। अपने पिता वसुचन्द के मरने के बाद खेमचन्द गद्दी पर बैठे। परन्तु शेरों का शिकार करते समय इनकी मृत्यु हो गई। इनकी मृत्यु के बाद तपराजसिंह गद्दी पर बैठा। किन्तु इसके राज्यकाल में रियासत अनवति की ओर बढ़ती रही। इसकी ढुल-मुल

नीति के कारण रियासत के गांवों पर अन्य लोग अधिकार करते रहे तथा कुछ गांव इन्होंने अपनी उदारता के कारण लोगों में बांट दिये। सन् 1817 ई० में इनकी मृत्यु होगई।

इनकी मृत्यु के उपरान्त इनका बेटा जहानचन्द्र शासक बना। युवराज रहते समय वह यह देखता रहा कि राज्य के गांवों का किस प्रकार अपहरण हो रहा है, किन्तु पिता के सामने इसकी एक नहीं चली। अतः राज्य-गद्दी प्राप्त करते ही इसने घोषणा करा दी कि जिन्होंने धोखा देकर स्वर्गीय राजा से रियासत के गांवों का अपहरण कर लिया था अथवा जिन लोगों ने स्वर्गीय राजा से मुफ्त में गांव प्राप्त किये थे, उन्हें वे राज्य को वापिस कर दें। ऐसा न करने पर उन्हें तलवार की धार सम्भालनी चाहिए। कुछ लोगों ने इस घोषणा के बाद भय के कारण गांव लौटा दिये किन्तु कुछ लोग ऐसे भी निकले कि जिन्होंने स्वार्थ के कारण गुलाम मोहम्मद (जसवन्तसिंह) के वंशजों से सहायता मांगी। इसका परिणाम यह हुआ कि एक षड्यन्त्र रचा गया और महल में पूजा करते समय इनकी हत्या कर दी गई। इनके कोई सन्तान नहीं थी। अतः इनकी रानी की अनुमति एवं परामर्श से इनके सौतेले भाई हिम्मतसिंह को उत्तराधिकार मिला।

हिम्मतसिंह के रियासत का कार्यभार सम्भालते ही गुलाम मोहम्मद के वंशजों ने राज्यप्राप्ति के लिये वैधानिक और अवैधानिक दोनों ही उपायों से विवाद खड़ा कर दिया। किन्तु इलाके के जाटों द्वारा हिम्मतसिंह का साथ दिये जाने के कारण वे कुछ नहीं बिगाड़ सके। इसी समय सन् 1857 ई० का विद्रोह भी चल रहा था। इस विद्रोह में रियासत ने अंग्रेजी सरकार का साथ दिया क्योंकि इस रियासत में हिन्दू-मुस्लिम भावना के आधार पर मुस्लिमों के विरोध में अंग्रेजों का साथ देना राजा को अधिक जंचा। सन् 1864 ई० में इनकी मृत्यु होगई। इसके बाद का रियासत का इतिहास अंग्रेजी सरकार के इतिहास के साथ ही चलता है और किसी विशेष घटना का प्रतीक नहीं है।

मुरसान रियासत

मुरसान रियासत के संस्थापक नन्दरामसिंह जाट थे। इनके पूर्वजों में से इनके दादा माखनसिंह के विषय में कहा जाता है कि वे

बड़े साहसी व्यक्ति थे। नन्दरामसिंह ने अपने आस-पास के जाटों में इतनी लोकप्रियता प्राप्त करली कि वह जाटयुवकों का सरदार बनकर मुगलों के क्षेत्रों पर आक्रमण करके लूट–पाट करने लगा। औरंगजेब के राज्यकाल में प्राय: दिल्ली के आस-पास के जाट उत्पात मचाया करते थे। जाटों की गतिविधियों से परेशान होकर दिल्ली दरबार ने नन्दरामसिंह को फौजदार की उपाधि देकर सन्तोष की सांस ली। इस प्रकार नन्दराम एक रियासतदार के रूप में प्रसिद्ध होगये। कहा जाता है कि नन्दराम के चौदह पुत्र थे। जिनमें से जलकर्ण, खुशहाल-सिंह, जयसिंह, भोजसिंह, चूड़ामणि, जसवन्तसिंह, अधिकर्ण और विजयसिंह आदि आठ पुत्रों के नाम मालूम हो सके हैं। इनमें से खुशहालसिंह ने अपने पिता के जीवनकाल में ही सआदतउल्ला से बहुतसा क्षेत्र छीनकर मथुरा, अलीगढ़ और हाथरस के प्रदेशों को भी अपने राज्य में मिला लिया। शेष भाइयों में से चूड़ामणि, जसवन्तसिंह अधिकर्ण और विजयसिंह ने क्रमश: तोछीगढ़, बहरामगढ़ी, श्रीनगर तथा हरमपुर में अधिकार स्थापित किया। नन्दरामसिंह अपने जीवन में अपने पुत्रों द्वारा रियासत की वृद्धि को देखकर सन् 1695 ई० में स्वर्ग सिधार गये।

इनकी मृत्यु के उपरान्त खुशहालसिंह राज्य के अधिकारी बने। इनके काल में मुरसान का किला बना। परन्तु जब इनके बेटे पुहुपसिंह ने मुरसान रियासत की बागडोर सम्भाली तो भरतपुर घराने से इनका मनमुटाव रियासत की सीमा के सम्बन्ध में तथा भरतपुर के सैनिकों द्वारा बलात् इनकी प्रजा को तंग करने के विषय में होगया। महाराजा सूरजमल ने इन पर चढ़ाई कर दी। महाराजा पुहुपसिंह ने डटकर मुकाबला किया और पार बसाती न देखकर मुरसान को छोड़कर सासनी में डेरा जमा लिया और वहीं से रियासत का कार्य करने लगे। महाराजा सूरजमल ने मुरासन को भरतपुर राज्य में मिला लिया। इससे पुहुपसिंह को बड़ा दु:ख हुआ और वह इसी चिन्ता में लगा रहा कि मुरसान को कैसे पुन: प्राप्त किया जाये। इसी समय सूरजमल और उसके बेटे जवाहरसिंह में अनबन रहने लगी और भरतपुर के दरबारियों के दो दल बन गये। एक दल बलराम, मोहन-राम आदि प्रभावशाली सरदारों का था जो सूरजमल के दरबारी थे। दूसरा दल जवाहरसिंह के दरबारी सरदारों का था जो बलराम और

मोहनराम के कट्टर विरोधी थे। पुहुपसिंह ने समय को पहचानकर जवाहरसिंह का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जवाहरसिंह और पुहुपसिंह में मित्रता होगई और मुरसान पुनः प्राप्त होगया। मुरसानप्राप्ति के प्रत्युपकार में पुहुपसिंह ने जवाहरसिंह को दिल्ली आक्रमण के समय पूरी सहायता प्रदान की।

पुहुपसिंह की इसी बात से चिढ़कर नजफ खां ने समय पाकर मुरसान पर चढ़ाई कर दी। राजा पुहुपसिंह ने पूरे उत्साह के साथ नजफखां का मुकाबला किया किन्तु अन्त में अपनी स्थिति कमजोर होती देखकर इन्हें मुरसान छोड़ना पड़ा। लेकिन ये शान्त नहीं बैठे। सन् 1785 ई० में पुहुपसिंह ने पूरी तैयारी के साथ मुरसान को पुनः प्राप्त करने का प्रयास किया और वे इसमें सफल हुये। कहा जाता है कि इस लड़ाई में इनके साथ पांच हजार घुड़सवार तथा दस तोपें थीं।

इनकी मृत्यु (1798) के पश्चात् इनके बेटे भगवन्तसिंह रियासत मुरसान की राज्य-गद्दी पर बैठे। इनके समय में अंग्रेजों ने अपनी विस्तारवादी-नीति के कारण मुरसान रियासत के क्षेत्र सासनी पर आक्रमण कर दिया। भगवन्तसिंह जनरल लेक की सेना का मुकाबला करने के लिये तैयार होगये। छह महीने के निरन्तर संघर्ष के बाद अंग्रेजों का सासनी पर अधिकार होगया और फिर मुरसान भी अंग्रेजों के कब्जे में आगया और इसे अंग्रेजों ने अपने राज्य में मिला लिया। किन्तु जाटों के प्रबल विद्रोहात्मक असन्तोष को देखकर स्वर्गीय भगवन्तसिंह के पुत्र राजा टीकमसिंह को रियासत का कुछ भाग लौटा दिया। सन् 1857 के विद्रोह के दमन में सहायता करने तथा अंग्रेजों की रक्षा करने के कारण राजा टीकमसिंह को गौण्डा और सेमरा नामक दो गांव उपहार रूप में दिये गये। इसके साथ ही सात गांवों का राजस्व माफ कर दिया गया।

यद्यपि टीकमसिंह ने 1857 के विद्रोह में अन्य भारतीय जाट नरेशों की भांति अंग्रेजों का साथ दिया था तथापि इतना कहने में कोई संकोच नहीं कि महाराजा के विचार प्रगतिवादी थे। वे हिन्दूधर्म की रूढ़िवादिता के अन्धे भक्त नहीं थे। इसीलिये इनकी रियासत में महर्षि दयानन्द अनेक बार पधारे और महाराजा का आतिथ्य स्वीकार किया।

त्रयोदश अध्याय

मध्यप्रदेश

गोहद की जाट रियासत

गोहद की जाट रियासत का प्रारम्भिक इतिहास अन्धकार में डूबा हुआ है। जागाओं की पोथी के अनुसार "युधिष्ठिरी संवत् 192 में जाटों ने पंजाब में चिनाब नदी के किनारे पर बमरौली खेड़ा ग्राम बसाया था, वहां पर राजा ब्रह्मदेव ने राज्य किया। बाद में जट्टालि प्रान्त में रूपचन्द, रुद्रकोट (तक्षक कोट) में हरीचन्द्र ने, कनखल में पृथ्वीदेव ने, मारवाड़ में शालदेव ने और हरिद्वार में जयदेव ने क्रमशः राज्य किया। गढ़ बैराठ पर राजा जैतसिंह तथा तुहिनगढ़ में वीरनदेव राजा बने। इसके बाद इन जाटों का स्थायी पड़ाव गोहद में पड़ा जहां उन्होंने स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना की।"

राजपूताना गजेटियर[1] के अनुसार "ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में जब दिल्ली पर तोमरों का राज्य था तब बैराठ (अलवर के पास) में देशवाली शाखा के एक जाट परिवार को तोमरों ने बमरौली की जागीर दी थी। परन्तु फिरोज तुगलक के समय सन् 1367 ई० में आगरा के सूबेदार मुनीर मोहम्मद ने उन्हें बमरौली छोड़ने पर विवश किया, तब यह परिवार चम्बल पार ग्वालियर के राजपूत (तोमर) राजाओं के पास पहुंचा और वहां के प्रमुख सामन्त के रूप में स्थापित हुआ। रतनपाल से पांचवीं पीढ़ी में सिंहनदेव द्वितीय को राजा मानसिंह तोमर ने गोहद की जमीदारी और 'राणा' की उपाधि दी।"

गोहद राज्य की स्थापना के विषय में 'कनिंघम और विलियम क्रुक को उद्धृत करते हुए उपेन्द्र शर्मा[2] ने लिखा है कि "सन् 1505 ई० में बमरौली (आगरा के समीप) के जाटों ने सुलतान सिकन्दर लोधी का साथ दिया था। अतः उसने इन जाट परिवारों को ग्वालियर के पास ले जाकर बसाया, जहां उन्होंने गोहद राज्य की स्थापना की।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह पता चलता है कि गोहद राज्य के संस्थापक जाट ही थे। गोहद के जाटों का सम्बन्ध लेफ्टिनेन्ट राम-

---

1. राजपूताना, गजेटियर, भाग-1 पृष्ठ 248-49.
2. उपेन्द्र शर्मा, 'जाटों का नवीन इतिहास', पृष्ठ 46

सरूप ने शिवजी के गण वीरभद्र से जोड़ा है। परन्तु इस बात की ऐतिहासिकता की पुष्टि अन्य प्रमाण से नहीं हो सकी है।

सन् 1523 ई० में विक्रमादित्य तोमर को हराकर इब्राहीम लोधी ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार तोमरों की पराजय के बाद गोहद के जाटों ने स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। दिल्ली के शासक भी उनकी स्वतन्त्रता को नष्ट नहीं कर सके। क्योंकि उन्हें तोमरों की रही-सही शक्ति को अभी कुचलना शेष था। साथ ही सन् 1526 ई० के लगभग दिल्ली तथा पंजाब की ओर उन्हें अपना ध्यान केन्द्रित करना था, जहां महत्त्वाकांक्षी मुगल बाबर उन्हें चुनौती दे रहा था। सन् 1526 ई० में पानीपत के प्रथम युद्ध में लोधी साम्राज्य के पतन के बाद अगले कुछ वर्षों में बाबर ने मालवा तक का क्षेत्र अपने अधिकार में ले लिया। बाबर की शक्ति को चुनौती देना गोहद जैसे छोटे से राज्य के राजाओं के लिए सम्भव नहीं था। अतः वे इस संघर्ष में तटस्थ रहे और उनका राज्य मुगलों द्वारा उनकी एक जागीर के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

जागा युगराज के पास इस वंश की जो समाग्री उपलब्ध है, उसके अनुसार निम्नलिखित जाट शासकों ने गोहद पर शासन किया :

क्रमांक	जाट शासक	विक्रम संवत्
1.	सिंहनदेव	1562
2.	देवीसिंह	1581
3.	उधोलसिंह	1592
4.	अनूपसिंह	1603
5.	शम्भुसिंह	
6.	अजयचन्द्र	1661
7.	रामचन्द्र	1685
8.	रतनसिंह	1704
9.	उदयसिंह	1721
10.	बाघराज	1742
11.	जगसिंह	1766
12.	जसवन्तसिंह	1771
13.	भीमसिंह	1773
14.	गिरछा प्रतापसिंह	1823
15.	छत्रसिंह	1824

उपर्युक्त तालिका में सन् 1592 ई० से पूर्व गोहद के जाट राजाओं के नाम नहीं दिये गए हैं। परन्तु जागाओं द्वारा गाया जानेवाला निम्नलिखित पद यह सिद्ध करता है कि उधोलसिंह से पूर्व भी जाट गोहद के महाराणा थे। इस पद के अनुसार आदि महाराणा सिंहनदेव था। यह प्रथम सिंहनदेव था या द्वितीय इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

सिंहनदेव महाराणा, अभयचन्द्र,
रामचन्द्र, उदयसिंह इन्द्रगुण आदि पै।
कहै रतनेश्वर पुत्र बाघराज गजनसिंह
वंश जसवन्तसिंह जस बाद पै॥
भीमसिंह गोहद पै, प्रताप बन्धु,
छत्रपति तासु गोद कीरतसिंह करत आनन्द पै।
भूप भगन्तसिंह, इन्द्रसुत निहालसिंह,
रामसिंह बन्धु उदैभान आज गारी पै॥

भीमसिंह (1703 से 1756)

परन्तु यह पद इस गुत्थी को नहीं सुलझा सका है कि सिंहनदेव से पूर्व कौन-कौन जाट राजा गोहद की गद्दी पर बैठे। बड़े खेद के साथ यह लिखना पड़ता है कि राणा भीमसिंह (1703-1756) से पूर्व के जाट राजाओं की ऐतिहासिक उपलब्धियों का लेखा जोखा हमें कहीं भी नहीं मिला। परन्तु ऐसा सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि भीमसिंह के पूर्ववर्ती जाट राजाओं ने गोहद राज्य को पूर्ण शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया होगा तभी तो वे मुगलों पर आक्रमण करने लगे थे।

जब भीमसिंह गोहद की राजगद्दी पर बैठा उस समय मुगलों और जाटों के सम्बन्ध पूरी तरह टूट चुके थे। मुगल जाटों की शक्ति को बार-बार पूरी तरह कुचलने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु स्वातन्त्र्य-प्रेमी जाट मुगलों से किसी भी शर्त पर समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गोहद के जाटों ने भी दक्षिण की ओर जानेवाले मार्गों पर चम्बल के दक्षिण में उसी प्रकार लूट-मार आरम्भ कर दी थी, जिस प्रकार उनके अन्य जाट भाई उत्तर में कर रहे थे। इन घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि मुगलशासन गोहद के जाटों के विरुद्ध होगया। इसके परिणामस्वरूप सन् 1707 ई०

में मुगलों के विश्वासपात्र अटेर (ग्वालियर से 60 मील उत्तर-पूर्व में गोहद से ठीक उत्तर में स्थित है) के भदोरिया राजा गोपालसिंह ने गोहद के जाट राजा (राणा) भीमसिंह पर आक्रमण किया तथा गोहद पर अपना आधिपत्य कर लिया।*

गोहद के छिन जाने पर राजा भीमसिंह सन् 1737 ई० तक इधर-उधर घूमकर अपने खोए हुए क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयास करता रहा। सन् 1736 ई० में जब मराठे पेशवा बाजीराव के नेतृत्व में आगरा की ओर न जाकर जैतपुर की ओर बढ़े तथा मार्ग में भदोरिया का राज्य पड़ता था। इस समय यहां अनिरुद्ध नामक राजा शासन कर रहा था। इस राजा ने मराठों के भय से अपनी राजधानी छोड़कर पचेरा ग्राम की ओर प्रस्थान किया। इस स्थिति का लाभ जाट राणा भीमसिंह ने उठाया और मराठों से मिलकर पचेरा के स्थान पर भदोरिया की सेना को पराजित करके पुनः गोहद पर अधिकार कर लिया।

ग्वालियर पर जाट झण्डा

सन् 1754 ई० में कुम्भेरी के किले पर आक्रमण करते समय मराठा सेनापति रघुनाथ राव की सेना का एक सेनानायक विट्ठल शिवदेव कुम्भेरी के किले पर आक्रमण करते समय जब ग्वालियर पहुंचा, तो उसके कुछ घुडसवार रसद की खोज में जाट राणा के राज्य में जा पहुंचे। वहां उन्हें कैद कर लिया गया। विट्ठल शिवदेव को जब यह समाचार मिला तो उसने भीमसिंह के पास अपना दूत भेजा। किन्तु दूत को राणा के व्यक्तियों ने अपमानित किया। जब दूत विट्ठल शिवदेव के पास लौटकर आया तो मराठों ने युद्ध का निश्चय किया।

इस समय मुगल सम्राट् आलमगीर द्वितीय की ओर से ग्वालियर का किला एक अशक्त मुगल किलेदार कसवरअली के अधीन था। गोहद के राणा से बदला लेने से पूर्व विट्ठल शिवदेव ने ग्वालियर के किले की घेराबन्दी करली। इस परिस्थिति में मराठों के आगे आत्म-समर्पण करने की अपेक्षा अपने मोदी किशनपाल की सलाह मानकर ग्वालियर के किले को गोहद के जाट राणा को सौंप दिया। भीमसिंह ने किले में पहुंचकर मराठों से युद्ध लड़ने के लिये किले की उपयुक्त

*गजेटियर, ग्वालियर रियासत, भाग 1 (1912) पृ० 307

व्यवस्था की। विट्ठल शिवदेव अनेक महिनों तक किले पर आक्रमण करता रहा, किन्तु जाट राजा के सामने उसकी पार नहीं बसाई। अन्त में वह किले का घेरा छोड़कर ग्वालियर के आस-पास की जाट चौकियों पर अधिकार करने में व्यस्त हो गया।

विट्ठल शिवदेव ग्वालियर पर अधिकार करने तथा गोहद के जाट राणा से निबटने के लिये पेशवा से सेना भेजने का निरन्तर अनुरोध करता रहा। परन्तु पेशवा दिल्ली अभियान में इतना उलझा रहा कि विट्ठल शिवदेव के अनुरोध को स्वीकार नहीं कर सका। अगले वर्ष (1755) में जब मराठा सेना रघुनाथ राव के नेतृत्व में दिल्ली अभियान से लौट रही थी, तो उस समय राणा भीमसिंह के चाचा राव बालजू ने परिस्थितियों को अपने प्रतिकूल समझकर मराठों से सन्धि करनी उचित समझी। सन्धि की शर्तों के अनुसार ग्वालियर के किले में रखे गए गोला-बारूद तथा तोपों के बराबर बटवारे का निर्णय किया गया। साथ ही जाटों ने ग्वालियर दुर्ग को खाली करना स्वीकार कर लिया। दूसरी ओर मराठों ने जाटों की जो गढ़ियां छीन ली थीं, उन्हें पुनः जाटों को वापिस करना निश्चित हुआ।

किन्तु किन्हीं कारणों से सन्धि की शर्तों पर विवाद उत्पन्न होगया और मराठों ने ग्वालियर शहर को नष्ट करना आरम्भ कर दिया[1]। बार-बार राणा भीमसिंह के पास यह सूचना भेजी जाती रही कि वह किले को मराठों को सौंप दे। परन्तु राणा ने इन सन्देशों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। अतः रघुनाथ राव ने 7 जून सन् 1755 ई० को ग्वालियर के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण में मराठा सैनिक जाट राणा भीमसिंह की सेना को चीरते हुए उसके घोड़े तक पहुँच गए[2]। राणा भीमसिंह वीरतापूर्वक लड़ता हुआ घातक रूप में घायल होगया। उसके सैनिक घायल राणा को लेकर किले में चले गए, जहां तीन दिन बाद राणा की मृत्यु होगई[3] और जाटों के हाथ से ग्वालियर का किला छीन लिया गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि राणा भीमसिंह गोहद के बमरौलिया जाटवंश का प्रथम ज्ञात शासक था जिसने गोहद में सर्वप्रथम जाटों की स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना का पूर्ण प्रयास किया।

1. के. सी. लुचाई—ग्वालियर स्टेट गजेटियर भाग एक
2. हरिहर निवास द्विवेदी—गोपाचल अध्याय पृ० 312
3. डा० रघुवीरसिंह—मालवा में युगान्तर, पृ० 338

राणा गिरधर प्रतापसिंह

राणा भीमसिंह का कोई पुत्र नहीं था। अतः उनकी मृत्यु के उपरान्त राव बालजू के पुत्र राणा गिरधर प्रतापसिंह को गोहद को राजगद्दी पर बैठाया गया। इससे पूर्व गिरधर प्रतापसिंह नीरपुर की गढ़ी की देखभाल करता था। वह गोहद की राजगद्दी पर केवल दस महीने ही बैठ सका और इसकी मृत्यु होगई। इस अल्पकाल में वह कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सका।

राणा छत्रसिंह (1757-1785)

ग्वालियर पर पुनः जाट झण्डा

राणा गिरधर प्रतापसिंह की मृत्यु के बाद गोहद की राजगद्दी पर उसका छोटा भाई राणा छत्रसिंह विराजमान हुआ। पानीपत की तीसरी लड़ाई (1761) में अहमदशाह अब्दाली के हाथ मराठों की हार होने के कारण अनेक महत्त्वाकांक्षी शासक अपनी राजकीय सीमाओं को बढ़ाने की सोचने लगे। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए राणा छत्रसिंह ने ग्वालियर के किले पर पुनः अधिकार कर लिया। इस किले पर जाटों का सन् 1764 ई० तक पूर्ण अधिकार रहा। परन्तु सन् 1765 ई० में महाद जी सिन्धिया ने ग्वालियर को पुनः हथिया लिया। परन्तु पर्याप्त सैनिक शक्ति के अभाव में वह जाटशक्ति को पूर्ण रूप से परास्त नहीं कर सका। मराठे राणा छत्रसिंह से इस बात से भी अत्यधिक नाराज थे कि उसने जाट राजा सूरजमल की मृत्यु के उपरान्त होनेवाले राजगद्दी के गृह-विवाद में जवाहरसिंह का पक्ष लिया था। जबकि मराठों ने नाहरसिंह की सहायता का वचन दिया था।

गोहद पर आक्रमण

13-14 मार्च सन् 1766 ई० को जिस समय मल्हारराव होल्कर भरतपुर के जवाहरसिंह से लोहा ले रहा था, ठीक उसी दिन रघुनाथ राव ने गोहद पर आक्रमण किया।[1] इस आक्रमण के विरुद्ध भरतपुर के राजा जवाहरसिंह ने सिखों की एक फौज राणा की सहायता के लिए भेजी। राणा छत्रसिंह और रघुनाथ राव के मध्य 'जटवारे' नामक स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ। आरम्भ में मराठों का पक्ष

---

1. डा० रघुवीरसिंह—मालवा में युगान्तर, पृ० 358

विजयी होता मालूम हुआ, किन्तु जाट सेना ने पुनः संभलकर शत्रु पर घोर प्रत्याक्रमण किया। मराठा सेना जाटों के इस आक्रमण के सामने ठहरने में असमर्थ रही और बुरी तरह परास्त होगई। मराठा सरदारों के लिए यह लड़ाई दूसरी पानीपत की लड़ाई के समान सिद्ध हुई।[1]

गोहद के प्रथम आक्रमण में असफल होने पर भी रघुनाथ राव पुनः गोहद पर आक्रमण करने के लिए मन बनाए बैठा था। अतः उसने अपने सरदार खण्डोत्र्यम्बक के नेतृत्व में गोहद को घेरने के लिए एक सेना भेजी। इस सेना ने गोहद के किले को घेर लिया। पीछे से और भी सेना भेज दी गई। इस बार मराठा सेनाओं का सेनापति महादजी सिन्धिया था। इस युद्ध में राणा छत्रसिंह का दामाद मारा गया। गोहद के किले पर भयंकर गोलाबारी की गई। किले के घेराव के कारण किले के अन्दर की सेना और नागरिकों के लिये खाद्य सामग्री की कमी पड़ गई।

युद्ध की भयंकरता एवं विनाशकारी परिणामों को देखते हुए राणा सन्धि करने के लिए विवश होगया। राणा का दीवान 26 अक्टूबर सन् 1766 ई० को रघुनाथराव के सम्मुख उपस्थित हुआ और सन्धि की निम्नलिखित शर्तें प्रस्तुत कीं:—

(1) राणा मराठों को 25 लाख रुपये देगा।
(2) युद्ध में मराठा सेनाओं द्वारा खड़ी फसलों की हानि की भरपाई राणा नहीं करेगा।
(3) मराठे राणा के अपराधों को क्षमा करें और इस क्षेत्र से वापिस लौट जाएं[2]।

यद्यपि उपर्युक्त सन्धि की शर्तें पूर्ण रूप से मराठों के पक्ष में ही थीं। परन्तु रघुनाथ राव इन शर्तों के साथ एक शर्त और जोड़ना चाहता था कि मराठों के इस क्षेत्र से वापिस जाने के बाद भी गोहद में मराठों की सैनिक चौकी स्थापित रहेगी। गोहद के दीवान ने यह शर्त मानने से इन्कार कर दिया। अतः सन्धि प्रस्ताव के असफल होने पर रघुनाथ राव ने 2 नवम्बर, 1766 ई० को पूरी शक्ति के साथ गोहद पर आक्रमण कर दिया। आक्रमण के इस समाचार को

1. दत्तात्रेय विष्णु आप्टे—चन्द्रचूड़ दफ्तर, भाग एक, पृ० 13
2. पर्शियन रिकार्डस् आफ मराठा हिस्ट्री, भाग एक, दिल्ली अफेयर्स, पृ० 3

सुनकर अपने मित्र राणा छत्रसिंह की सहायता के लिए भरतपुर का शासक जवाहरसिंह भी 15-20 हजार सैनिक लेकर गोहद की ओर बढ़ा।

मराठे सैनिक अपनी तोपें लेकर किले की चारदिवारी तक पहुँच गए और किले की मुख्य दिवारों पर सीढ़ियों के सहारे चढ़ने लगे, लेकिन जाटों के तोपखाने की मार के कारण मराठों के सैकड़ों सैनिक मारे गए। इधर जाट राजा जवाहरसिंह के आने की बात जानकर रघुनाथ के सामने अपने पड़ाव में आने के अतिरिक्त कोई चारा शेष नहीं था। यदुनाथ सरकार[1] के अनुसार "गोहद के जाट सैनिक पूरी शक्ति और वीरता से लड़े। घमासान युद्ध में एक हजार मराठे सैनिक घायल हुए और सौ सैनिकों को मृत्यु के मुँह में जाना पड़ा।"

मराठों से सन्धि

युद्ध में रघुनाथ राव की पूर्ण पराजय होने के पश्चात् भी राणा छत्रसिंह मराठों से सन्धि करने का इच्छुक था। राणा छत्रसिंह बड़ा कूटनीतिज्ञ था। वह चाहता था कि सन्धिप्रस्तावों के माध्यम से वह मराठों को भूल-भुलैयां में रखे और अपनी बिखरी शक्ति को पुन: नवीन रूप में संगठित कर सके। उसे यह भी विश्वास था कि शीघ्र ही जाट राजा जवाहरसिंह भी उसकी सहायता के लिए पहुंचने वाला था। अत: उसने मराठों से एक सन्धि कर ली। इसके अनुसार गोहद के राणा छत्रसिंह रघुनाथ राव को 11 लाख रुपये देने के लिए सहमत होगये। इनमें से 2 लाख नकद तथा शेष राशि किश्तों में देना निश्चित किया गया। इस सन्धि की शर्त के अनुसार राणा ने रुपये नहीं दिये। अथवा यह कहा जाए कि रुपये देने की उनकी इच्छा नहीं थी और सन्धि का उद्देश्य भरतपुर की सेना के आने के समय तक टालना था, तो कोई अतिरंजना नहीं है।

सन्धि के अनुसार रुपये न मिलने पर रघुनाथ राव क्रोधित हो गया और उसने पास में ही होनेवाली राणा छत्रसिंह की एक गढ़ी 'भिलसा' पर घेरा डाल दिया। 10 दिसम्बर, सन् 1766 ई० को इस गढ़ी में उपस्थित 300 जाट सैनिकों को मराठों ने मौत के घाट उतार दिया और इसके साथ ही मराठा सेनाएं गोहद के शासक के अधीन होनेवाली अन्य गढ़ियों को नष्ट करने में लग गईं।

1. यदुनाथ सरकार—फाल आफ दी मुगल एम्पायर, भाग दो, पृ० 346

अपनी गढ़ियों पर मराठों के आक्रमणों को देखकर राणा छत्रसिंह भी चुप नहीं बैठा और उसने भी मराठों के अधीन 'बड़ैरा', 'विल्हाटी' और 'बहादुरपुरा' की गढ़ियों पर अधिकार कर लिया। रघुनाथराव राणा छत्रसिंह की इन गतिविधियों को देखकर बड़ा चिन्तित हुआ। उसने महादजी सिन्धिया से स्थायी रूप से राणा छत्रसिंह से समझौता कराने के लिए कहा। अन्त में महादजी सिन्धिया के प्रयास से 2 नवम्बर सन् 1766 ई० की सन्धि का क्रियान्वयन 2 जनवरी 1767 ई० को हुआ। इस सन्धि के क्रियान्वयन के उपरान्त रघुनाथ राव करौली की तरफ चला गया।

अजयकुमार के अनुसार[1] "रघुनाथ राव के चले जाने के बाद भी राणा छत्रसिंह की गतिविधियों में कोई अन्तर नहीं आया और उसके चले जाने के बाद वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया। मराठों ने जाटों की जिन गढ़ियों पर अधिकार कर लिया था, उनको मराठों के नियन्त्रण से मुक्ति हेतु, उसने स्वयं उत्पात मचाना आरम्भ कर दिया।"

भिण्ड की गढ़ी पर जाट पताका

भरतपुर के राजा जवाहरसिंह और गोहद के राणा के बीच मई 1768 में एक समझौता हुआ। इसके अनुसार गोहद में सहायता पहुंचाने के परिणामस्वरूप भरतपुर के राजा ने भिण्ड की गढ़ी और क्षेत्र को जीतने के लिए गोहद के राणा की सहायता चाही थी। इस सन्धि के अनुसार राणा छत्रसिंह ने भिण्ड पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया।[2] इसी सम्बन्ध में अजयकुमार[3] ने आपाजी मैराल के पत्र को उद्धृत करते हुए लिखा है जो कि उसने विश्वासराव को लिखा था। इसके अनुसार—"भिण्ड में अपने (मराठों के) दो आदमी थे। वे अपने पास लौट आए हैं। भिण्ड में दस सुरंगें लगाई गई हैं, जिनमें से चार नाकामयाब और छः कामयाब रहीं। जिसके परिणाम-स्वरूप भिण्ड की गढ़ी बैठ गई। राजा छत्रसिंह की बहादुरी से किले

1. अजयकुमार—गोहद के जाटों का इतिहास, पृ०
2. गोविन्दराम सखाराम सर देसाई सलेक्शन फ्राम पेशवा दफ्तर, भाग 29, पृ० 220।
3. अजयकुमार—वही, पृष्ठ 36।

के अन्दर के लोग बाहर निकल आए। जाटों की (भरतपुर-गोहद) सम्मिलित फौज में सरदार दानशाह और मोहकमसिंह हैं। किले को जीतने के बाद एक 'सांडनी सवार' द्वारा जवाहरसिंह को यह सूचना भेजी गई कि हमने (जाटों ने) भिण्ड पर अधिकार कर लिया है। जाटों के सेनापति ने 'कैथा' और 'अमायन' की गढ़ियां भी जीत ली हैं। इस युद्ध में गोहद के राणा के एक हजार पैदल और तीन सौ सवार सैनिक थे। गोहद की सेना का सेनापति 'माधोराम' था।"

राजनैतिक जोड़-तोड़ में परिवर्तन

अगस्त, 1768 ई० में भरतपुर के राजा जवाहरसिंह की हत्या किये जाने के बाद गोहद का राणा स्वयं को असहायसा अनुभव करने लगा। क्योंकि मराठों की शक्ति के विरुद्ध भरतपुर नरेश को ही राणा अपना एकमात्र बचाव समझता था। मराठों से अपने आप को सुरक्षित रखने के लिए राणा छत्रसिंह ने भरतपुर नरेश का आश्रय छोड़कर सबसे पहले मुगल सम्राट् से सहायता मांगी। सम्राट् इस समय स्वयं शक्तिहीन था, अतः उसने सैनिक सहायता देने के स्थान पर राणा को गोहद राज्य का अधिपति होने की ही सनद दी। बादशाह द्वारा प्रदत्त सनद राणा छत्रसिंह की दुर्बल वित्तीय अथवा सैनिक स्थिति में आशाजनक परिवर्तन नहीं कर सकी। उसे तो इस समय ऐसे सहायक की आवश्यकता थी जो कि उसके राज्य पर मराठों द्वारा डाले जा रहे दबाव का सफल प्रतिरोध कर सके। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए राणा ने बंगाल के नवाब मीर जाफर के दामाद मीर कासिम से सम्पर्क किया। मीर कासिम भी बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों से परास्त होकर अलरचन्दी नामक स्थान पर रहने लगा था। मीर कासिम और गोहद के राणा का गुप्त पत्र-व्यवहार चलता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि 22 अप्रैल, 1770 ई० में मीर कासिम गोहद आया और राणा छत्रसिंह से मिला। परन्तु परस्पर सहयोग का कोई स्थायी प्रभाव पड़ा हो, ऐसा किसी भी घटना से सिद्ध नहीं होता। मुगल बादशाह और मीर कासिम दोनों ही पिटे हुए मोहरे थे, अतः किसी अन्य शक्ति का आश्रय लेना छत्रसिंह के लिए समय की मांग थी।

अंग्रेजों की ओर हाथ बढ़ाना

सन् 1772 ई० में पेशवा माधवराव की मृत्यु के पश्चात् मराठा

संघ पर जो संकट आया उसका लाभ अंग्रेजों ने उठाया और सन् 1774 ई० के अन्त में पेशवाओं से थाना का किला जीत लिया। इस प्रकार मराठों के जाट और अंग्रेज दोनों ही शत्रु बन गए। राणा छत्रसिंह ने अंग्रेज-मराठा-शत्रुता का लाभ उठाकर अंग्रेजों से मित्रता स्थापित करनी चाही। राणा छत्रसिंह ने अपने वकील लाला किशनचन्द्र के द्वारा एक पत्र वारेन हेस्टिंग के पास भेजा, जिसमें यह लिखा गया था अंग्रेज अधिकारियों और क्षेत्रीय राजाओं को गवर्नर-जनरल द्वारा एक पत्र लिखा जाए कि वे गोहद के राणा की सहायता करें।

इस पत्र का उत्तर 16 अप्रैल, 1774 को दिया गया, जिसमें लिखा था कि अंग्रेज मराठों को भगाने में प्रयत्नशील हैं और यदि इस कार्य में उन्हें सफलता मिलती है तो गोहद राज्य में शान्ति स्थापित हो जाएगी। अंग्रेज राणा से सहानुभूति तो रखते थे परन्तु सहायता के नाम पर कोई समझौता करने के लिए उस समय तैयार नहीं थे।

सन् 1776 ई० में अमेरिका में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध स्वतन्त्रता संग्राम के कारण ब्रिटिश नौ-सेना की शक्ति को डावांडोलसा कर दिया था। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर फ्रांसीसियों ने भारत में अंग्रेजी सत्ता को चुनौती देने का प्रयास किया। इसी संदर्भ में सन् 1778 ई० में फ्रांसीसियों ने अपने विश्वस्त दूत राव माणिकचन्द को गोहद भेजा, जिससे राणा छत्रसिंह उनके निकट आसके। गोहद के राणा से मैत्री स्थापित करने के उद्देश्य से कुछ फ्रांसीसी सेनापति राणा छत्रसिंह की सेना में वैतनिक रूप से कार्य करने लगे। परन्तु भारत में अंग्रेजों के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए राणा ने उन्हें शीघ्र ही हटा दिया।

इसी बीच राणा छत्रसिंह के वकील निरन्तर सहायता की मांग को लेकर गवर्नर जनरल के पास जाते रहे। अन्त में सन् 1779 ई० के दिसम्बर मास में अंग्रेजों और राणा के मध्य इस प्रकार सन्धि हुई:—

(1) मराठों द्वारा पूरी तरह से रौंदे गए तथा उनके द्वारा कर वसूल करने से रोके गए क्षेत्र में से मराठों को बाहर निकाला जाएगा।

(2) मराठों से उनके राज्य को छीनकर राणा के वर्तमान राज्य-क्षेत्र में मिलाया जाएगा।

(3) उपर्युक्त दोनों कार्यों के लिए अंग्रेजों द्वारा राणा को प्रत्येक प्रकार की सहायता दी जाएगी।

सन् 1778 ई० में भेलसा के फौजदार राव अप्पा का गोहद आक्रमण असफल होने के बाद सन् 1780 ई० में पुनः मराठों ने गोहद पर आक्रमण करने की योजना बनाई। इसी योजना के अन्तर्गत वे राणा की गढ़ियों पर अधिकार करने लगे। इस स्थिति से निपटने के लिए राणा ग्वालियर से तीन कोस दूर (लगभग 8 किलोमीटर) अपनी सेना को लेकर मराठों के ग्वालियर आक्रमण को रोकने लिए पहुंचा।

जाटों और मराठों में युद्ध आरम्भ होगया। इस युद्ध में प्रार्थना करने पर अंग्रेजों की तरफ से के० पोफम को 2400 सैनिकों के साथ राणा की सहायता के लिए भेजा गया। 8 मार्च, 1780 ई० को राणा छत्रसिंह अंग्रेजी सेना को साथ लेकर गोहद से 18 मील एक गांव की ओर बढ़ा। राणा को अंग्रेजों के साथ देखकर मराठा सरदार भयभीत हुआ और वह दतिया की ओर भाग गया।

लहार अभियान

लहार के किले पर कछवाहों का अधिकार था। इस किले पर अंग्रेज अपना अधिकार जमाना चाहते थे। इस सम्बन्ध में के० पोफम सन् 1780 में सहायता प्राप्त करने गोहद आया। राणा छत्रसिंह तथा अंग्रेजों की सम्मिलित सेना ने लहार के कछवाहों पर आक्रमण किया और उन्हें परास्त कर दिया। लहार के किले को जीतने के बाद अंग्रेज सैनिकों ने वहां मनचाही लूट मचाई और किले के एक भाग को आग लगा दी। इससे राणा छत्रसिंह को बड़ा भारी मानसिक आघात लगा और गवर्नर-जनरल को अन्य बातों के साथ एक पत्र लिखा, जिसमें यह प्रार्थना की गई थी कि वे हिन्दू राजाओं के राज्य में निम्नलिखित आदेश जारी करें: –

(1) यहां के अंग्रेज अधिकारी राणा के राज्य में किसी भी बैल को नहीं मारेंगे। क्योंकि यह कार्य सामान्यरूप से सभी हिन्दुओं तथा विशेषरूप से राणा की सेना में सम्मिलतराजाओं की धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंचाता है।

(2) जब किसी गांव या जिले पर अधिकार किया जाए तो

सामान्य प्रजा तथा अन्य गरीब लोगों को बिना किसी रोक-टोक के छोड़ दिया जाए, किन्तु सम्पन्न लोगों की मुक्ति के लिए धन प्राप्त किया जाए।

(3) जमींदार तथा धनवान् लोग राणा की सहमति से ही मुक्त किए जांए।

(4) राणा उस समय तक कम्पनी की सेनाओं को खाद्यसामाग्री प्रदान करेगा जब तक कम्पनी के अधिकारी उसके राज्य के व्यापारियों से कोई 'कर' एकत्रित नहीं करते और न कोई ऐसा लेन-देन करते हैं जो बाजार भाव से भिन्न हो।

(5) अंग्रेज अधिकारियों को निर्देश दिया जाए कि वर्तमान समय में राणा की नौकरी में लगे हुए किसी भी व्यक्ति को कम्पनी की भर्ती में न लिया जाए, जिससे वे राणा के प्रति निष्ठावान् रहें।

ग्वालियर दुर्ग पर संयुक्त अभियान

उस समय ग्वालियर का क्षेत्र राणा छत्रसिंह के अधिार में कम और सिन्धिया के अधिकार में अधिक था। जाट तथा अंग्रेजों ने मिलकर ग्वालियर के दुर्ग पर आक्रमण करने की योजना बनाई। राणा छत्रसिंह के राज्य की एक विशेष जाति चट्टानों के सहारे किले के ऊपर चढ़ने में सिद्धहस्त थी। अतः इनकी सहायता से किले पर चढ़ने की योजना बनाई। राणा छत्रसिंह ने किले पर चढ़ने के लिए नसैनो और रस्सियों का प्रबन्ध स्वयं किया। त्रीस बन्दूकधारियों के साथ के० विलियम ब्रूस ऊपर चढ़ गया। किन्तु और सैनिक आने से पहले इस दल के तीन सिपाहियों ने सोये हुए सिपाहियों पर गोली चला दी। इससे सारी योजना चौपट होती दिखाई पड़ी। दोनों ओर से सैनिक चौकन्ने होगए।

दुर्ग की सेना किले के भीतरी भवनों में सुरक्षा के लिए पहुंच गई और वहां से गोलाबारी आरम्भ कर दी। किन्तु सीघ्र ही मराठा सेनापति अम्बाजी इंगले भयभीत होकर कुछ सिपाहियों के साथ सपरिवार किले से भाग गया। इसके भाग जाने के बाद किले के अधिकारियों ने 'सफेद झण्डा' बाहर टांग दिया और ग्वालियर का किला जीत लिया गया।

खड्ग राय के 'गोपाचल आख्यान' के अनुसार अंग्रेजों ने राणा

छत्रसिंह से किले के सम्बन्ध में होनेवाले व्यय को (जो कि दो लाख रुपये समझा गया) लेकर यह किला राणा छत्रसिंह को सौंप दिया। इधर अंग्रेजों की सहायता से ग्वालियर के किले पर राणा छत्रसिंह का अधिकार हो जाने से महादजी सिन्धिया की आंखों में वह एक कांटे के समान चुभ रहा था। उधर हैदरअली के उदय को रोकने के लिए वारेन हेस्टिंग सिन्धिया की सहायता की आवश्यकता अनुभव कर रहा था। इस स्थिति में राणा और सिन्धिया के मध्य मैत्री कराने के लिए कर्नल म्यूर को भेजा गया। इसने राणा तथा सिन्धिया के मध्य जुलाई 1781 ई० में एक सन्धि करवाई, जिसकी प्रमुख धाराएं इस प्रकार थीं:—

(1) सिन्धिया राणा छत्रसिंह के ग्वालियर किले के अधिकार को चुनौती नहीं देगा।

(2) नवाब वजीर आसफ-उद्-दौला (लखनऊ) की सनद के द्वारा प्रदत्त ग्वालियर, सुखवारी, उपरहारा, तसवानी, गोपालपुर, गाजीगढ़, कुनवरपुर, सहसराम आदि स्थानों का आधिपत्य राणा के हाथों में रहेगा।

(3) यदि राणा छत्रसिंह, महादजी सिन्धिया अथवा पेशवा के किसी सरदार के किसी अभियान में भाग लेगा तो उसे सिन्धिया या होल्कर के समान ही अभियान में प्राप्त सामग्री में समुचित भाग मिलेगा।

(4) कछवायगढ़ का स्वामित्व राणा छत्रसिंह को उसी शर्त पर सौंपा जाएगा, जिस पर वर्तमान में सिन्धिया उसको प्राप्त किए हुए है।

(5) संवत् 1813 से 1838 तक की बकाया राशि जो राणा छत्रसिंह द्वारा मराठों को भुगतान करनी थी, उससे राणा को मुक्ति दी जाती है तथा भविष्य में इस राशि की मांग नहीं की जाएगी।

(6) महादजी सिन्धिया लिखितरूप में यह सन्धि राणा को सौंप रहा है तथा पेशवा की ओर से भी इसी प्रकार की राणा को प्रदान की जाएगी।

(7) यदि दक्षिण से किसी अन्य सरदार ने राणा पर आक्रमण किया, तो सिन्धिया राणा की इस शर्त पर रक्षा करेगा कि वह सन्धि का पूरी तरह पालन करता है।

(8) यदि महादजी सिन्धिया राणा छत्रसिंह को किसी कार्य के लिए बुलाएगा, तो राणा बिना किसी विवाद के सिन्धिया के पास उपस्थित होगा तथा अन्य किसी सरदार द्वारा यदि राणा की सहायता चाही गई हो तो उसकी सहायता के लिए जाना अथवा न जाना राणा की इच्छा पर निर्भर होगा।

(9) सन्धि के किसी भी पक्ष के शत्रु अथवा मित्र दूसरे पक्ष द्वारा भी शत्रु या मित्र माने जाएंगे।

(10) यदि सिन्धिया अंग्रेजों से मित्रता करता है तो राणा के माध्यम से ही ऐसा किया जाएगा।

(11) राणा के मित्र बख्तसिंह को सिन्धिया द्वारा भी मित्र माना जाएगा, किन्तु उसे करों का भुगतान सिन्धिया को ही करना होगा।

(12) यह अत्यन्त पवित्रसन्धि सिन्धिया द्वारा राणा को प्रस्तुत की जाती है और दोनों पक्षों द्वारा बड़ी दृढ़ता से इसका पालन किया जाएगा।[1]

ग्वालियर किले पर पुनः मराठों का आक्रमण

सन् 1781 ई० ग्वालियर दुर्ग पर जाटों का आधिपत्य हो जाने पर भी मराठा शक्ति ने उसे पुनः प्राप्त करने का विचार नहीं त्यागा था। सन् 1783 ई० के आस-पास मराठों के दिल्ली प्रवेश को सम्भावना बढ़ने पर अंग्रेजों ने उत्तरभारत के अन्य अभियानों में ढील कर दी और अपनी सेना को राणा के राज्य से भी बुला लिया। अंग्रेजों की सेना जाने के बाद तथा राणा छत्रसिंह के ग्वालियर से बाहर होने पर महादजी सिन्धिया ने अपने चिरकालीन शत्रु जाट राणा को हराने के लिए ग्वालियर पर घेरा डाल दिया जो साल महिने चला। किले को सीधे तरीके से जीतने में ज़ब महादजी सिन्धिया को सफलता नहीं मिली, तो उसने छल-कपट का सहारा लिया। कर्नल पोफम द्वारा नियुक्त पुरबिया मोतीमल को (जो किले में उच्च पद पर नियुक्त था) रिश्वत द्वारा अपनी ओर मिला लिया। और साथ में ही रानी के भतीजे राजधर को भी फोड़ लिया। महादजी सिन्धिया की मोतीमल से अनेक बार भेंट कराई गई। यह बात राणा के गुप्तचरों को भी मालूम होगई। इस बात की सूचना राणा को यथासमय

---

1. कैलेण्डर आफ पर्शियन कारस्पोंडेंस भाग 6 पृ० 115

भेज दी गई। उसनें तुरन्त रानी को मोतीमल को हटाने के लिए पत्र लिखा। परन्तु यह पत्र रानी के हाथ में न आकर बीच में ही मोतीमल के हाथों में पड़ गया। पत्र प्राप्त करते ही उसनें महादजी सिन्धिया को किले पर तुरन्त आक्रमण करने के लिए निमन्त्रित किया। सिन्धिया नें शीघ्र ही दो बटालियनें मोतीमल के निर्देशानुसार भेज दीं। बटालियनें बिना किसी रुकावट और क्षति के किले में प्रवेश कर गईं। इसके बाद और भी सेना भेज दी गई। ग्वालियर किले में उपस्थित लगभग दो हजार जाट सैनिक मोतीमल से मिल गए और लगभग तीन हजार सैनिक अचानक आक्रमण से भयभीत होकर भाग खड़े हुए। शेष बचे लगभग 600 सैनिकों ने रानी की सुरक्षापूर्वक रक्षा करते हुए लड़ाई आरम्भ रखी। इस प्रयास की निरर्थकता अनुभव करते हुए रानी अपने सेवकों के साथ महल के भीतरी भाग में चली गई और दरवाजें बन्द करके महल में रखे बारूद में आग लगाकर अपने प्राण दे दिए। इस प्रकार ग्वालियर के किले पर महादजी सिन्धिया का अधिकार होगया।

गोहद का पतन

ग्वालियर को अपने अधीन करने के उपरान्त महादजी सिन्धिया शान्त नहीं बैठा। वह जाट राणा के पैतृक किले गोहद को भी अपने अधिकार में लेकर जाटों से पुरानी शत्रुता का हिसाब चुकता करना चाहता था। अतः 23 जनवरी, 1784 ई० को महादजी सिन्धिया ने गोहद के किले को घेर लिया। किले को चारों ओर से घिरा देखकर तथा अपनी स्थिति को कमजोर समझकर राणा ने सिन्धिया से (समझौता करने का प्रयास किया। महादजी सिन्धिया ने समझौता) प्रस्ताव में यह शर्त लगा दी कि पहले जाट राणा किले को खाली कर दे, फिर समझौते पर विचार किया जा सकता है। इस समय गोहद में मंहगाई बहुत बढ़ गई थी, यहां तक कि व्यापारियों ने अपने खाने के लिए रखा हुआ गल्ला भी बेचना आरम्भ कर दिया था। किले में सैनिकों के लिए अनाज की कमी अनुभव होने लगी थी। छत्रसिंह के सैनिक भूख से परेशान होने लगे थे और वे गोहद छोड़ने को लगभग तैयार थे। ऐसी स्थिति में जाट राणा छत्रसिंह ने महादजी सिन्धिया को लिखा कि "मेरे रहने का अन्यत्र प्रबन्ध किया जाए और मुझे सम्मान के साथ किले के बाहर ले जाया जाये।" परन्तु महादजी

सिन्धिया ने प्रतिशोध की आग में जलते हुए इस प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया[1]।

राणा छत्रसिंह ने व्यर्थ में रक्तपात बचाने के लिए पुन: बाला जी अनन्त पागनीस और जीवाजी बल्लाल बक्षी के माध्यम से सिन्धिया से बातचीत आरम्भ की। इसका परिणाम यह हुआ कि महाद जी सिन्धिया के अनुरोध पर राणा को आत्म-समर्पण करना पड़ा और 1 मार्च, 1784 ई० को महादजी सिन्धिया ने गोहद के किले पर अधिकार कर लिया।

राणा छत्रसिंह का अन्त

राणा छत्रसिंह अब पूर्ण रूप से महादजी सिन्धिया के काबू में आगया था। महादजी सिन्धिया ने गोहद के राणा के भावी निवास एवं जागीर के लिए करौली रियासत के अधीन सबलगढ़ दे दिया। सबलगढ़ जाते समय राणा मार्ग के बीच में ही करौली की ओर भाग गया। राणा के भागने की सूचना मिलते ही महादजी सिन्धिया ने दो हजार सैनिक राणा को पकड़ने के लिए भेजे। परन्तु सिन्धिया के सैनिकों के पहुंचने से पहले ही राणा चम्बल नदी को पार करके करौली के राजा माणिकलाल के पास पहुंच चुका था।

इसी समय महाद जी का पत्रवाहक राजा माणिकलाल के पास पहुंचा। पत्र को पढ़कर करौली के राजा ने पत्रवाहक को सौ रुपए देने का लालच देकर कहा कि वह महादजी सिन्धिया से जाकर यह कह दे कि उसके जाने से पहले ही राणा छत्रसिंह करौली से भाग गया है। लेकिन पत्रवाहक अपने स्वामी के प्रति सच्चा रहा और उसने महादजी सिन्धिया को बताया कि राणा छत्रसिंह अपने सेवक माधो-राम तथा परिवार के साथ करौली की एक हवेली में मोजूद है।

राणा छत्रसिंह ने अपने आप को असहाय समझकर मेजर ब्राउन को एक पत्र लिखा—"आप मेरे और कम्पनी के सम्बन्धों से पूर्ण परिचित हैं। मैं करौली में हूं और मेरे लिए अन्यत्र कहीं भी जाना इस समय कठिन है। अत: 1500 घुड़सवारों का प्रबन्ध मेरे लिए कीजिए।" इधर करौली के राजा माणिकलाल ने अपने ऊपर आने

1. गोविन्द सखाराम सर देसाई—हिस्टोरिकल पेपर्स रिलेटिंग टू महादजी, पृ० 365

वाली भावी विपत्ति को सोचते हुए राणा के परिवार को अपने अधिकार में ले लिया और महादजी सिन्धिया के पास भेज दिया, जहां राणा को विष देकर सन् 1785 ई० के आरम्भ में हत्या कर दी गई। इस प्रकार गोहद का जाटवंश राणा छत्रसिंह के समय में ही बढ़ा और उसके जीवन में ही डूब गया। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि राणा छत्रसिंह गोहद का सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक शक्तिशाली जाट शासक था। उसके काल में गोहद के जाटों की शक्ति चरम सीमा पर थी। उसकी सबसे बड़ी सफलता ग्वालियर के किले पर जाटों की विजय थी। इस प्रकार राणा छत्रसिंह के शासनकाल को हम गोहद के जाटों के इतिहास का स्वर्णिम युग कह सकते हैं।

कीर्तिसिंह (कीरतसिंह)

राणा छत्रसिंह की असामयिक मृत्यु ने गोहद राजवंश को असहाय कर दिया। राणा छत्रसिंह के कोई सन्तान नहीं थी। अतः इस क्षेत्र के जाटों ने छत्रसिंह के चचेरे भाई ताराचन्द के पुत्र कीरतसिंह* को गोहद का राणा घोषित कर दिया। कीर्तिसिंह (कीरतसिंह) को उत्तराधिकार में केवल राणा की उपाधि ही मिली थी। गोहद का किला अब भी सिन्धिया के हाथ में था। जाटों की शक्ति बिखरी हुई थी और भरतपुर का जाट राजा मराठों के साथ था।

गोहद की पुनः प्राप्ति और अन्त

नवम्बर, सन् 1803 ई० में 'लसवारी' के युद्ध में लार्ड लेक ने सिन्धिया को हरा दिया। इस स्थिति में सिन्धिया का सूबेदार अम्बाजी इंगले जो कि गोहद और ग्वालियर का अधिकारी था, सिन्धिया का साथ छोड़कर अंग्रेजों के साथ मिल गया तथा एक स्वतन्त्र सन्धि का प्रस्ताव किया। इस सन्धि के अनुसार ग्वालियर का किला और उसके निकट का कुछ क्षेत्र अंग्रेजों को देना स्वीकार किया गया। इसके बदले में अंग्रेजों ने अम्बाजी इंगले को शेष बचे क्षेत्र का 'करमुक्त' स्वामी मानने की बात को अंगीकार किया। इसी सन्धि की दूसरी धारा के अनुसार अम्बाजी इंगले से प्राप्त क्षेत्र को गोहद के राणा कीरतसिंह को सौंपा जाना था।

---

*ठाकुर देशराज ने 'जाट इतिहास' में कीरतसिंह के स्थान पर लोकेन्द्रसिंह नाम लिखा है।

30 दिसम्बर सन् 1803 ई० में दौलतराव सिन्धिया और अंग्रेजों के मध्य 'सर्जीअंजन' नामक गांव की सन्धि हुई। इस सन्धि के बाद अंग्रेजों को मराठों के कार्यक्षेत्र में पर्याप्त अधिकार मिल गए। इसी बीच अंग्रेजों ने गोहद के राणा कीरतसिंह से भी सन्धि की, जिसके अन्तर्गत दौलतराव सिन्धिया से पूछे बिना ही गोहद का राज्य राणा को सौंप दिया गया। क्योंकि द्वितीय आंग्ल मराठा युद्ध में राणा ने अंग्रेजों का पूर्ण रूप से साथ दिया था। इस बात का विरोध दौलतराव सिन्धिया ने किया। स्थिति यहां तक पहुँच गई कि ग्वालियर और गोहद को लेकर अंग्रेजों और सिन्धिया के मध्य पुन: युद्ध होने की सम्भावनायें दिखाई देने लगीं।

जुलाई, सन् 1805 ई० में वेलेजली के स्थान पर लार्ड कार्नवालिस पुन: भारत में गवर्नर जनरल बनकर आया। अंग्रेज इस समय होल्कर के साथ लड़ाई में उलझे हुए थे और सिन्धिया से भी उनके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। लार्ड कार्नवालिस ने अपने से पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल की उत्तर भारत से सम्बन्धित नीति में परिवर्तन किया और सिन्धिया को प्रसन्न करने के लिए गोहद के राणा को किसी भी प्रकार की सहायता देना अस्वीकार कर दिया। उसके साथ ही लार्ड लेक को आदेश दिया गया कि गोहद और ग्वालियर सिन्धिया को वापिस कर दिया जाए।

22 नवम्बर, सन् 1805 ई० में एक सन्धि द्वारा सन् 1803 ई० की 'सर्जीअंजन' की सन्धि को संशोधित किया। इस संशोधन द्वारा ग्वालियर और गोहद को सिन्धिया को देना स्वीकार किया गया। इस सन्धि के अनुसार ग्वालियर सिन्धिया को सौंप दिया गया। परन्तु गोहद को जाटों से छीनकर सिन्धिया को सौंपना सरल कार्य नहीं था। दिसम्बर सन् 1805 ई० में कर्नल बाबी ने गोहद को सिन्धिया को देने के लिए राणा कीरतसिंह से भेंट की। इस भेंट में सन् 1804 ई० की सन्धि का स्मरण कराते हुए राणा से कहा गया कि गोहद पुन: प्राप्ति के दो वर्ष बीत जाने पर भी वह इतना धन एकत्रित करने में असफल रहा कि स्वयं के खर्चे की पूर्ति कर सके तथा अपनी सेना का भलीभांति प्रबन्ध कर सके। कम्पनी (अंग्रेजों) के सैनिकों के वेतन की व्यवस्था व सन्धि की शर्तों के अनुसार देने में असमर्थ रहा। अतः उपर्युक्त परिस्थितियों में किसी भी प्रकार की क्षतिपूर्ति किये बिना ही सन्धि

भंग करने के अधिकार को प्रयोग में लाते हुए गोहद को सिन्धिया के राज्य में पुनः मिलाने का निश्चय किया है और बदले में धौलपुर, बाड़ी, राजा खेड़ा के परगने राणा को देने का निर्णय लिया है।

राणा ने गोहद न छीने जाने की प्रार्थना की, परन्तु इसका अंग्रेजों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस बात की सूचना जब राजा के कट्टर समर्थक राजेन्द्र, बाबर अली और जालिमसिंह आदि को लगी तो इनमें असन्तोष की लहर दौड़ गई। इन्होंने गोहद न छोड़ने का निश्चय करते हुए दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में लिखा कि "कम्पनी ने राणा को उसके पूर्वजों की खोई हुई रियासत दी। इसके लिए हम कम्पनी के कृतज्ञ हैं, परन्तु हम लोग यह उपयुक्त नहीं समझते कि सन्धि को भंग करके राणा के साथ विश्वासघात किया जाये। विद्रोहियों ने लिखा कि हमसे राणा को छीन लिया गया है। अतः हमने राणा कीरतसिंह के पुत्र को गोहद का नया राणा नियुक्त करने का निश्चय किया है। विद्रोहियों ने कर्नल बाबी को चेतावनी दे दी और गोहद किले की मरम्मत में जुट गये। गोहद में पांच हजार पैदल आकर जमा हो गए।

अंग्रेजों और गोहद के विद्राहियों के मध्य लम्बा पत्राचार होता रहा। अन्त में बावी के सभी प्रयत्न असफल रहे और 19 फरवरी सन् 1806 ई० को गोहद पर अंग्रेजों द्वारा आक्रमण कर दिया गया। 21 फरवरी को तीन हजार पौण्डवाली तोपें तथा एक हार्जर तोप द्वारा तीन हजार सैनिकों को लेकर अंग्रेजों ने गोहद के किले की सुरक्षा के लिए उठाई गई दीवारों एवं परकोटे पर गोलाबारी की। लगातार गोलाबारी करने के कारण दीवारों में दरार पड़ गई और किले पर आक्रमण कर दिया गया। आक्रमण करनेवाले दल 750 ग्रेनेडियर तथा उसकी सहायता के लिए खाइयों में सात कम्पनियां थीं। 21 फरवरी सन् 1806 ई० की इस लड़ाई में अंग्रेज लैफ्टीनेन्ट मैक्विटी मारा गया तथा साथ में 23 सैनिक भी युद्ध में मारे गए। विद्रोही सेना की कितनी क्षति हुई इसका विवरण उपलब्ध नहीं होता।

अंग्रेजों द्वारा गोहद जीत लेने पर 26 फरवरी 1806 ई० को कर्नल बाबी तथा किले में बन्दी विद्रोही सरदारों के मध्य बातचीत हुई। विद्रोही सरदारों ने बाबी से कहा कि उन्हें उनकी जमीदारियों का कुछ भाग दे दिया जाये। इस बात को सुनकर कर्नल बाबी ने

सिन्धिया से हुई सन्धि का स्मरण कराते हुए कुछ भी आश्वासन नहीं दिया। दूसरे दिन 27 फरवरी को प्रातःकाल गोहद का किला सिन्धिया को सौंप दिया गया। इस प्रकार जाटों के हाथ से सदा-सदा के लिए गोहद राज्य चला गया।

धौलपुर रियासत

राणा कीरतसिंह को जब गोहद छोड़ने का आदेश दिया गया था, तो उस समय गवर्नर-जनरल ने उन्हें यह आश्वासन दिया था कि सिन्धिया द्वारा चम्बल के उत्तर में अंग्रेजों के पक्ष में छोड़े गए धौलपुर, बाड़ी और राजाखेड़ा के परगने उन्हें दे दिए जाएंगे। फलस्वरूप राणा कीरतसिंह अपने कुछ अनुयायिग्रों के साथ अंग्रेजों के साथ एक नई सन्धि के अन्तर्गत दिसम्बर, सन् 1805 ई० के अन्तिम दिनों में ग्रपने पूर्वजों द्वारा स्थापित जाटसत्ता की रियासत गोहद को छोड़कर धौलपुर प्रस्थान कर गया। कहा जाता है कि गोहद से प्रस्थान के समय 'बगथरा' ग्राम में राणा कीरतसिंह के राजतिलक के समय उपस्थित जाट सरदारों सहित 57 व्यक्ति भी धौलपुर गए। उनके साथ 11 हाथी, 50 घुड़सवार, 10 ऊंट, 27 तोपें ग्रौर लगभग 150 जाट सैनिक थे। इस प्रकार जाटों की नई रियासत धौलपुर का जन्म हुआ।

धौलपुर आने के उपरान्त राणा कीरतसिंह ने शेरगढ़ के किले को अपना निवास स्थान बनाया। यहां यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी जाट राणा कीरतसिंह के समय में जाट लोग पूर्णतया अंग्रेजों के आश्रित होगए थे। इसके शासनकाल में सन् 1831 ई० में जब सिन्धिया राजवंश की महारानी जीजाबाई को सिन्धुराव सहित ग्वालियर छोड़ने का ग्रादेश दिया गया था, तब राणा ने उन्हें शरण दी थी। सन् 1836 ई० में राणा कीरतसिंह की धौलपुर में मृत्यु होगई।

राणा भगवन्तसिंह (1837–73)

राणा कीरतसिंह की मृत्यु के पश्चात् पुहुपसिंह धौलपुर की राजगद्दी पर बैठा, परन्तु नौ महिने के पश्चात् ही उसकी मृत्यु होगई। उसकी ग्रसामयिक मृत्यु के उपरान्त उसका छोटा भाई भगवन्तसिंह तेरह वर्ष की ग्रल्पायु में धौलपुर का शासक बना। पाठकों की

जानकारी के लिए यह लिखना आवश्यक है कि धौलपुर के जैन वैश्यों ने राणावंश तथा सिन्धिया के संघर्ष में नीचे-नीचे सिन्धिया का साथ दिया था। अतः राजगद्दी पर बैठने के उपरान्त सर्वप्रथम भगवन्तसिंह ने जैन वैश्यों से प्रतिकार लिया और उन्हें अपमानित करने के लिए जैन मन्दिर से पार्श्वनाथ की मूर्ति उठवाकर महादेव की मूर्ति स्थापित की। सिन्धिया के प्रार्थना करने पर भी अंग्रेजों ने इस विषय में कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

इन्हीं के शासनकाल के समय भारत में प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका था। इस संग्राम में राणा भगवन्तसिंह ने अंग्रेजों का साथ दिया। इस संग्राम में रानी झांसी द्वारा ग्वालियर पर अधिकार किए जाने पर जब सिन्धिया आगरा की ओर जा रहा था, तो उसकी सुरक्षा राणा ने ही की थी। सन् 1857 ई० वर्ष राणा भगवन्तसिंह के लिए अपने खोए हुए पैतृकराज्य गोहद को सरलता से प्राप्त करने का था, परन्तु उसने इसका लाभ नहीं उठाया। राणा भगवन्तसिंह और उसके दिवान देवहंस में किसी बात को लेकर खींचातानी चलने लगी। अतः सन् 1861 ई० में दिवान देवहंस ने राज्य की जनता को भड़काकर राणा को शासक पद से हटाना चाहा, परन्तु उसका यह षड्यन्त्र सफल नहीं हो सका। सन् 1873 ई० में राणा भगवन्तसिंह स्वर्ग सिधार गए।

इससे आगे का धौलपुर का इतिहास सरल और सपाट है। और यह रियासत पूर्णरूप से अंग्रेजों की शरण में रही।

❀❀❀

चतुर्दश अध्याय

राजस्थान में जाटशक्ति (1459–89 ई०)

राजस्थान के इतिहास में बीकानेर की रियासत जाटों का प्रमुख गढ़ रही है। इतिहासकारों की दृष्टि में राजस्थान में जाटों का प्रवेश ई० पू० 326 के आस-पास आरम्भ होता है। बीकानेर राज्य के इतिहास ग्रन्थों के अनुसार बीकानेर रियासत की स्थापना से पूर्व जाटों के छ कबीले (गोत्र) प्रमुख रूप से राज्य की सीमा में रहते थे। कर्नल टाड ने इन छः गोत्रों को पूनिया, गोदारा, सारन, असिघ, बेनीवाल और जोया माना है। परन्तु "दयालदास की ख्यात" के अनुसार इनकी संख्या सात है। "चुरू मण्डल के शोधरूप इतिहास" में जाटों के इन गोत्रों की बस्तियों को जनपद का नाम दिया है। इसी ग्रन्थ में जनपदों की स्थिति निम्न प्रकार दी गई है।

नाम गोत्र	नाम मुखिया	राजधानी	ग्रामों की संख्या
गोदारा	पाण्डु	शेखसर व लाधड़िया	360
सीहाग	चोरवा	सूई	140
सोहुवा	अमरा	धाणसिया	84
सारण	पूला	भाड़ंग	360
वेणीवाल	रायसल	राय सलाणा	360
कसवां	कंवरपाल	सीधमुख	360
पूनिया	कान्हा	बड़ी लंदी (लुद्दी)	360

दयालदास के अनुसार ग्रामों की संख्या 2024 होती है, परन्तु टाड के अनुसार ग्राम संख्या 2200 है तथा देशराज के जाट इतिहास के अनुसार यह संख्या 2534 है।

उपर्युक्त विवरण का अभिप्राय है कि बीकानेर रियासत में जाटों का बाहुल्य था। मारवाड़ का राजकुमार राठौरवंशीय बीका जाटों को जीतने के लिए जब चला तो उसके साथ तीन सौ राठौर वीर सैनिक थे। परिस्थितियों ने उसका साथ दिया, क्योंकि उस समय जाटों के छः गोत्रों (कबीलों) में से जोहिया और गोदाराओं की परस्पर

शत्रुता चल रही थी। इसके अतिरिक्त मोहिल जाति के साथ जाटों की शत्रुता थी। बीदा (बीका का भाई) ने मोहिलों को जीत लिया था। अतः जाट बीका की शरण में आने की सोचने लगे। ऐसी स्थिति में गोदारा जाटों ने गोत्र की पंचायत बुलाकर सर्वसम्मति से बीका के सामने आत्म-समर्पण करने का निश्चय किया। आत्म-समर्पण के लिये निम्नलिखित शर्तें रखीं :—

(1) जोहिया तथा जो अन्यान्य जाट गोदारा के साथ शत्रुता रखते हैं, बीका को उनकी ओर से जोहिया आदि के विरुद्ध खड़ा होना होगा।

(2) भाटीगण जिससे फिर आक्रमण न कर सकें, इस हेतु गोदाराओं की पश्चिमी सीमा की रक्षा करनी होगी।

(3) गोदाराओं में चिर-प्रचलित स्वत्व और अधिकार में वह किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा।

नीतिविशारद बीका ने गोदारा गोत्र के लोगों के आत्म-समर्पण के प्रस्ताव को एकदम स्वीकार कर लिया। इस प्रकार बिना युद्ध किये ही जाटों को अपने अधीन कर लिया और गोदारा जाटों के मुखिया पाण्डु ने बीका का राजतिलक किया। आजतक बीकानेर के राजाओं के राजसिंहासन पर बैठते समय, उनके माथे पर पाण्डु के वंशधर ही राजतिलक लगाते हैं। राजतिलक जिस भू-भाग में हुआ था, उस स्थान को बीका ने राजधानी बनाने के लिये मांगा। बीका के प्रस्ताव को सुनकर उस भू-खण्ड के स्वामी नेर नामक जाट ने कहा कि यह देश जो मेरे अधिकार में था मैंने आपको दिया, परन्तु इसकी स्मृति सुरक्षित रखने के लिये आपके नाम के साथ मेरा नाम मिलाकर राजधानी का नाम रखना होगा। बीका ने तुरन्त ही यह बात मान ली और राजधानी का नाम बीकानेर रख दिया।

राठौरों की जाटों पर विजय आपसी फूट का ही परिणाम था। टाड ने बीका की विजय के विषय में लिखते हुए कहा है कि "यद्यपि बीका के भाई बीदा ने मोहिलों को परास्त करके और उनके देशों पर अधिकार करके बीका की जय प्राप्ति का मार्ग साफ कर दिया था, परन्तु जिस पाप से संसार की समस्त साधारण शासन रीति का विध्वंस होगया है यदि जाटों में वह पापाग्नि प्रज्वलित न होती तो

बीका कभी भी इस प्रकार से बिना युद्ध किये जाटों को नहीं जीत सकता था। जाटों के छः सम्प्रदायों में से जोहिया और गोदारा नामक अत्यन्त सामर्थ्यवान् जाट सम्प्रदाय में परस्पर विद्वेष अधिक बढ़ गया था, इसी कारण से जोधा के वंशधर सरलता से राजसिंहासन पर विराजमान हुए।''

❀❀❀

ELECTRA 511715
EXPORTS 511968
LTD PARTAPUR
(MEERUT)

STORE

३.००
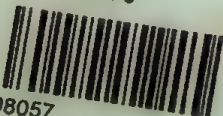
आचार्य प्रकाशन, दयानन्दमठ, रोहतक

हमारे प्रकाशन

क्रम	पुस्तक	लेखक	मूल्य
१.	भजन सुदर्शन चक्र १-२ भाग	[स्वामी नित्यानन्द]	३.००
२.	आर्यकुमार कुणाल	[चौ० ईश्वरसिंह]	१.५०
३.	आदर्श श्यामाकुमारी	[,, ,,]	१.५०
४.	गीत हरयाणा १-३ भाग	[,, ,,]	२.००
५.	आदर्श भजनमाला १-११ भाग	[,, ,,]	१०.००
६.	तेजसिंह शतक	[चौ० तेजसिंह]	५-००
७.	ढोल की पोल	[स्वामी केवलानन्द]	१-००
८.	व्यवहारभानु	[महर्षि दयानन्द]	१-००
९.	वैदिक विवाहपद्धति	जगदेवसिंह सिद्धान्ती]	६-००
१०.	आसनों के व्यायाम	[वेदव्रत शास्त्री]	३-००
११.	चिकित्सा भास्कर	[चौ० हरिसिंह]	१५-००
१२.	श्वास कास चिकित्सा	[,, ,,]	२०.००
१३.	बालरोग चिकित्सा	[,, ,,]	१२.००
१४.	स्त्री रोग चिकित्सा	[,, ,,]	४-००
१५.	बालरोग चिकित्सा	[,, ,,]	३-००
१६.	कर्णरोग चिकित्सा	[,, ,,]	४-००
१७.	पाखण्ड खण्डन। (सम्पूर्ण)	[पं० बस्तीराम]	६.००
१८.	बस्तीराम रहस्य	[,, ,,]	१·५०
१९.	असली अमृतगीता (दोनों भाग)	[,, ,,]	१.५०
२०.	भजन आग या अग्निबाण	[,, ,,]	२.५०
२१.	भजन मनोरंजनी	[,, ,,]	२.५०
२२.	अमृतकला (द्वितीय भाग)	[,, ,,]	२.००
२३.	पोप की नाखर	[,, ,,]	१·५०
२४.	गऊ भजन संग्रह (गऊ की पुकार)	[,, ,,]	.५०
२५.	दयानन्द जीवन कथा	[,, ,,]	३ ००
२६	क्षत्री भजन संग्रह	[,, ,,]	३.००
२७.	मानस दीपिका	[,, ,,]	३.००
२८.	अघमर्षण प्रार्थना	[,, ,,]	१.००
२९.	बेधड़क की बम्ब	[पृथ्वीसिंह बेधड़क]	१.००
३०.	बेधड़क की बिजली	[,, ,,]	१..२०
३१.	बेधड़क की स्त्रीशिक्षा	[,, ,,]	१-००

आचार्य प्रकाशन, दयानन्दमठ, रोहतक